Chapter सत्तर

भगवान् कृष्ण की दैनिक चर्या

इस अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण की दैनिक चर्या तथा उनके समक्ष, पहला, द्वारका से आये दूत का तथा दूसरा, नारदमुनि द्वारा रखे गये दो प्रस्तावों का वर्णन हुआ है।

भगवान् कृष्ण ब्राह्म-मुहूर्त में उठकर स्वच्छ जल में स्नान करते थे। प्रात:कालीन अनुष्ठान तथा अन्य धार्मिक कृत्य करने के बाद वे पवित्र अग्नि में होम करते, गायत्री मंत्र का जाप करते, देवताओं, ऋषियों तथा पूर्वजों को नमस्कार करके पूजा करते और विद्वान ब्राह्मणों को सम्मान देते थे। तत्पश्चात् वे शुभ वस्तुओं का स्पर्श करते, अपने को दिव्य आभूषणों से सजाते और अपनी प्रजा को उनकी मनचाही वस्तुएँ देकर तुष्ट करते थे।

तब उनका सारथी दारुक रथ लाता और वे उसमें चढ़ कर राजसभा-भवन जाते। जब वे यादवों से घिर कर सभा में अपना आसन ग्रहण करते, तो वे नक्षत्रों से घिरे चन्द्रमा की तरह प्रतीत होते। चारण एवं भाट ढोल, मंजीरे, वीणा तथा अन्य वाद्ययंत्रों के साथ उनका यशोगान करते।

एक बार द्वारपाल एक दूत को सभाभवन में ले आए। उस दूत ने भगवान् को दण्डवत्-प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनसे निवेदन किया, ''प्रभु! जरासन्ध ने बीस हजार राजाओं को पकड़ कर उन्हें बन्दी बना लिया है। कृपया कुछ करें, क्योंकि ये सारे राजा आपके शरणागत भक्त हैं।''

तभी नारदमुनि प्रकट हुए। भगवान् श्रीकृष्ण तथा सभा के सारे सदस्य खड़े हो गये और अपने शीश नवा कर नारदजी को नमस्कार किया। जब ऋषि आसन ग्रहण कर चुके, तो भगवान् ने विनयपूर्वक उनसे प्रश्न किया, ''चूँकि आप ब्रह्माण्ड-भर में भ्रमण करते रहते हैं, अतएव हमें बतलायें कि पाँचों पांडव क्या करने की योजना बना रहे हैं?'' तब नारद ने भगवान् की प्रशंसा की और उत्तर दिया, ''राजा युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ सम्पन्न करना चाह रहे हैं। इसके लिए वे आपकी स्वीकृति तथा आपकी उपस्थिति के लिए अनुरोध करते हैं। वहाँ पर अनेक देवता तथा विख्यात राजा केवल आपके दर्शनार्थ आयेंगे।''

यह जान कर कि यादव चाहते हैं कि वे जरासन्ध को परास्त करें, भगवान् कृष्ण ने अपने चतुर

मंत्री उद्धव से कहा कि वे यह निश्चित करें कि सामने आए दोनों मामलों में से पहले जरासन्ध को परास्त करना जरूरी है या कि राजसूय यज्ञ में उनकी उपस्थिति।

श्रीशुक उवाच
अथोषस्युपवृत्तायां कुक्कुटान्कूजतोऽशपन् ।
गृहीतकण्ठ्यः पतिभिर्माधव्यो विरहातुराः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—तब; उषसि—भोर में ; उपवृत्तायाम्—निकट आ रहे; कुक्कुटान्—मुर्गों को; कूजतः—बाँग देते; अशपन्—शाप दिया; गृहीत—पकड़ा हुआ; कण्ठ्यः—गले से; पतिभिः—अपने पतियों (अनेक रूपों में कृष्ण) द्वारा; माधव्यः—भगवान् कृष्ण की पत्नियाँ; विरह—वियोग के कारण; आतुराः—क्षुब्ध।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जैसे जैसे प्रभात निकट आने लगा वैसे वैसे भगवान् माधव की सारी पत्नियाँ जो पति द्वारा गले में आलिंगित थीं, बाँग देते मुर्गों को कोसने लगीं। ये स्त्रियाँ विक्षुब्ध थीं क्योंकि अब वे उनसे विलग हो जायेंगी।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण की दैनिक चर्या का यह वर्णन मुर्गे की बाँग से प्रारम्भ होता है। भगवान् कृष्ण की पत्नियाँ जानती थीं कि भगवान् नियमपूर्वक उठ कर अपने प्रात:कालीन अनुष्ठान में लग जायेंगे। इस तरह शीघ्र ही उनसे विलग हुई जाने के कारण वे क्षुब्ध थीं और मुर्गों को कोस रही थीं।

वयांस्यरोरुवन्कृष्णं बोधयन्तीव वन्दिनः ।
गायत्स्वलिष्वनिद्राणि मन्दारवनवायुभिः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

वयांसि—पक्षियों को; अरोरुवन्—जोर से शब्द करती हुई; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; बोधयन्ति—जगाती हुई; इव—मानो; वन्दिनः—भाट; गायत्सु—गाने लगे; अलिषु—भौंरे; अनिद्राणि—निद्रा से जगाये गये; मन्दार—पारिजात वृक्ष के; वन—उद्यान से; वायुभिः—मन्द वायु द्वारा।

पारिजात उद्यान से आने वाली सुगंधित वायु से उत्पन्न भौंरों की गुनगुनाहट ने पक्षियों को नींद से जगा दिया। और जब ये पक्षी जोर जोर से चहचहाने लगे, तो उन्होंने भगवान् कृष्ण को जगा दिया मानो दरबारी कवि उनके यश का गायन कर रहे हों।

मुहूर्तं तं तु वैदर्भी नामृष्यदतिशोभनम् ।
परिरम्भणविश्लेषात्प्रियबाह्वन्तरं गता ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

मुहूर्तम्—दिन का समय, घड़ी को; तम्—उस; तु—लेकिन; वैदर्भी—महारानी रुक्मिणी ने; न अमृष्यत्—पसन्द नहीं किया; अति—अत्यन्त; शोभनम्—शुभ; परिरम्भण—उनके आलिंगन की; विश्लेषात्—हानि से; प्रिय—अपने प्रियतम की; बाहु—भुजाओं के; अन्तरम्—बीच में; गता—स्थित।

अपने प्रियतम की बाहों में लेटी हुई महारानी वैदर्भी को यह परम शुभ वेला नहीं भाती थी क्योंकि इसका अर्थ यह था कि वे उनके आलिंगन से विहीन हो जायेंगी।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि महारानी वैदर्भी अर्थात् रुक्मिणीदेवी की प्रतिक्रिया समस्त रानियों के मनोभावों की द्योतक है।

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः ।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम् ॥ ॥
एकं स्वयंज्योतिरनन्यमव्ययं
स्वसंस्थया नित्यनिरस्तकल्मषम् ।
ब्रह्माख्यमस्योद्भवनाशहेतुभिः
स्वशक्तिभिर्लक्षितभावनिर्वृतिम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मे मुहूर्ते—सूर्योदय से पूर्व, भोर में जो आध्यात्मिक कार्यों के लिए दिन का सर्वाधिक उत्तम समय है; उत्थाय—उठकर; वारि—जल; उपस्पृश्य—छूकर; माधवः—भगवान् कृष्ण ने; दध्यौ—ध्यान किया; प्रसन्न—विमल; करणः—मन; आत्मानम्—अपने ऊपर; तमसः—अज्ञान; परम्—परे; एकम्—एकमात्र; स्वयम्-ज्योतिः—आत्म-प्रकाशित; अनन्यम्—अनन्य; अव्ययम्—अव्यय; स्व-संस्थया—अपने स्वभाव से; नित्य—नित्य; निरस्त—भगाते हुए; कल्मषम्—दूषण को; ब्रह्म-आख्यम्—ब्रह्म या परम सत्य नाम से विख्यात; अस्य—इस (ब्रह्माण्ड) का; उद्भव—सृष्टि; नाश—तथा संहार; हेतुभिः—कारणों से; स्व—निजी; शक्तिभिः—शक्तियों से; लक्षित—प्रकट; भाव—अस्तित्व; निर्वृतिम्—हर्ष।

भगवान् माधव ब्राह्म मुहूर्त में उठा करते और जल का स्पर्श किया करते थे। तब स्वच्छ मन से वे एकाकी, आत्म-प्रकाशित, अनन्य तथा अच्युत परम सत्य ब्रह्म-रूप स्वयं का ध्यान करते, जो स्वभाव से ही सारे कल्मष को दूर करने वाला है और जो अपनी उन निजी शक्तियों के द्वारा, जो इस ब्रह्माण्ड का सृजन और संहार करती हैं, अपना ही शुद्ध तथा आनन्दमय स्वरूप प्रकट करता है।

तात्पर्य : विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इंगित करते हैं कि इस श्लोक में *भाव* शब्द समस्त उत्पन्न प्राणियों का सूचक है। इस तरह समास-युक्त शब्द *लक्षित-भाव-निर्वृतिम्* का अर्थ होगा कि भगवान् कृष्ण उत्पन्न जीवों को अपनी विविध शक्तियों से आनन्द प्रदान करते हैं। निस्सन्देह आत्मा कभी उत्पन्न नहीं किया जाता किन्तु हमारा भौतिक बद्धशरीर भगवान् की शक्तियों की अन्योन्य क्रिया से उत्पन्न होता है।

जिसे भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की कृपा प्राप्त होती है, वही ब्रह्म या परम सत्य के स्वभाव को समझ सकता है। यह समझ कृष्णभावनामृत कहलाती है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण बतलाते हैं कि उनकी शक्तियाँ अपरा और परा अथवा भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों में विभाजित हैं। *ब्रह्म-संहिता* में आगे यह बतलाया गया है कि भौतिक शक्ति छाया की तरह कार्य करती है, जो आध्यात्मिक सच्चाई की, जो कि साक्षात् भगवान् तथा उनकी आध्यात्मिक शक्ति है, गतियों का अनुगमन करती है। जब किसी पर भगवान् कृष्ण की कृपा होती है, तो वे शरणागत आत्मा के समक्ष प्रकट होते हैं और वही सृष्टि, जो पहले आत्मा को आच्छादित किये रहती थी, अब आध्यात्मिक प्रकाश के लिए प्रेरणाप्रद बन जाती है।

अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि
क्रियाकलापं परिधाय वाससी ।
चकार सन्ध्योपगमादि सत्तमो
हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; आप्लुतः—स्नान करके; अम्भसि—जल में; अमले—स्वच्छ; यथा-विधि—वैदिक नियमों के अनुसार; क्रिया—अनुष्ठान के; कलापम्—समस्त अनुक्रम; परिधाय—पहन कर; वाससी—अधो तथा ऊपरी वस्त्र; चकार—किया; सन्ध्या-उपगम—प्रातःकालीन पूजा; आदि—इत्यादि; सत्-तमः—साधु-पुरुष; हुत—आहुति देकर; अनलः—पवित्र अग्नि को; ब्रह्म—वेदों का मंत्र (गायत्री); जजाप—मौन रहकर उच्चारण किया; वाक्—वाणी; यतः—नियंत्रित करते हुए।

तब पुरुषों में अत्यन्त साधु सदृश भगवान् कृष्ण पवित्र जल में स्नान करते, अपने अधो वस्त्र तथा ऊपरी वस्त्र पहनते और प्रातःकालीन पूजा इत्यादि सारे नियमित क्रिया-कलाप सम्पन्न करते। फिर पवित्र अग्नि में आहुति देकर वे मन ही मन गायत्री मंत्र का जाप करते।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि भगवान् कृष्ण कण्व मुनि की शिष्य-परम्परा में थे, अतएव उन्होंने सूर्योदय के पूर्व अग्नि में आहुति डाली। तब उन्होंने गायत्री मंत्र का जाप किया।

उपस्थायार्कमुद्यन्तं तर्पयित्वात्मनः कलाः ।
देवानृषीन्पितृन्वृद्धान्विप्रानभ्यर्च्य चात्मवान् ॥ ७ ॥
धेनूनां रुक्मशृङ्गीनां साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम् ।
पयस्विनीनां गृष्टीनां सवत्सानां सुवाससाम् ॥ ८ ॥
ददौ रूप्यखुराग्राणां क्षौमाजिनतिलैः सह ।
अलङ्कृतेभ्यो विप्रेभ्यो बद्वं बद्वं दिने दिने ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

उपस्थाय—पूजा करके; अर्कम्—सूर्य को; उद्यन्तम्—उदय होते; तर्पयित्वा—तर्पण करके; आत्मनः—अपने; कलाः—अंशों को; देवान्—देवताओं को; ऋषीन्—ऋषियों को; पितृन्—तथा पितरों को; वृद्धान्—अपने गुरुजनों को; विप्रान्—तथा ब्राह्मणों को; अभ्यर्च्य—पूज कर; च—तथा; आत्म-वान्—अपनी ही; धेनूनाम्—गौवों के; रुक्म—सोने (से मढ़ी); शृङ्गीनाम्—सींगों वाली; साध्वीनाम्—अच्छे स्वभाव वाली; मौक्तिक—मोतियों की; स्रजाम्—मालाओं से; पयस्विनीनाम्—दूध देने वाली; गृष्टीनाम्—एक बार ब्याई; स-वत्सानाम्—अपने बछड़ों समेत; सु-वाससाम्—अच्छी तरह से वस्त्र पहने; ददौ—दिया; रूप्य—चाँदी (से मढ़ी); खुर—खुरों वाली; अग्राणाम्—अगले; क्षौम—मलमल; अजिन—मृगचर्म; तिलैः—तथा तिल; सह—के साथ साथ; अलङ्कृतेभ्यः—आभूषण दिये गये; विप्रेभ्यः—ब्राह्मणों को; बद्वम् बद्वम्—(एक सौ सात) १३,०८ के समूह (पूर्ण संख्या ०,०००) ; दिने दिने—प्रतिदिन।

प्रतिदिन भगवान् उदय होते सूर्य की पूजा करते और अपने अंशरूप देवताओं, ऋषियों तथा पितरों का तर्पण करते। तत्पश्चात् आत्म-समृद्ध भगवान् अपने गुरुजनों तथा ब्राह्मणों की ध्यानपूर्वक पूजा करते। वे सुवस्त्राभूषित ब्राह्मणों को, पालतू तथा शान्त गौवों का झुंड दान में देते, जिनके सींग सोने से मढ़े होते और गले में मोतियों की मालाएँ रहती थीं। ये गौवें सुन्दर वस्त्रों से भी विभूषित रहतीं और उनके खुरों के अगले हिस्से चाँदी से मढ़े होते। ये प्रचुर दूध देने वाली तथा एक बार (ब्याँती) वाली होतीं और इनके साथ इनके बछड़े होते। भगवान् प्रतिदिन १३,०८ गौवों के अनेक झुंड विद्वा न ब्राह्मणों को देते और साथ में मलमल, मृगचर्म तथा तिल भी दान देते।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी ने यह दिखाने के लिए कई शास्त्रों से उद्धरण दिये हैं कि वैदिक अनुष्ठान के सन्दर्भ में *बद्व* १३,०८ गौवों का सूचक है। *बद्वं बद्वं दिने दिने* शब्दों से सूचित होता है कि भगवान् कृष्ण नित्य ही विद्वान ब्राह्मणों को गौवों के ऐसे अनेक झुंड दान देते थे। श्रीधर स्वामी यह भी प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि प्राचीन युग में महान् सन्त राजा ७ बद्व (७ – १३,०८) गौवें दान में देते थे। इस तरह इस यज्ञ में, जिसका नाम *मञ्चार* है, कुल १ लाख गौवें दी गईं।

अलंकृतेभ्यो विप्रेभ्यः शब्द सूचक हैं कि भगवान् कृष्ण के राज्य में ब्राह्मणों को सुन्दर सुन्दर वस्त्र और आभूषण दिये जाते थे। इस तरह वे अच्छी वेशभूषा में रहते थे।

श्रीकृष्ण में श्रील प्रभुपाद ने भगवान् कृष्ण की इन लीलाओं के विषय में गहरी अन्तर्दृष्टि प्रस्तुत की है। पाठकों को इस पुस्तक को पढ़ना चाहिए क्योंकि इस पुस्तक में *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कंध में वर्णित लीलाओं के विषय में पर्याप्त जानकारी तथा व्याख्या मिलती है। यहाँ पर किया गया हमारा विनीत प्रयास हमारे गुरुवर की शुद्धता तथा दक्षता के समक्ष नगण्य है। फिर भी उनके चरणकमलों की

सेवा में हम दशम स्कंध के मूलपाठ के शब्दार्थ, उनकी स्पष्ट एवं आवश्यक टीका प्रस्तुत कर रहे हैं, जो प्राय: हमारी परम्परा के महान् गुरुओं के कथनों पर आधारित है।

गोविप्रदेवतावृद्धगुरून्भूतानि सर्वशः ।
नमस्कृत्यात्मसम्भूतीर्मङ्गलानि समस्पृशत् ॥ ॥

शब्दार्थ

गो—गौवों; विप्र—ब्राह्मणों; देवता—देवताओं; वृद्ध—वरेषुजन; गुरून्—तथा गुरुओं को; भूतानि—जीवों को; सर्वशः—समस्त; नमस्कृत्य—नमस्कार करके; आत्म—अपने; सम्भूतीः—अंशों को; मङ्गलानि—शुभ वस्तुएँ (यथा भूरी गाय); समस्पृशत्—स्पर्श किया।

भगवान् कृष्ण गौवों, ब्राह्मणों तथा देवताओं, अपने वरेषुजनों तथा गुरुओं और समस्त जीवों को—जो उन परम पुरुष के ही अंशरूप हैं—नमस्कार करते। तब वे शुभ वस्तुओं का स्पर्श करते।

आत्मानं भूषयामास नरलोकविभूषणम् ।
वासोभिर्भूषणैः स्वीयैर्दिव्यस्रगनुलेपनैः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं को; भूषयाम् आस—सजाते; नर-लोक—मानव समाज के; विभूषणम्—आभूषण; वासोभिः—वस्त्रों से; भूषणैः—तथा रत्नों से; स्वीयैः—अपने ही; दिव्य—दैवी; स्रक्—फूल की मालाओं से; अनुलेपनैः—तथा लेपों से।

वे मानव समाज के आभूषण स्वरूप अपने शरीर को अपने विशेष वस्त्रों तथा रत्नों से और दैवी फूल-मालाओं एवं लेपों से सजाते।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि भगवान् के ''निजी वस्त्रों तथा आभूषणों'' में भगवान् का सुप्रसिद्ध पीताम्बर तथा कौस्तुभ मणि इत्यादि सम्मिलित हैं।

अवेक्ष्याज्यं तथादर्शं गोवृषद्विजदेवताः ।
कामांश्च सर्ववर्णानां पौरान्तःपुरचारिणाम् ।
प्रदाप्य प्रकृतीः कामैः प्रतोष्य प्रत्यनन्दत ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अवेक्ष्य—देखकर; आज्यम्—घी की ओर; तथा—और भी; आदर्शम्—शीशे की ओर; गो—गौवें; वृष—साँड़ों; द्विज—ब्राह्मणों; देवताः—देवतागण; कामान्—इच्छित वस्तुओं; च—तथा; सर्व—सभी; वर्णानाम्—जातियों के लोगों को; पौर—नगर में; अन्तः-पुर—महल के भीतर; चारिणाम्—रहने वाले; प्रदाप्य—देने का प्रबन्ध करके; प्रकृतीः—मंत्रीगण; कामैः—अपनी इच्छाओं के पूर्ण होने से; प्रतोष्य—पूरी तरह तुष्ट करके; प्रत्यनन्दत—सत्कार किया।

तब वे घी, दर्पण, गौवों तथा साँड़ों, ब्राह्मणों और देवताओं की ओर देखते और आश्वस्त

होते कि महल के भीतर तथा पूरे नगर में रहने वाले सभी जातियों के लोग इन उपहारों से सन्तुष्ट तो हैं। तत्पश्चात् अपने मंत्रियों की इच्छाओं को पूरा करके उनका अभिवादन और सत्कार करते।

संविभज्याग्रतो विप्रान्स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः ।
सुहृदः प्रकृतीर्दारानुपायुङ्क्त ततः स्वयम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

संविभज्य—बाँट कर; अग्रतः—पहले; विप्रान्—ब्राह्मणों को; स्रक्—मालाएँ; ताम्बूल—पान; अनुलेपनैः—तथा चन्दन-लेप से; सुहृदः—अपने मित्रों; प्रकृतीः—अपने मंत्रियों; दारान्—अपनी पत्नियों; उपायुङ्क्त—काम में लाते; ततः—तब; स्वयम्—स्वयम्।

सर्वप्रथम ब्राह्मणों को पुष्प-मालाएँ, पान तथा चन्दन-लेप बाँटकर इन्हीं उपहारों को अपने मित्रों, मंत्रियों तथा पत्नियों को देते और अन्त में स्वयं इनका उपभोग करते।

तावत्सूत उपानीय स्यन्दनं परमाद्भुतम् ।
सुग्रीवाद्यैर्हयैर्युक्तं प्रणम्यावस्थितोऽग्रतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; सूतः—सारथी; उपानीय—लाकर; स्यन्दनम्—रथ को; परम—अत्यन्त; अद्भुतम्—अद्भुत; सुग्रीव-आद्यैः—सुग्रीव नाम के तथा अन्य; हयैः—घोड़ों से; युक्तम्—जुता हुआ; प्रणम्य—प्रणाम करके; अवस्थितः—खड़ा हुआ; अग्रतः—उनके सामने।

तब तक भगवान् का सारथी उनके अत्यन्त अद्भुत रथ को ले आता जिसमें सुग्रीव तथा उनके अन्य घोड़े जुते होते। तत्पश्चात् उनका सारथी उन्हें नमस्कार करता और उनके समक्ष आ खड़ा होता।

गृहीत्वा पाणिना पाणी सारथेस्तमथारुहत् ।
सात्यक्युद्धवसंयुक्तः पूर्वाद्रिमिव भास्करः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

गृहीत्वा—पकड़ कर; पाणिना—अपने हाथ से; पाणी—हाथ; सारथेः—अपने सारथी के; तम्—उसको; अथ—तब; आरुहत्—चढ़ गये; सात्यकि-उद्धव—सात्यकि तथा उद्धव से; संयुक्तः—संग में; पूर्व—पूर्व की ओर का; अद्रिम्—पर्वत; इव—मानो; भास्करः—सूर्य।

अपने सारथी के हाथों को पकड़ कर भगवान् कृष्ण सात्यकि तथा उद्धव के साथ साथ रथ पर इस तरह चढ़ते मानो सूर्य पूर्व के पर्वत (उदयाचल) पर उदय हो रहा हो।

तात्पर्य : आचार्यगण इंगित करते हैं कि सारथी हाथ जोड़े खड़ा रहता और भगवान् अपने दाहिने हाथ से उसके जुड़े हाथों को पकड़ कर रथ पर चढ़ते।

ईक्षितोऽन्तःपुरस्त्रीणां सव्रीडप्रेमवीक्षितैः ।
कृच्छ्राद्विसृष्टो निरगाज्जातहासो हरन्मनः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ईक्षितः—देखे गये; अन्तः-पुर—महल की; स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; स-व्रीड—लजीली; प्रेम—तथा प्रेमपूर्ण; वीक्षितैः—चितवनों से; कृच्छ्रात्—कठिनाई से; विसृष्टः—छूट कर; निरगात्—छुटकारा पाकर; जात—प्रकट; हासः—हँसी; हरन्—चुराते; मनः—उनके मनों को।

महल की स्त्रियाँ भगवान् कृष्ण को लजीली प्रेममयी चितवनों से देखतीं और इस तरह वे मुश्किल से उनसे छूट पाते। तत्पश्चात् वे अपने हँसीयुक्त मुख से उनके मन को चुराते हुए चल पड़ते।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती उक्त दृश्य का वर्णन इस प्रकार करते हैं: ''अन्तःपुर की महिलाओं की लजीली प्रेम-भरी चितवनें, जो उनकी चंचलता का संकेत दे रही थीं, मानों कह रही हों, ''हम आपसे विलग होने के इस कष्ट को कैसे सह सकती हैं?'' भाव यह है कि चूँकि भगवान् उनके स्नेह के वशीभूत हो रहे थे अतएव वे यह इंगित करते हुए मुसकाने लगे, ''प्रिय चंचल स्त्रियो! इस छोटे-से वियोग से तुम लोग इतनी अभिभूत हो गई हो। मैं आज ही बाद में तुम सबों के साथ रमण करने के लिए वापस आ रहा हूँ।'' और तब वे उन सबों के मन को मोहने वाली हँसी के साथ अपने को उन सबों की प्रेमभरी चितवनों के बंधन से छुड़ाकर बड़ी मुश्किल से बाहर निकल पाये।''

सुधर्माख्यां सभां सर्वैर्वृष्णिभिः परिवारितः ।
प्राविशद्यन्निविष्टानां न सन्त्यङ्ग षड्डूर्मयः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सुधर्मा-आख्याम्—सुधर्मा नामक; सभाम्—राजसभो-भवन में; सर्वैः—सभी; वृष्णिभिः—वृष्णियों द्वारा; परिवारितः—सम्मिलित हुए; प्राविशत्—प्रविष्ट हुए; यत्—जो; निविस्तानाम्—प्रविष्ट हुओं के लिए; न सन्ति—नहीं हैं; अङ्ग—हे राजा (परीक्षित); षट्—छः; ऊर्मयः—तरंगें।

हे राजन्, भगवान् समस्त वृष्णियों के साथ साथ उस सुधर्मा सभाभवन में प्रवेश करते, जो उसमें प्रवेश करने वालों को भौतिक जीवन की छह तरंगों से रक्षा करता है।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं: ''यह स्मरण रखना होगा कि सुधर्मा सभाभवन स्वर्गलोक से लाकर द्वारकापुरी नगरी में फिर से स्थापित किया गया था। इस सभाभवन की विशेषता यह थी कि जो भी इसमें प्रवेश करता वह छह प्रकार के भौतिक कष्टों—भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु—से

मुक्त हो जाता था। इस संसार में कोड़े लगते रहते हैं किन्तु जब तक कोई सुधर्मा सभाभवन में रहता तब तक वह इन छ: भौतिक कोड़ों से प्रभावित नहीं होता था।''

इस सम्बन्ध में श्रीधर स्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती की व्याख्या है कि जब भगवान् कृष्ण अपने अनेक महलों में से होकर अलग अलग बाहर निकलते तो उनका प्रत्येक रूप उन विशेष महलों के प्रांगणों में उपस्थित रहने वालों को तथा पड़ोसी निवासियों को दृष्टिगोचर होता किन्तु अन्यों को नहीं। तत्पश्चात् सुधर्मा सभाभवन के द्वार पर भगवान् के सारे रूप एक में मिल जाते और इस तरह वे सभाभवन में प्रवेश करते।

तत्रोपविस्त: परमासने विभु-
र्बभौ स्वभासा ककुभोऽवभासयन् ।
वृतो नृसिंहैर्यदुभिर्यदूत्तमो
यथोडुराजो दिवि तारकागणै: ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; उपविष्ट:—बैठे; परम-आसने—उच्च सिंहासन पर; विभु:—सर्वशक्तिमान प्रभु; बभौ—चमकते; स्व—अपने; भासा—तेज से; ककुभ:—आकाश के कोने; अवभासयन्—प्रकाशित करते हुए; वृत:—घिरे हुए; नृ—मनुष्य के रूप; सिंहै:—सिंहों द्वारा; यदुभि:—यदुओं द्वारा; यदु-उत्तम:—यदुओं में सर्वश्रेष्ठ; यथा—जिस तरह; उडु-राज:—चन्द्रमा; दिवि—आकाश में; तारका-गणै:—तारों से (घिरा हुआ)।

जब उस सभाभवन में सर्वशक्तिमान भगवान् अपने श्रेष्ठ सिंहासन पर विराजमान होते तो वे अपने अद्वितीय तेज से आकाश की दिशाओं को प्रकाशित करते हुए शोभायमान होते। पुरुषों में सिंह रूप यदुओं से घिर कर वे यदुश्रेष्ठ वैसे ही प्रतीत होते जैसे कि अनेक तारों के बीच चन्द्रमा।

तत्रोपमन्त्रिणो राजन्नानाहास्यरसैर्विभुम् ।
उपतस्थुर्नटाचार्या नर्तक्यस्ताण्डवै: पृथक् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; उपमन्त्रिण:—विदूषक; राजन्—हे राजन्; नाना—विविध; हास्य—हास्य; रसै:—रसों के द्वारा; विभुम्—भगवान् को; उपतस्थु:—उन्होंने सेवा की; नट-आचार्या:—दक्ष मनोविनोद करने वाले; नर्तक्य:—नर्तकियाँ; ताण्डवै:—कलापूर्ण नृत्य से; पृथक्—अलग से।

हे राजन्, वहाँ पर विदूषक विविध हास्य रसों का प्रदर्शन करके भगवान् का मनोरंजन करते, दक्ष नर्तक उनके लिए अभिनय करते और नर्तकियाँ ओजपूर्ण नृत्य प्रस्तुत करतीं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि *नटाचार्य* शब्द और बातों के साथ साथ दक्ष

जादूगरों का द्योतक है। ये तरह तरह के मनोविनोद प्रस्तुतकर्ता राजसभा में एक के बाद एक, भगवान् के लिए प्रदर्शन करते।

मृदङ्गवीणामुरजवेणुतालदरस्वनैः ।
ननृतुर्जगुस्तुष्टुवुश्च सूतमागधवन्दिनः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

मृदङ्ग—मृदंग; वीणा—वीणा; मुरज—तथा मुरज का, एक प्रकार का अन्य ढोल; वेणु—बाँसुरी; ताल—मंजीरें; दर—तथा शंख के; स्वनैः—ध्वनि सहित; ननृतुः—नृत्य किया; जगुः—गाया; तुष्टुवुः—प्रशंसा की; च—तथा; सूत—भाट; मागध—तथा चारण; वन्दिनः—तथा वंदीजन।

ये अभिनयकर्ता मृदंग, वीणा, मुरज, वंशी, मंजीरा तथा शंख की ध्वनि के साथ नाचते और गाते, जबकि पेशेवर कवि, मागध तथा वन्दीजन भगवान् के यश का गायन करते।

तत्राहुर्ब्राह्मणाः केचिदासीना ब्रह्मवादिनः ।
पूर्वेषां पुण्ययशसां राज्ञां चाकथयन्कथाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; आहुः—बोले; ब्राह्मणाः—ब्राह्मणगण; केचित्—कुछ; आसीनाः—बैठे हुए; ब्रह्म—वेदों के; वादिनः—ज्ञाता; पूर्वेषाम्—भूतकाल के; पुण्य—पवित्र; यशसाम्—जिनका यश; राज्ञाम्—राजाओं का; च—तथा; आकथयन्—सुनाते; कथाः—कथाएँ।

कुछ ब्राह्मण उस सभाभवन में बैठ कर वैदिक मंत्रों का सस्वर पाठ करते और कुछ पूर्वकालीन पवित्र कीर्ति वाले राजाओं की कथाएँ कह कर सुनाते।

तत्रैकः पुरुषो राजन्नागतोऽपूर्वदर्शनः ।
विज्ञापितो भगवते प्रतीहारैः प्रवेशितः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; एकः—एक; पुरुषः—व्यक्ति; राजन्—हे राजा (परीक्षित); आगतः—आया; अपूर्व—जिसके पहले कभी नहीं; दर्शनः—जिसका प्राकटय; विज्ञापितः—आने की सूचना दी; भगवते—भगवान् से; प्रतीहारैः—द्वारपालों के द्वारा; प्रवेशितः—भीतर जाने दिया गया।

हे राजन्, एक बार एक व्यक्ति उस सभा में आया जो इसके पूर्व वहाँ कभी नहीं देखा गया था। द्वारपालों ने उसके आने की जानकारी भगवान् को दी और तब वे उसे भीतर लेकर आये।

स नमस्कृत्य कृष्णाय परेशाय कृताञ्जलिः ।
राज्ञामावेदयद्दुःखं जरासन्धनिरोधजम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; नमस्कृत्य—नमस्कार करके; कृष्णाय—भगवान् कृष्ण को; पर-ईशाय—परमेश्वर; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़ कर; राज्ञाम्—राजाओं के; आवेदयत्—निवेदन किया; दुःखम्—कष्ट; जरासन्ध—जरासन्ध द्वारा; निरोध-जम्—बन्दी बनाये जाने के कारण।

उस व्यक्ति ने भगवान् कृष्ण को नमस्कार किया और हाथ जोड़ कर उनको बतलाया कि जरासन्ध द्वारा बन्दी बनाये जाने के कारण किस तरह अनेक राजा कष्ट भोग रहे हैं।

ये च दिग्विजये तस्य सन्नतिं न ययुर्नृपाः ।
प्रसह्य रुद्धास्तेनासन्नयुते द्वे गिरिव्रजे ॥ २॥

शब्दार्थ

ये—जो; च—तथा; दिक्-विजये—सभी दिशाओं में विजय के समय; तस्य—उसकी (जरासन्ध की); सन्नतिम्—पूर्ण अधीनता; न ययुः—स्वीकार नहीं किया; नृपाः—राजा; प्रसह्य—बलपूर्वक; रुद्धाः—बन्दी बनाये गये; तेन—उसके द्वारा; आसन्—थे; अयुते—दस हजार; द्वे—दो; गिरि-व्रजे—गिरिव्रज नामक किले में।

जिन बीस हजार राजाओं ने जरासन्ध की दिग्विजय के समय पूर्ण अधीनता स्वीकार नहीं की थी, वे उसके द्वारा बलपूर्वक गिरिव्रज नामक किले में बन्दी बना लिये गये थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि ये वे राजा थे जिन्होंने भेंट देने तथा अन्य प्रकार की अधीनता स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। *महाभारत* तथा अन्य ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण विवरण मिलता है कि जरासन्ध ने एक लाख राजाओं की बलि देकर महाभैरव की पूजा करनी चाही थी।

राजान ऊचुः
कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन्प्रपन्नभयभञ्जन ।
वयं त्वां शरणं यामो भवभीताः पृथग्धियः ॥ २५॥

शब्दार्थ

राजानः—राजाओं ने; ऊचुः—कहा; कृष्ण कृष्ण—हे कृष्ण, हे कृष्ण; अप्रमेय-आत्मन्—हे अमाप्य आत्मा; प्रपन्न—शरणागत लोगों के; भय—डर के; भञ्जन—हे नष्ट करने वाले; वयम्—हम; त्वाम्—तुम्हारी; शरणम्—शरण में; यामः—आये हैं; भव—संसार से; भीताः—डरे हुए; पृथक्—अलग; धियः—जिनकी मनोवृत्ति।

[दूत के द्वारा दिये गये वृत्तान्त के अनुसार] राजाओं ने कहा : हे कृष्ण, हे कृष्ण, हे अप्रमेय आत्मा, हे शरणागतों के भय के विनाशक, हम पृथक् पृथक् मत रखने के बावजूद संसार से भयभीत होकर आपके पास शरण लेने आये हैं।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी व्याख्या करते हैं कि इस श्लोक में तथा अगले पाँच श्लोकों में राजाओं का

निवेदन प्रस्तुत हुआ है। इस श्लोक में वे भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं, अगले तीन श्लोकों में वे अपने भय का वर्णन करते हैं और अन्तिम दो श्लोकों में वे अपनी प्रार्थनाएँ प्रस्तुत करते हैं।

लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः
कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

लोकः—सारा संसार; विकर्म—पापकर्मों में; निरतः—सदैव लिप्त; कुशले—उनके लाभ के लिए; प्रमत्तः—मोहग्रस्त; कर्मणि—कार्यों में; अयम्—यह (जगत); त्वत्—तुम्हारे द्वारा; उदिते—कहे गये; भवत्—आपका; अर्चने—पूजा में; स्वे—अपनी (लाभप्रद कार्य); यः—जो; तावत्—तब तक; अस्य—इस (जगत का); बल-वान्—शक्तिशाली; इह—इस जीवन में; जीवित—दीर्घायु के लिए; आशाम्—आशा; सद्यः—सहसा; छिनत्ति—काट देता है; अनिमिषाय—पलक झपकने तक के समय को; नमः—नमस्कार; अस्तु—हो; तस्मै—उसको।

इस जगत में लोग सदैव पापकर्मों में लगे रहते हैं और इस तरह वे अपने असली कर्तव्य के विषय में, जो आपके आदेशानुसार आपकी पूजा करना है, विभ्रमित रहते हैं। इस कार्य से सचमुच ही उन्हें सौभाग्य प्राप्त हो सकता है। हम सर्वशक्तिमान भगवान् को नमस्कार करते हैं, जो काल रूप में प्रकट होते हैं और इस जगत में दीर्घायु की प्रबल आशा को सहसा छिन्न कर देते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२७) में भगवान् कृष्ण कहते हैं :

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"हे कौन्तेय! तुम जो भी करो, जो भी खाओ, जो भी मुझे अर्पित करो या दान दो और जो भी तपस्या करो, उसे मुझे भेंट के रूप में करो।"

यही परमेश्वर का अध्यादेश है किन्तु लोग सामान्यतः विभ्रमित रहते हैं और इस शुभ कार्य की उपेक्षा करके भयानक कष्ट देने वाले पापपूर्ण कर्मों को चुनते हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन भगवद्भक्ति के इस अत्यावश्यक कार्य के विषय में संसार को प्रबुद्ध करने का कार्य कर रहा है।

लोके भवाञ्जगदिनः कलयावतीर्णः
सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चान्यः ।

कश्चित्त्वदीयमतियाति निदेशमीश
किं वा जनः स्वकृतमृच्छति तन्न विद्मः ॥ २७॥

शब्दार्थ

लोके—इस जगत में; भवान्—आप; जगत्—ब्रह्माण्ड का; इनः—प्रधान; कलया—अपने अंश बलदेव के साथ अथवा अपनी कालशक्ति के साथ; अवतीर्णः—अवतरित होकर; सत्—सन्त पुरुषों की; रक्षणाय—रक्षा करने हेतु; खल—दुष्ट का; निग्रहणाय—दमन करने के लिए; च—तथा; अन्यः—दूसरा; कश्चित्—कोई; त्वदीयम्—तुम्हारे; अतियाति—उल्लंघन करता है; निदेशम्—नियम का; ईश—हे प्रभु; किम् वा—अथवा; जनः—कोई व्यक्ति; स्व—अपने से; कृतम्—बनाया गया; ऋच्छति—पा लेता है; तत्—उसे; न विद्मः—हम नहीं जानते।

आप विश्व के अधिष्ठाता प्रभु हैं और आप इस जगत में सन्तों की रक्षा करने तथा दुष्टों का दमन करने के लिए अपनी निजी शक्ति के साथ अवतरित हुए हैं। हे प्रभु, हम यह समझ नहीं पाते कि कोई आपके नियम का उल्लंघन करने पर भी अपने कर्म के फलों को कैसे भोग सकता है?

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि राजा लोग अपने ऊपर आई विपत्ति के कारण विभ्रमित थे। वे इस श्लोक में यह बतलाते हैं कि भगवान् इस जगत में पुण्यात्माओं की रक्षा करने और दुष्टों को दण्ड देने के लिए अवतरित हुए हैं, तो फिर भगवान् के आदेश का सरासर उल्लंघन करने वाला यह जरासन्ध किस तरह अपने दुष्ट कर्म करता जा रहा है, जबकि सारे राजा दयनीय स्थिति में धकेल दिये गये हैं? इसी तरह श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि राजा लोग यह न समझ पाये कि जरासन्ध, जो कि सन्त भक्तों को सताये जा रहा था और दुष्टों का पोषण कर रहा था, किस तरह उन्नति करता रहा, जबकि राजागण उस दुष्ट जरासन्ध द्वारा उत्पीड़ित किये जा रहे थे। इसी प्रकार *भगवान् श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद राजाओं के विषय में उद्धरण देते हैं, ‘‘हे प्रभु! आप समस्त जगतों के मालिक हैं और आप अपने स्वांश बलराम के साथ अवतरित हुए हैं। यह कहा जाता है कि आपका यह अवतार श्रद्धालुओं की रक्षा करने और दुष्टों को विनष्ट करने के लिए हुआ है। ऐसी परिस्थितियों में यह कैसे सम्भव है कि आपके होते हुए जरासन्ध जैसा दुष्ट हमें इस दयनीय स्थिति में ला दे? हम इस स्थिति से भौंचक्के हैं और यह नहीं समझ पा रहे कि यह कैसे हो रहा है? हो सकता है कि हमारे विगत कर्मों के कारण कष्ट देने के लिए जरासन्ध को नियुक्त किया गया हो! किन्तु हमने शास्त्रों से यही सुना है कि जो कोई आपके चरणों की शरण ग्रहण करता है, वह तुरन्त ही पापपूर्ण जीवन के फलों के प्रति निश्चेष्ट हो जाता है—अतएव हम पूरी तरह से आपके शरणागत हैं और हमें आशा है कि आप हमें पूर्ण संरक्षण प्रदान करेंगे।’’

स्वप्नायितं नृपसुखं परतन्त्रमीश
शश्वद्भयेन मृतकेन धुरं वहामः ।
हित्वा तदात्मनि सुखं त्वदनीहलभ्यं
क्लिश्यामहेऽतिकृपणास्तव माययेह ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

स्वप्नायितम्—स्वप्न की तरह; नृप—राजाओं के; सुखम्—सुख को; पर-तन्त्रम्—बद्ध; ईश—हे प्रभु; शश्वत्—नित्य; भयेन—भय से; मृतकेन—इस शव से; धुरम्—बोझ को; वहामः—ढो रहे हैं; हित्वा—छोड़ कर; तत्—उस; आत्मनि—आत्मा के भीतर; सुखम्—सुख को; त्वत्—आपके लिए किया गया; अनीह—निःस्वार्थ कार्य से; लभ्यम्—प्राप्त होने वाले; क्लिश्यामहे—कष्ट भोगते हैं; अति—अत्यधिक; कृपणाः—अभागे; तव—आपकी; मायया—माया से; इह—इस संसार में।

हे प्रभु, इस शवतुल्य शरीर से, जो कि सदैव भय से ओतप्रोत रहता है, हम राजा लोग सुख के बोझ को स्वप्न की तरह वहन करते हैं। इस तरह हमने असली आत्म-सुख को त्याग दिया है, जो आपकी निस्वार्थ सेवा करने से प्राप्त होता है। इतने अधिक अभागे होने से हम आपकी माया के पाश के अन्तर्गत कष्ट भोग रहे हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में अपना सन्देह व्यक्त करने के बाद यहाँ पर सारे राजा यह स्वीकार करते हैं कि वे अपनी मूर्खता के कारण ही कष्ट भोग रहे हैं, क्योंकि तथाकथित राजपद के क्षणिक तथा बद्धसुख के बदले में उन्होंने नित्य आत्म-सुख का परित्याग कर दिया है। अधिकांश लोग अपनी आत्मा के बदले सम्पत्ति, शक्ति, सम्मान, राजवंश इत्यादि की कामना करने के कारण ऐसी भूल करते हैं। सारे राजा यह स्वीकार करते हैं कि वे भगवान् की माया के पाश में फँस चुके हैं और उन्होंने राजनीतिक अगुआई की महान् चिन्ता को ही सुख मान लिया है।

तन्नो भवान्प्रणतशोकहराङ्‌घ्रियुग्मो
बद्धान्वियुङ्‌क्ष्व मगधाह्वयकर्मपाशात् ।
यो भूभुजोऽयुतमतङ्गजवीर्यमेको
बिभ्रद्रुरोध भवने मृगराडिवावीः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; नः—हमको; भवान्—आप; प्रणत—शरणागतों के; शोक—शोक; हर—हरने वाले; अङ्‌घ्रि—पाँवों की; युग्मः—जोड़ी; बद्धान्—बद्ध; वियुङ्‌क्ष्व—कृपया छुड़ा दें; मगध-आह्वय—मगध नामक (जरासन्ध); कर्म—सकाम कर्म की; पाशात्—जंजीरों से; यः—जो; भू-भुजः—राजा का; अयुत—दस हजार; मतम्—उन्मत्त; गज—हाथियों के; वीर्यम्—पराक्रम; एकः—अकेले; बिभ्रत्—वश में करके; रुरोध—बन्दी बना लिया; भवने—अपने घर में; मृग-राट्—पशुओं का राजा, सिंह; इव—जिस तरह; अवीः—भेड़ों को।

इसलिए आप हम बन्दियों को कर्म के बन्धनों से, जो कि मगध के राजा के रूप में प्रकट

हुए हैं, मुक्त कीजिये, क्योंकि आपके चरण उन लोगों के शोक को हरने वाले हैं, जो उनकी शरण में जाते हैं। दस हजार उन्मत्त हाथियों के पराक्रम को वश में करके अकेले उसने हम सबों को अपने घर में उसी तरह बन्दी कर रखा है, जिस तरह कोई सिंह भेड़ों को पकड़ लेता है।

तात्पर्य : सारे राजा भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं कि वे उन्हें कर्म के बन्धन से मुक्त कर दें, जो कि भगवान् की भौतिक शक्ति से उत्पन्न है। वे यह स्पष्ट कर देते हैं कि जरासन्ध इतना प्रबल है कि उनके लिए अपनी शक्ति के बल पर उससे छूट पाने की कोई आशा नहीं हैं।

यो वै त्वया द्विनवकृत्व उदात्तचक्र
भग्नो मृधे खलु भवन्तमनन्तवीर्यम् ।
जित्वा नृलोकनिरतं सकृदूढदर्पो
युष्मत्प्रजा रुजति नोऽजित तद्विधेहि ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; वै—निस्सन्देह; त्वया—तुम्हारे द्वारा; द्वि—दो बार; नव—नौ; कृत्वः—गुणित; उदात्त—ऊपर उठा हुआ; चक्र—हे चक्रधारी; भग्नः—कुचला हुआ; मृधे—युद्ध में; खलु—निश्चय ही; भवन्तम्—आप; अनन्त—असीम; वीर्यम्—शक्ति; जित्वा—जीतकर; नृ-लोक—मानवीय मामलों में; निरतम्—लीन; सकृत्—केवल एक बार; ऊढ—बढ़ा हुआ; दर्पः—गर्व; युष्मत्—तुम्हारी; प्रजाः—जनता; रुजति—सताती है; नः—हमको; अजित—हे अजित; तत्—उसे; विधेहि—कृपा करके ठीक कर दें।

हे चक्रधारी, आपकी शक्ति अथाह है और इस तरह आपने जरासन्ध को युद्ध में सत्रह बार कुचला है। किन्तु मानवीय कामकाज में लीन होने से आपने उसे आप को पराजित करने का एक बार अवसर दिया है। अब वह गर्व से इस कदर फूला हुआ है कि आपकी जनता रूप हम सबों को, सताने का दुस्साहस कर रहा है। हे अजित, आप इस स्थिति को सुधारें।

तात्पर्य : *नृलोकनिरतम्* शब्द सूचित करता है कि भगवान् मानवी जगत के भीतर क्रीड़ा करने में लीन थे। इस तरह मानवीय राजा की भाँति अभिनय करते हुए उन्होंने जरासन्ध को सत्रह बार पराजित करने के बाद एक युद्ध में उसे विजयी होने दिया। यहाँ पर राजा यह कहना चाहते हैं कि जरासन्ध उन्हें इसलिए सता रहा है, क्योंकि वे लोग कृष्ण के शरणागत हैं। इसलिए वे भगवान् से याचना करते हैं, ‘‘हे चक्र-शस्त्र को ऊँचा रखने वाले! आप समुचित प्रबन्ध करें।’’

श्रील प्रभुपाद ने राजाओं की भावनाओं को इस प्रकार व्यक्त किया है, ‘‘हे प्रभु! आप अब तक क्रमशः अठारह बार जरासंध से युद्ध कर चुके हैं, जिसमें से उसकी असाधारण शक्तिशाली स्थिति पर

विजयी होकर आपने उसे सत्रह बार हराया है। परन्तु अठारहवें युद्ध में आपने अपना मानवीय आचरण प्रदर्शित किया, जिससे ऐसा लगा कि आप पराजित हो गये। प्रिय प्रभु! हम यह भलीभाँति जानते हैं कि जरासन्ध आपको कभी भी नहीं हरा सकता, क्योंकि आपकी शक्ति, क्षमता, साधन और अधिकार सभी अनन्त हैं। न तो कोई आपकी समता कर सकता है, न आपसे बढ़कर हो सकता है। अठारहवें युद्ध में जरासन्ध के द्वारा आपकी हार की प्रतीति मानव आचरण का एक प्रदर्शन मात्र है। दुर्भाग्यवश, मूर्ख जरासन्ध आपकी चातुरी को नहीं समझ पाया और तब से वह अपनी भौतिक शक्ति तथा प्रतिष्ठा के गर्व से फूला हुआ है। विशेष रूप से उसने हमें बन्दी बना लिया है, यह भलीभाँति जानते हुए कि आपके भक्त होने से हम आपकी सत्ता के अधीन हैं।''

दूत उवाच

इति मागधसंरुद्धा भवद्दर्शनकङ्क्षिणः ।
प्रपन्नाः पादमूलं ते दीनानां शं विधीयताम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

दूतः उवाच—सन्देशवाहक ने कहा; इति—इस प्रकार; मागध—जरासन्ध द्वारा; संरुद्धाः—बन्दी बनाये गये; भवत्—आपके; दर्शन—दर्शन के लिए; काङ्क्षिणः—उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करते हुए; प्रपन्नाः—शरणागत; पाद—चरणों के; मूलम्—तले; ते—तुम्हारे; दीनानाम्—दीनों के; शम्—लाभ; विधीयताम्—कृपया प्रदान करें।

दूत ने आगे कहा : यह जरासन्ध के द्वारा बन्दी बनाये गये राजाओं का सन्देश है। वे सभी आपके दर्शनों के लिए लालायित हैं, क्योंकि उन्होंने अपने को आपके चरणों में समर्पित कर दिया है। कृपा करके इन बेचारों को सौभाग्य प्रदान करें।

श्रीशुक उवाच

राजदूते ब्रुवत्येवं देवर्षिः परमद्युतिः ।
बिभ्रत्पिङ्गजटाभारं प्रादुरासीद्यथा रविः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; राज—राजाओं के; दूते—दूत के; ब्रुवति—बोल चुकने पर; एवम्—इस प्रकार; देव—देवताओं के; ऋषिः—ऋषि (नारदमुनि); परम—परम; द्युतिः—तेज; बिभ्रत्—धारण किये; पिङ्ग—पीला सा; जटा—बालों के समूह के; भारम्—भार; प्रादुरासीत्—प्रकट हुए; यथा—जिस तरह; रविः—सूर्य।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब राजाओं का दूत इस तरह बोल चुका, तो देवर्षि नारद सहसा प्रकट हुए। सिर पर सुनहरे रंग की जटा धारण किये परम तेजस्वी ऋषि प्रकाशमान सूर्य की तरह लग रहे थे।

तं दृष्ट्वा भगवान्कृष्ण: सर्वलोकेश्वरेश्वर: ।
ववन्द उत्थित: शीर्ष्णा ससभ्य: सानुगो मुदा ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; दृष्ट्वा—देखकर; भगवन्—भगवान्; कृष्ण:—कृष्ण ने; सर्व—समस्त; लोक—लोकों के; ईश्वर—नियन्ताओं के भी; ईश्वर:—नियन्ता; ववन्द—नमस्कार किया; उत्थित:—उठकर; शीर्ष्णा—अपने सिर के बल; स—सहित; सभ्य:—सभा के सदस्यों; स—सहित; अनुग:—अनुयायियों; मुदा—हर्ष के साथ।.

भगवान् कृष्ण जो ब्रह्मा तथा शिव जैसे लोकेश्वरों के भी पूज्य स्वामी हैं फिर भी ज्योंही उन्होंने नारदमुनि को आते देखा, तो वे अपने मंत्रियों तथा सचिवों समेत महर्षि का स्वागत करने तथा अपना सिर झुकाकर उन्हें सादर नमस्कार करने के लिए सहर्ष खड़े हो गये।

तात्पर्य : यह भावार्थ श्रील प्रभुपाद कृत *श्रीकृष्ण* पर आधारित है। *मुदा* शब्द यह सूचित करता है कि नारद को आया देखकर भगवान् कृष्ण मुदित थे।

सभाजयित्वा विधिवत्कृतासनपरिग्रहम् ।
बभाषे सुनृतैर्वाक्यै: श्रद्धया तर्पयन्मुनिम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सभाजयित्वा—पूजा करके; विधि-वत्—शास्त्रों के आदेशानुसार; कृत—जिसने किया था उसको (नारद को); आसन—आसन का; परिग्रहम्—स्वीकार किया जाना; बभाषे—(श्रीकृष्ण) बोले; सु-नृतै:—सत्य तथा मधुर; वाक्यै:—शब्दों से; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; तर्पयन्—तुष्ट करते हुए; मुनिम्—मुनि को।.

जब नारद, उन्हें निवेदित किया गया आसन ग्रहण कर चुके, तो भगवान् ने शास्त्रीय विधियों से मुनि का स्वागत किया और सम्मानपूर्वक तुष्ट करते हुए उनसे निम्नलिखित सत्यनिष्ठ तथा मधुर शब्द कहे।

अपि स्विदद्य लोकानां त्रयाणामकुतोभयम् ।
ननु भूयान्भगवतो लोकान्पर्यटतो गुण: ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

अपि स्वित्—निश्चय ही; अद्य—आज; लोकानाम्—लोकों के; त्रयाणाम्—तीनों; अकुत:-भयम्—भय से पूर्ण मुक्ति; ननु—निस्सन्देह; भूयान्—महान्; भगवत:—शक्तिशाली पुरुष का; लोकान्—समस्त लोकों में; पर्यटत:—विचरण करने वाले; गुण:—गुण।.

[भगवान् कृष्ण ने कहा] : यह निश्चित है कि आज तीनों लोकों ने समस्त भय से मुक्ति प्राप्त कर ली है, क्योंकि यह आप जैसे सारे लोकों में स्वच्छन्द विचरण करने वाले महापुरुष का प्रताप है।

न हि तेऽविदितं किञ्चिल्लोकेष्वीश्वरकर्तृषु ।
अथ पृच्छामहे युष्मान्पाण्डवानां चिकीर्षितम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; ते—तुमको; अविदितम्—अज्ञात; किञ्चित्—कुछ भी; लोकेषु—लोकों में; ईश्वर—परमेश्वर; कर्तृषु—बनाने वाले; अथ—इस तरह; पृच्छामहे—हम जिज्ञासा करें; युष्मान्—आपसे; पाण्डवानाम्—पाण्डु-पुत्रों के; चिकीर्षितम्—मनोभावों के विषय में।.

ईश्वर की सृष्टि के भीतर ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो आपको ज्ञात न हो। अतएव कृपा करके हमें बतलायें कि पाण्डव क्या करना चाहते हैं?

श्रीनारद उवाच
दृष्टा माया ते बहुशो दुरत्यया
माया विभो विश्वसृजश्च मायिनः ।
भूतेषु भूमंश्चरतः स्वशक्तिभि-
र्वह्नेरिव च्छन्नरुचो न मेऽद्भुतम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; दृष्टा—देखी गयी; मया—मेरे द्वारा; ते—तुम्हारी; बहुशः—अनेक बार; दुरत्यया—दुर्लंघ्य; माया—मोहिनी शक्ति; विभो—हे सर्वशक्तिमान; विश्व—ब्रह्माण्ड के; सृजः—स्रष्टा (ब्रह्मा) का; च—तथा; मायिनः—मोहने वाले (आप) का; भूतेषु—जीवों में; भूमन्—हे सर्वव्यापक; चरतः—विचरण करने वाले (आपका); स्व—अपनी; शक्तिभिः—शक्तियों से; वह्नेः—अग्नि की; इव—तरह; छन्न—ढका हुआ; रुचः—प्रकाश; न—नहीं; मे—मेरे लिए; अद्भुतम्—अद्‌भुत।.

श्री नारद ने कहा : हे सर्वशक्तिमान, मैं आपकी माया की दुर्लंघ्य शक्ति को, जिससे ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्मा तक को आप मोहित कर लेते हैं, कई बार देख चुका हूँ। हे भूमन्, इसमें मुझे तनिक भी आश्चर्य नहीं लगता कि आप जीवों के बीच विचरण करते हुए अपने को अपनी ही शक्तियों से छिपा लेते हैं, जिस तरह अग्नि अपने ही प्रकाश को धुएँ से ढक लेती है।

तात्पर्य : जब भगवान् ने नारदमुनि से पाण्डवों के मनोभावों के विषय में पूछा, तो मुनि ने उत्तर दिया कि भगवान् स्वयं ही सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ हैं, यहाँ तक कि वे ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्मा को भी मोह सकते हैं। नारद जान गये थे कि भगवान् कृष्ण जरासन्ध का वध करना चाहते हैं और नारद से पाण्डवों के मनोभावों के विषय में पूछ कर इस लीला की तैयारी प्रारम्भ कर रहे हैं। भगवान् के इस मनोभाव को जान कर नारद को तनिक भी आश्चर्य नहीं हुआ, जब भगवान् कृष्ण ने उनसे समाचार जानना चाहा।

तवेहितं कोऽर्हति साधु वेदितुं
स्वमाययेदं सृजतो नियच्छतः ।
यद्विद्यमानात्मतयावभासते
तस्मै नमस्ते स्वविलक्षणात्मने ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

तव—तुम्हारा; ईहितम्—उद्देश्य; कः—कौन; अर्हति—समर्थ है; साधु—उचित रीति से; वेदितुम्—समझ पाने के लिए; स्व—अपनी; मायया—भौतिक शक्ति से; इदम्—इस (ब्रह्माण्ड) को; सृजतः—बनाता है; नियच्छतः—तथा विलीन कर देता है; यत्—जो; विद्यमान—उपस्थित होना; आत्मतया—आप परमात्मा के सम्बन्ध द्वारा; अवभासते—प्रतीत होता है; तस्मै—उसे; नमः—नमस्कार; ते—तुमको; स्व—अपनी ही प्रकृति द्वारा; विलक्षण-आत्मने—अचिन्त्य।

भला आपके उद्देश्य को सही सही कौन समझ सकता है? अपनी भौतिक शक्ति से आप इस सृष्टि का विस्तार करते हैं और फिर इसे अपने में लीन कर लेते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि इसका वास्तविक अस्तित्व है। आपको नमस्कार है, जिनकी दिव्य स्थिति अचिन्त्य है।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने नारद की अनुभूति का वर्णन इस प्रकार किया है—"प्रिय प्रभु! आप अपनी अचिन्त्य शक्तियों द्वारा इस विराट जगत की सृष्टि करते हैं, इसका पालन करते हैं और फिर इसका संहार कर देते हैं। ऐसा आपकी अचिन्त्य शक्ति के बल पर ही होता है कि यद्यपि यह भौतिक जगत वैकुण्ठ-लोक का छाया-निरूपण ही है, तथापि यह वास्तविक प्रतीत होता है। कोई समझ नहीं पाता कि आप भविष्य में क्या करने वाले हैं। आपकी दिव्य स्थिति सबके लिए सदैव अचिन्त्य है। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मैं आपको बारम्बार नमस्कार ही कर सकता हूँ।"

स्वविलक्षणात्मने शब्द यह भी सूचित करता है कि भगवान् कृष्ण का अपना अद्वितीय स्वभाव तथा गुण है। कोई न तो ईश्वर के तुल्य है, न उनसे बढ़कर है।

जीवस्य यः संसरतो विमोक्षणं
न जानतोऽनर्थवहाच्छरीरतः ।
लीलावतारैः स्वयशः प्रदीपकं
प्राज्वालयत्त्वा तमहं प्रपद्ये ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

जीवस्य—बद्धजीव के लिए; यः—जो (भगवान्); संसरतः—जन्म-मृत्यु के चक्र में जकड़ा (बद्धजीव); विमोक्षणम्—मुक्ति; न जानतः—न जानते हुए; अनर्थ—अवांछित वस्तुएँ; वहात्—जो लाता है; शरीरतः—भौतिक शरीर से; लीला—लीलाओं के लिए; अवतारैः—इस जगत में अवतार लेकर; स्व—अपना; यशः—यश; प्रदीपकम्—दीपक; प्राज्वालयत्—जलवाया; त्वा—तुम; तम्—उस भगवान् की; अहम्—मैं; प्रपद्ये—शरण में जाता हूँ।

जन्म तथा मृत्यु के चक्र में फँसा जीव यह नहीं जानता कि भौतिक शरीर से, जिससे उसे

इतना कष्ट मिलता है, किस प्रकार छुटकारा पाया जाये। किन्तु हे परमेश्वर, आप विविध स्वरूपों में इस जगत में अवतरित होते हैं और अपनी लीलाएँ करके अपने यश की प्रज्वलित मशाल से जीव के मार्ग को आलोकित कर देते हैं। इसलिए मैं आपकी शरण में जाता हूँ।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "[नारद ने कहा] ज्ञान की शारीरिक धारणा में प्रत्येक व्यक्ति भौतिक इच्छाओं से प्रेरित होता है, अतएव प्रत्येक व्यक्ति जन्म और मृत्यु के चक्र में एक के बाद एक नवीन भौतिक शरीर धारण करता रहता है। जगत की ऐसी धारणा में लीन रहने से वह यह नहीं जान पाता कि भौतिक शरीर के इस बन्धन से किस प्रकार छूटा जाय। हे भगवन्! अपनी अहैतुकी कृपा से आप अपनी विभिन्न दिव्य लीलाएँ दिखलाने के लिए अवतरित होते हैं, जो प्रदीप्त एवं यश से पूर्ण हैं। अतएव आपकी वन्दना करने के सिवाय मेरे पास अन्य कोई विकल्प नहीं है। हे प्रभु! आप परम पुरुष है, परब्रह्म हैं और सामान्य पुरुष के रूप में आपकी लीलाएँ अन्य युक्तिपूर्ण साधन हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि मंच पर हो रहे नाटक में नट अपनी निजी पहचान से भिन्न अभिनय करता है।"

अथाप्याश्रावये ब्रह्म नरलोकविडम्बनम् ।
राज्ञः पैतृष्वस्रेयस्य भक्तस्य च चिकीर्षितम् ॥ ० ॥

शब्दार्थ

अथ अपि—फिर भी; आश्रावये—मैं बतलाऊँगा; ब्रह्म—हे परम सत्य; नर-लोक—मानव समाज के; विडम्बनम्—(आपसे) जो अनुकरण करते हैं; राज्ञः—राजा (युधिष्ठिर) का; पैतृ—आपके पिता की; स्वस्रेयस्य—बहन के पुत्र के; भक्तस्य—आपके भक्त; च—तथा; चिकीर्षितम्—मनोभाव।

तो भी, मनुष्य का अभिनय कर रहे हे परम सत्य, मैं आपको बतलाऊँगा कि आपके बुआ के पुत्र युधिष्ठिर महाराज क्या करना चाहते हैं।

यक्ष्यति त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः ।
पारमेष्ठ्यकामो नृपतिस्तद्भवाननुमोदताम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

यक्ष्यति—यज्ञ करेगा; त्वाम्—तुमको; मख—यज्ञ का; इन्द्रेण—सबसे बड़े; राजसूयेन—राजसूय के द्वारा; पाण्डवः—पाण्डु के पुत्र; पारमेष्ठ्य—एकछत्र सत्ता; कामः—इच्छा करते हुए; नृ-पतिः—राजा; तत्—उस; भवान्—आप; अनुमोदताम्—कृपया अनुमोदन कीजिये।

राजा युधिष्ठिर एकछत्र सत्ता की इच्छा से राजसूय नामक महानतम यज्ञ द्वारा आपकी पूजा करना चाहते हैं। कृपा करके उनके इस प्रयास के लिए आशीर्वाद प्रदान करें।

तात्पर्य : यहाँ पर राजा युधिष्ठिर को *पारमेष्ठ्यकाम* अर्थात् ''पारमेष्ठ्य की इच्छा करने वाला'' कहा गया है। *पारमेष्ठ्य* शब्द का अर्थ है ''एकछत्र सत्ता'' और ''भगवान् जो संसार-भर में सबसे ऊँचे हैं'' का भी सूचक है। इसलिए श्रील प्रभुपाद नारद के संदेश का इस प्रकार भावार्थ देते हैं—

आपने फुफेरे भाई पाण्डवों का शुभचिन्तक बनकर उनके विषय में जिज्ञासा की है, अतएव मैं उनके मनोभावों के विषय में आपको बतला रहा हूँ। अब कृपा करके मुझसे सुनिये। सर्वप्रथम, आपको बतला दूँ कि राजा युधिष्ठिर के पास वह सारा भौतिक ऐश्वर्य है, जो सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक में पाया जा सकता है। उनके पास किसी भी भौतिक ऐश्वर्य की कमी नहीं है, जिसकी वह इच्छा करे, फिर भी वे आपकी संगति प्राप्त करने और आपको प्रसन्न करने के लिए राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं। वे आपकी अहैतुकी कृपा प्राप्त करने के उद्देश्य से आपकी पूजा भी करना चाहते हैं और मेरा निवेदन है कि आप उनकी इस इच्छा को पूरा करें।''

चूँकि *पारमेष्ठ्य* शब्द ब्रह्मा के पद का भी सूचक हो सकता है, इसलिए श्रील प्रभुपाद ने *पारमेष्ठ्यकाम* शब्द का अर्थ न केवल यह सूचित करने के लिए किया कि राजा युधिष्ठिर ने भगवान् कृष्ण की संगति तथा कृपा पाने की इच्छा की, अपितु यह भी कि राजा युधिष्ठिर के पास ब्रह्मा का सारा ऐश्वर्य अर्थात् *पारमेष्ठ्य* था।

तस्मिन्देव क्रतुवरे भवन्तं वै सुरादयः ।
दिदृक्षवः समेष्यन्ति राजानश्च यशस्विनः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उसमें; **देव**—हे प्रभु; **क्रतु**—यज्ञों के; **वरे**—श्रेष्ठ; **भवन्तम्**—आप; **वै**—निस्सन्देह; **सुर**—देवता; **आदयः**—तथा अन्य महापुरुष; **दिदृक्षवः**—देखने के इच्छुक; **समेष्यन्ति**—सभी आयेंगे; **राजानः**—सारे राजा; **च**—भी; **यशस्विनः**—यशस्वी।

हे प्रभु, आपको देखने के इच्छुक सारे श्रेष्ठ देवता तथा यशस्वी राजा उस श्रेष्ठ यज्ञ में आयेंगे।

तात्पर्य : आचार्यों की व्याख्या है कि नारद यह कहना चाहते हैं कि चूँकि भगवान् कृष्ण का दर्शन करने सारे महापुरुष आयेंगे, इसलिए उन्हें भी चाहिए कि इस यज्ञ में आयें।

श्रवणात्कीर्तनाद्ध्यानात्पूयन्तेऽन्तेवसायिनः ।

तव ब्रह्ममयस्येश किमुतेक्षाभिमर्शिनः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्रवणात्—सुनने से; कीर्तनात्—कीर्तन करने से; ध्यानात्—तथा ध्यान करने से; पूयन्ते—पवित्र हो जाते हैं; अन्ते-वसायिनः—जाति से निकाले अन्त्यज; तव—आपके विषय में; ब्रह्म-मयस्य—परम सत्य की पूर्ण अभिव्यक्ति; ईश—हे प्रभु; किम् उत—तो फिर क्या कहा जाय; ईक्षा—देखने वाले; अभिमर्शिनः—तथा स्पर्श करने वाले।

हे प्रभु, आपके यश का श्रवण तथा कीर्तन करने से तथा ब्रह्मरूप आपका ध्यान करने से जाति से निकाले गये (अन्त्यज) लोग भी शुद्ध हो जाते हैं। तो फिर उनके विषय में क्या कहा जाय जो आपको देखते हैं और आपका स्पर्श करते हैं?

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने *ब्रह्ममयस्य* की व्याख्या *ब्रह्मघनमूर्तेः* अथवा परम सत्य के सान्द्रित रूप में की है।

यस्यामलं दिवि यशः प्रथितं रसायां
भूमौ च ते भुवनमङ्गल दिग्वितानम् ।
मन्दाकिनीति दिवि भोगवतीति चाधो
गङ्गेति चेह चरणाम्बु पुनाति विश्वम् ॥ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; अमलम्—विशुद्ध; दिवि—स्वर्ग में; यशः—यश; प्रथितम्—विस्तीर्ण; रसायाम्—रसातल में; भूमौ—पृथ्वी पर; च—तथा; ते—तुम्हारा; भुवन—सारे लोकों के लिए; मङ्गल—हे सौभाग्यदाता; दिक्—दिशाओं में; वितानम्—चँदोवा, प्रसार; मन्दाकिनी इति—मन्दाकिनी नाम से; दिवि—स्वर्ग में; भोगवती इति—भोगवती नामक; च—तथा; अधः—नीचे; गङ्गा इति—गंगा नाम से; च—तथा; इह—यहाँ, पृथ्वी पर; चरण—आपके चरणों से; अम्बु—जल; पुनाति—पवित्र करती है; विश्वम्—सारे ब्रह्माण्ड को।

हे प्रभु, आप सभी मंगलों के प्रतीक हैं। आपका दिव्य नाम तथा यश ब्रह्माण्ड के उच्चतर, मध्य तथा अधो लोक सहित समस्त लोकों के ऊपर छत्र के समान फैला हुआ है। आपके चरणकमलों को प्रक्षालित करने वाला दिव्य जल उच्चतर लोकों में मन्दाकिनी नदी के नाम से, अधो लोक में भोगवती के नाम से और इस पृथ्वी लोक में गंगा के नाम से विख्यात है। यह पवित्र दिव्य जल सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में प्रवाहित होता है और जहाँ भी जाता है, उसे पवित्र कर देता है।

तात्पर्य : यह भावार्थ श्रील प्रभुपाद कृत *श्रीकृष्ण* पर आधारित है। श्रीधर स्वामी कहते हैं कि *दिग्वितानम्* शब्द सूचित करता है कि भगवान् कृष्ण की दिव्य कीर्ति ब्रह्माण्ड-भर में उसी तरह फैली है, जिस तरह सारी दिशाओं के ऊपर शीतल करने वाला कोई चँदोवा हो। दूसरे शब्दों में, भगवान् के

चरणकमलों की शीतल छाया में सारे जगत को शरण मिल सकती है। इस प्रकार भगवान् *भुवन-मंगल* हैं, अर्थात् इस जगत में प्रत्येक शुभ वस्तु के प्रतीक हैं।

श्रीशुक उवाच
तत्र तेष्वात्मपक्षेष्वगृणत्सु विजिगीषया ।
वाचः पेशैः स्मयन्भृत्यमुद्धवं प्राह केशवः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; तत्र—वहाँ; तेषु—उन (यादवों); आत्म—अपना; पक्षेषु—पक्षधरों में; अगृणत्सु—न मानने वाले; विजिगीषया—जीतने की इच्छा से (जरासन्ध); वाचः—वाणी के; पेशैः—मधुर प्रयोग से; स्मयन्—हँसते हुए; भृत्यम्—दास; उद्धवम्—श्री उद्धव से; प्राह—कहा; केशवः—कृष्ण ने।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब जरासन्ध को हराने की इच्छा से भगवान् के पक्षधर यादवों ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, तो भगवान् केशव अपने अनुचर उद्धव की ओर मुड़े और हँसते हुए उत्तम शब्दों में उनसे बोले।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद की व्याख्या है, ''द्वारका के सुधर्मा सभाभवन में महर्षि नारद के आगमन के पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण एवं उनके मंत्री तथा सचिव इस विषय पर चर्चा कर रहे थे कि किस प्रकार जरासन्ध के राज्य पर आक्रमण किया जाय। चूँकि वे इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर रहे थे इसलिए नारदजी का यह प्रस्ताव कि भगवान् कृष्ण हस्तिनापुर जाकर महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपस्थित हों, उन्हें अधिक आकर्षक नहीं लगा। भगवान् कृष्ण अपने साथियों के अभिप्राय को समझ गये थे, क्योंकि वे ब्रह्माजी के भी शासक हैं। इसलिए उन्हें सान्त्वना देने के लिए उन्होंने उद्धव से मुसकरा कर कहा।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि भगवान् इसलिए मुसकाये क्योंकि वे यह दिखाने जा रहे थे कि कठिन परिस्थितियों में भी सलाह देने की क्षमता उद्धव में है।

श्रीभगवानुवाच
त्वं हि नः परमं चक्षुः सुहृन्मन्त्रार्थतत्त्ववित् ।
अथात्र ब्रूह्यनुष्ठेयं श्रद्दध्मः करवाम तत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; त्वम्—तुम; हि—निस्सन्देह; नः—हमारे; परमम्—परम; चक्षुः—आँख; सुहृत्—शुभचिन्तक मित्र; मन्त्र—सलाह का; अर्थ—मूल्य; तत्त्व-वित्—ठीक से जानने वाले; अथ—इस प्रकार; अत्र—इस सम्बन्ध में; ब्रूहि—कहें; अनुष्ठेयम्—करणीय; श्रद्दध्मः—हमें विश्वास है; करवाम—करेंगे; तत्—वही।

भगवान् ने कहा : निस्सन्देह तुम हमारे उत्तम नेत्र तथा घनिष्ठ मित्र हो, क्योंकि विविध प्रकार की सलाहों के आपेक्षिक मूल्य को पूर्णतः जानते हो। इसलिए तुम हमसे कहो कि इस स्थिति में हमें क्या करना चाहिए। हमें तुम्हारे निर्णय पर विश्वास है और तुम जैसा कहोगे हम वैसा ही करेंगे।

इत्युपामन्त्रितो भर्त्रा सर्वज्ञेनापि मुग्धवत् ।
निदेशं शिरसाधाय उद्धवः प्रत्यभाषत ॥ ७॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उपामन्त्रितः—अनुरोध किये जाने पर; भर्त्रा—अपने स्वामी द्वारा; सर्व-ज्ञेन—सर्वज्ञ; अपि—यद्यपि; मुग्ध—मोहग्रस्त; वत्—मानो; निदेशम्—आज्ञा को; शिरसा—सिर पर; आधाय—धारण करके; उद्धवः—उद्धव ने; प्रत्यभाषत—उत्तर दिया।.

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा] : इस तरह अपने स्वामी द्वारा अनुरोध किये जाने पर, जो कि सर्वज्ञ होते हुए भी मोहित होने का अभिनय कर रहे थे, उद्धव ने उनके इस आदेश को शिरोधार्य किया और इस प्रकार उत्तर दिया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ‘‘भगवान् कृष्ण की दैनिक चर्या’’ नामक सत्तरवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter इकहत्तर

भगवान् की इन्द्रप्रस्थ यात्रा

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह भगवान् कृष्ण ने उद्धव की सलाह मानी और इन्द्रप्रस्थ गये, जहाँ पाण्डवों ने बड़ी धूमधाम से उनकी अगवानी की।

भगवान् कृष्ण की आन्तरिक इच्छा जानकर चतुर उद्धव ने भगवान् को इस प्रकार सलाह दी, ‘‘दिग्विजय तथा राजसूय यज्ञ कर लेने पर राजा युधिष्ठिर अपने सारे मन्तव्यों को—जरासन्ध को पराजित करना तथा आपकी शरण में आने वालों की रक्षा करना तथा राजसूय यज्ञ करना—पूरा कर लेंगे। इस तरह यादवों के शक्तिशाली शत्रु विनष्ट हो जायेंगे और बन्दी राजा छूट जायेंगे तथा दोनों कार्य आपको यश प्रदान करेंगे।

‘‘राजा जरासन्ध का वध केवल भीम कर सकता है और चूँकि जरासन्ध ब्राह्मणों का भक्त है, अत:

भीम को ब्राह्मण का वेश धारण करके जरासन्ध के पास जाकर युद्ध की भिक्षा माँगनी चाहिए। तब आपकी उपस्थिति में भीम उस असुर को पराजित करेगा।''

नारद मुनि, वरिष्ठ यादवगण तथा भगवान् कृष्ण सभी ने उद्धव की योजना की प्रशंसा की। भगवान् कृष्ण अपने रथ पर चढ़ कर इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान कर गये और उनके पीछे पीछे उनकी श्रद्धालु रानियाँ थीं। भगवान् कृष्ण शीघ्र ही उस नगरी में जा पहुँचे। भगवान् का आगमन सुन कर राजा युधिष्ठिर उनका सम्मान करने तुरन्त नगर के बाहर आ गये। युधिष्ठिर ने बारम्बार भगवान् कृष्ण का आलिंगन किया, जिस हर्ष भाव के कारण, उनकी बाह्य जगत की सुधि जाती रही। तब भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा अन्यों ने एक एक करके यथोचित रीति के अनुसार आलिंगन किया या उनके समक्ष नतमस्तक हुए।

जब कृष्ण सबों का उचित सम्मान कर चुके, तो वे नगर में प्रविष्ट हुए। उस समय अनेक वाद्ययंत्रों पर बाजे बज रहे थे और आदरसूचक स्तुतियाँ की जा रही थीं। नगर की स्त्रियों ने अटारियों से उन पर पुष्पों की वर्षा की और भगवान् की रानियों के परम सौभाग्य की प्रशंसा की।

श्रीकृष्ण ने राजमहल में प्रविष्ट होने पर महारानी कुन्ती को नमस्कार किया। उन्होंने भी अपने भतीजे को गले लगाया। द्रौपदी तथा सुभद्रा ने भगवान् को नमस्कार किया। तब कुन्तीदेवी ने द्रौपदी से कहा कि वह कृष्ण की पत्नियों की पूजा करे।

भगवान् कृष्ण ने वहाँ पर कुछ मास रहकर राजा युधिष्ठिर को अनुगृहीत किया। वहाँ रहते हुए वे इधर-उधर भ्रमण करने जाते। वे अर्जुन के साथ रथ हाँकते और उनके पीछे अनेक योद्धा तथा सैनिक रहते।

श्रीशुक उवाच
इत्युदीरितमाकर्ण्य देवऋषेरुद्धवोऽब्रवीत् ।
सभ्यानां मतमाज्ञाय कृष्णस्य च महामतिः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उदीरितम्—कहा गया; आकर्ण्य—सुन कर; देव-ऋषेः—देवर्षि नारद द्वारा; उद्धवः—उद्धव; अब्रवीत्—बोले; सभ्यानाम्—राजसभा के सदस्यों के; मतम्—मतको; आज्ञाय—जान कर; कृष्णस्य—कृष्ण के; च—तथा; महा-मतिः—अतीव बुद्धिमान।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह देवर्षि नारद के कथनों को सुनकर और सभाजनों तथा

कृष्ण दोनों के मतों को जानकर महामति उद्धव इस प्रकार बोले।

श्रीउद्धव उवाच
यदुक्तमृषिना देव साचिव्यं यक्ष्यतस्त्वया ।
कार्यं पैतृष्वस्त्रेयस्य रक्षा च शरणैषिणाम् ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; यत्—जो; उक्तम्—कहा गया था; ऋषिना—ऋषि (नारद) द्वारा; देव—हे प्रभु; साचिव्यम्—सहायता; यक्ष्यतः—यज्ञ करने के इच्छुक (युधिष्ठिर); त्वया—तुम्हारे द्वारा; कार्यम्—की जानी चाहिए; पैतृ-ष्वस्त्रेयस्य—पिता की बहन का पुत्र का; रक्षा—रक्षा; च—भी; शरण—शरण; एषिणाम्—इच्छुकों का।

श्री उद्धव ने कहा : हे प्रभु, जैसी ऋषि ने सलाह दी है, आपको चाहिए कि आप राजसूय यज्ञ सम्पन्न करने की योजना में अपने फुफेरे भाई युधिष्ठिर की सहायता करें। आपको उन राजाओं की भी रक्षा करनी चाहिए, जो आपकी शरण के लिए याचना कर रहे हैं।

तात्पर्य : देवर्षि नारद चाहते थे कि कृष्ण इन्द्रप्रस्थ जाँय और अपने फुफेरे भाई युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ पूरा करने में सहायता दें। साथ ही राजसभा के लोगों की प्रबल इच्छा थी कि भगवान् कृष्ण जरासन्ध को हरा कर बन्दी बनाये गये राजाओं को छुड़ायें। महामति उद्धव समझ गए कि भगवान् कृष्ण ये दोनों ही काम करना चाहते हैं, अतएव उन्होंने बुद्धिमत्तापूर्वक सलाह दी, जिससे दोनों काम एकसाथ पूरे हो सकें।

यष्टव्यम्राजसूयेन दिक्चक्रजयिना विभो ।
अतो जरासुतजय उभयार्थो मतो मम ॥ ३॥

शब्दार्थ

यष्टव्यम्—यज्ञ सम्पन्न; राजसूयेन—राजसूय अनुष्ठान समेत; दिक्—दिशाओं के; चक्र—पूरा गोला; जयिना—जीतने वाले के द्वारा; विभो—हे सर्वशक्तिमान; अतः—अतएव; जरा-सुत—जरा के पुत्र पर; जयः—विजय; उभय—दोनों; अर्थः—उद्देश्य सहित; मतः—मत; मम—मेरा।

हे सर्वशक्तिमान विभु, जिसने दिग्विजय कर ली हो, वही राजसूय यज्ञ कर सकता है। इस तरह मेरे विचार से जरासन्ध पर विजय पाने से दोनों उद्देश्य पूरे हो सकेंगे।

तात्पर्य : यहाँ पर उद्धव बतलाते हैं कि जिसने सारी दिशाओं पर विजय प्राप्त कर ली हो (दिग्विजयी), वही राजसूय यज्ञ कर सकता है। इसलिए कृष्ण को चाहिए कि इस यज्ञ में सम्मिलित होने का निमंत्रण तुरन्त स्वीकार कर लें, किन्तु उसी के साथ यह आवश्यक है कि जरासन्ध को मारने की व्यवस्था हो जाए। इस तरह राजाओं द्वारा सुरक्षा की याचना स्वयमेव पूरी हो सकेगी। इस तरह यदि

भगवान् एक ही नीति—राजसूय यज्ञ भलीभाँति सम्पन्न होने की नीति—पर अडिग रहेंगे तो सारे उद्देश्य पूरे हो सकेंगे।

श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृतसिंधु* में भगवान् कृष्ण के गुणों में से एक गुण "चतुर" का उल्लेख किया है, जिसका अर्थ होता है, एकसाथ अनेक कार्य करने की क्षमता। इस तरह भगवान् कृष्ण युधिष्ठिर द्वारा राजसूय यज्ञ सम्पन्न करने की इच्छा तथा बन्दी राजाओं की मुक्त होने की इच्छा की जटिल समस्या को निस्सन्देह आसानी से हल कर सकते थे। किन्तु कृष्ण अपने प्रिय भक्त उद्धव को इस समाधान का श्रेय प्रदान करना चाहते थे, इसीलिए वे व्यग्र दिख रहे थे।

अस्माकं च महानर्थो ह्येतेनैव भविष्यति ।
यशश्च तव गोविन्द राज्ञो बद्धान्विमुञ्चतः ॥ ॥

शब्दार्थ

अस्माकम्—हमारे लिए; च—तथा; महान्—महान्; अर्थः—लाभ; हि—निस्सन्देह; एतेन—इससे; एव—ही; भविष्यति—होगा; यशः—यश; च—तथा; तव—तुम्हारा; गोविन्द—हे गोविन्द; राज्ञः—राजाओं को; बद्धान्—बन्दी बनाये गये; विमुञ्चतः—मुक्त कर देगा।.

इस निर्णय से हमें बहुत बड़ा लाभ होगा और आप राजाओं को बचा सकेंगे। इस तरह, हे गोविन्द, आपका यश बढ़ेगा।

स वै दुर्विषहो राजा नागायुतसमो बले ।
बलिनामपि चान्येषां भीमं समबलं विना ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, जरासन्ध; वै—निस्सन्देह; दुर्विषहः—दुर्जय; राजा—राजा; नाग—हाथी; अयुत—दस हजार; समः—समान; बले—बल में; बलिनाम्—बलशालियों में; अपि—निस्सन्देह; च—तथा; अन्येषाम्—अन्य; भीमम्—भीम को; सम-बलम्—बल में समान; विना—के अलावा।.

दुर्जेय जरासन्ध दस हजार हाथियों जितना बलवान् है। निस्सन्देह अन्य बलशाली योद्धा उसे पराजित नहीं कर सकते। केवल भीम ही बल में उसके समान है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं कि सारे यादव जरासन्ध के वध के लिए उत्सुक थे, अत: सचेत करने के लिए ही उद्धव ने यह श्लोक कहा था। जरासन्ध की मृत्यु एकमात्र भीम के हाथों सम्भव थी। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि उद्धव ने *ज्योति राग* से तथा अपने गुरु बृहस्पति से सीखे अन्य ज्योतिष ग्रन्थों से यह पहले ही निष्कर्ष निकाल लिया था।

द्वैरथे स तु जेतव्यो मा शताक्षौहिणीयुतः ।
ब्राह्मण्योऽभ्यर्थितो विप्रैर्न प्रत्याख्याति कर्हिचित् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

द्वै-रथे—केवल दो रथों से लड़े जाने वाले युद्ध में; सः—वह; तु—लेकिन; जेतव्यः—हराया जा सकता है; मा—नहीं; शत—एक सौ; अक्षौहिणी—अक्षौहिणी सेना से; युतः—युक्त; ब्राह्मण्यः—ब्राह्मण संस्कृति के प्रति श्रद्धालु; अभ्यर्थितः—सत्कार किया गया; विप्रैः—ब्राह्मणों द्वारा; न प्रत्याख्याति—मना नहीं करता; कर्हिचित्—कभी भी।

उसे एकाकी रथों की प्रतियोगिता में हराया जा सकेगा किन्तु अपनी एक सौ अक्षौहिणी सेना के साथ होने पर वह नहीं हराया जा सकता। और, जरासन्ध ब्राह्मण संस्कृति के प्रति इतना अनुरक्त है कि वह ब्राह्मणों की याचनाओं को कभी मना नहीं करता।

तात्पर्य : यह तर्क किया जा सकता है कि चूँकि भीम ही जरासन्ध के समान बलशाली है, अतएव विशाल सेना के साथ होने पर जरासन्ध और भी शक्तिशाली हो जायेगा। इसीलिए उद्धव एकाकी युद्ध की संस्तुति करते हैं। लेकिन जरासन्ध को उसकी शक्तिशाली सेना से विलग कैसे किया जा सकता था? यहाँ उद्धव संकेत देते हैं कि जरासन्ध ब्राह्मणों की याचना को कभी नहीं ठुकरा सकता, क्योंकि वह ब्राह्मण संस्कृति के प्रति अनुरक्त है।

ब्रह्मवेषधरो गत्वा तं भिक्षेत वृकोदरः ।
हनिष्यति न सन्देहो द्वैरथे तव सन्निधौ ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म—ब्राह्मण का; वेष—वेश; धरः—धारण करके; गत्वा—जाकर; तम्—उससे, जरासन्ध से; भिक्षेत—माँगे; वृक-उदरः—भीम; हनिष्यति—मारेगा; न—नहीं; सन्देहः—सन्देह; द्वै-रथे—रथ से रथ के युद्ध में; तव—तुम्हारी; सन्निधौ—उपस्थिति में।

भीम ब्राह्मण का वेश बनाकर उसके पास जाये और दान माँगे। इस तरह उसे जरासन्ध के साथ द्वन्द्व युद्ध की प्राप्ति होगी और आपकी उपस्थिति में भीम अवश्य ही उसको मार डालेगा।

तात्पर्य : भाव यह है कि भीम को चाहिए कि जरासन्ध से द्वन्द्व युद्ध करने की भीख माँगे।

निमित्तं परमीशस्य विश्वसर्गनिरोधयोः ।
हिरण्यगर्भः शर्वश्च कालस्यारूपिणस्तव ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

निमित्तम्—कारण; परम्—केवल; ईशस्य—भगवान् को; विश्व—ब्रह्माण्ड के; सर्ग—सृजन; निरोधयोः—तथा संहार में; हिरण्यगर्भः—ब्रह्मा; शर्वः—शिवजी; च—तथा; कालस्य—काल का; अरूपिणः—निराकार; तव—तुम्हारा।

ब्रह्माण्ड के सृजन तथा संहार में ब्रह्मा तथा शिव भी आपके उपकरण की तरह कार्य करते

हैं, जिन्हें अन्ततः आप काल के अपने अदृश्य रूप में सम्पन्न करते हैं।

तात्पर्य : उद्धव यहाँ बतलाते हैं कि वस्तुतः भगवान् कृष्ण स्वयं ही जरासन्ध की मृत्यु के कारण बनेंगे, भीम तो मात्र उपकरण रहेंगे। भगवान् अपनी अदृश्य काल-शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सृजन और संहार करते हैं, जबकि ब्रह्मा तथा शिव जैसे बड़े बड़े देवता भगवान् की इच्छा के उपकरण मात्र रहते हैं। अतएव भीम को बलशाली जरासन्ध का वध करने में तनिक भी कठिनाई नहीं होगी, क्योंकि वे भगवान् के उपकरण की तरह कार्य करेंगे। इस तरह भगवान् की व्यवस्था से उनका भक्त भीम यशस्वी होगा।

गायन्ति ते विशदकर्म गृहेषु देव्यो
राज्ञां स्वशत्रुवधमात्मविमोक्षणं च ।
गोप्यश्च कुञ्जरपतेर्जनकात्मजायाः
पित्रोश्च लब्धशरणा मुनयो वयं च ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

गायन्ति—गाते हैं; ते—तुम्हारा; विशद—निर्मल; कर्म—कर्म; गृहेषु—अपने अपने घरों में; देव्यः—देवताओं की पत्नियाँ; राज्ञाम्—राजाओं की; स्व—अपने; शत्रु—शत्रु; वधम्—वध; आत्म—स्वयंके; विमोक्षणम्—उद्धार; च—तथा; गोप्यः—व्रजबालाएँ; च—तथा; कुञ्जर—हाथियों के; पतेः—स्वामी के; जनक—राजा जनक की; आत्म-जायाः—पुत्री (सीतादेवी, रामचन्द्र की पत्नी) के; पित्रोः—तुम्हारे माता-पिता के; च—तथा; लब्ध—प्राप्त हुए; शरणाः—शरण; मुनयः—मुनिगण; वयम्—हम; च—भी।

बन्दी राजाओं की दैवी पत्नियाँ आपके नेक कार्यों का—कि आप किस तरह उनके पतियों के शत्रुओं को मार कर उनका उद्धार करेंगे—गायन करती हैं। गोपियाँ भी आपका यशोगान करती हैं कि आपने किस तरह गजेन्द्र के शत्रु को, जनक की पुत्री सीता के शत्रु को तथा अपने माता-पिता के शत्रु को मारा। इसी तरह जिन मुनियों ने आपकी शरण ले रखी है, वे हमारी ही तरह आपका यशोगान करते हैं।

तात्पर्य : ऋषियों-मुनियों ने बन्दी राजाओं की शोकाकुल पत्नियों को बता रखा था कि भगवान् कृष्ण जरासन्ध के वध की व्यवस्था करके उन्हें इस संकट से बचायेंगे। इस तरह ये दैवी स्त्रियाँ अपने घर पर भगवान् के यश का गान करेंगी और जब बच्चे अपने पिता के लिए रोएँगे तो उनकी माताएँ उन्हें बतलायेंगी "बच्चे! मत रो। श्रीकृष्ण तुम्हारे पिता की रक्षा करेंगे।" वस्तुतः भगवान् ने विगत भूतकाल में अनेक भक्तों को बचाया है, जैसाकि यहाँ बतलाया गया है।

जरासन्धवधः कृष्ण भूर्यर्थायोपकल्पते ।
प्रायः पाकविपाकेन तव चाभिमतः क्रतुः ॥ ॥

शब्दार्थ

जरासन्ध-वधः—जरासन्ध का वध; कृष्ण—हे कृष्ण; भूरि—बहुत अधिक; अर्थाय—महत्त्व; उपकल्पते—उत्पन्न करेगा; प्रायः—निश्चय ही; पाक—संचित कर्म का; विपाकेन—कर्मफल के रूप में; तव—तुम्हारा; च—तथा; अभिमतः—इच्छित; क्रतुः—यज्ञ।

हे कृष्ण, जरासन्ध का वध निश्चित ही उसके विगत पापों का ही फल है। इससे प्रभूत लाभ होगा। निस्सन्देह इससे आपका मनवांछित यज्ञ सम्भव हो सकेगा।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी व्याख्या करते हैं कि *भूर्यर्थ* शब्द बतलाता है कि जरासन्ध की मृत्यु होने से शिशुपाल को मारना तथा अन्य लक्ष्यों को पूरा करना आसान हो जायेगा। महान् भाष्यकार श्रीधर स्वामी यह भी बतलाते हैं कि *पाक* शब्द सूचित करता है कि राजा लोग अपनी शुद्धता के कारण बचा लिये जायेंगे और *विपाकेन* सूचित करता है कि जरासन्ध अपनी दुष्टता के कारण मरेगा। हर हालत में, उद्धव द्वारा बताई गई योजना राजसूय यज्ञ सम्पन्न किये जाने के लिए अत्यन्त उपयुक्त है, जो भगवान् तथा युधिष्ठिर इत्यादि भगवान् के शुद्ध भक्त पाण्डवों की इच्छा थी।

श्रीशुक उवाच
इत्युद्धववचो राजन्सर्वतोभद्रमच्युतम् ।
देवर्षिर्यदुवृद्धाश्च कृष्णश्च प्रत्यपूजयन् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार कहे जाने पर; उद्धव-वचः—उद्धव के शब्द; राजन्—हे राजन् (परीक्षित); सर्वतः—सभी प्रकार से; भद्रम्—शुभ; अच्युतम्—अच्युत; देव-ऋषिः—देवताओं के ऋषि, नारद; यदु-वृद्धाः—वरिष्ठ यदुगण; च—तथा; कृष्णः—कृष्ण; च—और भी; प्रत्यपूजयन्—बदले में प्रशंसा की।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, देवर्षि नारद, वरिष्ठ यादवजन तथा कृष्ण—सबों ने उद्धव के प्रस्ताव का स्वागत किया, क्योंकि जो सर्वथा शुभ तथा अच्युत था।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी व्याख्या करते हैं कि *अच्युतम्* शब्द सूचित करता है कि उद्धव का प्रस्ताव "तर्क से पुष्ट" था। यही नहीं, शुकदेव गोस्वामी *यदु वृद्धाः* शब्द द्वारा विशेष रूप से सूचित करते हैं कि इस प्रस्ताव का स्वागत कनिष्ठ लोग नहीं अपितु वरिष्ठ कर रहे थे। अनिरुद्ध जैसे युवक राजकुमारों को उद्धव का प्रस्ताव रुचिकर नहीं लगा, क्योंकि वे जरासन्ध की सेना से तुरन्त युद्ध करना चाह रहे थे।

अथादिशत्प्रयाणाय भगवान्देवकीसुतः ।
भृत्यान्दारुकजैत्रादीननुज्ञाप्य गुरून्विभुः ॥ १२॥

शब्दार्थ

अथ—तब; आदिशत्—आज्ञा दी; प्रयाणाय—विदा होने के लिए; भगवान्—भगवान्; देवकी-सुतः—देवकी-पुत्र ने; भृत्यान्—सेवकों को; दारुक-जैत्र-आदीन्—दारुक, जैत्र इत्यादि; अनुज्ञाप्य—अनुमति लेकर; गुरून्—अपने गुरुजनों से; विभुः—सर्वशक्तिमान।

देवकी-पुत्र सर्वशक्तिमान भगवान् ने अपने वरिष्ठ से विदा होने की अनुमति माँगी। तत्पश्चात् उन्होंने दारुक, जैत्र इत्यादि सेवकों को प्रस्थान की तैयारी करने का आदेश दिया।

तात्पर्य : यहाँ जिन वरिष्ठजनों का उल्लेख है वे कृष्ण के पिता वसुदेव जैसे महान् व्यक्ति हैं।

निर्गमय्यावरोधान्स्वान्ससुतान्सपरिच्छदान् ।
सङ्कर्षणमनुज्ञाप्य यदुराजं च शत्रुहन् ।
सूतोपनीतं स्वरथमारुहद्गरुडध्वजम् ॥ १३॥

शब्दार्थ

निर्गमय्य—भेज कर; अवरोधान्—पत्नियों को; स्वान्—अपनी; स—सहित; सुतान्—पुत्रों; स—सहित; परिच्छदान्—उनका सामान; सङ्कर्षणम्—बलराम से; अनुज्ञाप्य—विदा होकर; यदु-राजम्—यदुओं के राजा (उग्रसेन) से; च—तथा; शत्रु-हन्—हे शत्रुओं के हन्ता (परीक्षित); सूत—सारथी द्वारा; उपनीतम्—लाया गया; स्व—अपने; रथम्—रथ में; आरुहत्—चढ़ गये; गरुड—गरुड़; ध्वजम्—ध्वजा है, जिसकी।

हे शत्रुहन्ता, अपनी पत्नियों, पुत्रों तथा सामान को भेजे जाने की व्यवस्था कर देने के बाद और संकर्षण तथा राजा उग्रसेन से विदा लेने के बाद भगवान् कृष्ण अपने रथ पर चढ़ गये, जिसे उनका सारथी ले आया था। इस पर गरुड़-चिन्हित पताका फहरा रही थी।

तात्पर्य : उद्धव के प्रस्ताव को मान कर सर्वप्रथम कृष्ण अपनी पत्नियों, परिवार तथा संगी-साथियों सहित पाण्डवों की राजधानी इन्द्रप्रस्थ के लिए चल पड़े। इस अध्याय के शेष भाग में कृष्ण द्वारा इस नगर की यात्रा का और फिर उनके प्रिय भक्तों द्वारा उनके स्वागत किये जाने का वर्णन है। इन्द्रप्रस्थ में कृष्ण ने पाण्डवों को पहले जरासन्ध का वध करके बाद में राजसूय यज्ञ करने की योजना बतलाई। फिर उनकी सहमति से वे भीमसेन समेत दुष्ट राजा से हिसाब-किताब निपटाने गये।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि कृष्ण की पत्नियों को भी राजसूय यज्ञ में बुलाया गया था, अत: वे जाने के लिए उत्सुक थीं। अगले श्लोक से रंग-बिरंगे राजसी जुलूस का वर्णन प्रारम्भ होता है।

ततो रथद्विपभटसादिनायकैः
करालया परिवृत आत्मसेनया ।
मृदङ्गभेर्यानकशङ्खगोमुखैः
प्रघोषघोषितककुभो निरक्रमत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; रथ—रथों; द्विप—हाथियों; भट—पैदल सेना; सादि—तथा घुड़सवार; नायकैः—नायकों समेत; करालया—भयानक; परिवृतः—घिरे; आत्म—निजी; सेनया—सेना से; मृदङ्ग—मृदंग; भेरी—भेरी वाद्य; आनक—दुंदुभी; शङ्ख—शंख; गो-मुखैः—तथा गोमुख शृंगों द्वारा; प्रघोष—शब्द करते हुए; घोषित—ध्वनि-तरंगों से पूरित; ककुभः—सारी दिशाएँ; निरक्रमत्—विदा हुए।

ज्योंही मृदंग, भेरी, दुदुंभी, शंख तथा गोमुख की ध्वनि-तरंगों से सारी दिशाएँ गूँजने लगीं, त्योंही भगवान् कृष्ण अपनी यात्रा के लिए चल पड़े। उनके साथ में रथों, हाथियों, पैदलों तथा घुड़सवारों के सेनादलों के मुख्य अधिकारी थे और चारों ओर से वे अपने भयानक निजी रक्षकों द्वारा घिरे थे।

नृवाजिकाञ्चनशिबिकाभिरच्युतं
सहात्मजाः पतिमनु सुव्रता ययुः ।
वराम्बराभरणविलेपनस्रजः
सुसंवृता नृभिरसिचर्मपाणिभिः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

नृ—मनुष्य; वाजि—शक्तिशाली वाहकों से; काञ्चन—सुनहली; शिबिकाभिः—पालकियों से; अच्युतम्—कृष्ण; सह-आत्मजाः—अपनी सन्तानों समेत; पतिम्—पति को; अनु—पीछे करती हुई; सु-व्रताः—उनकी साध्वी पत्नियाँ; ययुः—गईं; वर—उत्तम; अम्बर—वस्त्र; आभरण—गहने; विलेपन—सुगंधित तेल तथा लेप; स्रजः—मालाएँ; सु—अच्छी तरह; संवृताः—घिरी हुई; नृभिः—सैनिकों द्वारा; असि—तलवार; चर्म—तथा ढाल; पाणिभिः—जिनके हाथों में।

भगवान् अच्युत की सती-साध्वी पत्नियाँ अपनी सन्तानों सहित सोने की पालकियों में भगवान् के पीछे पीछे चलीं, जिन्हें शक्तिशाली पुरुष उठाये ले जा रहे थे। रानियाँ सुन्दर वस्त्रों, आभूषणों, सुगन्धित तेलों तथा फूल की मालाओं से सजी थीं और चारों ओर से सैनिकों द्वारा घिरी थीं, जो अपने हाथों में तलवार-ढाल लिये थे।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार *वाजि* शब्द सूचित करता है कि भगवान् की कुछ रानियों को घोड़ागाड़ियों द्वारा ले जाया जा रहा था।

नरोष्ट्रगोमहिषखराश्वतर्यनः-

करेणुभिः परिजनवारयोषितः ।
स्वलङ्कृताः कटकुटिकम्बलाम्बराद्य्-
उपस्करा ययुरधियुज्य सर्वतः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

नर—पुरुष वाहक; उष्ट्र—ऊँट; गो—बैल; महिष—भैंसा; खर—गदहा; अश्वतरी—खच्चर; अनः—बैलगाड़ी; करेणुभिः—हथिनियों द्वारा; परिजन—घर के; वार—तथा जन साधारण के उपयोग वाली; योषितः—स्त्रियाँ; सु-अलङ्कृताः—खूब सजी; कट—घास की बनी; कुटि—झोपड़ियाँ; कम्बल—कम्बल; अम्बर—वस्त्र; आदि—इत्यादि; उपस्कराः—साज-सामान; ययुः—गये; अधियुज्य—लाद कर; सर्वतः—सभी ओर से।

उनके चारों ओर खूब सजी-धजी स्त्रियाँ—जो कि राजघराने की सेविकाएँ तथा राज-दरबारियों की पत्नियाँ थीं—चल रही थीं। वे पालकियों तथा ऊँटों, बैलों, भैंसों, गधों, खच्चरों, बैलगाड़ियों तथा हाथियों पर सवार थीं। उनके वाहन घास के तम्बुओं, कम्बलों, वस्त्रों तथा यात्रा की अन्य सामग्रियों से खचाखच भरे थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि यहाँ पर घरबार के जिन चाकरों का उल्लेख हुआ है, उनमें धोबिनें तथा अन्य सहायिकाएँ सम्मिलित थीं।

बलं बृहद्ध्वजपटछत्रचामरै-
र्वरायुधाभरणकिरीटवर्मभिः ।
दिवांशुभिस्तुमुलरवं बभौ रवे-
र्यथार्णवः क्षुभिततिमिङ्गिलोर्मिभिः ॥ १७॥

शब्दार्थ

बलम्—सेना; बृहत्—विशाल; ध्वज—डंडों सहित; पट—झंडों; छत्र—छातों; चामरैः—तथा चामर पंखों से; वर—उत्तम; आयुध—हथियार; आभरण—गहने; किरीट—मुकुट; वर्मभिः—तथा कवच से; दिवा—दिन में; अंशुभिः—सूर्य-किरणों से; तुमुल—बेहद; रवम्—ध्वनि; बभौ—तेजी से चमक रहे थे; रवेः—सूर्य के; यथा—जिस तरह; अर्णवः—समुद्र; क्षुभित—क्षुब्ध; तिमिङ्गिल—तिमिंगिल मछली; ऊर्मिभिः—लहरों से।

भगवान् की सेना राजसी छाते, चामर-पंखों तथा लहराती पताकाओं के विशाल ध्वज-दंडों से युक्त थी। दिन के समय सूर्य की किरणें सैनिकों के उत्तम हथियारों, गहनों, किरीट तथा कवचों से परावर्तित होकर चमक रही थीं। इस तरह जयजयकार तथा कोलाहल करती कृष्ण की सेना ऐसी लग रही थी मानों क्षुब्ध लहरों तथा तिमिंगल मछलियों से आलोड़ित समुद्र हो।

अथो मुनिर्यदुपतिना सभाजितः
प्रणम्य तं हृदि विदधद्विहायसा ।
निशम्य तद्व्यवसितमाहृतार्हणो

मुकुन्दसन्दरशननिर्वृतेन्द्रियः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अथ उ—और तब; मुनिः—ऋषि (नारद); यदु-पतिना—यदुओं के स्वामी कृष्ण द्वारा; सभाजितः—सम्मानित; प्रणम्य—झुक कर; तम्—उनको; हृदि—हृदय में; विदधत्—रखते हुए; विहायसा—आकाश से होकर; निशम्य—सुनकर; तत्—उनका; व्यवसितम्—दृढ़संकल्प; आहृत—स्वीकार की गयी; अर्हणः—पूजा; मुकुन्द—भगवान् कृष्ण की; सन्दरशन—भेंट से; निर्वृत—शान्त; इन्द्रियः—इन्द्रियों वाला।

यदुओं के प्रमुख श्रीकृष्ण द्वारा सम्मानित होकर नारदमुनि ने भगवान् को नमस्कार किया। भगवान् कृष्ण से मिल कर नारद की सारी इन्द्रियाँ तुष्ट हो चुकी थीं। इस तरह भगवान् के निर्णय को सुन कर तथा उनकी पूजा स्वीकार करके, उन्हें अपने हृदय में दृढ़ता से धारण करके, नारद आकाश से होकर चले गये।

राजदूतमुवाचेदं भगवान्प्रीणयन्गिरा ।
मा भैष्ट दूत भद्रं वो घातयिष्यामि मागधम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

राज—राजाओं के; दूतम्—दूत से; उवाच—कहा; इदम्—यह; भगवान्—भगवान् ने; प्रीणयन्—उसे प्रसन्न करते हुए; गिरा—वाणी से; मा भैष्ट—मत डरो; दूत—हे दूत; भद्रम्—कल्याण हो; वः—तुम्हारा; घाटयिष्यामि—वध की व्यवस्था करूँगा; मागधम्—मगध के राजा (जरासन्ध) के।

राजाओं द्वारा भेजे गये दूत को भगवान् ने मीठे शब्दों में सम्बोधित किया, ''हे दूत, मैं तुम्हारे सौभाग्य की कामना करता हूँ। मैं मगध के राजा के वध की व्यवस्था करूँगा। डरना मत।''

तात्पर्य : *मा भैष्ट* कथन बहुवचन में है, जो दूत तथा राजाओं के लिए है। इसी प्रकार *भद्रं वः* भी बहुवचन में है, जिसका मनोभाव भी ऐसा ही है।

इत्युक्तः प्रस्थितो दूतो यथावदवदन्नृपान् ।
तेऽपि सन्दर्शनं शौरेः प्रत्यैक्षन्यन्मुमुक्षवः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—कहे जाने पर; प्रस्थितः—चला गया; दूतः—दूत; यथा-वत्—सही-सही; अवदत्—कहा; नृपान्—राजाओं से; ते—वे; अपि—तथा; सन्दर्शनम्—श्रोता; शौरेः—भगवान् कृष्ण के; प्रत्यैक्षन्—प्रतीक्षा करने लगे; यत्—क्योंकि; मुमुक्षवः—मुक्ति के लिए उत्सुक होने से।

इस प्रकार कहे जाने पर दूत चला गया और जाकर राजाओं से भगवान् का सन्देश सही सही सुना दिया। तब स्वतंत्र होने के लिए उत्सुक वे सभी भगवान् कृष्ण से भेंट करने के लिए आशान्वित होकर प्रतीक्षा करने लगे।

तात्पर्य : महान् वैष्णव पंडित श्रील जीव गोस्वामी यहाँ टीका करते हैं कि परिस्थितिवश सारे राजा एकमात्र कृष्ण पर अपनी दृष्टि जमाये रहे।

आनर्तसौवीरमरूंस्तीर्त्वा विनशनं हरिः ।
गिरीन्नदीरतीयाय पुरग्रामव्रजाकरान् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

आनर्त-सौवीर-मरून्—आनर्त (द्वारका राज्य), सौवीर (पूर्वी गुजरात) तथा (राजस्थान का) मरुस्थल; तीर्त्वा—पार करके; विनशनम्—विनशन, कुरुक्षेत्र जनपद; हरिः—भगवान् कृष्ण; गिरीन्—पर्वतों; नदीः—तथा नदियों को; अतीयाय—पार करके; पुर—नगर; ग्राम—गाँव; व्रज—चरागाह; आकरान्—तथा खानों को।

आनर्त, सौवीर, मरुदेश तथा विनशन प्रदेशों से होकर यात्रा करते हुए भगवान् हरि ने नदियाँ पार कीं और वे पर्वतों, नगरों, ग्रामों, चरागाहों तथा खानों से होकर गुजरे।

ततो दृषद्वतीं तीर्त्वा मुकुन्दोऽथ सरस्वतीम् ।
पञ्चालानथ मत्स्यांश्च शक्रप्रस्थमथागमत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; दृषद्वतीम्—दृषद्वती नदी को; तीर्त्वा—पार करके; मुकुन्दः—कृष्ण; अथ—तब; सरस्वतीम्—सरस्वती नदी को; पञ्चालान्—पञ्चाल प्रदेश; अथ—तब; मत्स्यान्—मत्स्य प्रदेश को; च—भी; शक्र-प्रस्थम्—इन्द्रप्रस्थ में; अथ—और; आगमत्—आये।

दृषद्ती और सरस्वती नदियों को पार करने के पश्चात् वे पंचाल तथा मत्स्य प्रदेशों में से गुजरते हुए अन्त में इन्द्रप्रस्थ पहुँचे।

तमुपागतमाकर्ण्य प्रीतो दुर्दर्शनं नृनाम् ।
अजातशत्रुर्निरगात्सोपध्यायः सुहृद्वृतः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; उपागतम्—आया हुआ; आकर्ण्य—सुन कर; प्रीतः—प्रसन्न; दुर्दर्शनम्—विरले ही दिखने वाले; नृणाम्—मनुष्यों द्वारा; अजात-शत्रुः—जिसका शत्रु न हो, युधिष्ठिर; निरगात्—बाहर आया; स—सहित; उपध्यायः—पुरोहितों; सुहृत्—सम्बन्धियों से; वृतः—घिरा।

राजा युधिष्ठिर यह सुनकर अतीव प्रसन्न हुए कि दुर्लभ दर्शन देने वाले भगवान् आ चुके हैं। भगवान् कृष्ण से मिलने के लिए राजा अपने पुरोहितों तथा प्रिय संगियों समेत बाहर आ गये।

गीतवादित्रघोषेण ब्रह्मघोषेण भूयसा ।
अभ्ययात्स हृषीकेशं प्राणाः प्राणमिवादृतः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

गीत—गीत; वादित्र—तथा वाद्य-संगीत को; घोषेण—शब्द से; ब्रह्म—वेदों की; घोषेण—ध्वनि से; भूयसा—प्रचुर; अभ्ययात्—आगे गया; सः—वह; हृषीकेशम्—भगवान् कृष्ण को; प्राणाः—इन्द्रियों के; प्राणम्—प्राण या चेतना को; इव—सदृश; आदृतः—पूज्य।

वैदिक स्तुतियों की उच्च ध्वनि के साथ साथ गीत तथा संगीत-वाद्य गूंजने लगे और राजा बड़े ही आदर के साथ भगवान् हृषीकेश से मिलने के लिए आगे बढ़े, जिस तरह इन्द्रियाँ प्राणों से मिलने आगे बढ़ती हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण को हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी और राजा युधिष्ठिर द्वारा भगवान् के पास तेजी से जाने को चेतना से इन्द्रियों के उत्सुकतापूर्ण मिलने के समान बतलाया गया है। चेतना के बिना इन्द्रियाँ व्यर्थ हैं—इन्द्रियाँ चेतना के माध्यम से ही कार्य करती हैं। इसी प्रकार जब व्यष्टि आत्माएँ कृष्णभावनामृत अर्थात् भगवत्प्रेम से विहीन हो जाती हैं, तो वे व्यर्थ एवं मायामय संघर्ष में, जिसे *भव* या संसार कहते हैं, प्रवेश करती हैं। राजा युधिष्ठिर जैसे शुद्ध भक्त कभी भी भगवान् की संगति से विहीन नहीं होते, क्योंकि वे भगवान् को सदा अपने हृदय में रखते हैं। फिर भी जब वे दीर्घकालीन वियोग के पश्चात् उनका दर्शन करते हैं, तो उन्हें विशेष आनन्द की अनुभूति होती है, जैसाकि यहाँ पर वर्णन हुआ है।

दृष्ट्वा विक्लिन्नहृदयः कृष्णं स्नेहेन पाण्डवः ।
चिराद्दृष्टं प्रियतमं सस्वजेऽथ पुनः पुनः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; विक्लिन्न—द्रवित; हृदयः—उनका हृदय; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; स्नेहेन—स्नेह से; पाण्डवः—पाण्डु-पुत्र; चिरात्—दीर्घकाल से; दृष्टम्—देखे हुये; प्रिय-तमम्—अपने अत्यन्त प्रिय मित्र को; सस्वजे—आलिंगन किया; अथ—तत्पश्चात्; पुनः पुनः—फिर फिर।

जब राजा युधिष्ठिर ने अपने परमप्रिय मित्र भगवान् कृष्ण को इतने दीर्घ वियोग के बाद देखा, तो उनका हृदय स्नेह से द्रवित हो उठा और उन्होंने भगवान् का बारम्बार आलिंगन किया।

दोर्भ्यां परिष्वज्य रमामलालयं
मुकुन्दगात्रं नृपतिर्हताशुभः ।
लेभे परां निर्वृतिमश्रुलोचनो
हृष्यत्तनुर्विस्मृतलोकविभ्रमः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

दोर्भ्याम्—अपनी भुजाओं से; परिष्वज्य—आलिंगन करके; रमा—लक्ष्मी के; अमल—निर्मल; अलयम्—घर को; मुकुन्द—भगवान् कृष्ण के; गात्रम्—शरीर को; नृ-पतिः—राजा; हत—विनष्ट; अशुभः—अशुभ; लेभे—प्राप्त किया; पराम्—सर्वोच्च; निर्वृतिम्—हर्ष; अश्रु—आँसू; लोचनः—जिसकी आँखों में; हृष्यत्—प्रसन्न हुआ; तनुः—शरीर; विस्मृत—भूल कर; लोक—संसारी जगत के; विभ्रमः—मायावी कार्यकलाप।

भगवान् कृष्ण का नित्य स्वरूप लक्ष्मीजी का सनातन निवास है। ज्योंही युधिष्ठिर ने उनका आलिंगन किया, वे समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त हो गये। उन्हें तुरन्त दिव्य आनन्द की अनुभूति हुई और वे सुख-सागर में निमग्न हो गये। उनकी आँखों में आँसू आ गये और भावाविष्ट होने से उनका शरीर थरथराने लगा। वे पूरी तरह से भूल गये कि वे इस भौतिक जगत में रह रहे हैं।

तात्पर्य : उपर्युक्त भावार्थ श्रील प्रभुपाद कृत *भगवान् श्रीकृष्ण* से है।

तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतो
भीमः स्मयन्प्रेमजलाकुलेन्द्रियः ।
यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा
प्रवृद्धबाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; मातुलेयम्—मामा के पुत्र को; परिरभ्य—आलिंगन करके; निर्वृतः—हर्ष से पूरित; भीमः—भीमसेन; स्मयन्—हँसते हुए; प्रेम—प्रेमवश; जल—जल (आँसू) से; आकुल—पूरित; इन्द्रियः—आँखें; यमौ—जुड़वाँ (नकुल तथा सहदेव); किरीती—अर्जुन; च—तथा; सुहृत्-तमम्—उनके सबसे प्रिय मित्र; मुदा—हर्षपूर्वक; प्रवृद्ध—अत्यधिक; बाष्पाः—आँसू; परिरेभिरे—आलिंगन किया; अच्युतम्—अच्युत भगवान् को।

तब आँखों में आँसू भरे भीम ने अपने ममेरे भाई कृष्ण का आलिंगन किया और फिर हर्ष से हँसने लगे। अर्जुन तथा जुड़वाँ भाई—नकुल तथा सहदेव ने भी अपने सर्वाधिक प्रिय मित्र अच्युत भगवान् का हर्षपूर्वक आलिंगन किया और जोर-जोर से रोने लगे।

अर्जुनेन परिष्वक्तो यमाभ्यामभिवादितः ।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य वृद्धेभ्यश्च यथार्हतः ।
मानिनो मानयामास कुरुसृञ्जयकैकयान् ॥ २८॥

शब्दार्थ

अर्जुनेन—अर्जुन द्वारा; परिष्वक्तः—आलिंगित; यमाभ्याम्—जुड़वों द्वारा; अभिवादितः—नमस्कार किया गया; ब्राह्मणेभ्यः—ब्राह्मणों को; नमस्कृत्य—नमस्कार करके; वृद्धेभ्यः—वरिष्ठजनों को; च—तथा; यथा-अर्हतः—शिष्टाचार के अनुसार; मानिनः—माननीय व्यक्ति; मानयाम् आस—सम्मान किया; कुरु-सृञ्जय-कैकयान्—कुरुओं, सृञ्जयों तथा कैकयों को।

जब अर्जुन उनका पुनः आलिंगन कर चुके और नकुल तथा सहदेव उन्हें नमस्कार कर चुके, तो श्रीकृष्ण ने ब्राह्मणों तथा उपस्थित बड़े-बूढ़ों को नमस्कार किया। इस तरह उन्होंने कुरु, सृञ्जय तथा कैकय वंशों के माननीय सदस्यों का सत्कार किया।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने उल्लेख किया है कि चूँकि अर्जुन कृष्ण के समान समझे जाते थे, अतएव जब अर्जुन ने उन्हें नमस्कार करना चाहा, तो कृष्ण ने अर्जुन की बाहें पकड़ लीं, जिससे वह उनका केवल आलिंगन कर सके। किन्तु जुड़वों ने कनिष्ठ होने के कारण झुक कर नमस्कार किया और कृष्ण के चरण पकड़ लिये।

सूतमागधगन्धर्वा वन्दिनश्चोपमन्त्रिणः ।
मृदङ्गशङ्खपटह वीणापणवगोमुखैः ।
ब्राह्मणाश्चारविन्दाक्षं तुष्टुवुर्ननृतुर्जगुः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सूत—सूत; मागध—मागध; गन्धर्वाः—देवता जो गाने के लिए प्रसिद्ध हैं; वन्दिनः—वन्दीजन; च—तथा; उपमन्त्रिणः—विदूषक; मृदङ्ग—मृदंग; शङ्ख—शंख; पटह—दुंदुभी; वीणा—वीणा; पणव—छोटे ढोल; गोमुखैः—तथा गोमुख श्रृंगी से; ब्राह्मणाः—ब्राह्मण; च—तथा; अरविन्द-अक्षम्—कमल-नेत्र भगवान्; तुष्टुवुः—स्तुतियों से यशोगान किया; ननृतुः—नाचा; जगुः—गाया।

सूतों, मागधों, गन्धर्वों, वन्दीजनों, विदूषकों तथा ब्राह्मणों में से कुछ ने स्तुति करके, कुछ ने नाच-गाकर कमल-नेत्र भगवान् का यशोगान किया। मृदंग, शंख, दुंदुभी, वीणा, पणव तथा गोमुख गूंजने लगे।

एवं सुहृद्भिः पर्यस्तः पुण्यश्लोकशिखामणिः ।
संस्तूयमानो भगवान्विवेशालङ्कृतं पुरम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सु-हृद्भिः—अपने शुभचिन्तक सम्बन्धियों द्वारा; पर्यस्तः—घिरे हुए; पुण्य-श्लोक—पवित्र ख्याति के व्यक्तियों के; शिखा-मणिः—शिरोमणि; संस्तूयमानः—यशोगान किये जा रहे; भगवान्—भगवान्; विवेश—प्रविष्ट हुए; अलङ्कृतम्—अलंकृत; पुरम्—नगर में।

इस तरह अपने शुभचिन्तक सम्बन्धियों से घिर कर तथा चारों ओर से प्रशंसित होकर विख्यातों के शिरोमणि भगवान् कृष्ण सजे सजाये नगर में प्रविष्ट हुए।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''जब भगवान् कृष्ण शहर में प्रवेश कर रहे थे तो सारे लोग परस्पर भगवान् के यश की चर्चा कर रहे थे और उनके दिव्य नाम, गुण, रूप इत्यादि की प्रशंसा कर रहे थे।''

संसिक्तवर्त्म करिणां मदगन्धतोयैश्

चित्रध्वजैः कनकतोरणपूर्णकुम्भैः ।
मृष्टात्मभिर्नवदुकूलविभूषणस्रग्-
गन्धैर्नृभिर्युवतिभिश्च विराजमानम् ॥ ३१ ॥
उद्दीप्तदीपबलिभिः प्रतिसद्म जाल-
निर्यातधूपरुचिरं विलसत्पताकम् ।
मूर्धन्यहेमकलशै रजतोरुशृङ्गै-
र्जुष्टं ददर्श भवनैः कुरुराजधाम ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

संसिक्त—जल से छिड़काव की गई; वर्त्म—सड़कें; करिणाम्—हाथियों के; मद—मस्तक से निकलने वाले तरल के; गन्ध—सुगन्धित; तोयैः—जल से; चित्र—रंग-बिरंगे; ध्वजैः—ध्वजाओं से; कनक—सुनहरे; तोरण—द्वारों से; पूर्ण-कुम्भैः—तथा पूर्ण जलपात्रों से; मृष्ट—सजे हुए; आत्मभिः—शरीरों से; नव—नवीन; दुकूल—उत्तम वस्त्रों से; विभूषण—गहने; स्रक्—फूल की मालाएँ; गन्धैः—तथा सुगन्धित चन्दन-लेप से; नृभिः—मनुष्यों से; युवतिभिः—तरुणियों से; च—भी; विराजमानम्—जगमगाते; उद्दीप्त—जलाये गये; दीप—दीपकों से; बलिभिः—तथा भेंटों से; प्रति—प्रत्येक; सद्म—घर; जाल—खिड़कियों के झरोखों से; निर्यात—बाहर निकल कर; धूप—अगुरु का धुआँ; रुचिरम्—आकर्षक; विलसत्—हिलते-डुलते; पताकम्—झंडियों से; मूर्धन्य—छतों पर; हेम—सोने के; कलशैः—कलशों (गुम्बदों) से; रजत—चाँदी के; उरु—विशाल; शृङ्गैः—मंचों से; जुष्टम्—अलंकृत; ददर्श—देखा; भवनैः—घरों से; कुरु-राज—कुरुओं के राजा के; धाम—राज्य।

इन्द्रप्रस्थ की सड़कें हाथियों के मस्तक से निकले द्रव से सुगंधित किये गये जल से छिड़की गई थीं। रंगबिरंगी झंडिया, सुनहरे द्वार तथा पूर्ण जलघटों से नगर की भव्यता बढ़ गई थी। पुरुष तथा तरुणियाँ उत्तम नए वस्त्रों से सुन्दर ढंग से सजी थीं, फूलों की मालाओं तथा गहनों से अलंकृत थीं तथा सुगन्धित चन्दन-लेप से लेपित थीं। हर घर में जगमगाते दीपक दिख रहे थे और सादर भेंटे दी जा रही थीं। जालीदार खिड़कियों के छिद्रों से अगुरु का धुँआ निकल रहा था, जिससे नगर की सुन्दरता और भी बढ़ रही थी। झंडियाँ हिल रही थीं और छतों को चाँदी के चौड़े आधारों पर रखे सुनहरे कलशों से सजाया गया था। इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने कुरुराज के राजसी नगर को देखा।

तात्पर्य : इस सम्बन्ध में श्रील प्रभुपाद कहते हैं, ''इस प्रकार भगवान् कृष्ण पाण्डवों के नगर में प्रविष्ट हुए, वहाँ के सुन्दर वातावरण का आनन्द लिया और धीरे-धीरे आगे बढ़ते गये।''

प्राप्तं निशम्य नरलोचनपानपात्र-
मौत्सुक्यविश्लथितकेशदुकूलबन्धाः ।
सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतींश्च तल्पे
द्रष्टुं ययुर्युवतयः स्म नरेन्द्रमार्गे ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

प्राप्तम्—आया हुआ; निशम्य—सुन कर; नर—मनुष्यों के; लोचन—आँखों के; पान—पीने के; पात्रम्—वस्तु या आगार; औत्सुक्य—उत्सुकतावश; विश्लथित—ढीले हुए; केश—बाल; दुकूल—वस्त्रों के; बन्धाः—तथा गाँठें; सद्यः—तुरन्त; विसृज्य—त्याग कर; गृह—गृहस्थी के; कर्म—कार्य; पतीन्—अपने पतियों को; च—तथा; तल्पे—पलंग में; द्रष्टुम्—देखने के लिए; ययुः—गयी; युवतयः—युवतियाँ; स्म—निस्सन्देह; नर-इन्द्र—राजा के; मार्गे—पथ पर।

जब नगर की युवतियों ने सुना कि मनुष्यों के नेत्रों के लिए आनन्द के आगार भगवान् कृष्ण आए हैं, तो उन्हें देखने के लिए वे जल्दी जल्दी राजमार्ग तक पहुंच गईं। उन्होंने अपने घर के कार्यों (टहल) को त्याग दिया, यहाँ तक कि अपने पतियों को भी पलंग में ही छोड़ आईं। उत्सुकतावश उनके बालों की गाँठें तथा वस्त्र ढीले पड़ गये।

तस्मिन्सुसङ्कुल इभाश्वरथद्विपद्भिः
कृष्णम्सभार्यमुपलभ्य गृहाधिरूढाः ।
नार्यो विकीर्य कुसुमैर्मनसोपगुह्य
सुस्वागतं विदधुरुत्स्मयवीक्षितेन ॥ ३॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस (मार्ग) पर; सु—अत्यधिक; सङ्कुले—भीड़युक्त; इभ—हाथियों; अश्व—घोड़ों; रथ—रथों; द्वि-पद्भिः—तथा पैदल सिपाहियों से युक्त; कृष्णम्—कृष्ण को; स-भार्यम्—अपनी पत्नियों सहित; उपलभ्य—देखकर; गृह—घरों के; अधिरूढाः—छतों पर चढ़ीं; नार्यः—स्त्रियाँ; विकीर्य—बिखेर कर; कुसुमैः—फूलों से; मनसा—मनों में; उपगुह्य—आलिंगन करके; सु-स्वागतम्—हार्दिक स्वागत; विदधुः—उसे दिया; उत्स्मय—हँसती हुई; वीक्षितेन—चितवनों से।

राजमार्ग पर हाथियों, घोड़ों, रथों तथा पैदल सैनिकों की खूब भीड़ थी, इसलिए स्त्रियाँ अपने घरों की छतों पर चढ़ गईं, जहाँ से उन्होंने कृष्ण तथा उनकी रानियों को देखा। नगर की स्त्रियों ने भगवान् पर फूल बरसाये, मन ही मन उनका आलिंगन किया और हँसीयुक्त चितवनों से अपना हार्दिक स्वागत व्यक्त किया।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की टीका है कि स्त्रियों ने अपनी स्नेहमयी चितवनों के माध्यम से भगवान् की यात्रा की सुविधा आदि के बारे में उत्सुक प्रश्न पूछे। दूसरे शब्दों में, अपने आनन्द में उन्होंने भगवान् की सेवा करने की तीव्र इच्छा व्यक्त की।

ऊचुः स्त्रियः पथि निरीक्ष्य मुकुन्दपत्नी-
स्तारा यथोडुपसहाः किमकार्यमूभिः ।
यच्चक्षुषां पुरुषमौलिरुदारहास-
लीलावलोककलयोत्सवमातनोति ॥ ३५॥

शब्दार्थ

ऊचुः—कहा; स्त्रियः—स्त्रियों ने; पथि—मार्ग पर; निरीक्ष्य—देखकर; मुकुन्द—भगवान् कृष्ण की; पत्नीः—पत्नियों को; ताराः—तारे; यथा—जिस तरह; उडु-प—चन्द्रमा; सहाः—साथ साथ; किम्—क्या; अकारि—किया गया था; अमूभिः—उनके द्वारा; यत्—क्योंकि; चक्षुषाम्—उनकी आँखों के लिए; पुरुष—पुरुषों के; मौलिः—चोटी; उदार—विस्तृत; हास—हँसी से; लीला—क्रीड़ायुक्त; अवलोक—चितवनोंका; कलया—लघु अंश से; उत्सवम्—उत्सव; आतनोति—प्रदान करता है।

मार्ग पर मुकुन्द की पत्नियों को चन्द्रमा के साथ तारों की तरह गुजरते देखकर स्त्रियाँ चिल्ला उठीं, ''इन स्त्रियों ने कौन-सा कर्म किया है, जिससे उत्तमोत्तम व्यक्ति अपनी उदार मुसकान तथा क्रीड़ायुक्त दीर्घ चितवनों से उनके नेत्रों को सुख प्रदान कर रहे हैं?''

तत्र तत्रोपसङ्गम्य पौरा मङ्गलपाणयः ।
चक्रुः सपर्यां कृष्णाय श्रेणीमुख्या हतैनसः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—विविध स्थानों में; उपसङ्गम्य—पहुँच कर; पौराः—नगरवासी; मङ्गल—शुभ भेंटें; पाणयः—अपने हाथों में; चक्रुः—सम्पन्न किया; सपर्याम्—पूजा; कृष्णाय—कृष्ण के लिए; श्रेणी—व्यवसायियों के; मुख्याः—प्रमुख नेता; हत—विनष्ट; एनसः—पाप।

विभिन्न स्थानों पर नगरवासी अपने हाथों में कृष्ण के लिए शुभ भेंटें लेकर आये और प्रमुख निष्पाप व्यापारी भगवान् की पूजा करने के लिए आगे बढ़े।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''जब भगवान् कृष्ण मार्ग से जा रहे थे, तो शहर के कुछ धनी प्रतिष्ठित और निष्पाप नागरिकों ने नगर-प्रवेश के कारण उनका स्वागत करने के लिए भगवान् को शुभ वस्तुएँ भेंट कीं। इस तरह उन्होंने विनम्र सेवकों के रूप में उनकी पूजा की।''

अन्तःपुरजनैः प्रीत्या मुकुन्दः फुल्ललोचनैः ।
ससम्भ्रमैरभ्युपेतः प्राविशद्राजमन्दिरम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

अन्तः-पुर—रनिवास के; जनैः—लोगों के द्वारा; प्रीत्या—प्रेमपूर्वक; मुकुन्दः—भगवान् कृष्ण; फुल्ल—प्रफुल्ल; लोचनैः—आँखों से; स-सम्भ्रमैः—जोश में; अभ्युपेतः—स्वागत करने आईं; प्राविशत्—प्रवेश किया; राज—राजसी; मन्दिरम्—महल में।

प्रफुल्ल नेत्रों से अन्तःपुर के सदस्य भगवान् मुकुन्द का प्रेमपूर्वक स्वागत करने जोश से आगे बढ़े और इस तरह भगवान् राजमहल में प्रविष्ट हुए।

पृथा विलोक्य भ्रात्रेयं कृष्णं त्रिभुवनेश्वरम् ।
प्रीतात्मोत्थाय पर्यङ्कात्सस्नुषा परिषस्वजे ॥ ३८॥

शब्दार्थ

पृथा—रानी कुन्ती; विलोक्य—देख कर; भ्रात्रेयम्—अपने भाई के पुत्र; कृष्णम्—कृष्ण को; त्रि-भुवन—तीनों लोकों के; ईश्वरम्—स्वामी; प्रीत—प्रेमपूर्ण; आत्मा—हृदय; उत्थाय—उठ कर; पर्यङ्कात्—अपने पलंग से; स-स्नुषा—अपनी पुत्रवधू (द्रौपदी) सहित; परिषस्वजे—आलिंगन किया।

जब महारानी कुन्ती ने अपने भतीजे कृष्ण को, जो तीनों लोकों के स्वामी हैं, देखा तो उनका हृदय प्रेम से भर गया। वे अपनी पुत्रवधू सहित अपने पलंग से उठीं और उन्होंने भगवान् का आलिंगन किया।

तात्पर्य : महारानी कुन्ती की पुत्रवधू सुविख्यात द्रौपदी हैं।

गोविन्दं गृहमानीय देवदेवेशमादृतः ।
पूजायां नाविदत्कृत्यं प्रमोदोपहतो नृपः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

गोविन्दम्—भगवान् कृष्ण को; गृहम्—अपने घर में; आनीय—लाकर; देव—सारे देवताओं के; देव-ईशम्—परमेश्वर तथा नियन्ता; आदृतः—पूज्य; पूजायाम्—पूजा में; न अविदत्—नहीं जान पाये; कृत्यम्—विस्तृत क्रिया; प्रमोद—उनके अधिक हर्ष से; उपहतः—अभिभूत; नृपः—राजा।

देवताओं के परमेश्वर, भगवान् गोविन्द को राजा युधिष्ठिर अपने निजी निवासस्थान में ले आये। राजा हर्ष से इतने विभोर हो गये कि उन्हें पूजा का सारा अनुष्ठान विस्मृत हो गया।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''ज्योंही वे कृष्ण को महल के भीतर ले आये, राजा युधिष्ठिर हर्ष से इतने विभोर हो गये कि एक तरह से वे भूल ही गये कि कृष्ण का स्वागत करने तथा उनकी ठीक से पूजा करने के लिए उन्हें क्या करना चाहिए।''

पितृस्वसुर्गुरुस्त्रीणां कृष्णश्चक्रेऽभिवादनम् ।
स्वयं च कृष्णया राजन्भगिन्या चाभिवन्दितः ॥ ० ॥

शब्दार्थ

पितृ—उनके पिता की; स्वसुः—बहन (कुन्ती) के; गुरु—गुरुजनों के; स्त्रीणाम्—तथा पत्नियों के; कृष्णः—भगवान् कृष्ण ने; चक्रे—सम्पन्न किया; अभिवादनम्—नमस्कार; स्वयम्—स्वयं; च—तथा; कृष्णया—कृष्णा (द्रौपदी) द्वारा; राजन्—हे राजा (परीक्षित); भगिन्या—अपनी बहन (सुभद्रा) द्वारा; च—भी; अभिवन्दितः—नमस्कार किये गये।

हे राजन्, भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी बुआ तथा उनके गुरुजनों की पत्नियों को नमस्कार किया। तब द्रौपदी तथा भगवान् की बहन ने उन्हें नमस्कार किया।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''भगवान् कृष्ण ने हर्षपूर्वक कुन्ती को तथा महल की बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों को नमस्कार किया। वहीं पर उनकी छोटी बहन सुभद्रा भी द्रौपदी के साथ खड़ी थी। इन दोनों ने भगवान् के चरणकमलों पर अपना नमस्कार निवेदित किया।

श्वश्र्वा सञ्चोदिता कृष्णा कृष्णपत्नीश्च सर्वशः ।
आनर्च रुक्मिणीं सत्यां भद्रां जाम्बवतीं तथा ॥ १ ॥
कालिन्दीं मित्रविन्दां च शैब्यां नाग्नजितीं सतीम् ।
अन्याश्चाभ्यागता यास्तु वासःस्रङ्मण्डनादिभिः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्वश्र्वा—अपनी सास (कुन्ती) द्वारा; सञ्चोदिता—प्रोत्साहित; कृष्णा—द्रौपदी; कृष्ण-पत्नीः—कृष्ण की पत्नियाँ; च—तथा; सर्वशः—सारे लोग; आनर्च—पूजा की; रुक्मिणीम्—रुक्मिणी की; सत्याम्—सत्यभामा की; भद्राम् जाम्बवतीम्—भद्रा तथा जाम्बवती की; तथा—भी; कालिन्दीम् मित्रविन्दाम् च—कालिन्दी तथा मित्रविन्दा की; शैब्याम्—राजा शिबि की वंशजा; नाग्नजितीम्—नाग्नजिती की; सतीम्—सती; अन्याः—अन्य; च—भी; अभ्यागताः—वहाँ पर आये हुए; याः—जो; तु—तथा; वासः—वस्त्र समेत; स्रक्—फूल की माला; मण्डन—आभूषण; आदिभिः—इत्यादि से।

अपनी सास से अभिप्रेरित होकर द्रौपदी ने भगवान् कृष्ण की पत्नियों-रुक्मिणी, सत्यभामा, भद्रा, जाम्बवती, कालिन्दी, शिबि की वंशजा मित्रविन्दा, सती नाग्नजिती को तथा वहाँ पर उपस्थित भगवान् की अन्य रानियों को नमस्कार किया। द्रौपदी ने वस्त्र, फूल-मालाएँ तथा रत्नाभूषण जैसे उपहारों से उन सबों का सत्कार किया।

सुखं निवासयामास धर्मराजो जनार्दनम् ।
ससैन्यं सानुगामत्यं सभार्यं च नवं नवम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सुखम्—सुखपूर्वक; निवासयाम् आस—ठहराया; धर्म-राजः—धर्म के राजा युधिष्ठिर ने; जनार्दनम्—भगवान् कृष्ण को; स-सैन्यम्—सेना समेत; स-अनुग—सेवकों समेत; अमत्यम्—तथा मंत्रीगण; स-भार्यम्—अपनी पत्नियों सहित; च—तथा; नवम् नवम्—एक से एक नवीन।

राजा युधिष्ठिर ने कृष्ण के विश्राम का प्रबन्ध किया और इसका ध्यान रखा कि जितने सारे लोग उनके साथ आये हैं—यथा उनकी रानियाँ, सैनिक, मंत्री तथा सचिव—वे सुखपूर्वक ठहर जाँय। उन्होंने ऐसी व्यवस्था की कि जब तक वे पाण्डवों के अतिथि रूप में रहें, प्रतिदिन उनका नया नया स्वागत हो।

तात्पर्य : उपर्युक्त भावार्थ श्रील प्रभुपाद कृत *श्रीकृष्ण* से लिया गया है।

तर्पयित्वा खाण्डवेन वह्निं फाल्गुनसंयुतः ।
मोचयित्वा मयं येन राज्ञे दिव्या सभा कृता ॥ ॥
उवास कतिचिन्मासान्राज्ञः प्रियचिकीर्षया ।
विहरन्रथमारुह्य फाल्गुनेन भटैर्वृतः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तर्पयित्वा—तुष्ट करके; खाण्डवेन—खाण्डव वन सहित; वह्निम्—अग्निदेव को; फाल्गुन—अर्जुन द्वारा; संयुतः—साथ में; मोचयित्वा—छुड़ाकर; मयम्—मय दानव को; येन—जिसके द्वारा; राज्ञे—राजा (युधिष्ठिर) के लिए; दिव्या—दैवी; सभा—सभाभवन; कृता—बनाया गया; उवास—वे रहते रहे; कतिचित्—कई; मासान्—महीने; राज्ञः—राजा को; प्रिय—खुशी; चिकीर्षया—देने की इच्छा से; विहरन्—विहार करते; रथम्—रथ में; आरुह्य—चढ़ कर; फाल्गुनेन—अर्जुन सहित; भटैः—रक्षकों द्वारा; वृतः—घिरे।

राजा युधिष्ठिर को तुष्ट करने की इच्छा से भगवान् कई मास इन्द्रप्रस्थ में रहते रहे। अपने आवास-काल के समय उन्होंने तथा अर्जुन ने अग्निदेव को खाण्डव वन भेंट करके तुष्ट किया। उन्होंने मय दानव को बचाया जिसने बाद में राजा युधिष्ठिर के लिए दैवी सभाभवन बनाया। अर्जुन के साथ सैनिकों से घिर कर भगवान् ने अपने रथ पर सवारी करने के अवसर का भी लाभ उठाया।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद *श्रीकृष्ण* में लिखते हैं, ''इसी समय भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन की सहायता से अग्निदेव की तुष्टि के लिए अग्निदेव को खाण्डव वन निगलने की अनुमति दी। वन में प्रज्वलित अग्नि के मध्य श्रीकृष्ण ने मयासुर की रक्षा की, जो जंगल में छिपा था। अपने बचाये जाने पर मयासुर ने स्वयं पाण्डवों एवं भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति आभार माना तथा उसने इन्द्रप्रस्थ में एक अद्‌भुत सभाभवन का निर्माण किया। इस प्रकार युधिष्ठिर को प्रसन्न करने के लिए वे महीनों इन्द्रप्रस्थ में रहे। अपने निवास की अवधि में श्रीकृष्णको इधर-उधर भ्रमण में बड़ा आनन्द आया। वे अर्जुन के साथ रथ में जाया करते थे और अनेक वीर तथा सैनिक उनके पीछे पीछे चलते थे।''

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''भगवान् की इन्द्रप्रस्थ यात्रा'' नामक इकहत्तरवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बहत्तर

जरासन्ध असुर का वध

इस अध्याय में बतलाया गया है कि भगवान् कृष्ण ने किस तरह राजा युधिष्ठिर की विनती सुनी और तब जरासन्ध को पराजित करने के लिए भीमसेन को नियुक्त किया।

एक दिन जब भगवान् कृष्ण राजसभा में बैठे थे तो राजा युधिष्ठिर ने उन्हें सम्बोधित किया, ''हे प्रभु! मैं राजसूय यज्ञ करना चाहता हूँ। जिनकी रुचि आपकी भक्ति में नहीं है, वे आपके भक्तों की

श्रेष्ठता तथा अभक्तों की निकृष्टता का स्वयं अवलोकन इस यज्ञ में कर सकेंगे। वे आपके चरणकमलों का दर्शन भी कर सकेंगे।''

भगवान् कृष्ण ने राजा युधिष्ठिर के प्रस्ताव की बढ़ा-चढ़ा कर प्रशंसा करते हुए कहा, ''आपकी योजना इतनी उत्तम है कि इससे आपकी ख्याति विश्व-भर में फैल जायेगी। निस्सन्देह सारे जीवों को इस यज्ञ के सम्पन्न होने की कामना करनी चाहिए। किन्तु इस यज्ञ को सम्भव बनाने के पूर्व आपको पृथ्वी के सारे राजाओं को परास्त करना होगा और इसके लिए आवश्यक सामग्री जुटानी होगी।''

भगवान् कृष्ण के शब्दों से तुष्ट होकर युधिष्ठिर ने अपने भाइयों को विविध दिशाओं को जीतने के लिए भेज दिया। अपनी अपनी नियत दिशाओं के राजाओं को—या उनकी वफादारी को—जीत कर वे युधिष्ठिर के लिए अथाह सम्पत्ति साथ में ले आये। किन्तु उन्होंने यह जानकारी दी कि जरासन्ध पराजित नहीं किया जा सका। जब युधिष्ठिर मन में यह विचार कर रहे थे कि जरासन्ध को किस तरह दमित किया जाय, तो श्रीकृष्ण ने उद्धव की सलाह का पालन करते हुए युधिष्ठिर से इसे पूरा करने के साधनों को प्रकट कर दिया।

तब भीम, अर्जुन तथा श्रीकृष्ण ने ब्राह्मणों का वेश बनाया और फिर जरासन्ध के महल में गये। जरासन्ध ब्राह्मणों का भक्त था। उन्होंने राजा जरासन्ध से अपना परिचय अपने को ब्राह्मण बतला कर दिया और उसके सत्कार की ख्याति की प्रशंसा की तथा अपनी इच्छा पूरी करने के लिए उससे याचना की। उनके अंगों पर धनुष की डोरी के निशान देखकर जरासन्ध समझ गया कि ये तीनों योद्धा हैं, ब्राह्मण नहीं, अत: भयभीत होते हुए भी उसने उनकी इच्छा पूरी करने का वचन दिया। तभी भगवान् कृष्ण ने अपना वेश उतार फेंका और जरासंध से द्वन्द्व युद्ध करने के लिए कहा। किन्तु जरासन्ध ने यह कहकर इनकार कर दिया कि तुम कायर हो क्योंकि एक बार युद्धभूमि से भाग चुके हो। जरासन्ध ने अर्जुन से भी इसलिए लड़ने से इनकार कर दिया, क्योंकि वह आयु तथा आकार में उससे निकृष्ट था। किन्तु भीम को उसने योग्य प्रतिद्वन्द्वी स्वीकार किया। इस प्रकार जरासन्ध ने भीम को एक गदा दी और स्वयं भी एक गदा ले ली और दोनों युद्ध करने के लिए नगर से बाहर चले गये।

जब कुछ समय तक युद्ध चलता रहा तो यह स्पष्ट हो गया कि दोनों ही विजय पाने के लिए समान रूप से बलशाली हैं। तब कृष्ण ने वृक्ष की एक छोटी टहनी को तोड़ कर दो खण्ड कर दिये और इस

तरह भीम को दिखला दिया कि जरासन्ध को वह कैसे मारे। भीम ने जरासन्ध को भूमि पर पटक दिया, उसके एक पाँव पर अपना पाँव रखा और दूसरे पाँव को अपने हाथों से पकड़ कर गुदा से लेकर सिर तक चीर डाला।

जरासन्ध को मरा हुआ देखकर उसके सम्बन्धी तथा उसकी प्रजा शोक से रोने-चिल्लाने लगीं। तब भगवान् कृष्ण ने जरासन्ध के पुत्र को मगध का राजा नियुक्त किया और उन राजाओं को मुक्त किया, जिन्हें जरासन्ध ने बन्दी बना रखा था।

श्रीशुक उवाच
एकदा तु सभामध्य आस्थितो मुनिभिर्वृतः ।
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैर्भ्रातृभिश्च युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
आचार्यैः कुलवृद्धैश्च ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ।
शृण्वतामेव चैतेषामाभाष्येदमुवाच ह ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एकदा—एक बार; तु—तथा; सभा—राजसभा के; मध्ये—बीच में; आस्थितः—आसीन; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; वृतः—घिरे हुए; ब्राह्मणैः क्षत्रियैः वैश्यैः—ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों से; भ्रातृभिः—भाइयों से; च—तथा; युधिष्ठिरः—युधिष्ठिर; आचार्यैः—अपने गुरुओं से; कुल—परिवार के; वृद्धैः—बड़े-बूढ़ों से; च—भी; ज्ञाति—सगे; सम्बन्धि—सम्बन्धियों; बान्धवैः—तथा मित्रों से; शृण्वताम्—सुनते ही; एव—निस्सन्देह; च—तथा; एतेषाम्—सारे के सारे; आभाष्य—(कृष्ण को) सम्बोधित करके; इदम्—यह; उवाच ह—कहा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : एक दिन जब राजा युधिष्ठिर राजसभा में प्रख्यात मुनियों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों तथा अपने भाइयों, गुरुओं, परिवार के बड़े-बूढ़ों, सगे-सम्बन्धियों ससुराल वालों तथा मित्रों से घिर कर बैठे हुए थे, तो उन्होंने भगवान् कृष्ण को सम्बोधित किया, जबकि दूसरे सभी व्यक्ति सुन रहे थे।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच
क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः ।
यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत्सम्पादय नः प्रभो ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—श्री युधिष्ठिर ने कहा; क्रतु—मुख्य अग्नि यज्ञों के; राजेन—राजा; गोविन्द—हे कृष्ण; राजसूयेन—राजसूय से; पावनीः—पवित्र करने वाला; यक्ष्ये—मैं पूजा करना चाहता हूँ; विभूतीः—ऐश्वर्यशाली अंशों द्वारा; भवतः—आपकी; तत्—उस; सम्पादय—कृपया करने की अनुमति दें; नः—हमें; प्रभो—हे स्वामी।

श्री युधिष्ठिर ने कहा : हे गोविन्द, मैं आपके शुभ ऐश्वर्यशाली अंशों की पूजा वैदिक उत्सवों के राजा, राजसूय यज्ञ द्वारा करना चाहता हूँ। हे प्रभु, हमारे इस प्रयास को सफल बनायें।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं कि *विभूतिभि:* शब्द भगवान् कृष्ण के अंशों (अंशान्) का द्योतक है और श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इससे भी आगे कहते हैं कि *विभूतिभि:* शब्द इस संसार के भीतर भगवान् कृष्ण के ऐश्वर्यवान् अंशों यथा देवताओं तथा शक्तिप्रदत्त जीवों का सूचक है। अत: श्रील प्रभुपाद ने *श्रीकृष्ण* में इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है ''प्रिय कृष्ण! राजसूय यज्ञ नाम वाला यज्ञ सम्राट द्वारा सम्पन्न किया जाता है और उसे समस्त यज्ञों का राजा कहा जाता है। इस यज्ञ को सम्पन्न करके मैं उन सारे देवताओं को तुष्ट करना चाहता हूँ, जो इस भौतिक जगत में आपके शक्तिप्रदत्त प्रतिनिधि हैं। मैं चाहूँगा कि आप कृपा करके इस महान् कार्य में मेरी सहायता करें, जिससे इसे सफलतापूर्वक सम्पन्न किया जा सके। जहाँ तक हम पाण्डवों का प्रश्न है, देवताओं से हमें कुछ भी नहीं माँगना है। हम आपके भक्त बनकर निजी रूप से सन्तुष्ट हैं। जैसाकि आपने *भगवद्गीता* में कहा है ''जो लोग भौतिक इच्छाओं से मोहग्रस्त हैं, वे ही देवताओं को पूजते हैं।'' किन्तु हमारा उद्देश्य भिन्न है। मैं यह राजसूय यज्ञ करना चाहता हूँ और देवताओं को आमंत्रित करके यह दिखलाना चाहता हूँ कि आपके बिना उनके पास स्वयं कोई शक्ति नहीं होती। वे सभी आपके दास हैं और आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। अल्पज्ञान की कमी के कारण मूर्ख व्यक्ति आपको सामान्य मनुष्य मानते हैं। कभी वे आपमें दोष निकालने का प्रयत्न करते हैं, तो कभी वे आपको बदनाम करना चाहते हैं। अतएव मैं यह राजसूय यज्ञ सम्पन्न करना चाहता हूँ। मैं ब्रह्मा, शिव तथा स्वर्गलोक के सभी अन्य प्रमुख देवताओं को आमंत्रित करना चाहता हूँ। ब्रह्माण्ड के सारे भागों से आये देवताओं की उस महान् सभा में मैं यह प्रमाणित करना चाहता हूँ कि आप भगवान् हैं और प्रत्येक व्यक्ति आपका दास है।''

त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति
ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति ।
विन्दन्ति ते कमलनाभ भवापवर्ग-
माशासते यदि त आशिष ईश नान्ये ॥ ॥

शब्दार्थ

त्वत्—तुम्हारे; **पादुके**—खड़ाऊँ को; **अविरतम्**—निरन्तर; **परि**—पूर्णतया; **ये**—जो; **चरन्ति**—सेवा करते हैं; **ध्यायन्ति**—ध्यान करते हैं; **अभद्र**—अशुभ वस्तुओं के; **नशने**—विनाश करने वाली; **शुचय:**—पवित्र; **गृणन्ति**—तथा शब्दों द्वारा वर्णन करते हैं; **विन्दन्ति**—प्राप्त करते हैं; **ते**—वे; **कमल**—कमल (सदृश); **नाभ**—हे कमलनाभ; **भव**—भौतिक जीवन का; **अपवर्गम्**—मोक्ष; **आशासते**—इच्छा लगाये रहते हैं; **यदि**—यदि; **ते**—वे; **आशिष:**—इच्छित वस्तुएँ प्राप्त करते हैं; **ईश**—हे प्रभु; **न**—नहीं; **अन्ये**—अन्य पुरुष।

हे कमलनाभ, वे पवित्र व्यक्ति जो निरन्तर आपकी उन पादुकाओं की सेवा करते हैं, ध्यान करते हैं और उनका यशोगान करते हैं, जो समस्त अशुभ वस्तुओं को विनष्ट करने वाली हैं, उन्हें निश्चित रूप से इस भौतिक संसार से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। यदि वे इस जगत में किसी वस्तु की आकांक्षा करते हैं, तो वे उसे प्राप्त करते हैं, किन्तु हे प्रभु, अन्य लोग, जो आपकी शरण ग्रहण नहीं करते, कभी भी तुष्ट नहीं होते।

तात्पर्य : इस संदर्भ में श्रील प्रभुपाद लिखते हैं कि मुक्त कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ''न तो इस भौतिक जगत से मुक्त ही होना चाहते हैं, न भौतिक ऐश्वर्य का भोग करना चाहते हैं, उनकी इच्छाओं की पूर्ति कृष्णभावनाभावित कार्यों से हो जाती है। जहाँ तक हमारा (राजा युधिष्ठिर का) प्रश्न है, हम तो पूर्णतया आपके चरणकमलों में शरणागत हैं और आपकी कृपा से आपका साक्षात् दर्शन कर पाने के भाग्यशाली हैं। अत: स्वाभाविक है कि हमें भौतिक ऐश्वर्यों की कोई इच्छा नहीं है। वैदिक ज्ञान का निर्णय है कि आप भगवान् हैं। मैं इस तथ्य को स्थापित करना चाहता हूँ और मैं दुनिया को आपको भगवान् के रूप में तथा सामान्य शक्तिशाली ऐतिहासिक पुरुष के रूप में स्वीकार करने के अन्तर को दिखलाना चाहता हूँ। मैं दुनिया को यह दिखला देना चाहता हूँ कि आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण करने मात्र से जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त की जा सकती है, जिस तरह जड़ों को सींचकर पूरे वृक्ष की शाखाओं, पत्तियों तथा फूलों को तुष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार यदि कोई कृष्णभावानामृत को ग्रहण करता है, तो उसका जीवन भौतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण बन जाता है।''

इसी तरह से युधिष्ठिर के कथन की श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती, व्याख्या करते हैं: न तो हमें राजसूय यज्ञ करने की उतावली है, न ही इसमें हमारा कोई स्वार्थ निहित है, क्योंकि हम आपके चरणकमलों का दर्शन तो पा ही रहे हैं और आपकी असीम कृपा से हमें आपका सान्निध्य भी प्राप्त है। किन्तु इस संसार में कुछ ऐसे लोग भी हैं, जिनके हृदय दूषित हैं, अत: वे लोग सोचते हैं कि आप भगवान् न होकर सामान्य व्यक्ति हैं। या फिर वे आपमें दोष निकालते हैं और आपकी आलोचना तक कर डालते हैं। यह तीर हमारे हृदयों में बेध रहा है।

अतएव अपने हृदयों से इस तीर को निकालने के लिए हमें इस स्थान पर—राजसूय के बहाने—ब्रह्मा, रुद्र तथा अन्य चतुर ब्रह्मचारियों एवं देवताओं को बुलाना चाहिए, जो चौदहों लोकों में निवास

करते हैं। जब ऐसी उच्च श्रेणी की भीड़ एकत्र हो जायेगी, तो परमावश्यक हो जायेगा कि सबसे पहले *अग्रपूजा* के लिए व्यवस्था की जाय। और जब उन्हें यह प्रत्यक्ष दिखला दिया जायेगा कि आप, अर्थात् कृष्ण ही पूर्णपुरुषोत्तम भगवान् हैं, तो हमारे हृदयों को बेधने वाला तीर निकल जायेगा।''

तद्देवदेव भवतश्चरणारविन्द-
सेवानुभावमिह पश्यतु लोक एषः ।
ये त्वां भजन्ति न भजन्त्युत वोभयेषां
निष्ठां प्रदर्शय विभो कुरुसृञ्जयानाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; देव-देव—हे स्वामियों के स्वामी; भवतः—आपके; चरण-अरविन्द—चरणकमलों की; सेवा—सेवा की; अनुभावम्—शक्ति; इह—इस संसार में; पश्यतु—वे देख सकें; लोकः—जनता; एषः—यह; ये—जो; त्वाम्—तुमको; भजन्ति—पूजते हैं; न भजन्ति—पूजा नहीं करते; उत वा—अथवा अन्य कुछ; उभयेषाम्—दोनों की; निष्ठाम्—पद को; प्रदर्शय—दिखलाइये; विभो—हे सर्वशक्तिमान; कुरु-सृञ्जयानाम्—कुरुओं तथा सृञ्जयों के।

अतएव हे देव-देव, इस संसार के लोग देख लें कि आपके चरणकमलों में की गई भक्ति की शक्ति कितनी है। हे सर्वशक्तिमान, आप उन्हें उन कुरुओं तथा सृञ्जयों की शक्ति दिखला दें, जो आपकी पूजा करते हैं और उनकी भी स्थिति दिखला दें, जो पूजा नहीं करते।

तात्पर्य : यहाँ पर हमें प्रचारक का हृदय स्पष्ट दिखता है। महान् भक्त युधिष्ठिर महाराज भगवान् कृष्ण से याचना करते हैं कि वे अपनी पूजा करने तथा पूजा न करने का फल स्पष्ट दिखला दें। यदि संसार के लोग इसे समझ सकते, तो वे पहचानने लगते कि कृष्ण ही परमेश्वर हैं और हर व्यक्ति का स्वार्थ इसी में निहित है कि उनकी शरण में जाये। जैसाकि महाजनों ने पुष्टि की है, युधिष्ठिर महाराज शुद्ध भगवद्भक्त हैं, अतः राजा के रूप में कर्तव्य निर्वाह करने के पीछे असली मन्तव्य भगवान् कृष्ण की श्रेष्ठता स्थापित करना था। यही है असली सार पाण्डवों के कार्यों का जिन्हें *श्रीमद्भागवत* तथा *महाभारत* दोनों में वर्णित किया गया है।

न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात्
सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः ।
संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ब्रह्मणः—ब्रह्म का; स्व—अपना; पर—तथा पराया; भेद—भेदभाव, भेद; मतिः—प्रवृत्ति; तव—तुम्हारी; स्यात्—शायद हो; सर्व—सारी वस्तुओं के; आत्मनः—आत्मा के; सम—समान; दृशः—जिसका दर्शन; स्व—अपने भीतर; सुख—सुख का; अनुभूतेः—अनुभूति की; संसेवताम्—उचित रीति से पूजा करने वालों के लिए; सुर-तरोः—कल्पवृक्ष के; इव—मानो; ते—तुम्हारी; प्रसादः—कृपा; सेवा—सेवा के साथ; अनुरूपम्—अनुरूप; उदयः—इच्छित फल; न—नहीं; विपर्ययः—उलटा; अत्र—इसमें।

आपके मन के भीतर ''यह मेरा है और वह दूसरे का है'' इस प्रकार का भेदभाव नहीं हो सकता, क्योंकि आप परम सत्य हैं, समस्त जीवों के आत्मा, सदैव समभाव रखने वाले और अपने अन्तर में दिव्य आनन्द का भोग करने वाले हैं। आप कल्पवृक्ष की तरह अपने उचित रूप से हर पूजने वाले को आशीर्वाद देते हैं और उनके द्वारा की गई सेवा के अनुपात में उन्हें इच्छित फल देते हैं। इसमें कोई भी दोष नहीं है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि कल्पवृक्ष में न तो कोई भौतिक अनुरक्ति रहती है, न पक्षपात। वह तो एकमात्र पात्रों को अपना फल प्रदान करता है, अन्यों को नहीं। जीव गोस्वामी प्रभुपाद कहते हैं कि कल्पवृक्ष को यह सोचना नहीं पड़ता कि ''यह पुरुष मेरी पूजा करने योग्य है और वह व्यक्ति नहीं है।'' प्रत्युत कल्पवृक्ष उन सबों से प्रसन्न रहता है, जो ठीक से उसकी सेवा करते हैं और भगवान् भी इसी तरह कार्य करते हैं, जैसाकि राजा युधिष्ठिर ने यहाँ बतलाया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती आगे कहते हैं कि किसी को भगवान् कृष्ण पर यह दोषारोपण नहीं करना चाहिए कि वे एक व्यक्ति से ईर्ष्या करते हैं और दूसरे के साथ पक्षपात करते हैं। चूँकि भगवान् *स्व-सुखानुभूति* हैं अर्थात् वे अपने भीतर अपना सुख का अनुभव करने वाले हैं, अतएव बद्धजीवों से उन्हें कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। प्रत्युत वे उसी तरह प्रतिदान करते हैं, जिस तरह वे उनके पास जाते हैं। श्रील प्रभुपाद ने इसी बात को राजा युधिष्ठिर के कथन की व्याख्या करते हुए बहुत ही सुन्दर ढंग से बतलाया है—''यदि कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत को ग्रहण कर ले, तो उसका जीवन भौतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि आप कृष्ण-भक्त का पक्षपात करते हैं तथा अभक्त के प्रति उदासीन रहते हैं। आप तो सबों के लिए एक से हैं। यह आपकी घोषणा है। आप एक व्यक्ति का पक्षपात करके दूसरों से अनासक्त नहीं हो सकते, क्योंकि आप परमात्मा रूप में सबों में विद्यमान हैं और हर व्यक्ति को उसके सकाम कर्मों का फल देते हैं। आप हर जीवात्मा को इच्छानुसार इस भौतिक जगत का भोग करने का अवसर प्रदान करते हैं। परमात्मा होने से आप जीवात्मा के साथ शरीर में विद्यमान हैं और जीवात्मा को उसके किये हुए कर्म का फल देते हैं। साथ

ही कृष्णभावनामृत को विकसित करके आप भक्तिमयी सेवा करने का सुअवसर भी प्रदान करते हैं। आप यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि अन्य सारे धर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आओ। आप यह भी घोषित करते हैं कि आप सभी पापकर्मों के फलों से उसे मुक्त करके उसे संभाल लेंगे। आप स्वर्ग के कल्पवृक्ष की भाँति हैं, जो हर एक को इच्छाफल देता है। हर व्यक्ति सर्वोच्च सिद्धि पाने के लिए स्वतंत्र है, किन्तु यदि कोई ऐसी इच्छा नहीं करता, तो आपके द्वारा उसे कम वर दिया जाना पक्षपातवश नहीं होता।''

श्रीभगवानुवाच
सम्यग्व्यवसितं राजन्भवता शत्रुकर्शन ।
कल्याणी येन ते कीर्तिर्लोकाननुभविष्यति ॥ ७॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; सम्यक्—पूरी तरह से; व्यवसितम्—संकल्प किया हुआ; राजन्—हे राजन्; भवता—आपके द्वारा; शत्रु—शत्रुओं को; कर्शन—हे सताने वाले; कल्याणी—शुभ; येन—जिससे; ते—तुम्हारी; कीर्तिः—ख्याति; लोकान्—सारे लोकों को; अनुभविष्यति—देखेगी।

भगवान् ने कहा : हे राजन्, तुम्हारा निर्णय सही है, अतएव हे शत्रुकर्शन, तुम्हारी कल्याणकारी ख्याति सभी लोकों में फैलेगी।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण राजा युधिष्ठिर के इस निर्णय पर सहमति देते हैं कि राजसूय यज्ञ सम्पन्न किया जाय। भगवान् इस कथन से भी सहमत हैं कि इस तथ्य में कुछ भी अनुचित नहीं है कि जो उनकी पूजा करते हैं उन्हें एक तरह का फल मिलता है और जो ऐसा नहीं करते उन्हें दूसरी तरह का फल मिलता है। *भागवत* के महान् टीकाकार इंगित करते हैं कि युधिष्ठिर को *शत्रुकर्शन* के नाम से सम्बोधित करके भगवान् कृष्ण उन्हें समस्त शत्रु-राजाओं को जीतने की शक्ति प्रदान कर रहे हैं। इस प्रकार कृष्ण ने भविष्यवाणी की कि युधिष्ठिर की सुख्याति लोकों में फैलेगी और सचमुच वैसा ही हुआ।

ऋषीणां पितृदेवानां सुहृदामपि नः प्रभो ।
सर्वेषामपि भूतानामीप्सितः क्रतुराडयम् ॥ ८॥

शब्दार्थ

ऋषीणाम्—ऋषियों के लिए; पितृ—मृत पूर्वज; देवानाम्—तथा देवताओं के लिए; सुहृदाम्—मित्रों के लिए; अपि—भी; नः—हमारा; प्रभोः—हे प्रभु; सर्वेषाम्—सबों के लिए; अपि—भी; भूतानाम्—जीवों के लिए; ईप्सितः—वांछनीय, अभीष्ट; क्रतु—प्रमुख वैदिक यज्ञों के; राट्—राजा; अयम्—इस।

हे प्रभु, निस्सन्देह महर्षियों, पितरों तथा देवताओं के लिए, हमारे शुभचिन्तक मित्रों के लिए और दरअसल सारे जीवों के लिए इस वैदिक यज्ञों के राजा का सम्पन्न होना वांछनीय है।

विजित्य नृपतीन्सर्वान्कृत्वा च जगतीं वशे ।
सम्भृत्य सर्वसम्भारानाहरस्व महाक्रतुम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

विजित्य—जीत कर; नृ-पतीन्—राजाओं को; सर्वान्—समस्त; कृत्वा—करके; च—तथा; जगतीम्—पृथ्वी को; वशे—अपने वश में; सम्भृत्य—एकत्र करके; सर्व—सारी; सम्भारान्—सामग्री; आहरस्व—सम्पन्न करो; महा—महान्; क्रतुम्—यज्ञ को।

सबसे पहले सारे राजाओं को जीतो, पृथ्वी को अपने अधीन करो और आवश्यक साज-सामग्री एकत्र करो, तब इस महान् यज्ञ को सम्पन्न करो।

एते ते भ्रातरो राजँल्लोकपालांशसम्भवाः ।
जितोऽस्म्यात्मवता तेऽहं दुर्जयो योऽकृतात्मभिः ॥ ॥

शब्दार्थ

एते—ये; ते—तुम्हारे; भ्रातरः—भाई; राजन्—हे राजन्; लोक—लोकों पर; पाल—शासन करने वाले देवताओं से; अंश—अंशरूप; सम्भवाः—उत्पन्न; जितः—जीता हुआ; अस्मि—हूँ; आत्म-वता—आत्मसंयमी; ते—तुम्हारे द्वारा; अहम्—मैं; दुर्जयः—न जीता जा सकने वाला; यः—जो; अकृत-आत्मभिः—जो आत्मसंयमी नहीं है, उनके द्वारा।

हे राजन्, तुम्हारे इन भाइयों ने विभिन्न लोकपालों के अंशों के रूप में जन्म लिया है। और तुम तो इतने आत्मसंयमी हो कि तुमने मुझे भी जीत लिया है, जबकि मैं उन लोगों के लिए दुर्जय हूँ, जिनकी इन्द्रियाँ उनके वश में नहीं हैं।

तात्पर्य : *श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद ने लिखा है, ‘‘कहा जाता है कि भीम वायुदेव से उत्पन्न थे और अर्जुन इन्द्रदेव से जबकि स्वयं युधिष्ठिर यमराज से उत्पन्न थे। श्रील प्रभुपाद आगे लिखते हैं कि भगवान् कृष्ण ने राजा युधिष्ठिर से कहा कि वे उस व्यक्ति के प्रेम द्वारा जीत लिये जाते हैं, जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया हो। जिसने अपनी इन्द्रियों को नहीं जीता है, वह भगवान् को नहीं जीत सकता। भक्ति का यह रहस्य है। इन्द्रियों को जीतने का अर्थ है, उन्हें निरन्तर भगवान् की सेवा में लगाना। सभी पाण्डवों का विशेष गुण यह था कि वे सदैव अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाये रखते थे। जो व्यक्ति इस तरह अपनी इन्द्रियों को लगाता है, वह शुद्ध हो जाता है और शुद्ध

इन्द्रियों से मनुष्य वास्तव में भगवान् की सेवा कर सकता है। इस तरह भगवान् दिव्य प्रेमाभक्ति के माध्यम से भक्त द्वारा जीते जा सकते हैं।''

न कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया ।
विभूतिभिर्वाभिभवेद्देवोऽपि किमु पार्थिवः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; कश्चित्—कोई व्यक्ति; मत्—मेरे प्रति; परम्—समर्पित; लोके—इस जगत में; तेजसा—अपनी शक्ति से; यशसा—यश से; श्रिया—सौन्दर्य से; विभूतिभिः—ऐश्वर्य से; वा—अथवा; अभिभवेत्—जीत सकता है; देवः—देवता; अपि—भी; किम् उ—क्या कहा जाय; पार्थिवः—पृथ्वी का शासक।

इस जगत में मेरे भक्त को देवता भी अपने बल, सौन्दर्य, यश या सम्पत्ति से नहीं हरा सकते, पृथ्वी के शासक की तो बात ही क्या?

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण राजा युधिष्ठिर को आश्वस्त करते हैं कि संसारी राजाओं को जीतना कोई समस्या नहीं है, क्योंकि वह स्वयं शुद्ध भक्त है और भगवान् का शुद्ध भक्त देवताओं तक से नहीं जीता जा सकता। यद्यपि भौतिकतावादी लोगों को अपनी शक्ति, यश, सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य का गर्व रहता है, किन्तु वे कभी भी इनमें से किसी दिशा में भगवान् के शुद्ध भक्त से आगे नहीं निकल सकते।

श्रीशुक उवाच
निशम्य भगवद्गीतं प्रीतः फुल्लमुखाम्बुजः ।
भ्रातॄन्दिग्विजयेऽयुङ्क्त विष्णुतेजोपबृंहितान् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुक ने कहा; निशम्य—सुनकर; भगवत्—भगवान् के; गीतम्—गीत; प्रीतः—प्रसन्न; फुल्ल—खिला हुआ; मुख—उसका मुँह; अम्बुजः—कमल जैसा; भ्रातॄन्—उसके भाइयों को; दिक्—सारी दिशाओं की; विजये—विजय में; अयुङ्क्त—व्यस्त; विष्णु—भगवान् विष्णु के; तेजः—तेज से; उपबृंहितान्—प्रबलित, पुष्ट।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् द्वारा इन शब्दों रूपी गायन को सुनकर युधिष्ठिर हर्षित हो उठे और उनका मुख कमल सदृश खिल गया। इस तरह उन्होंने अपने भाइयों को, जो भगवान् विष्णु की शक्ति से समन्वित थे, सभी दिशाओं पर विजय के लिए भेज दिया।

सहदेवं दक्षिणस्यामादिशत्सह सृञ्जयैः ।
दिशि प्रतीच्यां नकुलमुदीच्यां सव्यसाचिनम् ।

प्राच्यां वृकोदरं मत्स्यैः केकयैः सह मद्रकैः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सहदेवम्—सहदेव को; दक्षिणस्याम्—दक्षिण की ओर; आदिशत्—आज्ञा दी; सह—साथ; सृञ्जयैः—सृञ्जय जाति के योद्धाओं के; दिशि—दिशा की ओर; प्रतीच्याम्—पश्चिमी; नकुलम्—नकुल को; उदीच्याम्—उत्तर की ओर; सव्यसाचिनम्—अर्जुन को; प्राच्याम्—पूर्व की ओर; वृकोदरम्—भीम को; मत्स्यैः—मत्स्यों; केकयैः—केकयों के; सह—साथ; मद्रकैः—तथा मद्रकों के साथ।

उन्होंने सहदेव को सृञ्जयों के साथ दक्षिण, नकुल को मत्स्यों के साथ पश्चिम, अर्जुन को केकयों के साथ उत्तर तथा भीम को मद्रकों के साथ पूर्व दिशा में भेज दिया।

ते विजित्य नृपान्वीरा आजह्रुर्दिग्भ्य ओजसा ।
अजातशत्रवे भूरि द्रविणं नृप यक्ष्यते ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; विजित्य—हराकर; नृपान्—राजाओं को; वीराः—वीर; आजह्रुः—ले आये; दिग्भ्यः—विभिन्न दिशाओं से; ओजसा—अपनी शक्ति से; अजात-शत्रवे—युधिष्ठिर महाराज के लिए; भूरि—प्रचुर; द्रविणम्—धन; नृप—हे राजा (परीक्षित); यक्ष्यते—यज्ञ करने का इच्छुक।

हे राजन्, अपने बल से अनेक राजाओं को हराकर ये वीर भाई यज्ञ करने के इच्छुक युधिष्ठिर महाराज के लिए प्रचुर धन लेते आये।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''यह ध्यान देने की बात है कि अपने कनिष्ठ भाइयों को विभिन्न दिशाओं में विजय प्राप्त करने के लिए भेजने में महाराज युधिष्ठिर का वास्तविक उद्देश्य यह नहीं था कि वे राजाओं पर हमला बोल दें। वास्तव में, उनके भाई विभिन्न दिशाओं में राजाओं को महाराज युधिष्ठिर द्वारा राजसूय यज्ञ सम्पन्न करने के विचार का समाचार देने गये। राजाओं को इस तरह यह सूचित किया गया कि यज्ञ को पूरा करने के लिए उन्हें कर (टैक्स) देना होगा। राजा युधिष्ठिर को कर देने का अर्थ होता था कि उस राजा ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली है। इस प्रकार के कार्य को जब कोई राजा अस्वीकार कर देता तो ऐसी स्थिति में युद्ध अवश्यम्भावी हो जाता। अतः उनकी शक्ति एवं प्रभाव के द्वारा उनके भाइयों ने विभिन्न दिशाओं में राजाओं को पराजित किया और पर्याप्त कर एवं उपहार एकत्र कर लिये। इन्हें राजा युधिष्ठिर के समक्ष उनके भाइयों ने लाकर प्रस्तुत किया।''

श्रुत्वाजितं जरासन्धं नृपतेर्ध्यायतो हरिः ।
आहोपायं तमेवाद्य उद्धवो यमुवाच ह ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; अजितम्—बिना जीता हुआ; जरासन्धम्—जरासन्ध को; नृपतेः—राजा के; ध्यायतः—मनन करते समय; हरिः—भगवान् हरि ने; आह—बतलाया; उपायम्—उपाय; तम्—उसको; एव—निस्सन्देह; आद्यः—आदि पुरुष; उद्धवः—उद्धव ने; यम्—जिसको; उवाच ह—कहा था।

जब राजा युधिष्ठिर ने सुना कि जरासन्ध पराजित नहीं किया जा सका तो वे सोच-विचार में पड़ गये और तब आदि भगवान् हरि ने उन्हें वह उपाय बताया, जिसे उद्धव ने जरासन्ध को हराने के लिए कह सुनाया था।

भीमसेनोऽर्जुनः कृष्णो ब्रह्मलिन्गधरास्त्रयः ।
जग्मुर्गिरिव्रजं तात बृहद्रथसुतो यतः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

भीमसेनः अर्जुनः कृष्णः—भीमसेन, अर्जुन तथा कृष्ण; ब्रह्म—ब्राह्मणों के; लिङ्ग—वेश; धराः—धारण करके; त्रयः—तीनों; जग्मुः—गये; गिरिव्रजम्—गिरिव्रज के किले वाले नगर में; तात—हे प्रिय (परीक्षित); बृहद्रथ-सुतः—बृहद्रथ का पुत्र (जरासन्ध); यतः—जिधर।

इस तरह भीमसेन, अर्जुन तथा कृष्ण ने ब्राह्मणों का वेश बनाया और हे राजा, वे गिरिव्रज गये जहाँ बृहद्रथ का पुत्र था।

ते गत्वातिथ्यवेलायां गृहेषु गृहमेधिनम् ।
ब्रह्मण्यं समयाचेरन्राजन्या ब्रह्मलिङ्गिनः ॥ १७॥

शब्दार्थ

ते—वे; गत्वा—जाकर; आतिथ्य—अतिथियों के स्वागतार्थ; वेलायाम्—निश्चित समय पर; गृहेषु—उसके आवास स्थान में; गृह-मेधिनम्—धार्मिक गृहस्थों से; ब्रह्मण्यम्—ब्राह्मणों के प्रति आदर से पूर्ण; समयाचेरन्—याचना की; राजन्याः—राजागण; ब्रह्म-लिङ्गिनः—ब्राह्मणों के चिह्नों से युक्त होकर।

ब्राह्मणों का वेश धारण करके ये राजवंशी योद्धा जरासन्ध के घर, अतिथियों का स्वागत करने के लिए निश्चित समय पर, पहुँचे। उन्होंने उस कर्तव्यनिष्ठ गृहस्थ के समक्ष याचना की, क्योंकि वह ब्राह्मण वर्ग का विशेष रूप से आदर करता था।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''जरासन्ध एक कर्तव्यपरायण गृहस्थ था और वह ब्राह्मणों का अत्यधिक आदर करता था। वह एक महान् योद्धा, क्षत्रिय राजा था किन्तु वह वैदिक आदेशों की कभी भी उपेक्षा नहीं करता था। ब्राह्मणों को वैदिक आदेशों के अनुसार अन्य सारी जातियों का आध्यात्मिक गुरु माना जाता है। श्रीकृष्ण, अर्जुन एवं भीमसेन वास्तव में क्षत्रिय थे परन्तु उन्होंने ब्राह्मण का वेश बना रखा था। जिस समय जरासन्ध ब्राह्मणों को दान दिया करता था और अतिथियों के रूप में उनका स्वागत किया करता था, उसी समय ये तीनों उसके पास पहुँचे।''

राजन्विद्ध्यतिथीन्प्राप्तानर्थिनो दूरमागतान् ।
तन्नः प्रयच्छ भद्रं ते यद्वयं कामयामहे ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

राजन्—हे राजन्; विद्धि—कृपया जानो; अतिथीन्—अतिथियों को; प्राप्तान्—आया हुआ; अर्थिनः—पाने के इच्छुक; दूरम्—दूर से; आगतान्—आये हुए; तत्—वह; नः—हमको; प्रयच्छ—दो; भद्रम्—शुभ, मंगल; ते—तुम से; यत्—जो भी; वयम्—हम; कामयामहे—इच्छा कर रहे हैं।

[कृष्ण, अर्जुन तथा भीम ने कहा] हे राजा, आप हमें दीन अतिथि जानें, जो आपके पास बहुत दूर से आये हैं। हम आपका कल्याण चाहते हैं। हम जो भी चाहें, कृपया उसे हमें दें।

किं दुर्मर्षं तितिक्षूणां किमकार्यमसाधुभिः ।
किं न देयं वदान्यानां कः परः समदर्शिनाम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; दुर्मर्षम्—असह्य; तितिक्षूणाम्—सहनशील के लिए; किम्—क्या; अकार्यम्—करना असम्भव; असाधुभिः—असाधु के लिए; किम्—क्या; न देयम्—दे पाना असम्भव; वदान्यानाम्—उदार के लिए; कः—कौन; परः—पृथक्; सम—समान; दर्शिनाम्—दृष्टि वालों को।

सहनशील व्यक्ति क्या नहीं सह सकता? दुष्ट क्या नहीं करेगा? उदार व्यक्ति दान में क्या नहीं दे देगा? और समदृष्टि वाले के लिए बाहरी कौन है?

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण तथा दोनों पाण्डव-भाइयों, भीम और अर्जुन ने जरासन्ध से अनुरोध किया कि वे जो कुछ माँगें उन्हें दिया जाय। यहाँ पर वे बतलाते हैं कि उन्हें अपनी इच्छा को स्पष्ट करने की आवश्यकता क्यों नहीं है।

आचार्यों ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है—जरासन्ध ने सोचा होगा, "चाहो तो मेरा पुत्र माँगो, जिससे बिछुड़ना असह्य होगा।"

इस संभव आपत्ति पर कृष्ण तथा पाण्डवों का उत्तर होगा—"सहनशील व्यक्ति के लिए कुछ भी असह्य नहीं है।"

इसी प्रकार जरासन्ध आपत्ति कर सकता था, "इससे क्या! यदि तुम मुझसे मेरा शरीर या मेरे बहुमूल्य मणि तथा अन्य आभूषण देने को कहो जो मेरे पुत्रों के लिए हैं, सामान्य भिक्षुओं के लिए नहीं?"

इस पर वे बोले होंगे, "जो उदार है, वह दान में क्या नहीं दे डालता!" दूसरे शब्दों में हर वस्तु

देय है।

जरासन्ध को यह भी आपत्ति हो सकती है कि वह अपने शत्रुओं को दान क्यों दे। इस पर उसके अतिथियों ने प्रत्युत्तर में कहा होगा *कः परः समदर्शिनः* जो समदर्शी हैं, उसके लिए पराया कौन है?

इस तरह श्रीकृष्ण तथा पाण्डवों ने जरासन्ध को प्रोत्साहित किया, जिससे बिना और अधिक वादविवाद के, वह उनकी प्रार्थना मान ले।

योऽनित्येन शरीरेण सतां गेयं यशो ध्रुवम् ।
नाचिनोति स्वयं कल्पः स वाच्यः शोच्य एव सः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; अनित्येन—क्षणिक; शरीरेण—भौतिक शरीर से; सताम्—सन्तों द्वारा; गेयम्—गायन के लिए; यशः—यश; ध्रुवम्—स्थायी; न आचिनोति—अर्जित नहीं करता; स्वयम्—स्वयं; कल्पः—सक्षम; सः—वह; वाच्यः—निन्दनीय; शोच्यः—शोचनीय; एव—निस्सन्देह; सः—वह।

वह निस्सन्देह निन्दनीय तथा दयनीय है, जो अपने क्षणिक शरीर से महान् सन्तों द्वारा गाई गई चिर ख्याति को प्राप्त करने में असफल रहता है, यद्यपि वह ऐसा करने में सक्षम होता है।

हरिश्चन्द्रो रन्तिदेव उञ्छवृत्तिः शिबिर्बलिः ।
व्याधः कपोतो बहवो ह्यध्रुवेण ध्रुवं गताः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

हरिश्चन्द्रः रन्तिदेवः—हरिश्चन्द्र तथा रन्तिदेव; उञ्छ-वृत्तिः—फसल के गिरे दानों को बीन कर जीविका चलाने वाला, मुद्गल; शिबिः बलिः—शिबि तथा बलि; व्याधः—शिकारी; कपोतः—कबूतर; बहवः—अनेक; हि—निस्सन्देह; अध्रुवेण—क्षणिक द्वारा; ध्रुवम्—स्थायी तक; गताः—गये हुए।

हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, उञ्छवृत्ति मुद्गल, शिबि, बलि, पौराणिक शिकारी तथा कबूतर एवं अन्य अनेकों ने क्षणभंगुर के द्वारा अविनाशी को प्राप्त किया है।

तात्पर्य : यहाँ पर श्रीकृष्ण तथा दोनों पाण्डव जरासन्ध को संकेत कर रहे हैं कि मनुष्य नाशवान् भौतिक शरीर का उपयोग जीवन की अविनश्वर दशा प्राप्त करने के लिए कर सकता है। चूँकि जरासन्ध भौतिकतावादी था, इसलिए उन्होंने उसे स्वर्ग का लोभ दिलाया जहाँ जीवन इतने दीर्घ समय तक चलता रहता है कि पृथ्वीवासियों को वह अविनश्वर प्रतीत होता है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने इस श्लोक में उल्लिखित महापुरुषों के इतिहास का सारांश दिया है "विश्वामित्र का ऋण चुकाने के लिए हरिश्चन्द ने अपनी स्त्री तथा पुत्रों समेत सभी कुछ बेच दिया। वे

चाण्डाल पद प्राप्त करके भी हतोत्साहित नहीं हुए। इस तरह वे अयोध्या के समस्त वासियों सहित स्वर्गलोक गये। रन्तिदेव ने ८ दिनों तक प्यासे र हने के बाद किसी तरह कुछ भोजन तथा जल प्राप्त किया, किन्तु तभी कुछ भिक्षुक आ गये, तो उन्होंने उन्हें सब दे दिया। इस तरह वे ब्रह्मलोक गये। मुद्गल फसल कटने के बाद खेतों से गिरा हुआ अन्न बीना करते थे फिर भी वे बिना आमंत्रण सहसा आए अतिथियों की अत्यधिक आवभगत करते थे, यद्यपि उनका परिवार छह मास से निर्धनता से जूझ रहा था। इस तरह वे भी ब्रह्मलोक गये।

शरण में आये कबूतर (कपोत) की रक्षा करने के लिए राजा शिबि ने बाज को अपना मांस देकर स्वर्ग-प्राप्ति की। बलि महाराज ने भगवान् हरि को अपना सर्वस्व दान में दे दिया, जब भगवान् ने बौने ब्राह्मण (वामनदेव) का वेश बना लिया था। इस तरह बलि को भगवान् का सान्निध्य प्राप्त हो सका। कबूतर तथा उसकी संगिनी ने बहेलिये को अपना मांस आतिथ्य प्रदर्शित करने के लिए दे दिया। इस तरह उन्हें विमान द्वारा स्वर्ग ले जाया गया। जब बहेलिये ने उनकी सात्विक दशा समझी, तो वह भी विरक्त हो गया। उसने इस तरह शिकार करना छोड़ दिया और वह तपस्या करने चला गया। चूँकि वह सारे पापों से मुक्त हो चुका था, अत: जब जंगल की आग में उसका शरीर जल गया, तो वह स्वर्गलोक चला गया। इस तरह अनेक पुरुषों ने नाशवान् भौतिक शरीर के द्वारा ही उच्च लोकों में चिरस्थायी जीवन प्राप्त किया।''

श्रीशुक उवाच
स्वैराकृतिभिस्तांस्तु प्रकोष्ठैर्ज्याहतैरपि ।
राजन्यबन्धून्विज्ञाय दृष्टपूर्वानचिन्तयत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; स्वैरः—उनके स्वरों से; आकृतिभिः—शारीरिक डीलडौल से; तान्—उनको; तु—फिर भी; प्रकोष्ठैः—उनकी कलाइयों को (देख) कर; ज्या—धनुष की डोरियों से; हतैः—चिन्हित; अपि—भी; राजन्य—राजसी; बन्धून्—पारिवारिक सदस्यों के रूप में; विज्ञाय—पहचान कर; दृष्ट—देखा हुआ; पूर्वान्—इससे पहले से; अचिन्तयत्—उसने विचार किया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : उनकी आवाज, उनके शारीरिक डीलडौल तथा उनकी कलाइयों पर धनुष की डोरियों से बने चिन्हों से जरासन्ध यह जान गया कि उसके अतिथि राजन्य हैं। वह सोचने लगा कि इसके पूर्व मैंने उन्हें कहीं न कहीं देखा है।

तात्पर्य : आचार्यगण इंगित करते हैं कि जरासन्ध द्रौपदी स्वयंवर में कृष्ण, भीमसेन तथा अर्जुन

को देख चुका था। चूँकि वे ब्राह्मण का वेश बनाकर भीख माँगने आये थे, अत: जरासन्ध ने सोचा कि ये निम्नवर्ग के क्षत्रिय हैं, जैसाकि *राजन्य-बन्धून्* शब्द से सूचित होता है।

राजन्यबन्धवो ह्येते ब्रह्मलिङ्गानि बिभ्रति ।
ददानि भिक्षितं तेभ्य आत्मानमपि दुस्त्यजम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

राजन्य-बन्धवः—क्षत्रियों के सम्बन्धी; हि—निस्सन्देह; एते—ये; ब्रह्म—ब्राह्मणों के; लिङ्गानि—चिह्न; बिभ्रति—धारण करने वाले हैं; ददानि—मुझे देना चाहिए; भिक्षितम्—माँगा हुआ; तेभ्यः—उनको; आत्मानम्—अपना शरीर; अपि—भी; दुस्त्यजम्—जिसे छोड़ पाना असम्भव है।

[जरासन्ध ने सोचा] : ये निश्चित रूप से क्षत्रिय कुल के सदस्य हैं, जिन्होंने ब्राह्मणों का वेश बना रखा है, फिर भी मुझे इनको दान देना चाहिए भले ही वे मुझसे छोड़ने में दुष्कर मेरा शरीर ही क्यों न माँग लें।

तात्पर्य : यहाँ पर जरासन्ध दान के प्रति अपनी प्रबल प्रतिबद्धता प्रकट करता है, विशेष कर जब ब्राह्मण माँग रहे हों।

बलेर्नु श्रूयते कीर्तिर्वितता दिक्ष्वकल्मषा ।
ऐश्वर्याद्भ्रंशितस्यापि विप्रव्याजेन विष्णुना ॥ २ ॥
श्रियं जिहीर्षतेन्द्रस्य विष्णवे द्विजरूपिणे ।
जानन्नपि महीम्प्रादाद्वार्यमाणोऽपि दैत्यराट् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

बलेः—बलि की; नु—नहीं; श्रूयते—सुनी जाती है; कीर्तिः—कीर्ति, ख्याति; वितता—विस्तीर्ण; दिक्षु—सभी दिशाओं में; अकल्मषा—निष्कलंक; ऐश्वर्यात्—उसके प्रबल पद से; भ्रंशितस्य—गिराये गये; अपि—भी; विप्र—ब्राह्मण के; व्याजेन—वेश में; विष्णुना—विष्णु द्वारा; श्रीयम्—ऐश्वर्य; जिहीर्षता—लेने की इच्छा से; इन्द्रस्य—इन्द्र का; विष्णवे—विष्णु के; द्विज-रूपिणे—ब्राह्मण के रूप में प्रकट होकर; जानन्—जानते हुए; अपि—यद्यपि; महीम्—सारी पृथ्वी; प्रादात्—दे दिया; वार्यमाणः—मना किये जाने पर; अपि—भी; दैत्य—असुरों के; राट्—राजा ने।

निस्सन्देह, बलि महाराज की निष्कलंक ख्याति विश्व-भर में सुनाई पड़ती है। भगवान् विष्णु, बलि से इन्द्र का ऐश्वर्य वापस लेने की इच्छा से, उसके समक्ष ब्राह्मण के वेश में प्रकट हुए और उसके शक्तिशाली पद से उसे नीचे गिरा दिया। यद्यपि दैत्यराज बलि इस छल से परिचित थे और अपने गुरु द्वारा मना भी किये गये थे, तो भी उन्होंने विष्णु को दान में सारी पृथ्वी दे दी।

जीवता ब्राह्मणार्थाय को न्वर्थः क्षत्रबन्धुना ।
देहेन पतमानेन नेहता विपुलं यशः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

जीवता—जीवित रहने वाला; ब्राह्मण-अर्थाय—ब्राह्मणों के लाभार्थ; कः—कौन; नु—तनिक भी; अर्थः—लाभ; क्षत्र-बन्धुना—पतित क्षत्रिय से; देहेन—शरीर से; पतमानेन—पतित होने ही वाले; न ईहता—प्रयास न करते हुए; विपुलम्—विस्तृत; यशः—यश के लिए।

उस अयोग्य क्षत्रिय से क्या लाभ जो जीवित तो रहता है, किन्तु अपने नश्वर शरीर से ब्राह्मणों के लाभार्थ कार्य करते हुए स्थायी यश प्राप्त करने में असफल रहता है?

इत्युदारमतिः प्राह कृष्णार्जुनवृकोदरान् ।
हे विप्रा व्रियतां कामो ददाम्यात्मशिरोऽपि वः ॥ २७॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उदार—उदार; मतिः—मानसिकता वालों ने; प्राह—कहा; कृष्ण-अर्जुन-वृकोदरान्—कृष्ण, अर्जुन तथा भीम; हे विप्राः—हे विद्वान ब्राह्मणो; व्रियताम्—आप चुनाव कर लें; कामः—जो चाहें; ददामि—मैं दूँगा; आत्म—अपना; शिरः—सिर; अपि—भी; वः—तुम सबों को।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : इस प्रकार संकल्प करके उदार जरासन्ध ने कृष्ण, अर्जुन तथा भीम से कहा : ''हे विद्वान ब्राह्मणों, तुम जो भी चाहो चुन सकते हो। मैं तुम्हें दूँगा, चाहे वह मेरा सिर ही क्यों न हो।''

श्रीभगवानुवाच
युद्धं नो देहि राजेन्द्र द्वन्द्वशो यदि मन्यसे ।
युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता राजन्या नान्यकाङ्क्षिणः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् (कृष्ण) ने कहा; युद्धम्—युद्ध; नः—हमको; देहि—दीजिये; राज-इन्द्र—हे महान् राजा; द्वन्द्वशः—एक-एक से भिड़न्त; यदि—यदि; मन्यसे—उचित समझते हो; युद्ध—युद्ध के लिए; अर्थिनः—इच्छुक; वयम्—हम तीनों; प्राप्ताः—यहाँ आये हुए हैं; राजन्याः—राजसी वर्ग के सदस्य; न—नहीं; अन्य—और कुछ; काङ्क्षिणः—इच्छुक।

भगवान् ने कहा : हे राजेन्द्र, यदि आप उचित समझते हों, तो हमें एक द्वन्द्व के रूप में युद्ध दीजिये। हम राजकुमार हैं और युद्ध की भिक्षा माँगने आये हैं। हमें आपसे कोई अन्य भिक्षा नहीं चाहिए।

असौ वृकोदरः पार्थस्तस्य भ्रातार्जुनो ह्ययम् ।
अनयोर्मातुलेयं मां कृष्णं जानीहि ते रिपुम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

असौ—यह; वृकोदरः—भीम; पार्थः—पृथा का पुत्र; तस्य—उसका; भ्राता—भाई; अर्जुनः—अर्जुन; हि—निस्सन्देह; अयम्—यह; अनयोः—दोनों में से; मातुलेयम्—मामा के लड़के; माम्—मुझको; कृष्णम्—कृष्ण; जानीहि—जानो; ते—तुम्हारा; रिपुम्—शत्रु।

वह रहा पृथा-पुत्र भीम और यह उसका भाई अर्जुन है। मुझे इनका ममेरा भाई और अपना शत्रु कृष्ण जानो।

एवमावेदितो राजा जहासोच्चैः स्म मागधः ।
आह चामर्षितो मन्दा युद्धं तर्हि ददामि वः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; आवेदितः—आमंत्रित; राज—राजा; जहास—हँसा; उच्चैः—जोर से; स्म—निस्सन्देह; मागधः—जरासन्ध ने; आह—कहा; च—तथा; अमर्षितः—असहिष्णु; मन्दाः—अरे मूर्खो; युद्धम्—युद्ध; तर्हि—तब; ददामि—मैं दूँगा; वः—तुमको।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : इस प्रकार ललकारे जाने पर, मगधराज जोर से हँसा और उपेक्षापूर्वक बोला, ''बहुत अच्छा। अरे मूर्खो! मैं तुमसे द्वन्द्व युद्ध करूँगा।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने टीका की है कि जरासन्ध को आन्तरिक सन्तोष मिला, क्योंकि उसने सोचा कि उसके पास आने के लिए उसके शत्रुओं को ब्राह्मण का वेश बनाकर अपमानित होना पड़ा है। अतः आचार्य विश्वनाथ जरासन्ध के मन को इस प्रकार समझते हैं ''अरे निर्बलो! युद्ध करने की झंझट भूल जाओ! तुम मेरा सिर क्यों नहीं माँग लेते? तुम लोगों ने भीख माँगने वाले ब्राह्मणों का वेश बनाकर वीरता को सूर्य की भाँति डुबो दिया है, किन्तु यदि तुमने अपना साहस नहीं खोया है, तो मैं तुम्हारे साथ युद्ध करूँगा।''

आचार्य अन्ततः इंगित करते हैं कि देवी सरस्वती की मंशा है कि *अमर्षितो मन्दाः* को *अमर्षितोमन्दाः* पढ़ा जाय। दूसरे शब्दों में, भगवान् कृष्ण तथा पाण्डव *अमन्दाः* ''मूर्ख नहीं'' हैं, इसीलिए उन्होंने क्रूर जरासन्ध को सदा सदा के लिए समाप्त करने के लिए सर्वश्रेष्ठ विधि को चुना।

न त्वया भीरुणा योत्स्ये युधि विक्लवतेजसा ।
मथुरां स्वपुरीं त्यक्त्वा समुद्रं शरणं गतः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; त्वया—तुम्हारे साथ; भीरुणा—कायर; योत्स्ये—मैं लड़ूँगा; युधि—युद्ध में; विक्लव—क्षीण किया गया; तेजसा—तेज से; मथुराम्—मथुरा; स्व—निजी; पुरीम्—नगरी को; त्यक्त्वा—छोड़कर; समुद्रम्—समुद्र में; शरणम्—शरण के लिए; गतः—गया हुआ।

''लेकिन हे कृष्ण, मैं तुमसे युद्ध नहीं करूँगा, क्योंकि तुम कायर हो। तुम्हारे बल ने युद्ध

के बीच में ही तुम्हारा साथ छोड़ दिया था और तुम अपनी ही राजधानी मथुरा से समुद्र में शरण लेने के लिए भाग गये थे।

अयं तु वयसातुल्यो नातिसत्त्वो न मे समः ।
अर्जुनो न भवेद्योद्धा भीमस्तुल्यबलो मम ॥ ३२॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; तु—दूसरी ओर; वयसा—उम्र में; अतुल्यः—समान नहीं; न—नहीं; अति—अत्यधिक; सत्त्वः—बल से युक्त; न—नहीं; मे—मेरे; समः—समान; अर्जुनः—अर्जुन; न भवेत्—नहीं होना चाहिए; योद्धा—स्पर्धा करने वाला, लड़ाकू; भीमः—भीम; तुल्य—समान; बलः—बल में; मम—मेरे।

''जहाँ तक इस अर्जुन की बात है, वह न तो आयु में मेरे समान है न ही अत्यधिक बलशाली है। चूँकि वह मेरी जोड़ का नहीं है, अतः उसे योद्धा नहीं बनना चाहिए। किन्तु भीम मेरे ही समान बलशाली है।''

इत्युक्त्वा भीमसेनाय प्रादाय महतीं गदाम् ।
द्वितीयां स्वयमादाय निर्जगाम पुराद्बहिः ॥ ३३॥

शब्दार्थ

इति—ऐसा; उक्त्वा—कहकर; भीमसेनाय—भीमसेन के लिए; प्रादाय—देकर; महतीम्—विशाल; गदाम्—गदा; द्वितीयाम्—दूसरी; स्वयम्—खुद; आदाय—लेकर; निर्जगाम—निकल गया; पुरात्—नगर से; बहिः—बाहर।

यह कहकर जरासन्ध ने भीमसेन को एक बड़ी गदा दी, दूसरी गदा स्वयं ली और शहर के बाहर चला गया।

ततः समेखले वीरौ संयुक्तावितरेतरम् ।
जघ्नतुर्वज्रकल्पाभ्यां गदाभ्यां रणदुर्मदौ ॥ ३॥

शब्दार्थ

ततः—तब; समेखले—समतल अखाड़े में; वीरौ—दोनों वीर; संयुक्तौ—लगे हुए; इतर-इतरम्—एक दूसरे से; जघ्नतुः—प्रहार किया; वज्र-कल्पाभ्याम्—बिजली की भाँति; गदाभ्याम्—अपनी गदाओं से; रण—युद्ध में; दुर्मदौ—उन्मत्त।

इस तरह दोनों वीर नगर के बाहर समतल अखाड़े में एक दूसरे से युद्ध करने लगे। युद्ध के क्रोध से पगलाये हुए वे एक दूसरे पर वज्र जैसी गदाओं से प्रहार करने लगे।

मण्डलानि विचित्राणि सव्यं दक्षिणमेव च ।
चरतोः शुशुभे युद्धं नटयोरिव रङ्गिणोः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

मण्डलानि—घेरे; विचित्राणि—दक्ष; सव्यम्—बाईं ओर; दक्षिणम्—दाहिनी ओर; एव च—भी; चरतो:—गति करने वालों के; शुशुभे—भव्य लग रहे थे; युद्धम्—युद्ध; नटयो:—अभिनेताओं के; इव—सदृश; रङ्गिणो:—मंच पर।

जब वे दक्षता से दाएँ तथा बाएँ चक्कर काट रहे थे, जिस तरह कि मंच पर अभिनेता नाचते हैं, तब यह युद्ध भव्य दृश्य उपस्थित कर रहा था।

तात्पर्य : यहाँ पर जरासन्ध तथा भीम गदा चलाने में अपनी दक्षता प्रदर्शित कर रहे हैं। इस तरह यह जाना जा सकता है कि दोनों योद्धा निडर थे और युद्ध के क्रोध में भी अचल थे।

ततश्चटचटाशब्दो वज्रनिष्पेससन्निभः ।
गदयोः क्षिप्तयो राजन्दन्तयोरिव दन्तिनोः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; चट-चटा-शब्दः—चटचटाने की ध्वनि; वज्र—बिजली के; निष्पेष—गिरने, टूटने; सन्निभः—के समान; गदयोः—उनकी गदाओं के; क्षिप्तयोः—घुमाने से; राजन्—हे राजन् (परीक्षित); दन्तयोः—दाँतों के; इव—मानो; दन्तिनोः—हाथियों के।

हे राजन्, जब जरासन्ध तथा भीमसेन की गदाएँ जोर-जोर से एक दूसरे से टकरातीं, तो उनसे जो ध्वनि निकलती थी, वह दो लड़ते हुए हाथियों के दाँतों की टक्कर के समान या तूफान के समय चमकने वाली बिजली के गिरने के धमाके जैसी थी।

तात्पर्य : उपयुक्त भावार्थ श्रील प्रभुपाद कृत *श्रीकृष्ण* पर आधारित है।

ते वै गदे भुजजवेन निपात्यमाने
अन्योन्यतोऽंसकटिपादकरोरुजत्रुम् ।
चूर्णीबभूवतुरुपेत्य यथार्कशाखे
संयुध्यतोर्द्विरदयोरिव दीप्तमन्व्योः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; वै—निस्सन्देह; गदे—दोनों गदाएँ; भुज—उनके हाथों की; जवेन—वेग से; निपात्यमाने—बलपूर्वक घुमाई जाने से; अन्योन्यतः—एक-दूसरे के विरुद्ध; अंस—कन्धे; कटि—कमर; पाद—पाँव; कर—हाथ; ऊरु—जाँघें; जत्रुम्—तथा कन्धे की हड्डियाँ, हँसली; चूर्णी—चूर्ण की हुई; बभूवतुः—बन गईं; उपेत्य—स्पर्श करके; यथा—जिस तरह; अर्क-शाखे—अर्क (मदार) की दो टहनियाँ; संयुध्यतोः—तेजी से लड़ते हुए; द्विरदयोः—हाथियों की जोड़ी के; इव—सदृश; दीप्त—बढ़ा हुआ; मन्व्योः—जिनका क्रोध।

वे एक-दूसरे पर इतने बल और वेग से अपनी गदाएँ चलाने लगे कि जब ये उनके कंधों, कमर, पाँवों, हाथों, जाँघों तथा हँसलियों पर चोट करतीं, तो वे गदाएँ उसी तरह चूर्ण हो जातीं, जिस तरह कि एक दूसरे पर क्रुद्ध होकर आक्रमण कर रहे दो हाथियों से मदार की टहनियाँ

पिस जाती हैं।

इत्थं तयोः प्रहतयोर्गदयोर्नृवीरौ
क्रुद्धौ स्वमुष्टिभिरयःस्परशैरपिष्टाम् ।
शब्दस्तयोः प्रहरतोरिभयोरिवासीन्
निर्घातवज्रपरुषस्तलताडनोत्थः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस तरह से; तयोः—उन दोनों की; प्रहतयोः—नष्ट हुई; गदयोः—गदाएँ; न्र्—मनुष्यों में; वीरौ—दो महान् वीर; क्रुद्धौ—क्रुद्ध; स्व—अपनी; मुष्टिभिः—घूँसों से; अयः—लोहे जैसे; स्परशैः—स्पर्श से; अपिष्टाम्—चूर-चूर किया; शब्दः—ध्वनि; तयोः—उन दोनों के; प्रहरतोः—प्रहार करते; इभयोः—दो हाथियों के; इव—सदृश; आसीत्—बन गये; निर्घात—कड़कड़ाहट; वज्र—वज्र के समान; परुषः—कठोर; तल—हथेलियों के; ताडन—मारने से; उत्थः—उठी हुई।

जब उनकी गदाएँ विनष्ट हो गईं, तो पुरुषों में महान् वे वीर क्रोधपूर्वक अपने लोहे जैसे कठोर घूँसों से एक-दूसरे पर आघात करने लगे। जब वे एक-दूसरे पर घूंसे मार रहे थे, तो उससे निकलने वाली ध्वनि हाथियों के परस्पर लड़ने-भिड़ने या बिजली की कठोर कड़कड़ाहट जैसी लग रही थी।

तयोरेवं प्रहरतोः समशिक्षाबलौजसोः ।
निर्विशेषमभूद्युद्धमक्षीणजवयोर्नृप ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तयोः—दोनों के; एवम्—इस प्रकार; प्रहरतोः—प्रहार करते हुए; सम—समान; शिक्षा—प्रशिक्षण; बल—बल; ओजसोः—तथा उत्साह; निर्विशेषम्—अनिश्चित; अभूत्—था; युद्धम्—युद्ध; अक्षीण—कम न होने वाला; जवयोः—जिनकी थकान; नृप—हे राजा।

इस प्रकार उन दोनों के लड़ते हुए समान प्रशिक्षण, बल तथा उत्साह वाले प्रतिद्वन्द्वियों की यह प्रतियोगिता समाप्त नहीं हो रही थी। इस तरह हे राजन्, वे बिना किसी ढील के लड़े जा रहे थे।

तात्पर्य : इस अध्याय में कुछ आचार्य निम्नलिखित दो श्लोकों को भी सम्मिलित करते हैं और श्रील प्रभुपाद ने अपनी पुस्तक *श्रीकृष्ण* में भी इनका भावार्थ दिया है—

एवं तयोर्महाराज युध्यतोः सप्तविंशतिः ।

दिनानि निरगंस्तत्र सुहृद्वन् निशि तिष्ठतोः ॥

एकदा मातुलेयं वै प्राह राजन् वृकोदरः ।

न शक्तो ऽहं जरासन्धं निर्जेतुं युधि माधव॥

''इस प्रकार हे राजन्! वे सत्ताइस दिनों तक लड़ते रहे। प्रत्येक दिन युद्ध समाप्त होने पर दोनों जरासन्ध के महल में रात में मित्रों की भाँति रहते थे। तब हे राजन्! अट्ठाइसवें दिन वृकोदर (भीम) ने अपने ममेरे भाई से कहा, ''माधव! मैं जरासन्ध को युद्ध में पराजित नहीं कर सकता।''

शत्रोर्जन्ममृती विद्वाञ्जीवितं च जराकृतम् ।
पार्थमाप्याययन्स्वेन तेजसाचिन्तयद्धरिः ॥ ० ॥

शब्दार्थ

शत्रोः—शत्रु का; जन्म—जन्म; मृती—तथा मृत्यु; विद्वान्—जानते हुए; जीवितम्—जीवनदान; च—तथा; जरा—जरा नामक राक्षसी द्वारा; कृतम्—किया गया; पार्थम्—पृथा-पुत्र भीम को; आप्याययन्—शक्ति प्रदान करते हुए; स्वेन—अपनी ही; तेजसा—शक्ति से; अचिन्तयत्—सोचा; हरिः—भगवान् कृष्ण ने।

भगवान् कृष्ण अपने शत्रु जरासन्ध के जन्म तथा मृत्यु के रहस्य के बारे में जानते थे। वे यह भी जानते थे कि किस प्रकार जरा नामक राक्षसी ने उसे जीवनदान दिया। यह सब विचार करके कृष्ण ने भीम को अपनी विशेष शक्ति प्रदान कर दी।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण ''जरासन्ध के जन्म का रहस्य जानते थे। जरासन्ध दो भिन्न माताओं से दो भिन्न भागों में जन्मा था। जब उसके पिता ने देखा कि यह शिशु बेकार का है, तो उसने दोनों भागों को जंगल में फेंक दिया, जहाँ जरा नामक किसी चुड़ैल ने उन्हें पा लिया। उसने किसी तरह शिशु के दोनों भागों को सिर से पैर तक जोड़ दिया। इसे जानने के कारण कृष्ण यह भी जानते थे कि उसे किस तरह मारा जाय।''

सञ्चिन्त्यारीवधोपायं भीमस्यामोघदर्शनः ।
दर्शयामास विटपं पाटयन्निव संज्ञया ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सञ्चिन्त्य—विचार करके; अरि—शत्रु के; वध—मारने के लिए; उपायम्—साधनों के विषय में; भीमस्य—भीम के; अमोघ-दर्शनः—जिनका दर्शन अमोघ है, ऐसे भगवान्; दर्शयाम् आस—दिखलाया; विटपम्—वृक्ष की एक शाखा; पाटयन्—बीच से चीरते हुए; इव—सदृश; संज्ञया—संकेत के रूप में।

शत्रु को किस तरह मारा जाय इसका निश्चय करके उन अमोघ-दर्शन भगवान् ने एक वृक्ष की टहनी को बीच से चीर कर भीम को संकेत किया।

तद्विज्ञाय महासत्त्वो भीमः प्रहरतां वरः ।
गृहीत्वा पादयोः शत्रुं पातयामास भूतले ॥ २॥

शब्दार्थ

तत्—उसे; विज्ञाय—समझ कर; महा—महान्; सत्त्वः—शक्ति वाले; भीमः—भीम ने; प्रहरताम्—योद्धाओं में; वरः—श्रेष्ठतम; गृहीत्वा—पकड़ कर; पादयोः—पाँवों से; शत्रुम्—शत्रु को; पातयाम् अस—पटक दिया; भू-तले—भूमि पर।

इस संकेत को समझ कर, योद्धाओं में सर्वश्रेष्ठ उस बलशाली भीम ने अपने प्रतिद्वन्द्वी के पैर पकड़ कर उसे भूमि पर पटक दिया।

एकम्पादं पदाक्रम्य दोर्भ्यामन्यं प्रगृह्य सः ।
गुदतः पाटयामास शाखमिव महागजः ॥ ३॥

शब्दार्थ

एकम्—एक; पादम्—पैर; पदा—अपने पैर से; आक्रम्य—ऊपर खड़े होकर; दोर्भ्याम्—अपने दोनों हाथों से; अन्यम्—दूसरा; प्रगृह्य—पकड़ कर; सः—उसने; गुदतः—गुदा से लेकर; पाटयाम् आस—चीर डाला; शाखाम्—वृक्ष की शाखा को; इव—सदृश; महा—विशाल; गजः—हाथी।

भीम ने अपने पाँव से जरासन्ध के एक पाँव को दबा लिया और दूसरे पाँव को अपने हाथों से पकड़ लिया। फिर जिस तरह कोई विशाल हाथी किसी वृक्ष से एक शाखा तोड़ ले, उसी तरह भीम ने जरासन्ध को गुदा से लेकर ऊपर तक चीर डाला।

एकपादोरुवृषणकटिपृष्ठस्तनांसके ।
एकबाह्वक्षिभ्रूकर्णे शकले ददृशुः प्रजाः ॥ ॥

शब्दार्थ

एक—एक; पाद—पाँव से; ऊरु—जाँघ; वृषण—अण्डकोश; कति—कमर; पृष्ठ—पीठ; स्तन—छाती; अंसके—तथा कंधा; एक—एक; बाहु—भुजा से; अक्षि—आँख; भ्रू—भौंह; कर्णे—तथा कान; शकले—दो खंडों में; ददृशुः—देखा; प्रजाः—प्रजा ने।

तब राजा की प्रजा ने उसे दो अलग-अलग खण्डों में पड़ा हुआ देखा। प्रत्येक खण्ड में एक-एक पाँव, जाँघ, अण्डकोश, कमर, कंधा, बाँह, आँख, भौंह, कान तथा आधी पीठ एवं छाती थे।

हाहाकारो महानासीन्निहते मगधेश्वरे ।
पूजयामासतुर्भीमं परिरभ्य जयाच्यतौ ॥ ५॥

शब्दार्थ

हाहा-कारः—शोक की चीख; महान्—अत्यधिक; आसीत्—उठी; निहते—मारे जाने पर; मगध-ईश्वरे—मगध के राजा के; पूजयाम् आसतुः—दोनों ने सम्मान किया; भीमम्—भीम को; परिरभ्य—आलिंगन करके; जय—अर्जुन; अच्युतौ—तथा कृष्ण ने।

मगधराज की मृत्यु होते ही हाहाकार होने लगा, जबकि अर्जुन तथा कृष्ण ने भीम का आलिंगन करके उसे बधाई दी।

सहदेवं तत्तनयं भगवान्भूतभावनः ।
अभ्यषिञ्चदमेयात्मा मगधानां पतिं प्रभुः ।
मोचयामास राजन्यान्संरुद्धा मागधेन ये ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सहदेवम्—सहदेव नामक; तत्—उसके (जरासन्ध का); तनयम्—पुत्र को; भगवान्—भगवान्; भूत—सारे जीवों के; भावनः—पालनकर्ता; अभ्यषिञ्चत्—अभिषेक कर दिया; अमेय-आत्मा—अपरिमेय; मगधानाम्—मगधवासियों के; पतिम्—स्वामी के रूप में; प्रभुः—प्रभु ने; मोचयाम् आस—छोड़ दिया; राजन्यान्—राजाओं को; संरुद्धाः—बन्दी बनाये गये; मागधेन—जरासन्ध द्वारा; ये—जो।

समस्त जीवों के पालनकर्ता तथा हितकारी अपरिमेय भगवान् ने जरासन्ध के पुत्र सहदेव का अभिषेक मगधवासियों के नवीन राजा के रूप में कर दिया। तब भगवान् ने उन समस्त राजाओं को मुक्त किया, जिन्हें जरासन्ध ने बन्दी बना रखा था।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं ''यद्यपि जरासन्ध का वध हो गया किन्तु न तो कृष्ण ने, न ही दोनों पाण्डव-भाइयों ने सिंहासन पर अपना अधिकार जतलाया। जरासन्ध का वध करने के पीछे उनका उद्देश्य विश्वशान्ति बनाये रखने के विरुद्ध उसके उत्पात को रोकना था। असुर सदैव उत्पात मचाता है, जबकि देवतागण विश्व में शान्ति बनाये रखने का प्रयास करते हैं। भगवान् कृष्ण का उद्देश्य सत्पुरुषों को संरक्षण प्रदान करना और अशान्ति फैलाने वाले असुरों को मारना है। इसलिए कृष्ण ने तुरन्त ही जरासन्ध के पुत्र को बुलवाया, जिसका नाम सहदेव था और उपयुक्त क्रियाकर्म के बाद उसे अपने पिता का आसन ग्रहण करने तथा शान्तिपूर्वक राज्य चलाने का आदेश दिया। भगवान् कृष्ण सम्पूर्ण विश्व के स्वामी हैं। वे चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति शान्तिपूर्वक रहे और कृष्णभावनामृत सम्पन्न करे। सहदेव को सिंहासन पर बैठाकर उन्होंने सारे राजाओं तथा राजकुमारों को मुक्त कर दिया, जिन्हें जरासन्ध ने व्यर्थ ही बन्दी बना रखा था।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''जरासन्ध असुर का वध'' नामक बहत्तरवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तिहत्तर

बन्दी-गृह से छुड़ाये गये राजाओं को कृष्ण द्वारा आशीर्वाद

इस अध्याय में बतलाया गया है कि जरासन्ध द्वारा बन्दी बनाये गये राजाओं को छुड़ाने के बाद श्रीकृष्ण ने किस तरह उन्हें दर्शन दिया और उन्हें राजकीय उपहार प्रदान किये।

जब कृष्ण ने जरासन्ध द्वारा बन्दी बनाये गये २०,८०० राजाओं को छुड़ा दिया तो तुरन्त ही उन्होंने भूमि पर गिर कर उन्हें नमस्कार किया। फिर वे हाथ जोड़ कर खड़े हो गये और उनकी स्तुति करने लगे। अपने बन्दी होने को, अपने मिथ्या अहंकार को चूर करने के लिए भगवान् की कृपा मानते हुए, राजाओं ने यही प्रार्थना की कि उन्हें वही वर मिले, जिससे भगवान् के चरणकमलों को वे निरन्तर स्मरण करते रहें।

भगवान् ने उन्हें आश्वासन दिया कि उनकी प्रार्थना पूरी की जायेगी। उन्होंने उन्हें अनुदेश दिया, "तुम लोग वैदिक यज्ञ करते हुए मेरी पूजा करना और धर्म के नियमों के अनुसार अपनी प्रजा की रक्षा करना। तुम अपने मन को मुझमें स्थिर करके सन्तानें उत्पन्न करना और सुख तथा दुख में समभाव बने रहना। इस तरह अपने जीवन के अन्त में तुम अवश्य ही मुझे प्राप्त करोगे।"

इसके बाद कृष्ण ने उन राजाओं को ठीक से नहलवाया तथा वस्त्र पहनवाये और सहदेव से फूलों की मालाएँ, चन्दन-लेप, सुन्दर वस्त्र तथा अन्य राजोचित वस्तुएँ दिलवाईं। उन्हें रत्नों तथा स्वर्णभूषणों से सज्जित कराकर और रथों पर बैठवा कर उनके अपने अपने राज्यों में भिजवा दिया। वे वहाँ जाकर भगवान् द्वारा दिये गये आदेशों के अनुसार फिर से अपने कर्तव्य निभाने लगे।

तब कृष्ण, भीम तथा अर्जुन इन्द्रप्रस्थ के लिए विदा हुए, जहाँ राजा युधिष्ठिर से भेंट करके उन्होंने उन्हें जो कुछ घटा था सब कह सुनाया।

श्रीशुक उवाच
अयुते द्वे शतान्यष्टौ निरुद्धा युधि निर्जिताः ।
ते निर्गता गिरिद्रोण्यां मलिना मलवाससः ॥ १ ॥
क्षुत्क्षामाः शुष्कवदनाः संरोधपरिकर्शिताः ।
ददृशुस्ते घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥ २ ॥

श्रीवत्साङ्कं चतुर्बाहुं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ।
चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ३॥
पद्महस्तं गदाशङ्ख रथाङ्गैरुपलक्षितम् ।
किरीटहारकटककटिसूत्राङ्गदाञ्चितम् ॥ ॥
भ्राजद्वरमणिग्रीवं निवीतं वनमालया ।
पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया ॥ ५॥
जिघ्रन्त इव नासाभ्यां रम्भन्त इव बाहुभिः ।
प्रणेमुर्हतपाप्मानो मूर्धभिः पादयोर्हरेः ॥ ६॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अयुते—दस हजार; द्वे—दो; शतानि—सौ; अष्टौ—आठ; निरुद्धाः—बन्दी बनाये गये; युधि—युद्ध में; निर्जिताः—पराजित; ते—वे; निर्गताः—बाहर आये; गिरिद्रोण्याम्—जरासन्ध की राजधानी गिरिद्रोणी के किले से; मलिनाः—गन्दे; मल—मलिन; वाससः—जिनके वस्त्र; क्षुत्—भूख से; क्षामाः—दुर्बल; शुष्क—सूखे; वदनाः—मुख; संरोध—बन्धन से; परिकर्शिताः—अत्यधिक क्षीण; ददृशुः—देखा; ते—उन्होंने; घन—बादल की तरह; श्यामम्—गहरा नीला; पीत—पीला; कौशेय—रेशम का; वाससम्—वस्त्र वाले; श्रीवत्स—श्रीवत्स नामक चिह्न द्वारा; अङ्कम्—चिन्हित; चतुः—चार; बाहुम्—भुजाओं वाले; पद्म—कमल के; गर्भ—कोश जैसा; अरुण—गुलाबी; ईक्षणम्—आँखें; चारु—मनोहर; प्रसन्न—तथा प्रसन्न; वदनम्—मुख; स्फुरत्—चमकते; मकर—मगर की आकृति के; कुण्डलम्—कुण्डलों को; पद्म—कमल; हस्तम्—हाथ में; गदा—गदा; शङ्ख—शंख; रथ-अङ्गैः—तथा चक्र से; उपलक्षितम्—पहचाने गये; किरीट—मुकुट; हार—रत्नजटित गले की माला; कटक—सोने के कड़े; कटि-सूत्र—करधनी; अङ्गद—तथा बाजूबन्द; अञ्चितम्—सुसज्जित; भ्राजत्—चमकीले; वर—सुन्दर; मणि—कौस्तुभ-मणि; ग्रीवम्—गर्दन में; निवीतम्—लटकते; वन—जंगली फूलों की; मालया—माला से; पिबन्तः—पीते हुए; इव—मानो; चक्षुर्भ्याम्—अपनी आँखों से; लिहन्तः—चाटते हुए; इव—मानो; जिह्वया—अपनी जीभों से; जिघ्रन्तः—सूँघते हुए; इव—मानो; नासाभ्याम्—अपने नथुनों से; रम्भन्तः—आलिंगन करते हुए; इव—मानो; बाहुभिः—अपनी भुजाओं से; प्रणेमुः—झुक कर प्रणाम किया; हत—नष्ट; पाप्मानः—पाप समूह; मूर्धभिः—अपने सिरों से; पादयोः—चरणों पर; हरेः—भगवान् कृष्ण के।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जरासन्ध ने २०,८०० राजाओं को युद्ध में पराजित करके उन्हें बन्दीखाने में डाल दिया था। जब ये राजा गिरिद्रोणी किले से बाहर आये, तो वे मलिन लग रहे थे और मैले वस्त्र पहने हुए थे। वे भूख के मारे दुबले हो गए थे, उनके चेहरे सूख गये थे और दीर्घकाल तक बन्दी रहने से अत्यधिक कमजोर हो गये थे।

तब राजाओं ने भगवान् को अपने समक्ष देखा। उनका रंग बादल के समान गहरा नीला था और वे पीले रेशम का वस्त्र पहने थे। वे अपने वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिन्ह, अपने चार विशाल भुजाओं, कमल के कोश जैसी गुलाबी रंग की आँखों, अपने सुन्दर हँसमुख चेहरे, अपने चमकते मकर कुण्डलों तथा हाथों में कमल, गदा, शंख तथा चक्र धारण करने से पहचाने जाते थे। उनके शरीर में मुकुट, रत्नजटित गले की माला, सुनहरी करधनी, सुनहले कड़े तथा बाजूबन्द सुशोभित थे और वे अपने गले में चमकीली, मूल्यवान कौस्तुभ मणि तथा जंगली फूलों की माला पहने थे। सारे राजा मानो अपनी आँखों से उनके सौन्दर्य का पान कर रहे थे,

अपनी जीभों से उन्हें चाट रहे थे, अपने नथुनों से उनकी सुगन्धि का आस्वादन कर रहे थे और अपनी भुजाओं से उनका आलिंगन कर रहे थे। अब उनके विगत पापों का उन्मूलन हो चुका था। राजाओं ने भगवान् हरि के चरणों पर अपने अपने शीश रख कर उन्हें प्रणाम किया।

कृष्णसन्दर्शनाह्लाद ध्वस्तसंरोधनक्लमाः ।
प्रशशंसुर्हृषीकेशं गीर्भिः प्राञ्जलयो नृपाः ॥ ७॥

शब्दार्थ

कृष्ण-सन्दर्शन—भगवान् कृष्ण के दर्शन से; आह्लाद—प्रसन्नता; ध्वस्त—उन्मूलित; संरोधन—बन्दी होने के; क्लमाः—थकान; प्रशशंसुः—प्रशंसा की; हृषीका-ईशम्—इन्द्रियों के परम स्वामी को; गीर्भिः—अपने शब्दों में; प्राञ्जलयः—हाथ जोड़े; नृपाः—राजागण।

भगवान् कृष्ण को देखने के आनन्द से उनके बन्दी होने की थकावट दूर हो जाने पर सारे राजा हाथ जोड़ कर खड़े हो गये और उन्होंने हृषीकेश की प्रशंसा की।

राजान ऊचुः
नमस्ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराव्यय ।
प्रपन्नान्पाहि नः कृष्ण निर्विण्णान्घोरसंसृतेः ॥ ८॥

शब्दार्थ

राजानः ऊचुः—राजाओं ने कहा; नमः—नमस्कार; ते—आपको; देव—देवताओं के; देव—स्वामियों के; ईश—हे परमेश्वर; प्रपन्न—शरणागतों के; आर्ति—क्लेश के; हर—हे हरने वाले; अव्यय—हे अव्यय; प्रपन्नान्—शरणागत; पाहि—बचाइये; नः—हमको; कृष्ण—हे कृष्ण; निर्विण्णान्—निराशों को; घोर—भीषण; संसृतेः—संसार से।

राजाओं ने कहा : हे शासनकर्ता देवताओं के स्वामी, हे शरणागत भक्तों के क्लेश को नष्ट करने वाले, हम आपको नमस्कार करते हैं। चूँकि हमने आपकी शरण ग्रहण की है, अतः हे अव्यय कृष्ण, हमें इस विकट भौतिक जीवन से बचाइये, जिसने हमें इतना निराश बना दिया है।

नैनं नाथानुसूयामो मागधं मधुसूदन ।
अनुग्रहो यद्भवतो राज्ञां राज्यच्युतिर्विभो ॥ ९॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एनम्—यह; नाथ—हे स्वामी; अनुसूयामः—दोष निकालते हैं; मागधम्—मगध के राजा को; मधुसूदन—हे कृष्ण; अनुग्रहः—कृपा; यत्—चूँकि; भवतः—आपका; राज्ञाम्—राजाओं के; राज्य—राज्य से; च्युतिः—पतन; विभो—हे सर्वशक्तिमान।

हे प्रभु मधुसूदन, हम इस मगधराज को दोष नहीं देते क्योंकि वास्तव में यह तो आपकी कृपा है कि हे विभु, सारे राजा अपने राज-पद से नीचे गिरते हैं।

तात्पर्य : यह महत्त्वपूर्ण बात है कि कृष्ण का दर्शन कर लेने पर तथा अपने पापों से शुद्ध हो जाने से राजाओं को जरासन्ध के प्रति कोई भौतिक घृणा या कटुता का अनुभव नहीं हुआ यद्यपि उसने उन्हें बन्दी बनाकर रखा था। कृष्ण का दर्शन करने मात्र से ही राजागण कृष्णभावनामृत की स्थिति को प्राप्त हो गये और ये श्लोक बोलने लगे जो गहन आध्यात्मिक ज्ञान को दर्शाने वाले हैं।

राज्यैश्वर्यमदोन्नद्धो न श्रेयो विन्दते नृपः ।
त्वन्मायामोहितोऽनित्या मन्यते सम्पदोऽचलाः ॥ ॥

शब्दार्थ

राज्य—राज्य; ऐश्वर्य—तथा ऐश्वर्य से; मद—नशे से; उन्नद्धः—वश में न आकर; न—नहीं; श्रेयः—असली लाभ; विन्दते—प्राप्त करते हैं; नृपः—राजा; त्वत्—आपकी; माया—मायाशक्ति से; मोहितः—मोहित; अनित्याः—क्षणिक; मन्यते—सोचता है; सम्पदः—सम्पत्ति; अचलाः—स्थायी।

अपने ऐश्वर्य तथा शासनशक्ति के मद से चूर राजा आत्मसंयम खो देता है और अपना असली कल्याण प्राप्त नहीं कर सकता। इस तरह आपकी मायाशक्ति से मोहग्रस्त होकर वह अपनी क्षणिक सम्पदा को स्थायी मान बैठता है।

तात्पर्य : *उन्नद्ध* शब्द सूचित करता है कि जो मिथ्या अहंकार से मदान्ध हो जाता है, वह सदाचार की सीमा तोड़ देता है। मनुष्य-जीवन धर्म के द्वारा अनुशासित होने के लिए है, जिससे धीरे-धीरे कृष्णभावनामृत की पूर्णता तक बढ़ा जा सके। किन्तु मूर्ख व्यक्ति सम्पत्ति तथा शक्ति से अन्धा होकर ईश्वर तथा प्रकृति के नियमों के विरुद्ध मनमाने ढंग से कर्म करने में हिचकता नहीं। दुर्भाग्यवश आज सम्पन्न पाश्चात्य देशों में यही स्थिति है।

मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्त उदकाशयम् ।
एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु चक्षते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मृग-तृष्णाम्—मृगतृष्णा; यथा—जिस तरह; बालाः—बच्चों जैसी बुद्धि वाले व्यक्ति; मन्यन्ते—विचार करते हैं; उदक—जल के; आशयम्—आगार को; एवम्—उसी तरह; वैकारिकीम्—विकारों के अधीन; मायाम्—माया को; अयुक्ताः—विवेकहीन; वस्तु—चीज जैसा; चक्षते—दिखता है।

जिस तरह बालबुद्धि वाले लोग मरूस्थल में मृगतृष्णा को जलाशय मान लेते हैं, उसी तरह जो अविवेकी हैं, वे माया के विकारों को वास्तविक मान लेते हैं।

वयं पुरा श्रीमदनष्टदृष्टयो
जिगीषयास्या इतरेतरस्पृधः ।
घ्नन्तः प्रजाः स्वा अतिनिर्घृणाः प्रभो
मृत्युं पुरस्त्वाविगणय्य दुर्मदाः ॥ १२ ॥
त एव कृष्णाद्य गभीररंहसा
दुरन्तेवीर्येण विचालिताः श्रियः ।
कालेन तन्वा भवतोऽनुकम्पया
विनष्टदर्पाश्चरणौ स्मराम ते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; पुरा—इसके पूर्व; श्री—ऐश्वर्य के; मद—नशे से; नष्ट—विनष्ट; दृष्टयः—जिसकी दृष्टि; जिगीषया—जीतने की इच्छा से; अस्याः—इस (पृथ्वी); इतर-इतर—एक-दूसरे से; स्पृधः—लड़ते-झगड़ते; घ्नन्तः—आक्रमण करते; प्रजाः—नागरिक; स्वाः—अपना, निजी; अति—अत्यधिक; निर्घृणाः—क्रूर; प्रभो—हे प्रभु; मृत्युम्—मृत्यु को; पुरः—समक्ष; त्वा—आपको; अविगणय्य—परवाह न करके; दुर्मदाः—उद्धत; ते—वे (हमीं); एव—निस्सन्देह; कृष्ण—हे कृष्ण; अद्य—अब; गभीर—रहस्यमय; रंहसा—गतिशीलता; दुरन्त—दुर्दम; वीर्येण—बल से; विचालिताः—चले जाने के लिए बाध्य हुए; श्रियः—हमारे ऐश्वर्य से; कालेन—समय से; तन्वा—आपका साकार रूप; भवतः—आपकी; अनुकम्पया—कृपा से; विनष्ट—विनष्ट; दर्पाः—जिनके गर्व; चरणौ—दो पाँवों को; स्मराम—स्मरण करें; ते—तुम्हारे।

इसके पूर्व धन के मद से अन्धे होकर हमने इस पृथ्वी को जीतना चाहा था और इस तरह हम अपनी ही प्रजा को क्रूरतापूर्वक यातना देते हुए विजय पाने के लिए एक-दूसरे से लड़ते रहे। हे प्रभु, हमने दम्भ में आकर अपने समक्ष मृत्यु रूप में उपस्थित आपका अनादर किया। किन्तु हे कृष्ण, अब आपका वह शक्तिशाली स्वरूप जो काल कहलाता है और रहस्यमय ढंग से तथा दुर्दम रूप में गतिशील है उसने हमसे हमारे ऐश्वर्य छीन लिये हैं। चूँकि अब आपने दया करके हमारे गर्व को नष्ट कर दिया है, अतएव हमारी आपसे याचना है कि हम केवल आपके चरणकमलों का स्मरण करते रहें।

अथो न राज्यम्मृगतृष्णिरूपितं
देहेन शश्वत्पतता रुजां भुवा ।
उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो
क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

अथ उ—इसके आगे; न—नहीं; राज्यम्—राज्य; मृग-तृष्णि—मृगतृष्णा की तरह; रूपितम्—प्रकट होने वाला; देहेन—भौतिक शरीर से; शश्वत्—निरन्तर; पतता—मर्त्य; रुजाम्—रोगों के; भुवा—जन्मस्थान; उपासितव्यम्—सेवा किये जाने के लिए; स्पृहयामहे—हम लालायित रहते हैं; विभो—हे सर्वशक्तिमान; क्रिया—पुण्यकार्य का; फलम्—फल; प्रेत्य—अगले जन्म में जाकर; च—तथा; कर्ण—कानों के लिए; रोचनम्—लोभ।

अब हम कभी भी मृगतृष्णा तुल्य ऐसे राज्य के लिए लालायित नहीं होंगे जो इस मर्त्य शरीर

द्वारा सेवित हो वह शरीर जो रोग तथा कष्ट का कारण हो और प्रत्येक क्षण क्षीण होने वाला हो। हे विभु, न ही हम अगले जन्म में पुण्यकर्म के दिव्य फल भोगने की लालसा रखेंगे, क्योंकि ऐसे फलों का वायदा कानों के लिए रिक्त बहलावे के समान है।

तात्पर्य : राज्य को अथवा राजनीतिक प्रभुता को बनाये रखने के लिए मनुष्य को कठिन श्रम करना होता है। फिर भी वह शरीर जो कि मनुष्य की राजनैतिक शक्ति को बनाये रखने के लिए कठिन परिश्रम करता है, स्वयं नश्वर है। प्रति क्षण यह शरीर मृत्यु की ओर बढ़ता रहता है और इसे अनेक कष्टप्रद रोग भोगने पड़ सकते हैं। इस तरह शुद्ध आत्मा के लिए संसारी शक्ति का यह सारा खेल समय का अपव्यय है। उसे तो अपनी सुप्त कृष्णचेतना को जागृत करने की आवश्यकता रहती है।

वैदिक शास्त्रों तथा अन्य धार्मिक ग्रंथों में उन लोगों के लिए, जो इस जीवन में पुण्यकर्म करते हैं, अगले जन्म में समृद्धि तथा स्वर्गिक भोग दिलाने के अनेक वायदे मिलते हैं। ऐसे वायदे सुनने में मधुर लगते हैं, किन्तु वे इससे अधिक कुछ नहीं हैं। भौतिक भोग चाहे स्वर्ग का हो या नरक का, शुद्ध आत्मा के लिए एक प्रकार का मोह है। भाग्यशाली राजाओं को अब, जबकि उन्हें भगवान् कृष्ण का सान्निध्य मिला है, भौतिक सृष्टि के मायाजाल से परे उच्चतर आध्यात्मिक सत्य की अनुभूति हो गई है।

तं नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः ।
स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; नः—हमको; समादिश—कृपया आदेश दें; उपायम्—उपाय; येन—जिससे; ते—तुम्हारे; चरण—चरणों के; अब्जयोः—कमल सदृश; स्मृतिः—याद; यथा—जिस तरह; न विरमेत्—रुके नहीं; अपि—भी; संसरताम्—जन्म-मृत्यु के चक्र में घूम रहे हैं, जो, उनके लिए; इह—इस संसार में।

कृपया हमें बतलाएँ कि हम किस तरह आपके चरणकमलों का निरन्तर स्मरण कर सकें, यद्यपि हम इस संसार में जन्म-मृत्यु के चक्र में घूम रहे हैं।

तात्पर्य : भगवत्कृपा होने पर ही हम भगवान् का निरन्तर स्मरण कर सकते हैं। परम मोक्ष प्राप्त करने की सबसे आसान विधि ऐसा ही स्मरण है, जैसी कि *भगवद्गीता* (८.१) में बतलायी गयी है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

"जो बिना किसी प्रकार के विचलन के मेरा स्मरण सदैव करता है हे पार्थ! मैं उसके भक्ति में निरन्तर लगे रहने के कारण उसके लिए आसानी से सुलभ हो जाता हूँ।"

अपि संसरताम् इह शब्द सूचित करते हैं कि राजागण न केवल मुक्ति के लिए कृष्ण के पास पहुँच रहे थे अपितु उनके चरणकमलों को सदैव स्मरण करते रहने में समर्थ होने का वर प्राप्त करने के लिए ऐसा कर रहे थे। ऐसा निरन्तर स्मरण प्रेम का लक्षण है और भगवत्प्रेम जीवन का वास्तविक लक्ष्य है।

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

कृष्णाय—कृष्ण के प्रति; वासुदेवाय—वसुदेव के पुत्र के प्रति; हरये—भगवान् हरि के प्रति; परम-आत्मने—परमात्मा; प्रणत—शरणागत; क्लेश—कष्ट के; नाशाय—नष्ट करने वाले के प्रति; गोविन्दाय—गोविन्द के प्रति; नमः नमः—बारम्बार नमस्कार।

हम वसुदेव के पुत्र भगवान् कृष्ण अर्थात् हरि को बारम्बार नमस्कार करते हैं। वह परमात्मा गोविन्द उन सबों के कष्टों को दूर कर देता है, जो उनकी शरण में जाते हैं।

श्रीशुक उवाच
संस्तूयमानो भगवान्राजभिर्मुक्तबन्धनैः ।
तानाह करुणस्तात शरण्यः श्लक्ष्णया गिरा ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; संस्तूयमाणः—अत्यन्त प्रशंसा किये जा रहे; भगवान्—भगवान् ने; राजभिः—राजाओं द्वारा; मुक्त—मुक्त किये गये; बन्धनैः—बन्धन से; तान्—उनसे; आह—कहा; करुणः—दयालु; तात—हे प्रिय (राजा परीक्षित); शरण्यः—शरण देने वाले; श्लक्ष्णया—मधुर; गिरा—वाणी से।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह बन्धन से मुक्त हुए राजाओं ने भगवान् की खूब प्रशंसा की। तब हे परीक्षित, दयालु शरणदाता ने मधुर वाणी में उनसे कहा।

श्रीभगवानुवाच
अद्य प्रभृति वो भूपा मय्यात्मन्यखिलेश्वरे ।
सुदृढा जायते भक्तिर्बाढमाशंसितं तथा ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अद्य प्रभृति—आज से; वः—तुम्हारा; भू-पाः—हे राजाओ; मयि—मुझमें; आत्मनि—आत्मा में; अखिल—समस्त; ईश्वरे—नियन्ता में; सु—अत्यन्त; दृढा—स्थिर; जायते—उत्पन्न होगी; भक्तिः—भक्ति; बाढम्—निश्चित रूप से; आशंसितम्—अभीष्ट; तथा—उसी तरह।

भगवान् ने कहा : हे राजाओ, आज से तुम लोगों को मुझ परमात्मा तथा ईश्वर में दृढ़ भक्ति

प्राप्त होगी। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि तुम जैसे चाहोगे वैसे ही यह भक्ति चलती रहेगी।

दिष्ट्या व्यवसितं भूपा भवन्त ऋतभाषिणः ।
श्रीयैश्वर्यमदोन्नाहं पश्य उन्मादकं नृणाम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—भाग्यवान; व्यवसितम्—संकल्प; भूपाः—हे राजाओ; भवन्तः—आप लोग; ऋत—सच सच; भाषिणः—बोलने वाले; श्री—सम्पत्ति; ऐश्वर्य—तथा शक्ति के; मद—नशे में; उन्नाहम्—संयम का अभाव; पश्ये—देखता हूँ; उन्मादकम्—मतवाला बनाते हुए; नृणाम्—मनुष्यों के लिए।

हे राजाओ, सौभाग्यवश तुम लोगों ने सही निर्णय किया है और जो कुछ कहा है, वह सच है। मैं देख रहा हूँ कि मनुष्यों में आत्मसंयम के अभाव से जो कि ऐश्वर्य तथा शक्ति के मद के कारण उत्पन्न होता है, मादकता ही आती है।

हैहयो नहुषो वेणो रावणो नरकोऽपरे ।
श्रीमदाद्भ्रंशिताः स्थानाद्देवदैत्यनरेश्वराः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

हैहयः नहुषः वेणः—हैहय (कार्तवीर्य), नहुष तथा वेण; रावणः नरकः—रावण तथा नरक; अपरे—तथा अन्य; श्री—ऐश्वर्य के कारण; मदात्—अपने नशे के कारण; भ्रंशिताः—नीचे गिराये गये; स्थानात्—अपने पदों से; देव—देवताओं के; दैत्य—असुरों के; नर—मनुष्यों के; ईश्वराः—शासकगण।

हैहय, नहुष, वेण, रावण, नरक तथा देवताओं, पुरुषों और असुरों के अन्य अनेक शासक अपने अपने ऊँचे पदों से इसीलिए नीचे गिरे, क्योंकि वे भौतिक ऐश्वर्य से मदोन्मत्त हो उठे थे।

तात्पर्य : जैसाकि श्रीधर स्वामी ने विवरण दिया है, चूँकि हैहय ने परशुराम के पिता जमदग्नि की कामधेनु गाय चुरा ली थी, इसलिए परशुराम ने उसे उसके दम्भी पुत्रों सहित मार डाला। नहुष ने जब अस्थायी रूप से इन्द्र का पद ग्रहण किया, तो उसे गर्व हो आया। जब उसने कुछ ब्राह्मणों को आदेश दिया कि वे उसे पालकी पर चढ़ाकर इन्द्र की सती पत्नी शची के पास अवैध भेंट कराने ले चलें तो ब्राह्मणों ने उसे उसके पद से च्युत कर दिया और उसे एक वृद्ध पुरुष बना दिया। इसी तरह राजा वेण भी उन्मत्त था और जब उसने ब्राह्मणों का अपमान किया, तो उन्होंने *हुम* अक्षर का उच्चारण करके उसे मार डाला। रावण राक्षसों का विख्यात शासक था किन्तु काम के वशीभूत होकर उसने माता सीता का अपहरण कर लिया, अतः सीतापति भगवान् रामचन्द्र ने उसका वध कर दिया। नरक दैत्यों का शासक था जिसने माता अदिति के कुण्डल चुराने का दुस्साहस किया था जिस अपराध के लिए उसे भी मार

डाला गया। इस तरह इतिहास-भर में शक्तिशाली राजा अपने पदों से च्युत होते रहे हैं, क्योंकि वे अपने तथाकथित ऐश्वर्य से मदोन्मत्त होते रहे हैं।

भवन्त एतद्विज्ञाय देहाद्युत्पाद्यमन्तवत् ।
मां यजन्तोऽध्वरैर्युक्ताः प्रजा धर्मेण रक्ष्यथ ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भवन्तः—आप लोग; एतत्—यह; विज्ञाय—जान कर; देह-आदि—भौतिक शरीर तथा अन्य बातें; उत्पाद्यम्—जन्म के अधीन; अन्त-वत्—अन्त होने वाला; माम्—मुझको; यजन्तः—पूजा करते हुए; अध्वरैः—वैदिक यज्ञों के द्वारा; युक्ताः—विमल बुद्धि से युक्त; प्रजाः—अपनी प्रजा की; धर्मेण—धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार; रक्ष्यथ—रक्षा करनी चाहिए।

यह समझते हुए कि यह भौतिक शरीर तथा इससे सम्बद्ध हर वस्तु का आदि तथा अन्त है, वैदिक यज्ञों के द्वारा मेरी पूजा करो और धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार विमल बुद्धि से अपनी प्रजा की रक्षा करो।

सन्तन्वन्तः प्रजातन्तून्सुखं दुःखं भवाभवौ ।
प्राप्तं प्राप्तं च सेवन्तो मच्चित्ता विचरिष्यथ ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सन्तन्वन्तः—उत्पन्न करते हुए; प्रजा—सन्तान के; तन्तून्—रेशे (पीढ़ियाँ); सुखम्—सुख; दुःखम्—दुख; भव—जन्म; अभवौ—तथा मृत्यु; प्राप्तम् प्राप्तम्—ज्यों ज्यों सामना पड़े; च—तथा; सेवन्तः—स्वीकार करते हुए; मत्-चित्ताः—मुझ पर अपने मन को स्थिर करके; विचरिष्यथ—इधर-उधर विचरण करना चाहिए।

सन्तान की पीढ़ियों की पीढ़ियाँ उत्पन्न करते तथा सुख-दुख, जन्म एवं मृत्यु का सामना करते तुम लोग जीवन बिताते समय सदैव अपने मनों को मुझ पर स्थिर रखना।

उदासीनाश्च देहादावात्मारामा धृतव्रताः ।
मय्यावेश्य मनः सम्यङ्मामन्ते ब्रह्म यास्यथ ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

उदासीनाः—अन्यमनस्क; च—तथा; देह-आदौ—शरीर इत्यादि के प्रति; आत्म-आरामाः—आत्मतुष्ट; धृत—दृढ़ता से पकड़े हुए; व्रताः—अपने व्रतों को; मयि—मुझ में; आवेश्य—एकाग्र करके; मनः—मन को; सम्यक्—पूर्णरूपेण; माम्—मुझको; अन्ते—अन्त में; ब्रह्म—परम सत्य; यास्यथ—प्राप्त करोगे।

शरीर तथा उससे सम्बद्ध हर वस्तु से विरक्त हो जाओ। आत्मतुष्ट रह कर अपने मन को मुझमें एकाग्र करते हुए अपने व्रतों का दृढ़ता से पालन करो। इस तरह तुम लोग अन्त में मुझ परम सत्य को प्राप्त कर सकोगे।

श्रीशुक उवाच

इत्यादिश्य नृपान्कृष्णो भगवान्भुवनेश्वरः ।
तेषां न्ययुङ्क्त पुरुषान्स्त्रियो मज्जनकर्मणि ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; आदिश्य—आदेश देकर; नृपान्—राजाओं को; कृष्णः—कृष्ण; भगवान्—भगवान्; भुवन—सारे लोकों के; ईश्वरः—स्वामी; तेषाम्—उनके; न्ययुङ्क्त—लगाया; पुरुषान्—सेवकों; स्त्रियः—तथा स्त्रियों को; मज्जन—धोने के; कर्मणि—काम में।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार राजाओं को आदेश देकर समस्त लोकों के परम स्वामी भगवान् कृष्ण ने समस्त सेवकों तथा सेविकाओं को उन्हें स्नान कराने तथा सँवारने के काम में लगा दिया।

सपर्यां कारयामास सहदेवेन भारत ।
नरदेवोचितैर्वस्त्रैर्भूषणैः स्रग्विलेपनैः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सपर्याम्—सेवा; कारयाम् आस—करवाई; सहदेवेन—जरासन्ध के पुत्र सहदेव से; भारत—हे भरतवंशी; नर-देव—राजागण; उचितैः—अनुकूल; वस्त्रैः—वस्त्रों से; भूषणैः—गहनों से; स्रक्—फूल-मालाओं से; विलेपनैः—तथा चन्दन-लेप से।

हे भारत, तब भगवान् ने राजा सहदेव से वस्त्र, आभूषण, मालाएँ तथा चन्दन-लेप आदि राजोचित भेंटें दिलाकर उन राजाओं का सम्मान कराया।

भोजयित्वा वरान्नेन सुस्नातान्समलङ्कृतान् ।
भोगैश्च विविधैर्युक्तांस्ताम्बूलाद्यैर्नृपोचितैः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

भोजयित्वा—भोजन कराकर; वर—उत्तम; अन्नेन—भोजन से; सु—उचित ढंग से; स्नातान्—नहलाये; समलङ्कृतान्—सुसज्जित; भोगैः—भोग की सामग्रियों से; च—तथा; विविधैः—विविध; युक्तान्—प्रदत्त; ताम्बूल—पान; आद्यैः—इत्यादि; नृप—राजाओं के लिए; उचितैः—उचित।

जब वे सब भलीभाँति नहा चुके और सज-धज गये तो भगवान् कृष्ण ने उनके लिए उत्तम भोजन की व्यवस्था कराई। उन्होंने उन सबों को राजोचित वस्तुएँ यथा पान इत्यादि वस्तुएँ भी भेंट कीं।

ते पूजिता मुकुन्देन राजानो मृष्टकुण्डलाः ।
विरेजुर्मोचिताः क्लेशात्प्रावृडन्ते यथा ग्रहाः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; पूजिताः—सम्मानित; मुकुन्देन—कृष्ण द्वारा; राजानः—राजागण; मृष्ट—चमकते; कुण्डलाः—कुण्डलों वाले; विरेजुः—भव्य लगते थे; मोचिताः—छुड़ाये गये; क्लेशात्—कष्ट से; प्रावृट्—वर्षा ऋतु के; अन्ते—अन्त में; यथा—जिस तरह; ग्रहाः—लोक (यथा चन्द्रमा)।

भगवान् मुकुन्द द्वारा सम्मानित किये गये एवं कष्ट से मुक्त हुए राजागण अपने कानों के चमकते कुण्डलों सहित वैसे ही शोभायमान हुए जिस तरह वर्षा ऋतु की समाप्ति पर आकाश में चन्द्रमा तथा अन्य ग्रह खूब चमकने लगते हैं।

रथान्सदश्वानारोप्य मणिकाञ्चनभूषितान् ।
प्रीणय्य सुनृतैर्वाक्यैः स्वदेशान्प्रत्ययापयत् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

रथान्—रथों पर; सत्—उत्तम; अश्वान्—घोड़ों सहित; आरोप्य—चढ़ाकर; मणि—रत्न; काञ्चन—तथा सोना; भूषितान्—सुसज्जित; प्रीणय्य—तुष्ट करके; सुनृतैः—मधुर; वाक्यैः—शब्दों से; स्व—अपने अपने; देशान्—राज्यों को; प्रत्ययापयत्—वापस भेज दिया।

तत्पश्चात् भगवान् ने उन राजाओं को सुन्दर घोड़ों से खींचे जाने वाले तथा रत्नों एवं स्वर्ण से सुसज्जित रथों पर चढ़वाकर और मधुर शब्दों से प्रसन्न करके उन्हें उनके राज्यों में वापस भिजवा दिया।

त एवं मोचिताः कृच्छ्रात्कृष्णेन सुमहात्मना ।
ययुस्तमेव ध्यायन्तः कृतानि च जगत्पतेः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; एवम्—इस प्रकार; मोचिताः—मुक्त हुए; कृच्छ्रात्—मुश्किल से; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; सु-महा-आत्मना—महापुरुष; ययुः—चले गये; तम्—उनको; एव—एकमात्र; ध्यायन्तः—ध्यान करते; कृतानि—कार्यों को; च—तथा; जगत्-पतेः—ब्रह्माण्ड के स्वामी के।

इस तरह पुरुषों में महानतम कृष्ण द्वारा सारे कष्टों से मुक्त किये गये राजागण विदा हुए और जब वे जा रहे थे, तो वे एकमात्र उन ब्रह्माण्ड के स्वामी तथा उनके अद्‌भुत कृत्यों के विषय में ही सोच रहे थे।

जगदुः प्रकृतिभ्यस्ते महापुरुषचेष्टितम् ।
यथान्वशासद्भगवांस्तथा चक्रुरतन्द्रिताः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

जगदुः—बतलाया; प्रकृतिभ्यः—अपने मंत्रियों तथा अन्य संगियों से; ते—उन (राजाओं ने); महा-पुरुष—परम पुरुष के; चेष्टितम्—कार्यकलापों को; यथा—जिस तरह; अन्वशासत्—आदेश दिया; भगवान्—भगवान् ने; तथा—उसी तरह; चक्रुः—उन्होंने किया; अतन्द्रिताः—बिना किसी ढिलाई के।

राजाओं ने जाकर अपने मंत्रियों तथा अन्य संगियों से वे सारी बातें बतलाईं जो भगवान् ने की थीं और तब उन्होंने जो जो आदेश दिये थे, उनका कर्मठता के साथ पालन किया।

जरासन्धं घातयित्वा भीमसेनेन केशवः ।
पार्थाभ्यां संयुतः प्रायात्सहदेवेन पूजितः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

जरासन्धम्—जरासन्ध को; घातयित्वा—वध करवाकर; भीमसेनेन—भीमसेन द्वारा; केशवः—कृष्ण; पार्थाभ्यम्—पृथा के दोनों पुत्रों (भीम तथा अर्जुन) के; संयुतः—साथ साथ; प्रायात्—विदा हुए; सहदेवेन—सहदेव द्वारा; पूजितः—पूजा किये जाकर।.

भीमसेन द्वारा जरासन्ध का वध करवाकर, भगवान् कृष्ण ने राजा सहदेव की पूजा स्वीकार की और तब पृथा के दोनों पुत्रों के साथ विदा हुए।

गत्वा ते खाण्डवप्रस्थं शङ्खान्दध्मुर्जितारयः ।
हर्षयन्तः स्वसुहृदो दुर्हृदां चासुखावहाः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

गत्वा—जाकर; ते—उन्होंने; खाण्डव-प्रस्थम्—इन्द्रप्रस्थ में; शङ्खान्—अपने अपने शंख; दध्मुः—बजाये; जित—जीत कर; अरयः—शत्रु को; हर्षयन्तः—हर्षित करते; स्व—अपने; सुहृदः—शुभचिन्तकों; दुर्हृदाम्—तथा शत्रुओं को; च—तथा; असुख—अप्रसन्नता; आवहाः—लाते हुए।.

जब वे इन्द्रप्रस्थ आ गये तो विजयी वीरों ने अपने शंख बजाये, जिससे उनके शुभचिन्तक मित्रों को तो हर्ष हुआ, किन्तु उनके शत्रुओं को संताप पहुँचा।

तच्छ्रुत्वा प्रीतमनस इन्द्रप्रस्थनिवासिनः ।
मेनिरे मागधं शान्तं राजा चाप्तमनोरथः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; श्रुत्वा—सुन कर; प्रीत—प्रसन्न; मनसः—मन में; इन्द्रप्रस्थ-निवासिनः—इन्द्रप्रस्थ के वासी; मेनिरे—समझ गये; मागधम्—जरासन्ध को; शान्तम्—अन्त कर दिया; राजा—राजा (युधिष्ठिर); च—तथा; आप्त—प्राप्त किया; मनः-रथः—इच्छाएँ।.

उस ध्वनि को सुन कर इन्द्रप्रस्थ के निवासी अत्यन्त प्रसन्न हुए, क्योंकि वे समझ गये कि मगध के राजा का अब अन्त कर दिया गया है। राजा युधिष्ठिर ने अनुभव किया कि अब उनके मनोरथ पूरे हो गये।

अभिवन्द्याथ राजानं भीमार्जुनजनार्दनाः ।

सर्वमाश्रावयां चक्रुरात्मना यदनुष्ठितम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अभिवन्द्य—नमस्कार करके; अथ—तब; राजानम्—राजा को; भीम-अर्जुन-जनार्दनाः—भीम, अर्जुन तथा कृष्ण; सर्वम्—सारी बातें; आश्रावयाम् चक्रुः—बतलाईं; आत्मना—स्वयमेव; यत्—जो; अनुष्ठितम्—सम्पन्न हुईं।.

भीम, अर्जुन तथा जनार्दन ने राजा को प्रणाम किया और जो कुछ उन्होंने किया था, वह सब उनसे कह सुनाया।

निशम्य धर्मराजस्तत्केशवेनानुकम्पितम् ।
आनन्दाश्रुकलां मुञ्चन्प्रेम्णा नोवाच किञ्चन ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुन कर; धर्म-राजः—धर्म के राजा, युधिष्ठिर ने; तत्—वह; केशवेन—कृष्ण द्वारा; अनुकम्पितम्—अनुकम्पा, कृपा; आनन्द—आनन्द के; अश्रु-कलाम्—अश्रु; मुञ्चन्—गिराते हुए; प्रेम्णा—प्रेमवश; न उवाच—नहीं कहा; किञ्चन—कुछ भी।.

भगवान् कृष्ण ने उन पर जो महती कृपा की थी उसका विवरण सुन कर धर्मराज ने भावातिरेक के अश्रु बहाये। उन्हें इतने प्रेम का अनुभव हुआ कि वे कुछ भी नहीं कह पाये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत् के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''बन्दी-गृह से छुड़ाये गये राजाओं को कृष्ण द्वारा आशीर्वाद'' नामक तिहत्तरवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौहत्तर

राजसूय यज्ञ में शिशुपाल का उद्धार

इस अध्याय में बतलाया गया है कि भगवान् कृष्ण ने किस तरह राजसूय यज्ञ के अवसर पर अग्रपूजा का सम्मान प्राप्त किया और शिशुपाल का किस तरह वध किया।

कृष्ण की स्तुति करने के बाद राजा युधिष्ठिर ने भरद्वाज, गौतम तथा वसिष्ठ जैसे योग्य ब्राह्मणों को राजसूय यज्ञ के पुरोहित के कार्य के लिए चुना। फिर चारों वर्णों के अनेक सम्मानित अतिथि यज्ञ देखने के लिए आये।

जब यज्ञ चलने लगा तो ''अग्रपूजा'' का अनुष्ठान सम्पन्न किया जाना था, अतः सभासदों को यह निश्चय करने के लिए पूछा गया कि यह सम्मान किसे मिले। सहदेव ने उठकर कहा, ''निस्सन्देह भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्वाधिक पूज्य पुरुष हैं, क्योंकि वैदिक यज्ञ द्वारा पूजित समस्त अर्चाविग्रह उन्हीं

में समाये हुए हैं। हृदय में परमात्मा के रूप में विराजमान वे ब्रह्माण्ड के हर व्यक्ति को उसके विशेष कार्य में लगाने वाले हैं और एकमात्र उन्हीं की कृपा से मनुष्य विविध पुण्यकर्म कर सकते हैं तथा उनका फल भोगते हैं। जो व्यक्ति उन्हें पूजता है, वह सारे जीवों को पूजता है। निश्चय ही भगवान् कृष्ण की अग्रपूजा होनी चाहिए।''

सभा का प्राय: हर व्यक्ति सहदेव के प्रस्ताव से सहमत था और सबों ने उच्च स्वर से उन्हें बधाई दी। इस तरह राजा युधिष्ठिर ने प्रसन्नतापूर्वक भगवान् कृष्ण की पूजा की। उन्होंने उनके चरण धोये और चरणोदक को अपने सिर पर छिड़का। उनकी पत्नियों, भाइयों, मंत्रियों तथा सम्बन्धियों ने भी वह चरणोदक अपने अपने सिरों पर छिड़का। फिर सबों ने जय–जयकार की और भगवान् कृष्ण को शीश झुकाया तथा ऊपर से फूलों की वर्षा हुई।

किन्तु श्रीकृष्ण की यह पूजा तथा यशोगान शिशुपाल से सहन न हो पाया। वह अपने आसन से उठ कर खड़ा हो गया और कृष्ण को अग्रपूजा के लिए चुनने के हेतु अपने बुद्धिमान अग्रजों को बुरी तरह से फटकारने लगा। उसने कहा, ''यह कृष्ण वैदिक वर्णाश्रम धर्म तथा सम्मान्य परिवारों के समाज से बाहर है। यह न तो किसी धर्म का पालन करता है, न इसमें सद्गुण ही हैं।''

जब शिशुपाल इस प्रकार से भगवान् कृष्ण की अवमानना किये जा रहा था, तो वे मौन रहे। किन्तु सभा के अनेक सदस्य अपने कान मूँदकर सभाभवन से बाहर चले गये जबकि पाण्डवों ने अपने हथियार उठाकर शिशुपाल को मार डालने की तैयारी कर ली। कृष्ण ने उन्हें ऐसा करने से रोका, किन्तु उन्होंने स्वयं ही अपने सुदर्शन चक्र से उसका सिर काट लिया। उस समय शिशुपाल के मृत शरीर से एक तेज पुंज निकला और वह भगवान् कृष्ण के दिव्य शरीर में प्रविष्ट हो गया। तीन जन्मों तक भगवान् का शत्रु बन कर जीवित रहने के बाद अब जाकर शिशुपाल को निरन्तर भगवान् कृष्ण का ध्यान करते रहने से *सायुज्य* मुक्ति प्राप्त हुई।

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिर ने सभा के पूज्य अतिथियों तथा पुरोहितों को प्रचुर भेंटें दीं और अन्त में *प्रायश्चित्त होम* किया, जिससे यज्ञ के समय हुई त्रुटियों का शमन हो सके। अब जबकि युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ पूरा हो गया था, तो कृष्ण ने राजा से विदा ली और अपनी पत्नियों तथा मंत्रियों को साथ लेकर द्वारका के लिए प्रस्थान किया।

दुर्योधन से राजा युधिष्ठिर की सम्पन्नता का यह विराट प्रदर्शन सहन न हो सका, किन्तु उसके अतिरिक्त हर व्यक्ति ने राजसूय यज्ञ की और समस्त यज्ञों के स्वामी श्रीकृष्ण की महिमाओं की प्रसन्नतापूर्वक बड़ाई की।

श्रीशुक उवाच
एवं युधिष्ठिरो राजा जरासन्धवधं विभोः ।
कृष्णस्य चानुभावं तं श्रुत्वा प्रीतस्तमब्रवीत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; युधिष्ठिरः—युधिष्ठिर; राजा—राजा; जरासन्ध-वधम्—जरासन्ध का वध; विभोः—सर्वशक्तिमान का; कृष्णस्य—कृष्ण का; च—तथा; अनुभावम्—बल (का प्रदर्शन); तम्—उसको; श्रुत्वा—सुनकर; प्रीतः—प्रसन्न; तम्—उनसे; अब्रवीत्—बोले।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार जरासन्ध वध तथा सर्वशक्तिमान कृष्ण की अद्‌भुत शक्ति के विषय में भी सुनकर राजा युधिष्ठिर ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक भगवान् से इस प्रकार कहा।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच
ये स्युस्त्रैलोक्यगुरवः सर्वे लोका महेश्वराः ।
वहन्ति दुर्लभं लब्ध्वा शिरसैवानुशासनम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—श्री युधिष्ठिर ने कहा; ये—जो; स्युः—हैं; त्रै-लोक्य—तीनों लोकों के; गुरवः—गुरु; सर्वे—सारे; लोकाः—लोकों (के निवासी); महा-ईश्वराः—तथा महान् नियन्ता देवता; वहन्ति—ले जाते हैं; दुर्लभम्—विरले ही प्राप्य; लब्ध्वा—प्राप्त करके; शिरसा—सिरों के बल; एव—निस्सन्देह; अनुशासनम्—(आपका) आदेश।

श्री युधिष्ठिर ने कहा : तीनों लोकों के प्रतिष्ठित गुरु तथा विभिन्न लोकों के निवासी एवं शासक आपके आदेश को, जो विरले ही किसी को मिलता है, सिर-आँखों पर लेते हैं।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने महाराज युधिष्ठिर के कथन को निम्नवत् उद्धृत किया है, "हे कृष्ण! हे सच्चिदानन्द स्वरूप! इस भौतिक जगत के कार्य-व्यापार के सभी पूज्य संचालक जिनमें ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्र सम्मिलित हैं, आपका आदेश प्राप्त करने और उसको पूरा करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं और जब ऐसा आदेश प्राप्त करने का उन्हें सौभाग्य प्राप्त होता है, तो वे उन आदेशों को तुरन्त ग्रहण करके उन्हें अपने हृदयों में धारण कर लेते हैं।"

स भवानरविन्दाक्षो दीनानामीशमानिनाम् ।
धत्तेऽनुशासनं भूमंस्तदत्यन्तविडम्बनम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सः—वही; भवान्—आप; अरविन्द-अक्षः—कमल-नेत्र भगवान्; दीनानाम्—उनके, जो कि दुखी हैं; ईश—शासक; मानिनाम्—मानने वालों के; धत्ते—अपने ऊपर लेते हैं; अनुशासनम्—आदेश; भूमन्—हे सर्वव्यापी; तत्—वह; अत्यन्त—बहुत बड़ा; विडम्बनम्—आडम्बर, धोखा।

वही कमल-नेत्र भगवान् आप उन दीन मूर्खों के आदेशों को स्वीकार करते हैं, जो अपने आपको शासक मान बैठते हैं, जबकि हे सर्वव्यापी, यह आपके पक्ष में महान् आडम्बर है।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं "[युधिष्ठिर ने कहा] : हे कृष्ण, आप अनन्त हैं और यद्यपि हम अपने आपको कभी कभी संसार का राजा तथा शासक मानते हैं और अपने तुच्छ पदों पर इतराने लगते हैं, किन्तु हमारे हृदय अत्यन्त निर्धन हैं। वस्तुत: हम आपके द्वारा दण्डित किये जाने के योग्य हैं। किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि आप हमें दण्डित करने की बजाय अत्यन्त कृपापूर्वक हमारे आदेशों को मान कर उनका समुचित ढंग से निर्वहन करते हैं। अन्य लोगों को अत्यन्त आश्चर्य होता है कि आप एक सामान्य मनुष्य की भूमिका निभा सकते हैं, किन्तु हम समझते हैं कि आप ये सारे कार्य एक नट (नाटक के कलाकार) की भाँति करते हैं।"

न ह्येकस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ।
कर्मभिर्वर्धते तेजो ह्रसते च यथा रवेः ॥ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; एकस्य—एक का; अद्वितीयस्य—अद्वितीय का; ब्रह्मणः—ब्रह्म; परम-आत्मनः—परमात्मा; कर्मभिः—कर्मों से; वर्धते—बढ़ता है; तेजः—बल, तेज; ह्रसते—घटता है; च—तथा; यथा—जिस तरह; रवेः—सूर्य का।

किन्तु वस्तुतः परम सत्य, परमात्मा, अद्वितीय आदि पुरुष का तेज उनके कर्मों से न तो किसी प्रकार बढ़ता है, न घटता है, जिस प्रकार सूर्य का तेज उसकी गति से घटता-बढ़ता नहीं है।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद अपनी पुस्तक *श्रीकृष्ण* में लिखते हैं "[राजा युधिष्ठिर ने कहा] आपकी वास्तविक स्थिति सदैव उच्चस्थ है, ठीक सूर्य के समान, जो अपने उदय और अस्त होते समय एक ही तापमान पर बना रहता है। यद्यपि उदय होते और अस्तमान सूर्य के बीच तापमान में हम अन्तर अनुभव करते हैं तथापि सूर्य का तापमान कभी बदलता नहीं। आप सदैव दिव्यरूप से सम अवस्था में रहते हैं, अत: आप भौतिक कार्यकलापों की किसी भी परिस्थिति से प्रसन्न अथवा बेचैन नहीं होते। आप

परब्रह्म, भगवान् हैं और आपके लिए कोई सपेक्षता नहीं होती हैं।''

श्रील श्रीधर स्वामी भी वैदिक मंत्रों में से ऐसा ही कथन उद्धृत करते हैं *न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्* (शतपथ ब्राह्मण १.७.२.२८, तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१२.९.७ तथा बृहदारण्यक उपनिषद् ..२३)—वे अपने कर्मों से न तो बढ़ ाते हैं, न ही घटाते हैं। जैसाकि यहाँ पर राजा युधिष्ठिर ने बतलाया है, भगवान् अद्वय हैं। उनकी समानता करने वाला कोई अन्य जीव नहीं है और यह तो उनकी अहैतुकी कृपा ही है कि वे महाराज युधिष्ठिर जैसे अपने शुद्ध भक्त के आदेशों को मानने के लिए तैयार हो जाते हैं। जब वे अपने शरणागत भक्तों पर अपनी अहैतुकी कृपा प्रदर्शित करते हैं, तो निश्चित ही इससे भगवान् के पद में कोई कमी नहीं आती।

न वै तेऽजित भक्तानां ममाहमिति माधव ।
त्वं तवेति च नानाधीः पशूनामिव वैकृती ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वै—निस्सन्देह; ते—तुम्हारा; अजित—हे अजेय; भक्तानाम्—भक्तों के; मम अहम् इति—''मेरा तथा मैं''; माधव—हे कृष्ण; त्वम् तव इति—''तुम और तुम्हारा''; च—तथा; नाना—अन्तरों की; धीः—प्रवृत्ति; पशूनाम्—पशुओं की; इव—मानो; वैकृती—विकृत।.

हे अजित माधव, आपके भक्त तक ''मैं तथा मेरा'' और ''तुम तथा तुम्हारा'' में कोई अन्तर नहीं मानते, क्योंकि यह तो पशुओं की विकृत प्रवृत्ति है।

तात्पर्य : एक सामान्य व्यक्ति सोचता है ''मैं इतना सुन्दर, बुद्धिमान तथा धनी हूँ कि सारे लोग मेरी सेवा करें और वही करें जो मैं चाहूँ। मैं किसी दूसरे की आज्ञा क्यों मानूँ?'' यह दर्पपूर्ण अलगाववादी प्रवृत्ति पशुओं में भी पाई जाती है, जो श्रेष्ठता के लिए एक-दूसरे से लड़ते रहते हैं। किन्तु उच्चस्थ भक्त के मन में ऐसी प्रवृत्ति का स्पष्टतया अभाव रहता है और सर्वज्ञ तथा दिव्य भगवान् में यह प्रवृत्ति निश्चित रूप से अनुपस्थित रहती है।

श्रीशुक उवाच
इत्युक्त्वा यज्ञिये काले वव्रे युक्तान्स ऋत्विजः ।
कृष्णानुमोदितः पार्थो ब्राह्मणान्ब्रह्मवादिनः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कह कर; यज्ञिये—यज्ञ के अनुकूल; काले—समय पर; वव्रे—चुना; युक्तान्—उपयुक्त; सः—उसने; ऋत्विजः—यज्ञ कराने वाले पुरोहित; कृष्ण—कृष्ण द्वारा; अनुमोदितः—स्वीकृत; पार्थः—पृथा-पुत्र (युधिष्ठिर) ने; ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों को; ब्रह्म—वेदों के; वादिनः—कुशल विद्वान।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : यह कह कर राजा युधिष्ठिर ने तब तक प्रतीक्षा की जब तक यज्ञ का उपयुक्त समय निकट नहीं आ गया। तब उन्होंने भगवान् कृष्ण की अनुमति से यज्ञ कराने के लिए उन उपयुक्त पुरोहितों का चुनाव किया, जो कुशल विद्वान थे।

तात्पर्य : *भागवत* के महान् टीकाकार श्रीधर स्वामी की व्याख्या है कि यहाँ पर उल्लिखित यज्ञ का उपयुक्त समय वसन्त था।

द्वैपायनो भरद्वाजः सुमन्तुर्गोतमोऽसितः ।
वसिष्ठश्च्यवनः कण्वो मैत्रेयः कवषस्त्रितः ॥ ७॥
विश्वामित्रो वामदेवः सुमतिर्जैमिनिः क्रतुः ।
पैलः पराशरो गर्गो वैशम्पायन एव च ॥ ८॥
अथर्वा कश्यपो धौम्यो रामो भार्गव आसुरिः ।
वीतिहोत्रो मधुच्छन्दा वीरसेनोऽकृतव्रणः ॥ ९॥

शब्दार्थ

द्वैपायनः भरद्वाजः—द्वैपायन (व्यासदेव) तथा भरद्वाज; सुमन्तुः गोतमः असितः—सुमन्तु, गोतम तथा असित; वसिष्ठः च्यवनः कण्वः—वशिष्ठ, च्यवन तथा कण्व; मैत्रेयः कवषः त्रितः—मैत्रेय, कवष तथा त्रित; विश्वामित्रः वामदेवः—विश्वामित्र तथा वामदेव; सुमतिः जैमिनिः क्रतुः—सुमति, जैमिनि तथा क्रतु; पैलः पराशरः गर्गः—पैल, पराशर तथा गर्ग; वैशम्पायनः—वैशम्पायन; एव च—भी; अथर्वा कश्यपः धौम्यः—अथर्वा, कश्यप तथा धौम्य; रामः भार्गवः—भृगुवंशी परशुराम; आसुरिः—आसुरि; वीतिहोत्रः मधुच्छन्दाः—वीतिहोत्र तथा मधुच्छन्दा; वीरसेनः अकृतव्रणः—वीरसेन तथा अकृतव्रणः।

उन्होंने कृष्णद्वैपायन, भरद्वाज, सुमन्त, गोतम तथा असित के साथ ही वसिष्ठ, च्यवन, कण्व, मैत्रेय, कवष तथा त्रित को चुना। उन्होंने विश्वामित्र, वामदेव, सुमति, जैमिनि, क्रतु, पैल तथा पराशर एवं गर्ग, वैशम्पायन, अथर्वा, कश्यप, धौम्य, भृगुवंशी परशुराम, आसुरि, वीतिहोत्र, मधुच्छन्दा, वीरसेन तथा अकृतव्रण को भी चुना।

तात्पर्य : राजा युधिष्ठिर ने इन उच्च ब्राह्मणों को पुरोहितों, सलाहकारों इत्यादि विविध पदों पर कार्य करने के लिए आमंत्रित किया।

उपहूतास्तथा चान्ये द्रोणभीष्मकृपादयः ।
धृतराष्ट्रः सहसुतो विदुरश्च महामतिः ॥ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा यज्ञदिदृक्षवः ।

तत्रेयुः सर्वराजानो राज्ञां प्रकृतयो नृप ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

उपहूताः—आमंत्रित; तथा—भी; च—और; अन्ये—अन्य; द्रोण-भीष्म-कृप-आदयः—द्रोण, भीष्म, कृप इत्यादि; धृतराष्ट्रः—धृतराष्ट्र; सह-सुतः—पुत्रों सहित; विदुरः—विदुर; च—तथा; महा-मतिः—अत्यन्त बुद्धिमान; ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राः—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रगण; यज्ञ—यज्ञ; दिदृक्षवः—देखने के लिए उत्सुक; तत्र—वहाँ; ईयुः—आये; सर्व—सारे; राजानः—राजा; राज्ञाम्—राजाओं के; प्रकृतयः—दल-बल सहित; नृप—हे राजन्।.

हे राजन्, जिन अन्य लोगों को आमंत्रित किया गया था उनमें द्रोण, भीष्म, कृप, पुत्रों सहित धृतराष्ट्र, महामति विदुर तथा यज्ञ देखने के लिए उत्सुक अन्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सम्मिलित थे। हाँ, सारे राजा दल-बल सहित वहाँ पधारे थे।

ततस्ते देवयजनं ब्राह्मणाः स्वर्णलाङ्गलैः ।
कृष्ट्वा तत्र यथाम्नायं दीक्षयां चक्रिरे नृपम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; ते—उन; देव-यजनम्—देवताओं के पूजा-स्थल को; ब्राह्मणाः—ब्राह्मणों ने; स्वर्ण—सोने के; लाङ्गलैः—हलों से; कृष्ट्वा—जोत कर; तत्र—वहाँ; यथा-आम्नायम्—प्रामाणिक अधिकारियों के अनुसार; दीक्षयाम् चक्रिरे—दीक्षा दी; नृपम्—राजाओं को।.

तत्पश्चात् ब्राह्मण पुरोहितों ने यज्ञस्थली की सोने के हल से जुताई की और प्रामाणिक विद्वानों द्वारा नियत प्रथाओं के अनुसार यज्ञ के लिए राजा युधिष्ठिर को दीक्षा दी।

हैमाः किलोपकरणा वरुणस्य यथा पुरा ।
इन्द्रादयो लोकपाला विरिञ्चिभवसंयुताः ।
सगणाः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः ॥ १३ ॥
मुनयो यक्षरक्षांसि खगकिन्नरचारणाः ।
राजानश्च समाहूता राजपत्न्यश्च सर्वशः ॥ १ ॥
राजसूयं समीयुः स्म राज्ञः पाण्डुसुतस्य वै ।
मेनिरे कृष्णभक्तस्य सूपपन्नमविस्मिताः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

हैमाः—सोने के बने; किल—निस्सन्देह; उपकरणाः—बर्तन; वरुणस्य—वरुण के; यथा—जिस तरह; पुरा—प्राचीनकाल में; इन्द्र-आदयः—इन्द्र इत्यादि; लोक-पालाः—लोकों के शासनकर्ता; विरिञ्चि-भव-संयुताः—ब्रह्मातथा शिव समेत; स-गणाः—उनके सेवकों सहित; सिद्ध-गन्धर्वाः—सिद्ध तथा गन्धर्वगण; विद्याधर—विद्याधर; महा-उरगाः—तथा महान् सर्पगण; मुनयः—मुनिगण; यक्ष-रक्षांसि—यक्ष तथा राक्षसगण; खग-किन्नर-चारणाः—दैवी पक्षी, किन्नर तथा चारण; राजानः—राजा; च—तथा; समाहूताः—बुलाये गये; राज—राजाओं की; पत्न्यः—पत्नियाँ; च—भी; सर्वशः—सभी स्थानों से; राजसूयम्—राजसूय यज्ञ में; समीयुः स्म—आईं; राज्ञः—राजा के; पाण्डु-सुतस्य—पाण्डु के पुत्रों के; वै—निस्सन्देह; मेनिरे—विचार किया; कृष्ण-भक्तस्य—कृष्णभक्त के लिए; सु-उपपन्नम्—नितान्त उपयुक्त; अविस्मिताः—चकित नहीं।.

यज्ञ के निमित्त पात्र सोने के बने थे जिस तरह कि प्राचीनकाल में भगवान् वरुण द्वारा

सम्पन्न हुए यज्ञ में थे। इन्द्र, ब्रह्मा, शिव और अनेक लोकपाल, सिद्ध तथा गन्धर्व एवं उनके पार्षद, विद्याधर, महान् सर्प, मुनि, यक्ष, राक्षस, दैवी पक्षी, किन्नर, चारण तथा पार्थिव राजा—सभी को आमंत्रित किया गया था और वे पाण्डु-पुत्र राजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सभी दिशाओं से आये भी थे। वे यज्ञ के ऐश्वर्य को देख कर रंचमात्र भी चकित नहीं हुए, क्योंकि कृष्णभक्त के लिए यही सर्वथा उपयुक्त था।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर विश्व-भर में महान् कृष्णभक्त के रूप में विख्यात थे, अतएव उनके लिए कुछ भी असम्भव नहीं था।

अयाजयन्महाराजं याजका देववर्चसः ।
राजसूयेन विधिवत्प्रचेतसमिवामराः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अयाजयन्—यज्ञ सम्पन्न किया; महा-राजम्—महान् राजा के लिए; याजकाः—यज्ञ-पुरोहितों ने; देव—देवताओं के; वर्चसः—बलशाली; राजसूयेन—राजसूय द्वारा; विधि-वत्—वेदों के आदेशानुसार; प्रचेतसम्—वरुण को; इव—जिस तरह; अमराः—देवताओं ने।

देवताओं के सदृश शक्तिसम्पन्न पुरोहितों ने वैदिक आदेशों के अनुसार राजा युधिष्ठिर के लिए उसी तरह राजसूय यज्ञ सम्पादित किया जिस तरह पूर्वकाल में देवताओं ने वरुण के लिए किया था।

सूत्येऽहन्यवनीपालो याजकान्सदसस्पतीन् ।
अपूजयन्महाभागान्यथावत्सुसमाहितः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सूत्ये—सोमरस निकालने के लिए; अहनि—दिन में; अवनी-पालः—राजा ने; याजकान्—यज्ञ कराने वालों की; सदसः—सभा के; पतीन्—प्रमुखों की; अपूजयत्—पूजा; महा-भागान्—महान्; यथावत्—उचित रीति से; सु-समाहितः—मनोयोग से।

सोमरस निकालने के दिन राजा युधिष्ठिर ने अच्छी तरह तथा बड़े ही ध्यानपूर्वक पुरोहितों की एवं सभा के श्रेष्ठ पुरुषों की पूजा की।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद *श्रीकृष्ण* में लिखते हैं—"वैदिक पद्धति के अनुसार जब भी यज्ञ की व्यवस्था की जाती है तब यज्ञ में भाग लेने वाले सदस्यों को *सोम* नामक पौधे का रस पिलाया जाता है। सोमरस एक प्रकार का प्राणदायक पेय है। सोमरस निकालने के दिन महाराज युधिष्ठिर ने उस विशिष्ट पुजारी का सादर स्वागत किया जिसे यज्ञ सम्बन्धी विधियों की औपचारिक त्रुटियाँ ढूँढ़

निकालने के लिए लगाया गया था। भाव यह है कि वैदिक मंत्रों का सही ढंग से उच्चारण किया जाना चाहिए और सही स्वराघात के साथ जाप किया जाना चाहिए। यदि इस कार्य में लगे पुजारीगण कोई त्रुटि करते हैं, तो जाँच करने वाला या निर्णायक पुजारी तुरन्त सुधार कर देता है, जिससे नियत कर्मकाण्ड सही ढंग से सम्पन्न हो जाता है। जब तक यज्ञ को सही ढंग से सम्पन्न नहीं किया जाता तब तक यज्ञ से वांछित फल प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस कलिकाल में ऐसा कोई विद्वान ब्राह्मण या पुरोहित उपलब्ध नहीं इसीलिए ऐसे यज्ञ करने की मनाही है। शास्त्रों में जिस एकमात्र यज्ञ की संस्तुति हुई है, वह है *हरे कृष्ण मन्त्र* का कीर्तन।''

सदस्याछ्यार्हणार्हं वै विमृशन्तः सभासदः ।
नाध्यगच्छन्ननैकान्त्यात्सहदेवस्तदाब्रवीत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सदस्य—सभा का सदस्य; अछ्य—प्रथम; अर्हण—पूजा; अर्हम्—पात्र; वै—निस्सन्देह; विमृशन्तः—विचार-विमर्श करते हुए; सभा—सभा में; सदः—आसीन; न अध्यगच्छन्—किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाये; अनैक-अन्त्यात्—बड़ी संख्या होने से (योग्य पात्रों के); सहदेवः—महाराज युधिष्ठिर का छोटा भाई सहदेव; तदा—तब; अब्रवीत्—बोला।

तब सभासदों ने विचार-विमर्श किया कि उनमें से किसकी सबसे पहले पूजा की जाय। किन्तु क्योंकि अनेक व्यक्ति इस सम्मान के योग्य थे अतः वे निश्चय कर पाने में असमर्थ थे। अन्त में सहदेव बोल पड़े।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''दूसरी महत्त्वपूर्ण विधि है कि ऐसे यज्ञ-उत्सव की सभा में अत्यन्त योग्य महापुरुष की सबसे पहले पूजा की जाय। यह विशेष उत्सव *अग्र-पूजा* कहलाता है। *अग्र* का अर्थ है ''पहला'' और *पूजा* का अर्थ है ''पूजा।'' यह अग्रपूजा राष्ट्रपति के चुनाव की तरह है। उस यज्ञ-उत्सव में सारे सदस्य अत्यन्त सुयोग्य थे। अग्रपूजा के लिए किसी ने किसी का नाम प्रस्तावित किया और किसी ने अन्य किसी का।''

जैसाकि महान् आचार्य जीव गोस्वामी इंगित करते हैं, इस अध्याय का श्लोक १५ बतलाता है कि सभा के सदस्य यज्ञ के ऐश्वर्य को देख कर चकित नहीं थे क्योंकि वे जानते थे कि राजा युधिष्ठिर कृष्णभक्त थे। तो भी श्लोक १८ बतलाता है कि सभा अग्रपूजा के लिए सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति का चुनाव नहीं कर सकी। इससे सूचित होता है कि वहाँ पर उपस्थित कई ब्राह्मण स्वरूपसिद्ध अध्यात्मवादी नहीं थे अपितु वे रूढ़िवादी ब्राह्मण थे, जो वैदिक-ज्ञान के परम निर्णय के प्रति अनिश्चित

थे।

इसी तरह आचार्य विश्वनाथ टीका करते हैं कि सभा के अस्थिरचित्त वाले सदस्य अल्पज्ञ थे, वे ब्रह्मा, शिव तथा द्वैपायन व्यासदेव जैसे महापुरुष नहीं थे, जो सोच रहे थे, ''चूँकि कोई हमारा मत नहीं जानना चाहता तो हम कुछ क्यों कहें? यही नहीं, उनमें सहदेव हैं, जो सभी परिस्थितियों का विश्लेषण करने में अपनी तीक्ष्ण सलाह के लिए विख्यात हैं। वे अग्रपूजा के लिए व्यक्ति का चुनाव करने में सहायता दे सकते हैं। यदि वे किसी कारणवश ऐसा नहीं करते या परिस्थिति को समझ नहीं सकते तभी बिना किसी के पूछे जाने पर हम बोलेंगे।'' इस तरह अपने मन को स्थिर करके सारे महापुरुष मौन रहे। उस सभा में जो हुआ उसे समझने के लिए श्रील विश्वनाथ यही जानकारी देते हैं।

अर्हति ह्यच्युतः श्रैष्ठ्यं भगवान्सात्वतां पतिः ।
एष वै देवताः सर्वा देशकालधनादयः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अर्हति—योग्य है; हि—निस्सन्देह; अच्युतः—अच्युत कृष्ण; श्रैष्ठ्यम्—श्रेष्ठ पद; भगवान्—भगवान्; सात्वताम्—यादवों के; पतिः—प्रधान; एषः—वह; वै—निश्चय ही; देवताः—देवतागण; सर्वाः—सभी; देश—स्थान (यज्ञ के लिए); काल—समय; धन—भौतिक साज-सामान; आदयः—इत्यादि।

[सहदेव ने कहा]: निश्चय ही भगवान् अच्युत तथा यादवों के प्रमुख ही इस सर्वोच्च पद के योग्य हैं। सच तो यह है कि वे यज्ञ में पूजे जाने वाले समस्त देवताओं से तथा साथ ही पूजा के पवित्र स्थान, समय तथा साज-सामान जैसे पक्षों से समन्वित हैं।

यदात्मकमिदं विश्वं क्रतवश्च यदात्मकाः ।
अग्निराहुतयो मन्त्रा साङ्ख्यं योगश्च यत्परः ॥ २० ॥
एक एवाद्वितीयोऽसावैतदात्म्यमिदं जगत् ।
आत्मनात्माश्रयः सभ्याः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यत्-आत्मकम्—जिस पर टिका; इदम्—यह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; क्रतवः—बड़े बड़े यज्ञों का सम्पन्न किया जाना; च—तथा; यत्-आत्मकाः—जिस पर टिका; अग्निः—पवित्र अग्नि; आहुतयः—आहुतियाँ; मन्त्राः—मंत्र; साङ्ख्यम्—दार्शनिक खोज का सिद्धान्त; योगः—ध्यान की कला; च—तथा; यत्—जिस पर; परः—लक्षित; एकः—एक; एव—अकेला; अद्वितीयः—अद्वितीय; असौ—वह; ऐतत्-आत्म्यम्—अपने माध्यम से (अर्थात् अपनी शक्तियों से); इदम्—यह; जगत्—संसार; आत्मना—अपने द्वारा (अर्थात् शक्तियों से); आत्म—स्वयं ही; आश्रयः—उनका आश्रय पाकर; सभ्याः—हे सभा के सदस्यो; सृजति—उत्पन्न करता है; अवति—पालता है; हन्ति—तथा संहार करता है; अजः—अजन्मा।

यह समस्त ब्रह्माण्ड उन्हीं पर टिका है और वैसे ही महान् यज्ञों का सम्पन्न किया जाना,

उनकी पवित्र अग्नियाँ, आहुतियाँ तथा मंत्र भी उन्हीं पर टिकी हैं। सांख्य तथा योग दोनों ही उन अद्वितीय को अपना लक्ष्य बनाते हैं। हे सभासदो, वह अजन्मा भगवान् एकमात्र अपने पर निर्भर रहते हुए इस जगत को अपनी निजी शक्तियों से उत्पन्न करता है, पालता और विनष्ट करता है। इस तरह इस ब्रह्माण्ड का अस्तित्व एकमात्र उन्हीं पर निर्भर करता है।

विविधानीह कर्माणि जनयन्यदवेक्षया ।
ईहते यदयं सर्वः श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ॥ २२॥

शब्दार्थ

विविधानि—विविध; इह—इस संसार में; कर्माणि—भौतिक कर्म; जनयन्—उत्पन्न करते हुए; यत्—जिसके द्वारा; अवेक्षया—कृपा; ईहते—प्रयत्न करते हैं; यत्—जो; अयम्—यह संसार; सर्वः—सारा; श्रेयः—आदर्शों के लिए; धर्म-आदि—धार्मिकता इत्यादि; लक्षणम्—लक्षण।

वे इस जगत में विविध कर्मों को उत्पन्न करते हैं और इस तरह उनकी ही कृपा से सारा संसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के आदर्शों के लिए प्रयत्नशील रहता है।

तस्मात्कृष्णाय महते दीयतां परमार्हणम् ।
एवं चेत्सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेत् ॥ २३॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; कृष्णाय—कृष्ण को; महते—परम; दीयताम्—दिया जाना चाहिए; परम—सर्वोच्च; अर्हणम्—सम्मान; एवम्—इस प्रकार; चेत्—यदि; सर्व—समस्त; भूतानाम्—जीवों का; आत्मनः—अपने; च—तथा; अर्हणम्—आदर करना; भवेत्—होगा।

इसलिए हमें चाहिए कि भगवान् कृष्ण को सर्वोच्च सम्मान दें। यदि हम ऐसा करते हैं, तो हम सारे जीवों का सम्मान तो करेंगे ही, साथ ही अपने आपको भी सम्मान देंगे।

सर्वभूतात्मभूताय कृष्णायानन्यदर्शिने ।
देयं शान्ताय पूर्णाय दत्तस्यानन्त्यमिच्छता ॥ २॥

शब्दार्थ

सर्व—सारे; भूत—जीवों का; आत्म—आत्मा; भूताय—से युक्त; कृष्णाय—कृष्ण को; अनन्य—कभी भी पृथक् के रूप में नहीं; दर्शिने—द्रष्टा; देयम्—(मान) दिया जाय; शान्ताय—शान्त रहने वाले को; पूर्णाय—पूर्ण को; दत्तस्य—दिये हुए का; आनन्त्यम्—असीम वृद्धि; इच्छता—चाहने वाले के द्वारा।

जो भी व्यक्ति यह चाहता हो कि दिये गये सम्मान का असीम प्रतिदान मिले उसे कृष्ण का सम्मान करना चाहिए जो पूर्णतया शान्त हैं, समस्त जीवों की पूर्ण आत्मा भगवान् हैं और जो किसी भी वस्तु को अपने से पृथक् नहीं मानते।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद इस प्रकार लिखते हैं, "[सहदेव ने कहा] देवियो और सज्जनो! श्रीकृष्ण के विषय में चर्चा करना अनावश्यक है, क्योंकि आप सभी श्रेष्ठजन परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण को जानते हैं। श्रीकृष्ण के लिए शरीर एवं आत्मा, शक्ति एवं शक्तिमान, अथवा शरीर के विभिन्न अंगों के बीच कोई विशेष भौतिक अन्तर नहीं है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण का ही अंश है, अतः कृष्ण तथा अनेक जीवों में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं है। प्रत्येक वस्तु कृष्ण की भौतिक एवं दिव्य शक्तियों से उद्भूत है। श्रीकृष्ण की शक्तियाँ अग्नि की उष्मा तथा प्रकाश के समान हैं। उष्मा एवं प्रकाश तथा स्वयं अग्नि के गुण में कोई अन्तर नहीं होता, अतएव महायज्ञ की अग्रपूजा कृष्ण को अर्पित करनी चाहिए और किसी भी व्यक्ति को इससे असहमत नहीं होना चाहिए—परम आत्मा के रूप में श्रीकृष्ण प्रत्येक जीवात्मा में विद्यमान हैं और यदि हम उन्हें सन्तुष्ट कर सकते हैं, तो स्वयं ही प्रत्येक जीवात्मा सन्तुष्ट हो जायेगा।"

इत्युक्त्वा सहदेवोऽभूत्तूष्णीं कृष्णानुभाववित् ।
तच्छ्रुत्वा तुष्टुवुः सर्वे साधु साध्विति सत्तमाः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कह कर; सहदेवः—सहदेव; अभूत्—हो गये; तूष्णीम्—मौन; कृष्ण—कृष्ण का; अनुभाव—प्रभाव; वित्—अच्छी तरह जानने वाला; तत्—यह; श्रुत्वा—सुन कर; तुष्टुवुः—प्रशंसा की; सर्वे—समस्त; साधु साधु इति—'बहुत अच्छा' 'बहुत अच्छा'; सत्—सन्त-पुरुषों में; तमाः—सर्वश्रेष्ठ।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : यह कह कर, भगवान् कृष्ण की शक्तियों को समझने वाले सहदेव मौन हो गये। और उनके शब्द सुनकर वहाँ पर उपस्थित सभी सज्जनों ने "बहुत अच्छा, बहुत अच्छा" कह कर उन्हें बधाई दी।

श्रुत्वा द्विजेरितं राजा ज्ञात्वा हार्दं सभासदाम् ।
समर्हयद्धृषीकेशं प्रीतः प्रणयविह्वलः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुन कर; द्विज—ब्राह्मणों द्वारा; ईरितम्—कहा गया; राजा—राजा युधिष्ठिर; ज्ञात्वा—जान कर; हार्दम्—मनोभाव; सभा-सदाम्—सभा के सदस्यों के; समर्हयत्—अच्छी तरह पूजा की; हृषीकेशम्—भगवान् कृष्ण की; प्रीतः—प्रसन्न; प्रणय—प्रेम से; विह्वलः—विभोर।

राजा ब्राह्मणों की इस घोषणा से अत्यन्त प्रसन्न हुए क्योंकि वे इससे सम्पूर्ण सभा की मनोदशा को समझ गये। उन्होंने प्रेम से विभोर होकर इन्द्रियों के स्वामी भगवान् कृष्ण की पूजा

की।

तत्पादाववनिज्याप: शिरसा लोकपावनी: ।
सभार्य: सानुजामात्य: सकुटुम्बो वहन्मुदा ॥ २७॥
वासोभि: पीतकौषेयैर्भूषणैश्च महाधनै: ।
अर्हयित्वाश्रुपूर्णाक्षो नाशकत्समवेक्षितुम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसको; पादौ—चरणों को; अवनिज्य—धोकर; आप:—जल; शिरसा—अपने सिर पर; लोक—संसार को; पावनी:—पवित्र करने वाली; स—सहित; भार्य:—अपनी पत्नी; स—सहित; अनुज—अपने भाइयों; अमात्य:—तथा अपने मंत्रियों; स—सहित; कुटुम्ब:—अपने परिवार; वहन्—ले जाते हुए; मुदा—हर्षपूर्वक; वासोभि:—वस्त्रों सहित; पीत—पीले; कौषेयै:—रेशमी; भूषणै:—गहनों सहित; च—तथा; महा-धनै:—मूल्यवान; अर्हयित्वा—सम्मान करके; अश्रु—आँसुओं से; पूर्ण—भरे; अक्ष:—नेत्रों से; न अशकत्—वह असमर्थ था; समवेक्षितुम्—उनकी ओर ताकने में।

भगवान् कृष्ण के चरण पखारने के बाद महाराज युधिष्ठिर ने प्रसन्नतापूर्वक उस जल को अपने सिर पर छिड़का और उसके बाद अपनी पत्नी, भाइयों, अन्य पारिवारिक जनों तथा मंत्रियों के सिरों पर छिड़का। वह जल सारे संसार को पवित्र करने वाला है। जब उन्होंने पीले रेशमी वस्त्रों तथा बहुमूल्य रत्नजटित आभूषणों की भेंटों से भगवान् को सम्मानित किया, तो राजा के अश्रुपूरित नेत्र भगवान् को सीधे देख पाने में बाधक बन रहे थे।

इत्थं सभाजितं वीक्ष्य सर्वे प्राञ्जलयो जना: ।
नमो जयेति नेमुस्तं निपेतु: पुष्पवृष्टय: ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; सभाजितम्—सम्मानित हुआ; वीक्ष्य—देख कर; सर्वे—सभी; प्राञ्जलय:—हाथ जोड़े; जना:—लोग; नम:—''आपको नमस्कार''; जय—''जय हो''; इति—इस प्रकार कहते हुए; नेमु:—शीश नवाया; तम्—उसको; निपेतु:—गिरने लगी; पुष्प—फूलों की; वृष्टय:—वर्षा।

कृष्ण को इस तरह सम्मानित होते देखकर वहाँ पर उपस्थित प्राय: सभी लोग सम्मान में अपने हाथ जोड़कर बोल उठे, ''आपको नमस्कार, आपकी जय हो।'' और तब उन्हें शीश नवाया। ऊपर से फूलों की वर्षा होने लगी।

इत्थं निशम्य दमघोषसुत: स्वपीठा-
दुत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्यु: ।
उत्क्षिप्य बाहुमिदमाह सदस्यमर्षी
संश्रावयन्भगवते परुषाण्यभीत: ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; निशम्य—सुन कर; दमघोष-सुतः—दमघोष का पुत्र (शिशुपाल); स्व—अपने; पीठात्—आसन से; उत्थाय—उठ कर; कृष्ण-गुण—भगवान् कृष्ण के गुणों का; वर्णन—वर्णन; जात—उत्पन्न; मन्युः—क्रोध; उत्क्षिप्य—हिलाते हुए; बाहुम्—अपनी भुजाएँ; इदम्—यह; आह—कहा; सदसि—सभा के मध्य; अमर्षी—असहिष्णु; संश्रावयन्—सम्बोधित करते हुए; भगवते—भगवान् पर; परुषाणि—कटु वचन; अभीतः—बिना किसी भय के।

दमघोष का असहिष्णु पुत्र कृष्ण के दिव्यगुणों की प्रशंसा होते सुन कर क्रुद्ध हो उठा। वह अपने आसन से उठ कर खड़ा हो गया और क्रोध से अपने हाथ हिलाते हुए निर्भय होकर सारी सभा के समक्ष भगवान् के विरुद्ध निम्नानुसार कटु शब्द कहने लगा।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''उस सभा में शिशुपाल भी उपस्थित था। अनेक कारणों से वह श्रीकृष्ण का घोर शत्रु मानता था, विशेषकर इसलिए कि श्रीकृष्ण ने विवाहोत्सव से रुक्मिणीदेवी का हरण कर लिया था। इसलिए वह कृष्ण का इतना सम्मान एवं उनके गुणों की प्रशंसा को सहन नहीं कर सका। वह भगवान् की कीर्ति को सुनकर सुखी होने की बजाय अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती उल्लेख करते हैं कि जब सहदेव ने अग्रपूजा के लिए कृष्ण के नाम का प्रस्ताव रखा तो शिशुपाल ने कोई आपत्ति नहीं की क्योंकि वह युधिष्ठिर के यज्ञ का विध्वंस करना चाहता था। यदि शिशुपाल पहले ही कृष्ण के नाम का विरोध करता और कोई अन्य व्यक्ति चुन लिया जाता तब तो यह यज्ञ ठीक से सम्पन्न हो जाता। इसलिए शिशुपाल ने कृष्ण को चुन लिया जाने दिया। उसने पूजा समाप्त होने तक प्रतीक्षा की और तब इस आशा से बोला कि इस प्रकार वह दिखला सकेगा कि यह यज्ञ विध्वंस हो चुका है। इस तरह वह महाराज युधिष्ठिर के प्रयास को नष्ट कर देगा। इस प्रसंग में आचार्य ने 'स्मृति' से निम्नलिखित सन्दर्भ उद्धृत किया है—*अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानां च व्यतिक्रमः* जहाँ अपूज्यों की पूजा होती है, वहाँ असली पूजनीयों की पूजा होना अपराध है। एक अन्य कथन भी है—*प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यापूज्यव्यतिक्रमः* कौन पूज्य है और कौन अपूज्य, इसे ठीक से न समझने से जीवन की प्रगति अवरुद्ध होगी।

ईशो दुरत्ययः काल इति सत्यवती श्रुतिः ।
वृद्धानामपि यद्बुद्धिर्बालवाक्यैर्विभिद्यते ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ईशः—ईश्वर; दुरत्ययः—जिससे बचा न जा सके; कालः—समय; इति—इस प्रकार; सत्य-वती—सच; श्रुतिः—वेद-वाक्य; वृद्धानाम्—गुरुजनों की; अपि—भी; यत्—चूँकि; बुद्धिः—बुद्धि; बाल—बालक के; वाक्यैः—शब्दों से; विभिद्यते—चकरा जाती है।

[शिशुपाल ने कहा] : वेदों का यह कथन कि समय ही सबका अनिवार्य ईश्वर है निस्सन्देह सत्य सिद्ध हुआ है, क्योंकि बुद्धिमान गुरुजनों की बुद्धि निरे बालक के शब्दों से अब चकरा गई है।

यूयं पात्रविदां श्रेष्ठा मा मन्ध्वं बालभाषीतम् ।
सदसस्पतयः सर्वे कृष्णो यत्सम्मतोऽर्हणे ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यूयम्—तुम सभी; पात्र—योग्यजनों के; विदाम्—जानने वालों के; श्रेष्ठाः—सर्वोत्तम; मा मन्ध्वम्—परवाह न करें; बाल—बालक के; भाषितम्—कथनों को; सदसः-पतयः—हे सभा के नायको; सर्वे—सभी; कृष्णः—कृष्ण; यत्—क्योंकि; सम्मतः—चुना हुआ; अर्हणे—सम्मान किये जाने हेतु।

हे सभा-नायको, आप लोग अच्छी तरह जानते हैं कि सम्मान किये जाने के लिए उपयुक्त पात्र कौन है। अतः आप लोग इस बालक के वचनों की परवाह न करें कि वह यह दावा कर रहा है कि कृष्ण पूजा के योग्य हैं।

तपोविद्याव्रतधरान्ज्ञानविध्वस्तकल्मषान् ।
परमऋषीन्ब्रह्मनिष्ठाँल्लोकपालैश्च पूजितान् ॥ ३३ ॥
सदस्पतीनतिक्रम्य गोपालः कुलपांसनः ।
यथा काकः पुरोडाशं सपर्यां कथमर्हति ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तपः—तपस्या; विद्या—वैदिक ज्ञान; व्रत—कठिन व्रत; धरान्—धारण करने वाले; ज्ञान—आध्यात्मिक ज्ञान से; विध्वस्त—उन्मूलित; कल्मषान्—जिनके विकार; परम—सर्वोच्च; ऋषीन्—ऋषियों को; ब्रह्म—परम सत्य के प्रति; निष्ठान्—समर्पित; लोक-पालैः—लोकों के शासकों द्वारा; च—तथा; पूजितान्—पूजित; सदः-पतीन्—सभापतियों को; अतिक्रम्य—लाँघ कर; गोपालः—ग्वाला; कुल—अपने कुल का; पांसनः—कलंक; यथा—जिस तरह; काकः—कौवा; पुरोडाशम्—पवित्र खीर (देवताओं को अर्पित की गई); सपर्याम्—पूजा के; कथम्—कैसे; अर्हति—योग्य हो सकता है।

आप लोग इस सभा के सर्वाधिक उन्नत सदस्यों को—ब्रह्म के प्रति समर्पित तपस्या की शक्ति, दैवी अन्तर्दृष्टि तथा कठोर व्रत में लगे रहने वाले, ज्ञान से पवित्र हुए तथा ब्रह्माण्ड के शासकों द्वारा भी पूजित सर्वोच्च ऋषियों को—कैसे छोड़ सकते हैं? यह ग्वालबाल, जो कि अपने कुल के लिए कलंक है, आप लोगों की पूजा के योग्य कैसे हो सकता है? क्या कौवा पवित्र प्रसाद की खीर खाने का पात्र बन सकता है?

तात्पर्य : महान् टीकाकार श्रीधर स्वामी ने शिशुपाल के शब्दों का विश्लेषण इस प्रकार से किया है—*गोपाल* शब्द का अर्थ न केवल "ग्वाला" होता है अपितु "वेदों तथा पृथ्वी का रक्षक" भी है।

इसी प्रकार *कुल-पांसन* के दो अर्थ हैं। शिशुपाल इस शब्द से ''अपने कुल का कलंक'' कहना चाह रहा था, जो अर्थ इस तरह विग्रह करने से निकलता है, किन्तु इसका विश्लेषण *कु-लपाम् अंसन* के रूप में करने से सर्वथा भिन्न अर्थ निकलता है। *कुलपाम्* उनका सूचक है, जो वेदों के विपरीत कुटिल शब्दों से खिलवाड़ करते हैं। *अंसन* की व्युत्पत्ति *अंसयति* क्रिया से है, जिसका अर्थ है ''नष्ट करने वाला।'' दूसरे शब्दों में वह भगवान् कृष्ण की प्रशंसा इस रूप में कर रहा था:''वह जो सत्य की प्रकृति के बारे में सारे भ्रान्त तथा बेहूदे अनुमानों को दूर कर देता है।'' इसी प्रकार यद्यपि शिशुपाल *यथा अकाक:* द्वारा भगवान् कृष्ण की तुलना कौवे से करना चाह रहा था किन्तु इन शब्दों का भी विग्रह *यथा-काक:* के रूप में किया जा सकता है। उस दशा में, श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *काक* शब्द *क* तथा *आक* के संयोग से बना है, जो भौतिक सुख तथा दुख को सूचित करते हैं। इस तरह भगवान् कृष्ण इस दृष्टि से *अकाक* हैं, क्योंकि वे शुद्ध दिव्य पद पर होने से समस्त भौतिक दुख तथा सुख से परे हैं। अन्त में, शिशुपाल का यह कहना ठीक था कि कृष्ण केवल *पुरोडाश* के ही पात्र न थे, जो छोटे देवों को सोम रस के स्थान पर दिया जाता है वस्तुत: भगवान् कृष्ण हमारे पास की हर वस्तु प्राप्त करने के पात्र हैं, क्योंकि वे हर वस्तु के, जिसमें हम भी सम्मिलित हैं, चरम स्वामी हैं। अत: हमें चाहिए कि हम अपना जीवन उन्हें दें, न कि केवल पुरोडाश की औपचारिक भेंट।

वर्णाश्रमकुलापेत: सर्वधर्मबहिष्कृत: ।
स्वैरवर्ती गुणैर्हीन: सपर्यां कथमर्हति ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

वर्ण—जाति; आश्रम—चार आध्यात्मिक आश्रम; कुल—तथा परिवार से; अपेत:—विहीन; सर्व—सभी; धर्म—धार्मिक कर्तव्य के नियम; बहि:-कृत:—बाहर किया गया; स्वैर—स्वतंत्र रूप से; वर्ती—आचरण करता हुआ; गुणै:—गुणों से; हीन:—रहित; सपर्याम्—पूजा; कथम्—कैसे; अर्हति—योग्य है।

जो वर्ण तथा आश्रम के या पारिवारिक शिष्टाचार के किसी भी सिद्धान्त का पालन नहीं करता, जो सारे धार्मिक कर्तव्यों से बहिष्कृत कर दिया गया है, जो मनमाना आचरण करता है तथा जिसमें कोई सद्गुण नहीं है, भला ऐसा व्यक्ति किस तरह पूजा किये जाने योग्य हो सकता है?

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद की टीका है ''वास्तव में श्रीकृष्ण की न तो कोई जाति है न उसे किसी वृत्तिपरक कर्तव्य का पालन करना पड़ता है। वेदों में यह कहा गया है कि परमेश्वर को एक भी

निर्धारित कर्तव्य नहीं करना पड़ता। उन्हें जो कुछ भी करना होता है, उसे उनकी विभिन्न शक्तियाँ सम्पन्न करती हैं...शिशुपाल ने परोक्ष में यह कहकर कृष्ण की प्रशंसा की कि वे वैदिक आदेश की सीमा के भीतर नहीं रहते। यह सत्य है क्योंकि वे भगवान् हैं। उनके कुछ भी गुण नहीं हैं का अर्थ है कि श्रीकृष्ण के एक भी भौतिक गुण नहीं हैं। क्योंकि वे भगवान् हैं अतएव वे परम्परा या सामाजिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों की परवाह किये बिना स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं।''

ययातिनैषां हि कुलं शप्तं सद्भिर्बहिष्कृतम् ।
वृथापानरतं शश्वत्सपर्यां कथमर्हति ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

ययातिना—ययाति द्वारा; एषाम्—उनका; हि—निस्सन्देह; कुलम्—कुल; शप्तम्—शापित; सद्भिः—शिष्ट लोगों द्वारा; बहिः-कृतम्—निकाला हुआ; वृथा—व्यर्थ; पान—सुरापान; रतम्—लत लगी हुई; शश्वत्—सदैव; सपर्याम्—पूजा के लिए; कथम्—कैसे; अर्हति—वह योग्य है।

ययाति ने इन यादवों के कुल को शाप दिया था, तभी से ये लोग ईमानदार व्यक्तियों द्वारा बहिष्कृत कर दिये गये और इन्हें सुरापान की लत पड़ गई। तब भला कृष्ण पूजा के योग्य कैसे है?

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने शिशुपाल के वचनों का श्लिष्ट अर्थ यह दिखाने के लिए दिया है कि वह किस तरह कृष्ण तथा उनके यदुवंश की अनचाहे प्रशंसा करता रहा, ''यद्यपि यदुवंशियों को ययाति ने शाप दिया था किन्तु महान् सन्तों द्वारा वे इस शाप से मुक्त किये जा चुके थे (बहिष्कृतम्) जिसके फलस्वरूप कार्तवीर्य जैसे पुरुषों द्वारा राज-पद तक ऊपर ले जाये गये थे। इस तरह वे *पान* अर्थात् यदुओं के प्रधान श्रीकृष्ण *वृथा* पूजा के योग्य कैसे हो सकते हैं? उनकी तो ऐश्वर्यमयी पूजा होनी चाहिए।''

ब्रह्मर्षिसेवितान्देशान्हित्वैतेऽब्रह्मवर्चसम् ।
समुद्रं दुर्गमाश्रित्य बाधन्ते दस्यवः प्रजाः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-ऋषि—महान् ब्राह्मण-ऋषियों द्वारा; सेवितान्—सेवित; देशान्—देशों को (यथा मथुरा); हित्वा—त्याग कर; एते—ये (यादवजन); अब्रह्म-वर्चसम्—जहाँ ब्राह्मण नियमों का पालन नहीं किया जाता; समुद्रम्—समुद्र में; दुर्गम्—किले में; आश्रित्य—शरण लेकर; बाधन्ते—बाधा पहुँचाते हैं; दस्यवः—चोर; प्रजाः—जनता को।

इन यादवों ने ब्रह्मर्षियों द्वारा बसाई गई पवित्र भूमि को छोड़ दिया है और समुद्र में एक

किले में जाकर शरण ली है, जहाँ ब्राह्मण-नियमों का पालन नहीं होता। वहाँ ये चोरों की तरह अपनी प्रजा को तंग करते हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्मर्षि-सेवितान् देशान्* (सन्त-पुरुषों द्वारा निवास की जानेवाली पवित्र भूमि) से मथुरा जनपद अभीष्ट है। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं ''शिशुपाल इसलिए बावला हो रहा था, क्योंकि कृष्ण को उस सभा में अग्रपूजा के लिए चुना गया था और वह इतनी लापरवाही से बोल रहा था, मानो उसका सारा सौभाग्य नष्ट हो चुका हो।''

**एवमादीन्यभद्राणि बभाषे नष्टमङ्गलः ।
नोवाच किञ्चिद्भगवान्यथा सिंहः शिवारुतम् ॥ ३८ ॥**

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; आदीनि—और अधिक; अभद्राणि—कटु वचन; बभाषे—बोलता रहा; नष्ट—विनष्ट; मङ्गलः—सौभाग्य; न उवाच—नहीं कहा; किञ्चित्—कुछ भी; भगवान्—भगवान् ने; यथा—जिस तरह; सिंहः—सिंह; शिवा—सियार के; रुतम्—रोदन पर।

[शुकदेव गोस्वामी कहते हैं]: समस्त सौभाग्य से वंचित शिशुपाल ऐसे ही तथा अन्य अपमानसूचक शब्द बोलता रहा, किन्तु भगवान् ने कुछ भी नहीं कहा, जिस तरह सिंह सियार के रोदन की परवाह नहीं करता।

**भगवन्निन्दनं श्रुत्वा दुःसहं तत्सभासदः ।
कर्णौ पिधाय निर्जग्मुः शपन्तश्चेदिपं रुषा ॥ ३९ ॥**

शब्दार्थ

भगवत्—भगवान् की; निन्दनम्—निन्दा, आलोचना; श्रुत्वा—सुन कर; दुःसहम्—असह्य; तत्—वह; सभा-सदः—सभा के सदस्य; कर्णौ—अपने कानों को; पिधाय—मूँद कर; निर्जग्मुः—बाहर चले गये; शपन्तः—कोसते हुए; चेदि-पम्—चेदि के राजा (शिशुपाल) को; रुषा—क्रुद्ध होकर।

भगवान् की ऐसी असह्य निन्दा सुनकर सभा के कई सदस्यों ने अपने कान बंद लिये और गुस्से में चेदि-नरेश को कोसते हुए बाहर चले गये।

**निन्दां भगवतः शृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा ।
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः ॥ ० ॥**

शब्दार्थ

निन्दाम्—निन्दा, आलोचना; भगवतः—भगवान् की; शृण्वन्—सुनते हुए; तत्—उससे; परस्य—श्रद्धावान; जनस्य—पुरुष की; वा—अथवा; ततः—वहाँ से; न अपैति—नहीं चला जाता; यः—जो; सः—वह; अपि—निस्सन्देह; याति—जाता है; अधः—नीचे; सु-कृतात्—अपने पुण्यकर्मों के उत्तम फलों से; च्युतः—गिरा हुआ।.

जिस स्थान पर भगवान् या उनके श्रद्धावान् भक्त की निन्दा होती हो, यदि मनुष्य उस स्थान को तुरन्त छोड़ कर चला नहीं जाता, तो निश्चय ही वह अपने पुण्यकर्मों के फल से वंचित होकर नीचे आ गिरेगा।

ततः पाण्डुसुताः क्रुद्धा मत्स्यकैकयसृञ्जयाः ।
उदायुधाः समुत्तस्थुः शिशुपालजिघांसवः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; पाण्डु-सुताः—पाण्डु के पुत्र; क्रुद्धाः—क्रुद्ध; मत्स्य-कैकय-सृञ्जयाः—मत्स्य, कैकय तथा सृञ्जयगण; उत्-आयुधाः—अपने हथियार उठाये; समुत्तस्थुः—खड़े हो गये; शिशुपाल-जिघांसवः—शिशुपाल को मारने की इच्छा से।.

तब पाण्डु-पुत्र क्रुद्ध हो उठे और मत्स्य, कैकय तथा सृञ्जय वंशों के योद्धाओं के साथ वे अपने अपने स्थानों पर शिशुपाल को मारने के लिए तत्पर हथियार उठाते हुए खड़े हो गये।

ततश्चैद्यस्त्वसम्भ्रान्तो जगृहे खड्गचर्मणी ।
भर्त्सयन्कृष्णपक्षीयान्राज्ञः सदसि भारत ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; चैद्यः—शिशुपाल ने; तु—लेकिन; असम्भ्रान्तः—अडिग; जगृहे—ले लिया; खड्ग—तलवार; चर्मणी—तथा ढाल; भर्त्सयन्—निन्दा करते हुए; कृष्ण—कृष्ण के; पक्षीयान्—पक्ष वाले; राज्ञः—राजा; सदसि—सभा में; भारत—हे भरतवंशी।.

हे भारत, तब शिशुपाल ने किसी की परवाह न करते हुए वहाँ पर जुटे सारे राजाओं के बीच अपनी तलवार तथा ढाल ले ली और वह भगवान् कृष्ण के पक्षघरों का अपमान करने लगा।

तावदुत्थाय भगवान्स्वान्निवार्य स्वयं रुषा ।
शिरः क्षुरान्तचक्रेण जहार पततो रिपोः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तावत्—उस समय; उत्थाय—उठ कर; भगवान्—भगवान् ने; स्वान्—अपने (भक्तों) को; निवार्य—रोक कर; स्वयम्—खुद; रुषा—क्रोध से; शिरः—सिर; क्षुर—तेज; अन्त—धार वाले; चक्रेण—अपने चक्र से; जहार—काट लिया; पततः—आक्रमण करते हुए; रिपोः—अपने शत्रु का।.

उस समय भगवान् उठ खड़े हुए और उन्होंने अपने भक्तों को रोका। फिर उन्होंने क्रुद्ध होकर अपने तेज धार वाले चक्र को चलाया और आक्रमण कर रहे अपने शत्रु का सिर काट दिया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भगवान् के कार्य की व्याख्या इस प्रकार की है : यदि

भगवान् कृष्ण कुछ न करते तो यज्ञशाला में ही विकराल युद्ध हुआ होता और इस तरह सारे यज्ञ में खून बह गया होता और पवित्र वातावरण विनष्ट हो जाता। इसलिए कृष्ण ने अपने प्रिय भक्त युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की रक्षा करने के लिए तुरन्त ही अपने तेज धार वाले चक्र से शिशुपाल का सिर इस तरह काटा कि यज्ञभूमि में रक्त की एक बूँद भी न गिरने पाई।

शब्दः कोलाहलोऽथासीच्छिशुपाले हते महान् ।
तस्यानुयायिनो भूपा दुद्रुवुर्जीवितैषिणः ॥ ॥

शब्दार्थ

शब्दः—ध्वनि; कोलाहलः—हो-हल्ला; अथ—तत्पश्चात्; आसीत्—था; शिशुपाले—शिशुपाल के; हते—मारे जाने पर; महान्—विशाल; तस्य—उसके; अनुयायिनः—अनुगामी; भूपाः—राजागण; दुद्रुवुः—भाग गये; जीवित—अपना जीवन; एषिणः—बचाने की आशा से।

जब इस तरह शिशुपाल मार डाला गया तो भीड़ में से भारी शोर उठने लगा। इस उपद्रव का लाभ उठाकर शिशुपाल के समर्थक कुछ राजा तुरन्त ही अपने प्राणों के भय से सभा छोड़कर भाग गये।

तात्पर्य : उपर्युक्त भावार्थ श्रील प्रभुपाद की पुस्तक *श्रीकृष्ण* से लिया गया है।

चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत् ।
पश्यतां सर्वभूतानामुल्केव भुवि खाच्च्युता ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

चैद्य—शिशुपाल; देह—शरीर से; उत्थितम्—उठी हुई; ज्योतिः—ज्योति, प्रकाश; वासुदेवम्—भगवान् श्रीकृष्ण में; उपाविशत्—प्रविष्ट हुई; पश्यताम्—देखते देखते; सर्व—सभी; भूतानाम्—जीवों के; उल्का—पुच्छतारा; इव—सदृश; भुवि—पृथ्वी में; खात्—आकाश से; च्युता—गिरा हुआ।

शिशुपाल के शरीर से एक तेजोमय प्रकाशपुञ्ज उठा और सबों के देखते देखते वह भगवान् कृष्ण में उसी तरह प्रविष्ट हो गया, जिस तरह आकाश से गिरता हुआ पुच्छल तारा पृथ्वी में समा जाता है।

तात्पर्य : इस सम्बन्ध में आचार्यगण हमें स्मरण दिलाते हैं कि शिशुपाल भगवान् का ही एक नित्य-पार्षद था, जो युद्धरत असुर की भूमिका निभा रहा था। इस तरह अधिकांश दर्शकों को लगा कि शिशुपाल को भगवान् के शारीरिक तेज में लीन होने की निर्विशेष मुक्ति प्राप्त हो गई। वस्तुतः अपने मर्त्य शरीर से मुक्त होने के बाद शिशुपाल अपने स्वामी, वैकुण्ठ के अधिपति, की ओर लौट गया।

अगले श्लोक में इसकी और अधिक व्याख्या हुई है।

जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरब्धया धिया ।
ध्यायंस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

जन्म—जन्मों; **त्रय**—तीन; **अनुगुणित**—तक चलने वाली; **वैर**—शत्रुता; **संरब्धया**—अभिवृद्धि होने से; **धिया**—मनोवृत्ति से; **ध्यायन्**—ध्यान करते हुए; **तत्-मयताम्**—उनसे तादात्म्य; **यातः**—प्राप्त किया; **भावः**—मनोभाव; **हि**—निस्सन्देह; **भव**—पुनर्जन्म का; **कारणम्**—कारण।.

तीन जन्मों से भगवान् कृष्ण के प्रति द्वेष में अभिवृद्धि से शिशुपाल को भगवान् का दिव्यरूप प्राप्त हुआ। दरअसल मनुष्य की चेतना से उसका भावी जन्म निश्चित होता है।

तात्पर्य : शिशुपाल तथा उसका मित्र दन्तवक्र, अध्याय ७८ में कृष्ण द्वारा जिसके वध का वर्णन होगा, पूर्वजन्म में जय तथा विजय नामक वैकुण्ठ के द्वारपाल थे। अपराध होने से चार कुमारों ने उन्हें भौतिक जगत में असुरों के रूप में तीन बार जन्म लेने का शाप दे दिया। प्रथम जन्म में वे हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु हुए, दूसरे जन्म में रावण तथा कुम्भकर्ण बने और तीसरे जन्म में शिशुपाल तथा दन्तवक्र बने। प्रत्येक जन्म में वे भगवान् के प्रति वैर-भाव में लीन रहे और उनके द्वारा मारे गये।

श्रील प्रभुपाद ने शिशुपाल की स्थिति की व्याख्या इस प्रकार की है—"यद्यपि शिशुपाल श्रीकृष्ण का शत्रु बनकर कार्य कर रहा था तथापि वह एक क्षण के लिए भी कृष्णभावनामृत से दूर नहीं था। वह सदैव श्रीकृष्ण के ध्यान में लीन रहता था। अतएव सर्वप्रथम उसे सायुज्य-मुक्ति प्राप्त हुई और अन्ततः साकार सेवा की अपनी मूल-स्थिति को फिर से प्राप्त हो सका। *भगवद्गीता* से इसकी पुष्टि होती है कि यदि मृत्यु के समय व्यक्ति परमेश्वर के ध्यान में मग्न रहता है, तो वह भौतिक शरीर त्यागने के पश्चात् तुरन्त ही भगवद्धाम में प्रवेश करता है।"

श्रीमद्भागवत के तृतीय तथा सातवें स्कन्धों में इस घटना का विस्तृत वर्णन है, जिसमें भगवान् के निजी पार्षदों को शाप मिला था कि वे उनके शत्रु बनकर भौतिक जगत में जन्म लें। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने निम्नलिखित श्लोक (*भागवत* ७.१.७) उद्धृत किया है :

वैरानुबन्धतीव्रेण ध्यानेनाच्युतसात्मताम्।

नीतौ पुनर्हरेः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णुपार्षदौ॥

"भगवान् विष्णु के ये दोनों पार्षद—जय तथा विजय—दीर्घकाल तक शत्रु-भाव बनाये रहे। इस

तरह कृष्ण के विषय में सदैव ध्यान करने से उन्हें भगवद्धाम वापस जाने पर पुनः भगवान् की शरण प्राप्त हुई।''

ऋत्विग्भ्यः ससदस्येभ्यो दक्षिनां विपुलामदात् ।
सर्वान्सम्पूज्य विधिवच्चक्रेऽवभृथमेकराट् ॥ ७॥

शब्दार्थ

ऋत्विग्भ्यः—पुरोहितों को; स-सदस्येभ्यः—सभा के सदस्यों सहित; दक्षिणाम्—दक्षिणा; विपुलाम्—प्रचुर; अदात्—दिया; सर्वान्—सबों को; सम्पूज्य—भलीभाँति पूज कर; विधि-वत्—शास्त्रीय आदेशों के अनुसार; चक्रे—सम्पन्न किया; अवभृथम्—यज्ञ के यजमान की शुद्धि के लिए स्नान तथा यज्ञ पात्रों का प्रक्षालन (यज्ञान्त-स्नान); एक-राट्—सम्राट युधिष्ठिर।

सम्राट युधिष्ठिर ने यज्ञ के पुरोहितों को तथा सभासदों को उदार भाव से उपहार दिये और वेदों में संस्तुत विधि से उन सबका समुचित सम्मान किया। तत्पश्चात् उन्होंने *अवभृथ* स्नान किया।

साधयित्वा क्रतुः राज्ञः कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।
उवास कतिचिन्मासान्सुहृद्भिरभियाचितः ॥ ८॥

शब्दार्थ

साधयित्वा—सम्पन्न करके; क्रतुः—सोम यज्ञ; राज्ञः—राजा का; कृष्णः—कृष्ण ने; योग-ईश्वर—योगशक्ति के स्वामियों के; ईश्वरः—परम स्वामी; उवास—निवास किया; कतिचित्—कुछ; मासान्—महीनों; सु-हृद्भिः—उनके शुभचिन्तकों द्वारा; अभियाचितः—याचना किये गये।

इस प्रकार योग के समस्त ईश्वरों के स्वामी श्रीकृष्ण ने राजा युधिष्ठिर की ओर से इस महान् यज्ञ का सफल समापन करवाया। तत्पश्चात् अपने घनिष्ठ मित्रों के हार्दिक अनुरोध पर वे कुछ महीनों तक वहाँ रुके रहे।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् कृष्ण समस्त योगेश्वरों जैसे कि शिवजी के ईश्वर हैं फिर भी वे राजा युधिष्ठिर के शुद्ध प्रेम के वशीभूत थे। इसलिए भगवान् ने राजा के यज्ञ की सफलतापूर्वक समापान का स्वयं ध्यान रखा। तत्पश्चात् वे इन्द्रप्रस्थ में अपने प्रिय मित्रों के साथ कुछ महीने और टिके रहने के लिए राजी हो गये।

ततोऽनुज्ञाप्य राजानमनिच्छन्तमपीश्वरः ।
ययौ सभार्यः सामात्यः स्वपुरं देवकीसुतः ॥ ९॥

शब्दार्थ

ततः—तब; अनुज्ञाप्य—प्रस्थान के लिए अनुरोध करके; राजानम्—राजा के; अनिच्छन्तम्—न चाहते हुए; अपि—यद्यपि; ईश्वरः—भगवान्; ययौ—चले गये; स-भार्यः—अपनी पत्नियों सहित; स-अमात्यः—अपने मंत्रियों सहित; स्व—अपने; पुरम्—नगर; देवकी-सुतः—देवकी-पुत्र।

तब देवकी-पुत्र भगवान् ने, न चाहते हुए भी, राजा से अनुमति ली और वे अपनी पत्नियों तथा मंत्रियों सहित अपनी राजधानी लौट आये।

वर्णितं तदुपाख्यानं मया ते बहुविस्तरम् ।
वैकुण्ठवासिनोर्जन्म विप्रशापात्पुनः पुनः ॥५०॥

शब्दार्थ

वर्णितम्—बतलाये; तत्—उस; उपाख्यानम्—विवरण को; मया—मेरे द्वारा; ते—तुम्हें; बहु—अधिक; विस्तरम्—विस्तार से; वैकुण्ठ-वासिनोः—ईश्वर के नित्य धाम के दो निवासियों (जय तथा विजय नामक द्वारपालों) के; जन्म—जन्म; विप्र—ब्राह्मणों (चारों कुमारों) के; शापात्—श्राप से; पुनः पुनः—फिर फिर।

मैं पहले ही तुमसे वैकुण्ठ के उन दो वासियों का विस्तार से वर्णन कर चुका हूँ, जिन्हें ब्राह्मणों द्वारा शापित होने से भौतिक जगत में बारम्बार जन्म लेना पड़ा।

राजसूयावभृथ्येन स्नातो राजा युधिष्ठिरः ।
ब्रह्मक्षत्रसभामध्ये शुशुभे सुरराडिव ॥५१॥

शब्दार्थ

राजसूय—राजसूय यज्ञ के; अवभृथ्येन—अन्तिम अवभृथ्य अनुष्ठान द्वारा; स्नातः—नहाया; राजा युधिष्ठिरः—राजा युधिष्ठिर; ब्रह्म-क्षत्र—ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की; सभा—सभा के; मध्ये—मध्य में; शुशुभे—तेजोमय लगा; सुर—देवताओं का; राट्—राजा (इन्द्र); इव—सदृश।

अन्तिम *अवभृथ्य* अनुष्ठान में, जो कि राजसूय यज्ञ के सफल समापन का सूचक था, पवित्र होकर राजा युधिष्ठिर एकत्र ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के बीच इस तरह चमक रहे थे, मानो साक्षात् देवराज इन्द्र हों।

राज्ञा सभाजिताः सर्वे सुरमानवखेचराः ।
कृष्णं क्रतुं च शंसन्तः स्वधामानि ययुर्मुदा ॥५२॥

शब्दार्थ

राज्ञा—राजा द्वारा; सभाजिताः—सम्मानित; सर्वे—सभी; सुर—देवता; मानव—मनुष्य; खे-चराः—तथा आकाश में विचरण करने वाले (उपदेवता तथा असुर); कृष्णम्—कृष्ण को; क्रतुम्—यज्ञ को; च—तथा; शंसन्तः—प्रशंसा करते हुए; स्व—अपने अपने; धामानि—धामों को; ययुः—चले गये; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक।

राजा द्वारा समुचित सम्मान दिये जाकर देवता, मनुष्य तथा मध्यलोक के निवासी प्रसन्नतापूर्वक कृष्ण तथा महान् यज्ञ की प्रशंसा करते हुए अपने अपने लोकों के लिए रवाना हो

गये।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार यहाँ पर *खेचरा:* शब्द *प्रमथों* अर्थात् शिवजी के साथ रहने वाले योगियों का द्योतक है।

दुर्योधनमृते पापं कलिं कुरुकुलामयम् ।
यो न सेहे श्रीयं स्फीतां दृष्ट्वा पाण्डुसुतस्य ताम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

दुर्योधनम्—दुर्योधन को; ऋते—छोड़ कर; पापम्—पापी; कलिम्—कलियुग का शक्त्याविष्ट अंश; कुरु-कुल—कुरुवंश का; आमयम्—रोग; य:—जो; न सेहे—नहीं सहन कर सका; श्रीयम्—ऐश्वर्य को; स्फीताम्—पुष्पित-पल्लवित होते; दृष्ट्वा—देख कर; पाण्डु-सुतस्य—पाण्डु-पुत्र का; ताम्—उस।

पापी दुर्योधन को छोड़ कर (सारे लोग संतुष्ट थे), क्योंकि वह तो साक्षात् कलिकाल था और कुरुवंश का रोग था। वह पाण्डु-पुत्र के वृद्धिमान ऐश्वर्य का देखना सहन नहीं कर सका।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''दुर्योधन स्वभाव से अत्यन्त ईर्ष्यालु था, क्योंकि उसका जीवन पापमय था और वह कुरुवंश में सम्पूर्ण वंश को नष्ट करने के लिए साक्षात् असाध्य रोग के रूप में प्रकट हुआ था।'' श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं कि दुर्योधन शुद्ध धार्मिक सिद्धान्तों से घृणा करता था।

य इदं कीर्तयेद्विष्णोः कर्म चैद्यवधादिकम् ।
राजमोक्षं वितानं च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

य:—जो; इदम्—ये; कीर्तयेत्—कीर्तन करता है; विष्णो:—भगवान् विष्णु के; कर्म—कार्यकलाप; चैद्य-वध—शिशुपाल का वध; आदिकम्—इत्यादि; राज—राजाओं का (जो जरासन्ध द्वारा बन्दी बनाये गये थे); मोक्षम्—मोक्ष; वितानम्—यज्ञ; च—तथा; सर्व—सभी; पापै:—पाप के फलों से; प्रमुच्यते—मुक्त कर दिया जाता है।

जो व्यक्ति भगवान् विष्णु के इन कार्यकलापों को, जिनमें शिशुपाल वध, राजाओं का मुक्त किया जाना तथा राजसूय यज्ञ का निष्पादन सम्मिलित हैं, सुनाता है, वह समस्त पापों से छूट जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''राजसूय यज्ञ में शिशुपाल का उद्धार'' नामक चौहत्तरवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पचहत्तर

दुर्योधन का मानमर्दन

इस अध्याय में राजसूय यज्ञ के भव्य समापन तथा राजा युधिष्ठिर के महल में राजकुमार दुर्योधन के मानमर्दन का वर्णन हुआ है।

महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय उनके अनेक सम्बन्धियों तथा हितैषियों ने आवश्यक सेवाएँ करके उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास किया। जब यज्ञ पूर्ण हो गया, तो राजा ने पुरोहितों, उच्च सभासदों तथा अपने सम्बन्धियों को सुगन्धित चन्दन-लेप, फूल-मालाओं तथा उत्तम वस्त्रों से अलंकृत किया। तत्पश्चात् सारे लोग यमुना नदी के तट पर यज्ञ के बाद स्नान-कृत्य सम्पन्न करने गये, जो यजमान के यज्ञ की अवधि के समापन का सूचक है। इस अन्तिम स्नान के पूर्व पुरुषों तथा स्त्रियों ने जल-क्रीड़ा का आनन्द लिया। सुगन्धित जल तथा अन्य द्रव से छिड़के जाने के कारण द्रौपदी तथा अन्य स्त्रियाँ अत्यन्त सुन्दर लग रही थीं और उनके मुख सलज्ज हास से चमक रहे थे।

जब पुरोहितगण अन्तिम अनुष्ठान सम्पन्न करा चुके, तो राजा तथा उनकी रानी श्रीमती द्रौपदी ने यमुना में स्नान किया। तत्पश्चात् वर्णाश्रम-धर्म के मानने वाले वहाँ पर उपस्थित सबों ने स्नान किया। युधिष्ठिर ने नये वस्त्र पहने और विद्वान ब्राह्मणों, अपने परिवारवालों, मित्रों तथा हितैषियों की यथोचित पूजा की और उन्हें विविध उपहार दिये। तत्पश्चात् सारे अतिथि अपने अपने घरों को विदा हो गये। किन्तु राजा युधिष्ठिर अपने प्रियजनों के आसन्न वियोग से इतने चिन्तित थे कि उन्होंने अपने कई सम्बन्धियों तथा कृष्ण समेत अनेक घनिष्ठ मित्रों को इन्द्रप्रस्थ में कुछ दिन और रुके रहने के लिए बाध्य कर दिया।

राजा युधिष्ठिर का राजमहल मय दानव द्वारा बनाया गया था, जिसने इसे अनेक अद्‌भुत गुणों तथा ऐश्वर्यों से युक्त कर दिया था। जब राजा दुर्योधन ने यह ठाट-बाट देखा, तो वह ईर्ष्या से जलने लगा। एक दिन युधिष्ठिर कृष्ण के साथ अपने सभाभवन में बैठे थे। अपने अनुचरों तथा परिवारजनों के द्वारा सेवित उनकी भव्यता राजा इन्द्र के समान प्रदर्शित हो रही थी। उसी समय दुर्योधन उन्मत्तावस्था में उस सभाभवन में प्रविष्ट हुआ। मयदानव की योग शिल्पकला से मोहग्रस्त दुर्योधन ने ठोस फर्श के कुछ भाग को जल समझ कर अपने वस्त्र उठा लिये और एक स्थान को ठोस फर्श समझ कर वह जल में गिर गया। जब भीमसेन, दरबार की महिलाओं तथा राजकुमारों ने यह देखा, तो सभी हँसने लगे।

यद्यपि महाराज युधिष्ठिर ने उन्हें रोकने का प्रयास किया, किन्तु भगवान् कृष्ण ने इस हँसी को प्रोत्साहित किया। दुर्योधन पूरी तरह क्षुब्ध होकर क्रोधवश सभाभवन से निकल आया और उसने तुरन्त हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान कर दिया।

श्रीराजोवाच
अजातशत्रोस्तम्दृष्ट्वा राजसूयमहोदयम् ।
सर्वे मुमुदिरे ब्रह्मन्नृदेवा ये समागताः ॥ १ ॥
दुर्योधनं वर्जयित्वा राजानः सर्षयः सुराः ।
इति श्रुतं नो भगवंस्तत्र कारणमुच्यताम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा (परीक्षित) ने कहा; अजात-शत्रोः—युधिष्ठिर का, जिसके शत्रु जन्मे ही नहीं; तम्—उसको; दृष्ट्वा—देख कर; राजसूय—राजसूय यज्ञ का; महा—महान्; उदयम्—उत्सव; सर्वे—सभी; मुमुदिरे—प्रसन्न थे; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण (शुकदेव); नृ-देवाः—राजागण; ये—जो; समागताः—एकत्र हुए; दुर्योधनम्—दुर्योधन को; वर्जयित्वा—छोड़ कर, के अतिरिक्त; राजानः—राजा; स—सहित; ऋषयः—ऋषिगण; सुराः—तथा देवतागण; इति—इस प्रकार; श्रुतम्—सुना हुआ; नः—हमारे द्वारा; भगवन्—हे प्रभु; तत्र—उस; कारणम्—कारण को; उच्यताम्—कृपया कहें या बतलायें।

महाराज परीक्षित ने कहा : हे ब्राह्मण, मैंने आपसे जो कुछ सुना उसके अनुसार, एकमात्र दुर्योधन के अतिरिक्त, वहाँ एकत्रित समस्त राजा, ऋषि तथा देवतागण अजातशत्रु राजा के राजसूय यज्ञ के अद्भुत उत्सव को देख कर परम हर्षित थे। हे प्रभु, कृपा करके मुझसे कहें कि ऐसा क्यों हुआ?

श्रीबादरायणिरुवाच
पितामहस्य ते यज्ञे राजसूये महात्मनः ।
बान्धवाः परिचर्यायां तस्यासन्प्रेमबन्धनाः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-बाडरायनिः उवाच—श्री बादरायणि (शुकदेव गोस्वामी) ने कहा; पितामहस्य—दादा के; ते—तुम्हारे; यज्ञे—यज्ञ में; राजसूये—राजसूय; महा-आत्मनः—महात्मा के; बान्धवाः—पारिवारिक जन; परिचर्यायाम्—विनीत सेवा में; तस्य—उसकी; आसन्—स्थित थे; प्रेम—प्रेम से; बन्धनाः—बँधे हुए।

श्री बादरायणि ने कहा : तुम्हारे सन्त सदृश दादा के राजसूय यज्ञ में उनके प्रेम से बँधे हुए उनके पारिवारिक सदस्य उनकी ओर से विनीत सेवा-कार्य में संलग्न थे।

तात्पर्य : राजा युधिष्ठिर ने यज्ञ के अवसर पर किसी भी सम्बन्धी को किसी काम में लगने के लिए बाध्य नहीं किया प्रत्युत वे सब उनके प्रेमवश, स्वेच्छा से ऐसे कार्यों में लगे हुए थे।

भीमो महानसाध्यक्षो धनाध्यक्षः सुयोधनः ।
सहदेवस्तु पूजायां नकुलो द्रव्यसाधने ॥ ॥
गुरुशुश्रूषणे जिष्णुः कृष्णः पादावनेजने ।
परिवेषणे द्रुपदजा कर्णो दाने महामनाः ॥ ५ ॥
युयुधानो विकर्णश्च हार्दिक्यो विदुरादयः ।
बाह्लीकपुत्रा भूर्याद्या ये च सन्तर्दनादयः ॥ ६ ॥
निरूपिता महायज्ञे नानाकर्मसु ते तदा ।
प्रवर्तन्ते स्म राजेन्द्र राज्ञः प्रियचिकीर्षवः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

भीमः—भीम; महानस—रसोई का; अध्यक्षः—निरीक्षक; धन—कोश का; अध्यक्षः—निरीक्षक; सुयोधनः—सुयोधन (दुर्योधन); सहदेवः—सहदेव; तु—और; पूजायाम्—(अतिथियों के आने पर) पूजा करने में; नकुलः—नकुल; द्रव्य—आवश्यक सामग्री; साधने—प्राप्त करने में; गुरु—सम्माननीय गुरुजनों के; शुश्रूषणे—सेवा करने में; जिष्णुः—अर्जुन; कृष्णः—कृष्ण; पाद—पाँव; अवनेजने—धोने में; परिवेषणे—(भोजन) परोसने में; द्रुपद-जा—द्रुपद की पुत्री (द्रौपदी); कर्णः—कर्ण; दाने—दान देने में; महामनाः—उदार; युयुधानः विकर्णः च—युयुधान तथा विकर्ण; हार्दिक्यः विदुर-आदयः—हार्दिक्य (कृतवर्मा), विदुर तथा अन्य; बाह्लीक-पुत्राः—बाह्लीक राजा के पुत्र; भून्-आद्याः—भूरिश्रवा इत्यादि; ये—जो; च—तथा; सन्तर्दन-आदयः—सन्तर्दन तथा अन्य; निरूपिताः—संलग्न; महा—विस्तीर्ण; यज्ञे—यज्ञ में; नाना—विविध; कर्मसु—कामों में; ते—वे; तदा—उस समय; प्रवर्तन्ते स्म—पूरा किया; राज-इन्द्र—हे राजश्रेष्ठ (परीक्षित); राज्ञः—राजा (युधिष्ठिर) के; प्रिय—प्रिय; चिकीर्षवः—करने की इच्छा से।

भीम रसोई की देख-रेख कर रहे थे, दुर्योधन कोष की देखभाल कर रहा था और सहदेव अतिथियों के सादर स्वागत में लगे थे। नकुल सारी सामग्री जुटा रहे थे, अर्जुन गुरुजनों की सेवा में रत थे जबकि कृष्ण हर एक के पाँव पखार रहे थे। द्रौपदी भोजन परोस रही थीं और दानी कर्ण उपहार दे रहे थे। अन्य अनेक लोग यथा युयुधान, विकर्ण, हार्दिक्य, विदुर, भूरिश्रवा तथा बाह्लीक के अन्य पुत्र एवं सन्तर्दन भी उस विशाल यज्ञ में विविध कार्यों में स्वेच्छा से लगे हुए थे। हे राजश्रेष्ठ, उन्होंने महाराज युधिष्ठिर को प्रसन्न करने की अपनी उत्सुकता से ही ऐसा किया।

ऋत्विक्सदस्यबहुवित्सु सुहृत्तमेषु
स्विष्टेषु सूनृतसमर्हणदक्षिणाभिः ।
चैद्ये च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे
चक्रुस्ततस्त्ववभृथस्नपनं द्युनद्याम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

ऋत्विक्—पुरोहित; सदस्य—यज्ञ में सहायता करने वाले सदस्य; बहु-वित्सु—अत्यंत विद्वान; सुहृत्-तमेषु—तथा सर्वश्रेष्ठ हितैषीजन; सु—भलीभाँति; इष्टेषु—सम्मानित; सूनृत—मधुर शब्दों से; समर्हण—शुभ भेंटें; दक्षिणाभिः—तथा दक्षिणा से; चैद्ये—चेदि के राजा (शिशुपाल); च—तथा; सात्वत-पतेः—सात्वतों के स्वामी (कृष्ण); चरणम्—पाँवों में; प्रविष्टे—प्रविष्ट होकर; चक्रुः—पूरा किया; ततः—तब; तु—तथा; अवभृथ-स्नपनम्—अवभृथ स्नान, जिससे यज्ञ पूर्ण हुआ; द्यु—स्वर्ग की; नद्याम्—नदी में (यमुना में)।

जब सारे पुरोहित, प्रमुख प्रतिनिधि, विद्वान सन्त तथा राजा के घनिष्ठ हितैषी मधुर शब्दों,

शुभ उपहारों तथा विविध भेंटों रूपी दक्षिणा से भलीभाँति सम्मानित किये जा चुके और जब चेदिराज सात्वतों के प्रभु के चरणकमलों में प्रविष्ट हो चुका, तो दैवी नदी यमुना में *अवभृथ* स्नान सम्पन्न किया गया।

तात्पर्य : प्रमुख अतिथियों को दिये गये उपहारों में बहुमूल्य आभूषण भी थे।

मृदङ्गशङ्खपणवधुन्धुर्यानकगोमुखाः ।
वादित्राणि विचित्राणि नेदुरावभृथोत्सवे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मृदङ्ग—मृदंग; शङ्ख—शंख; पणव—छोटे ढोल; धुन्धुरि—बृहद् सैनिक ढोल; आनक—नगाड़ा; गो-मुखाः—एक वाद्य; वादित्राणि—संगीत; विचित्राणि—विविध; नेदुः—बज उठे; आवभृथ—अवभृथ स्नान के; उत्सवे—उत्सव में।

***अवभृथ* स्नानोत्सव के समय अनेक प्रकार के बाजे बजने लगे, जिनमें मृदंग, शंख, पणव, धुन्धुरि, आनक तथा गोमुख थे।**

नार्तक्यो ननृतुर्हृष्टा गायका यूथशो जगुः ।
वीणावेणुतलोन्नादस्तेषां स दिवमस्पृशत् ॥ ॥

शब्दार्थ

नार्तक्यः—नर्तकियाँ; ननृतुः—नाचीं; हृष्टाः—प्रसन्नचित्त; गायकाः—गाने वालों ने; यूथशः—टोलियों में; जगुः—गाया; वीणा—वीणा; वेणु—वंशी; तल—तथा मंजीरे की; उन्नादः—तेज आवाज; तेषाम्—उनकी; सः—वह; दिवम्—स्वर्ग को; अस्पृशत्—छूने लगी।

नर्तकियों ने अत्याधिक मुदित होकर नृत्य किया, गायकों ने सामूहिक रूप में गाया और वीणा, वंशी तथा मंजीरे की तेज आवाज बहुत दूर स्वर्गलोक तक पहुँच गई।

चित्रध्वजपताकाग्रैरिभेन्द्रस्यन्दनार्वभिः ।
स्वलङ्कृतैर्भटैर्भूपा निर्ययू रुक्ममालिनः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

चित्र—रंगबिरंगी; ध्वज—झंडियाँ; पताक—तथा झंडे; अग्रैः—उत्तम; इभ—हाथियों से; इन्द्र—राजसी; स्यन्दन—रथ; अर्वभिः—तथा घोड़ों से; सु-अलङ्कृतैः—खूब सजे; भटैः—पैदल सिपाहियों सहित; भू-पाः—राजागण; निर्ययुः—चल पड़े; रुक्म—सोने के; मालिनः—हार पहने।

तब सोने के हार पहने हुए सारे राजा यमुना नदी की ओर चल पड़े। उनके साथ रंग-बिरंगे झंडे तथा पताकाएँ थीं और उनके साथ साथ पैदल सेना एवं शाही हाथियों, रथों तथा घोड़ों पर सवार सुसज्जित सिपाही थे।

**यदुसृञ्जयकाम्बोजकुरुकेकयकोशलाः ।
कम्पयन्तो भुवं सैन्यैर्ययमानपुरःसराः ॥ १२॥**

शब्दार्थ

यदु-सृञ्जय-काम्बोज—यदुगण, सृञ्जयगण तथा काम्बोजगण; कुरु-केकय-कोशलाः—कुरुवासी, केकयवासी तथा कोशलवासी; कम्पयन्तः—हिलाते हुए; भुवम्—पृथ्वी को; सैन्यैः—अपनी सेनाओं से; यजमान—यज्ञ करने वाला (महाराज युधिष्ठिर); पुरः-सराः—आगे आगे करके।

जुलूस में यजमान युधिष्ठिर महाराज के पीछे पीछे चल रहीं यदुओं, सृंजयों, काम्बोजों, कुरुओं, केकयों तथा कोशलवासियों की समुच्चित सेनाओं ने धरती को हिला दिया।

**सदस्यर्त्विग्द्विजश्रेष्ठा ब्रह्मघोषेण भूयसा ।
देवर्षिपितृगन्धर्वास्तुष्टुवुः पुष्पवर्षिणः ॥ १३॥**

शब्दार्थ

सदस्य—सदस्य; ऋत्विक्—पुरोहित; द्विज—तथा ब्राह्मण; श्रेष्ठाः—श्रेष्ठ; ब्रह्म—वेदों के; घोषेण—ध्वनि से; भूयसा—प्रचुर; देव—देवता; ऋषि—ऋषिगण; पितृ—पुरखे; गन्धर्वाः—तथा स्वर्ग के गवैयों ने; तुष्टुवुः—यशोगान किया; पुष्प—फूलों की; वर्षिणः—वर्षा करते हुए।

सभासदों, पुरोहितों तथा अन्य उत्तम ब्राह्मणों ने जोर-जोर से वैदिक मंत्रों का उच्चारण किया, जबकि देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा गन्धर्वों ने यशोगान किया और फूलों की वर्षा की।

**स्वलण्कृता नरा नार्यो गन्धस्त्रग्भूषणाम्बरैः ।
विलिम्पन्त्योऽभिसिञ्चन्त्यो विजह्रुर्विविधै रसैः ॥ १॥**

शब्दार्थ

सु-अलङ्कृताः—अच्छी तरह सजे-धजे; नराः—पुरुष; नार्यः—तथा स्त्रियाँ; गन्ध—चन्दन-लेप; स्रक्—फूल की मालाओं; भूषण—आभूषणों; अम्बरैः—तथा वस्त्रों से; विलिम्पन्त्यः—चुपड़ कर; अभिषिञ्चन्त्यः—तथा छिड़क कर; विजह्रुः—खेलने लगे; विविधैः—विविध; रसैः—तरल पदार्थों से।

चन्दन-लेप, पुष्प-मालाओं, आभूषण तथा उत्तम वस्त्र से सज्जित सारे पुरुषों तथा स्त्रियों ने विविध द्रवों को एक-दूसरे पर मल कर तथा छिड़क कर खूब खिलवाड़ किया।

**तैलगोरसगन्धोदहरिद्रासान्द्रकुङ्कुमैः ।
पुम्भिर्लिप्ताः प्रलिम्पन्त्यो विजह्रुर्वारयोषितः ॥ १५॥**

शब्दार्थ

तैल—वानस्पतिक तेल; गो-रस—दही; गन्ध-उद—सुगन्धित जल; हरिद्रा—हल्दी; सान्द्र—प्रचुर; कुङ्कु मैः—तथा सिंदूर से; पुम्भिः—पुरुषों द्वारा; लिप्ताः—लपेटे हुए; प्रलिम्पन्त्यः—उलट कर पोतते हुए; विजह्रुः—खिलवाड़ किया; वार-योषितः—वारांगनाओं ने।

पुरुषों ने वारांगनाओं के शरीरों को बहुत सारा तेल, दही, सुगन्धित जल, हल्दी तथा कुंकुम चूर्ण से पोत दिया और पलटकर उन स्त्रियों ने पुरुषों के शरीरों में वैसी ही वस्तुएँ दे पोतीं।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने इस दृश्य का वर्णन इस प्रकार किया है : ''इन्द्रप्रस्थ के पुरुषों एवं स्त्रियों के शरीर विभिन्न प्रकार के इत्र एवं पुष्प-तेलों से चुपड़े थे। वे सभी सुन्दर-सुन्दर रंगीन वस्त्र धारण किये थे और मालाओं, रत्नों तथा आभूषणों से अलंकृत थे। वे सभी उस समारोह का आनन्द उठा रहे थे और एक-दूसरे पर जल, तेल, दूध, मक्खन एवं दही जैसे तरल पदार्थों को फेंक रहे थे। कुछ लोगों ने तो इन पदार्थों को एक-दूसरे के शरीर पर पोत डाला। इस प्रकार वे उत्सव का आनन्द उठा रहे थे। वारांगनाएँ भी आनन्दविभोर होकर इन तरल पदार्थों को पुरुषों के शरीरों पर लगाने में जुटी थीं तथा पुरुष भी स्त्रियों के साथ उसी प्रकार कर रहे थे। सभी तरल पदार्थों से हल्दी एवं केसर में मिलाये गये थे, जिससे उसका रंग चमकदार पीला था।''

गुप्ता नृभिर्निरगमन्नुपलब्धुमेतद्
देव्यो यथा दिवि विमानवरैर्नृदेव्यो ।
ता मातुलेयसखिभिः परिषिच्यमानाः
सव्रीडहासविकसद्वदना विरेजुः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

गुप्ताः—सुरक्षित; नृभिः—सैनिकों द्वारा; निरगमन्—बाहर गये; उपलब्धुम्—स्वयं देखने के लिए; एतत्—यह; देव्यः—देवताओं की स्त्रियाँ; यथा—जिस तरह; दिवि—आकाश में; विमान—अपने अपने विमानों में; वरैः—श्रेष्ठ; नृ-देव्यः—रानियाँ (युधिष्ठिर की); ताः—वे; मातुलेय—अपने ममेरे भाइयों (कृष्ण तथा उनके भाई यथा गद तथा सारण) द्वारा; सखिभिः—अपने मित्रों (यथा भीम तथा अर्जुन) द्वारा; परिषिच्यमानाः—छिड़के जाकर; स-व्रीड—लज्जित; हास—हँसी से युक्त; विकसत्—प्रफुल्लित; वदनाः—मुख वाली; विरेजुः—भव्य लग रहे थे।

इस तमाशे को देखने के लिए अपने अपने रथों में सवार होकर तथा अंगरक्षकों से घिर कर राजा युधिष्ठिर की रानियाँ बाहर आ गईं, मानों आकाश में दैवी विमानों में देवताओं की पत्नियाँ प्रकट हुई हों। जब ममेरे भाइयों तथा उनके घनिष्ठ मित्रों ने रानियों पर द्रव पदार्थ छिड़के, तो उनके मुख लजीली मुसकान से खिल उठे, जिससे उनके भव्य सौन्दर्य में वृद्धि हो गई।

तात्पर्य : यहाँ पर जिन ममेरे भाइयों का उल्लेख हुआ है, वे कृष्ण तथा उनके भाई गद तथा सारण हैं और जिन मित्रों का उल्लेख है, वे हैं भीम तथा अर्जुन जैसे व्यक्ति।

ता देवरानुत सखीन्सिषिचुर्दृतीभिः
क्लिन्नाम्बरा विवृतगात्रकुचोरुमध्याः ।
औत्सुक्यमुक्तकवराच्च्यवमानमाल्याः
क्षोभं दधुर्मलधियां रुचिरैर्विहारैः ॥ १७॥

शब्दार्थ

ताः—वे रानियाँ; देवरान्—अपने पति के भाइयों को; उत—तथा भी; सखीन्—उनके मित्रों को; सिषिचुः—भिगो दिया; दृतीभिः—पिचकारियों से; क्लिन्न—भीगे, सराबोर; अम्बराः—वस्त्र; विवृत—दृश्य; गात्र—जिनकी भुजाएँ; कुच—स्तन; ऊरु—जाँघें; मध्याः—तथा कमर; औत्सुक्य—उत्सुकता के कारण; मुक्त—शिथिल; कवरात्—बालों की चोटी से; च्यवमान—फिसलते हुए; माल्याः—फूल की छोटी मालाएँ; क्षोभम्—हिलना-डुलना; दधुः—उत्पन्न किया; मल—गंदी; धियाम्—चेतना वालों के लिए; रुचिरैः—आकर्षक; विहारैः—अपने खेलवाड़ से।

जब रानियों ने अपने देवरों तथा अन्य पुरुष संगियों पर पिचकारियों से पानी दे मारा, तो उनके वस्त्र भीग गये, जिससे उनकी बाँहें, स्तन, जाँघें तथा कमर झलकने लगे। उल्लास में उनके जूड़े ढीले होने से उनमें बँधे फूल गिर गये। इन मनोहारी लीलाओं से उन्होंने उन लोगों को उत्तेजित कर दिया, जिनकी चेतना दूषित थी।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं कि "शुद्ध नर-नारियों के मध्य ऐसा आचरण आनन्दप्रद होता है, किन्तु जो लोग भौतिक रूप से कलुषित होते हैं, वे कामुक हो उठते हैं।"

स सम्राड्रथमारुढः सदश्वं रुक्ममालिनम् ।
व्यरोचत स्वपत्नीभिः क्रियाभिः क्रतुराडिव ॥ १८॥

शब्दार्थ

सः—वह; सम्राट्—राजा युधिष्ठिर; रथम्—अपने रथ पर; आरुढः—चढ़ा हुआ; सत्—उत्तम; अश्वम्—घोड़े वाला; रुक्म—सुनहले; मालिनम्—लटकनों से; व्यरोचत—चमक रहा था; स्व-पत्नीभिः—अपनी पत्नियों के साथ; क्रियाभिः—अपने कृत्यों से; क्रतु—यज्ञ का; राट्—राजा (राजसूय); इव—मानो।

गले की सुनहरी झालरों से युक्त उत्तम घोड़ों से खींचे जाने वाले अपने रथ पर आरूढ़ सम्राट अपनी पत्नियों के संग इतने भव्य लग रहे थे, मानों तेजस्वी राजसूय यज्ञ अपने विविध कृत्यों से घिरा हुआ हो।

तात्पर्य : अपनी पत्नियों के साथ राजा युधिष्ठिर ऐसे लग रहे थे, मानो अपने सुन्दर कृत्यों से घिरा साक्षात् राजसूय यज्ञ हो।

पत्नीसम्याजावभृथ्यैश्चरित्वा ते तमृत्विजः ।

आचान्तं स्नापयां चक्रुर्गङ्गायां सह कृष्णया ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

पत्नी-संयाज—यज्ञकर्ता तथा उसकी पत्नी द्वारा सम्पन्न अनुष्ठान, जिसमें सोम, त्वष्टा, कुछ देवियों तथा अग्नि का तर्पण सम्मिलित हैं; अवभृथ्यैः—यज्ञ-पूर्ति के लिए किये गये अनुष्ठान; चरित्वा—सम्पन्न करके; ते—वे; तम्—उसको; ऋत्विजः—पुरोहितगण; आचान्तम्—शुद्धि के लिए जल सुड़क कर आचमन करके; स्नापयाम् चक्रुः—उन्हें नहलाया; गङ्गायाम्—गंगा नदी में; सह—साथ साथ; कृष्णया—द्रौपदी के।

पुरोहितों ने राजा से *पत्नी-संयाज* तथा *अवभृथ्य* के अन्तिम अनुष्ठान पूर्ण कराये। तब उन्होंने राजा तथा रानी द्रौपदी से शुद्धि के लिए जल आचमन करने एवं गंगा नदी में स्नान करने के लिए कहा।

देवदुन्दुभयो नेदुर्नरदुन्दुभिभिः समम् ।
मुमुचुः पुष्पवर्षाणि देवर्षिपितृमानवाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

देव—देवताओं की; दुन्दुभयः—दुन्दुभियाँ, नगाड़े; नेदुः—बज उठीं; नर—मनुष्यों की; दुन्दुभिभिः—दुन्दुभियों से; समम्—साथ साथ; मुमुचुः—बरसाया; पुष्प—फूलों की; वर्षाणि—वर्षा; देव—देवतागण; ऋषि—ऋषिगण; पितृ—पितरगण; मानवाः—तथा मनुष्यों ने।

देवताओं की दुन्दुभियाँ मनुष्यों की दुन्दुभियों के साथ साथ बज उठीं। देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा मनुष्यों ने फूलों की वर्षा की।

सस्नुस्तत्र ततः सर्वे वर्णाश्रमयुता नराः ।
महापातक्यपि यतः सद्यो मुच्येत किल्बिषात् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सस्नुः—स्नान किया; तत्र—वहाँ; ततः—इसके बाद; सर्वे—सभी; वर्ण-आश्रम—सारे वृत्तिपरक सामाजिक तंत्र तथा आध्यात्मिक आश्रम; युताः—के; नराः—मनुष्य; महा—अत्यन्त; पातकी—पापी; अपि—भी; यतः—जिससे; सद्यः—तुरन्त; मुच्येत—मुक्त किया जा सके; किल्बिषात्—कल्मष से।

तत्पश्चात् विभिन्न वर्णों तथा आश्रमों से सम्बद्ध नागरिकों ने उस स्थान पर स्नान किया, जहाँ पर स्नान करने से बड़ा से बड़ा पापी भी पापों के फल से तुरन्त मुक्त हो जाता है।

अथ राजाहते क्षौमे परिधाय स्वलङ्कृतः ।
ऋत्विक्सदस्यविप्रादीनानर्चाभरणाम्बरैः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; राजा—राजा; अहते—कोरा, बिना पहना; क्षौमे—रेशमी वस्त्र का जोड़ा; परिधाय—पहन कर; सु-अलङ्कृतः—सुन्दर ढंग से सज्जित; ऋत्विक्—पुरोहितगण; सदस्य—सभा के कार्यकारी सदस्य; विप्र—ब्राह्मण; आदीन्—इत्यादि; आनर्च—पूजा की; आभरण—गहनों से; अम्बरैः—तथा वस्त्रों से।

इसके बाद राजा ने नये रेशमी वस्त्र धारण किये और अपने को सुन्दर आभूषणों से अलंकृत किया। तत्पश्चात् उन्होंने पुरोहितों, सभा के सदस्यों, विद्वान ब्राह्मणों तथा अन्य अतिथियों को आभूषण तथा वस्त्र भेंट करके उनका सम्मान किया।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''राजा ने न केवल स्वयं वस्त्र धारण किये और अपने आप को अलंकृत किया, अपितु उन्होंने सारे पुरोहितों तथा यज्ञ में भाग लेने वाले सारे लोगों को भी वस्त्र तथा आभूषण प्रदान किये। इस तरह उन्होंने सबों की पूजा की।''

बन्धूञ्ज्ञातीन्नृपान्मित्रसुहृदोऽन्यांश्च सर्वशः ।
अभीक्ष्नं पूजयामास नारायणपरो नृपः ॥ २३॥

शब्दार्थ

बन्धून्—दूर के सम्बन्धियों; ज्ञातीन्—परिवार के निकटजनों; नृपान्—राजाओं; मित्र—मित्रों; सुहृदः—तथा शुभचिन्तकों को; अन्यान्—अन्यों को; च—भी; सर्वशः—सभी प्रकार से; अभीक्ष्णम्—निरन्तर; पूजयाम् आस—पूजा की; नारायण-परः—नारायण-भक्त; नृपः—राजा ने।.

भगवान् नारायण के प्रति पूर्णतया समर्पित राजा युधिष्ठिर ने अपने सम्बन्धियों, परिवार वालों, अन्य राजाओं, अपने मित्रों, अपने शुभचिन्तकों तथा वहाँ पर उपस्थित सारे लोगों का निरन्तर सम्मान करते रहे।

सर्वे जनाः सुररुचो मणिकुण्डलस्र-
गुष्णीषकञ्चुकदुकूलमहार्घ्यहाराः ।
नार्यश्च कुण्डलयुगालकवृन्दजुष्ट-
वक्त्रश्रियः कनकमेखलया विरेजुः ॥ २॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी; जनाः—पुरुष; सुर—देवताओं की तरह; रुचः—तेजस्वी रंग वाले; मणि—मणि; कुण्डल—कान के कुण्डलों से; स्रक्—फूल-मालाओं; उष्णीष—पगड़ी; कञ्चुक—ऊपरी वस्त्र, उत्तरीय; दुकूल—रेशमी वस्त्र; महा-अर्घ्य—अत्यन्त कीमती; हाराः—तथा मोती की मालाएँ; नार्यः—स्त्रियाँ; च—तथा; कुण्डल—कुण्डलों की; युग—जोड़ी; अलक-वृन्द—केशराशि (जूड़ा); जुष्ट—सुसज्जित; वक्त्र—मुखड़ों की; श्रियः—सुन्दरता; कनक—सोने की; मेखलया—करधनी से; विरेजुः—चमचमा रही थीं।.

वहाँ पर उपस्थित सारे पुरुष देवताओं जैसे चमक रहे थे। वे रत्नजटित कुण्डलों, फूल की मालाओं, पगड़ियों, अंगरखों, रेशमी धोतियों तथा कीमती मोतियों की मालाओं से सज्जित थे। स्त्रियों के सुन्दर मुखड़े उनसे मेल खा रहे कुण्डलों तथा केश-गुच्छों से सुशोभित हो रहे थे और वे सुनहरी करधनियाँ पहने थीं।

अथर्त्विजो महाशीलाः सदस्या ब्रह्मवादिनः ।
ब्रह्मक्षत्रियविट्शुद्राराजानो ये समागताः ॥ २५॥
देवर्षिपितृभूतानि लोकपालाः सहानुगाः ।
पूजितास्तमनुज्ञाप्य स्वधामानि ययुर्नृप ॥ २६॥

शब्दार्थ

अथ—तब; ऋत्विजः—पुरोहितगण; महा-शीलाः—उच्च चरित्र वाले; सदस्याः—यज्ञ के अधिकारीगण; ब्रह्म—वेदों के; वादिनः—विशेषज्ञ; ब्रह्म—ब्राह्मण; क्षत्रिय—क्षत्रिय; विट्—वैश्य; शूद्राः—तथा शूद्रगण; आजानः—राजा; ये—जो; समागताः—आये हुए; देव—देवता; ऋषि—ऋषिगण; पितृ—पितरगण; भूतानि—तथा भूत-प्रेत; लोक—लोकों के; पालाः—शासक; सह—सहित; अनुगाः—अनुयायी; पूजिताः—पूजित; तम्—उससे; अनुज्ञाप्य—अनुमति लेकर; स्व—अपने; धामानि—घरों को; ययुः—चले गये; नृप—हे राजा (परीक्षित)।

तत्पश्चात्, हे राजन्, अत्यन्त सुसंस्कृत पुरोहितजन, महान् वैदिक विशेषज्ञ, जो यज्ञ-साक्षियों के रूप में सेवा कर चुके थे, विशेष रूप से आमंत्रित राजागण, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, देवता, ऋषि, पितर, भूत-प्रेत एवं मुख्य लोकपाल तथा उनके अनुयायीगण—ये सारे लोग राजा युधिष्ठिर से पूजे जाने के बाद उनकी अनुमति लेकर अपने अपने घरों के लिए प्रस्थान कर गये।

हरिदासस्य राजर्षे राजसूयमहोदयम् ।
नैवातृप्यन्प्रशंसन्तः पिबन्मर्त्योऽमृतं यथा ॥ २७॥

शब्दार्थ

हरि—भगवान् कृष्ण के; दासस्य—सेवक के; राज-ऋषेः—राजर्षि के; राजसूय—राजसूय यज्ञ के; महा-उदयम्—महान् उत्सव; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अतृप्यन्—सन्तुष्ट हो गये; प्रशंसन्तः—प्रशंसा करते हुए; पिबन्—पीते हुए; मर्त्यः—मरणशील मनुष्य; अमृतम्—अमृत; यथा—जिस तरह।

वे उस राजर्षि तथा हरि-सेवक द्वारा सम्पन्न अद्भुत राजसूय यज्ञ की प्रशंसा करते अघा नहीं रहे थे, जिस तरह सामान्य व्यक्ति अमृत पीते नहीं अघाता।

ततो युधिष्ठिरो राजा सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान् ।
प्रेम्णा निवारयामास कृष्णं च त्यागकातरः ॥ २८॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; युधिष्ठिरः राजा—राजा युधिष्ठिर; सुहृत्—अपने मित्रों; सम्बन्धि—सम्बन्धी लोग; बान्धवान्—तथा बान्धव; प्रेम्णा—प्रेम के वशीभूत; निवारयाम् आस—उन्हें रोका; कृष्णम्—कृष्ण को; च—तथा; त्याग—वियोग से; कातरः—दुखी।

उस समय राजा युधिष्ठिर ने अपने अनेक मित्रों, निकट सम्बन्धियों तथा बान्धवों को जाने से रोक लिया, जिनमें कृष्ण भी थे। प्रेम के वशीभूत युधिष्ठिर ने उन्हें जाने नहीं दिया, क्योंकि उन्हें आसन्न विरह की पीड़ा अनुभव हो रही थी।

भगवानपि तत्राङ्ग न्यावात्सीत्तत्प्रियंकरः ।
प्रस्थाप्य यदुवीरांश्च साम्बादींश्च कुशस्थलीम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; अपि—तथा; तत्र—वहाँ; अङ्ग—प्रिय (राजा परीक्षित); न्यावात्सीत्—रह गए; तत्—उसके लिए (युधिष्ठिर के लिए); प्रियम्—आनन्द; करः—करते हुए; प्रस्थाप्य—भेज कर; यदु-वीरान्—यदुवंश के वीरों को; च—तथा; साम्ब-आदीन्—साम्ब इत्यादि; च—तथा; कुशस्थलीम्—द्वारका।

हे परीक्षित, साम्ब तथा अन्य यदु-वीरों को द्वारका वापस भेज कर भगवान् राजा को प्रसन्न करने के लिए कुछ काल तक वहाँ ठहर गए।

इत्थं राजा धर्मसुतो मनोरथमहार्णवम् ।
सुदुस्तरं समुत्तीर्य कृष्णेनासीद्गतज्वरः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस तरह से; राजा—राजा; धर्म—धर्म के (यमराज); सुतः—पुत्र; मनः-रथ—अपनी इच्छाओं के; महा—विशाल; अर्णवम्—समुद्र को; सु—अत्यन्त; दुस्तरम्—पार करना कठिन; समुत्तीर्य—भलीभाँति पार करके; कृष्णेन—कृष्ण के माध्यम से; आसीत्—हो गया; गत-ज्वरः—ज्वर से मुक्त।

इस तरह धर्म-पुत्र राजा युधिष्ठिर भगवान् कृष्ण की कृपा से अपनी इच्छाओं के विशाल एवं दुर्लंघ्य समुद्र को भलीभाँति पार करके अपनी उत्कट महत्त्वाकांक्षा से मुक्त हो गये।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के पिछले अध्यायों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राजा युधिष्ठिर विश्व को भगवान् कृष्ण की श्रेष्ठता एवं शरणागतों को प्राप्त आशीषों का प्रदर्शन कराना चाहते थे। ऐसा करने के लिए ही राजा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ सम्पन्न किया, जो अत्यन्त दुस्सह कार्य है।

इस प्रसंग में श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''इस भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति की कुछ विशेष प्रकार की इच्छाएँ होती हैं, परन्तु वह उन्हें पूर्ण सन्तुष्टि के साथ पूरी नहीं कर पाता। परन्तु श्रीकृष्ण के प्रति अपनी अटल भक्ति के कारण महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ निष्पादित करके अपनी सारी इच्छाओं को सफलतापूर्वक पूरा किया। जिस तरह राजसूय यज्ञ सम्पन्न हुआ उसके वर्णन से ऐसा लगता है कि ऐसा उत्सव ऐश्वर्यमयी इच्छाओं का महासागर होता है। साधारण व्यक्ति के लिए ऐसे महासागर को पार कर पाना सम्भव नहीं है। तो भी भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से राजा युधिष्ठिर ने अत्यन्त सहजता से उस सागर को पार कर लिया और इस तरह वे सारी चिन्ताओं से मुक्त हो गये।''

एकदान्तःपुरे तस्य वीक्ष्य दुर्योधनः श्रियम् ।
अतप्यद्राजसूयस्य महित्वं चाच्युतात्मनः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक दिन; अन्तः-पुरे—महल के भीतर; तस्य—उसके (युधिष्ठिर के); वीक्ष्य—देख कर; दुर्योधनः—दुर्योधन; श्रीयम्—ऐश्वर्य; अतप्यत्—दुखी हुआ; राजसूयस्य—राजसूय यज्ञ की; महित्वम्—महानता को; च—तथा; अच्युत-आत्मनः—उसका (युधिष्ठिर का) जिसकी आत्मा भगवान् अच्युत थे।

एक दिन दुर्योधन राजा युधिष्ठिर के महल के ऐश्वर्य को देख कर राजसूय यज्ञ तथा यज्ञकर्ता राजा की महानता से, जिसका जीवन तथा आत्मा अच्युत भगवान् थे, अत्यधिक विचलित हुआ।

यस्मिंस्नरेन्द्रदितिजेन्द्रसुरेन्द्रलक्ष्मी-
र्नाना विभान्ति किल विश्वसृजोपक्लिप्ताः ।
ताभिः पतीन्द्रुपदराजसुतोपतस्थे
यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें (महल में); नर-इन्द्र—मनुष्यों के राजा के; दितिज-इन्द्र—असुरराज के; सुर-इन्द्र—तथा देवताओं के राजा के; लक्ष्मीः—ऐश्वर्य; नाना—विविध; विभान्ति—प्रकट थे; किल—निस्सन्देह; विश्व-सृजा—विराट स्रष्टा (मय दानव); उपक्लिप्ताः—प्रदान किया; ताभिः—उनसे; पतीन्—उसके पति, पाण्डव; द्रुपद-राज—राजा द्रुपद की; सुता—पुत्री, द्रौपदी ने; उपतस्थे—सेवा की; यस्याम्—जिसकी; विषक्त—अनुरक्त; हृदयः—हृदय वाले; कुरु-राट्—कुरु-कुमार दुर्योधन; अतप्यत्—सन्ताप करने लगा।

उस महल में मनुष्यों, दानवों तथा देवताओं के राजाओं के समस्त संचित ऐश्वर्य जगमगा रहे थे, जो विश्व के अन्वेषक मय दानव द्वारा ले आया गया था। उस ऐश्वर्य से द्रौपदी अपने पतियों की सेवा करती थी, किन्तु कुरु-राजकुमार दुर्योधन संतप्त था, क्योंकि वह उसके प्रति अत्यधिक आकृष्ट था।

यस्मिन्तदा मधुपतेर्महिषीसहस्रं
श्रोणीभरेण शनकैः क्वणदङ्घ्रिशोभम् ।
मध्ये सुचारु कुचकुङ्कुमशोणहारं
श्रीमन्मुखं प्रचलकुण्डलकुन्तलाढ्यम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; तदा—उस समय; मधु—मथुरा के; पतेः—स्वामी की; महिषी—रानियाँ; सहस्रम्—हजारों; श्रोणी—अपने नितम्बों के; भरेण—भार से; शनकैः—धीरे-धीरे; क्वणत्—शब्द करती हुई; अङ्घ्रि—पाँव; शोभम्—शोभा; मध्ये—बीच में (कमर में); सु-चारु—अत्यन्त मनोहर; कुच—उनके स्तनों से; कुङ्कुम—कुंकुम-चूर्ण से; शोण—रक्तिम; हारम्—मोती की माला; श्री-मत्—सुन्दर; मुखम्—मुखों वाली; प्रचल—हिलते, गतिमान्; कुण्डल—कुण्डलों से; कुन्तल—बालों के गुच्छे; आढ्यम्—धनी।

भगवान् मधुपति की हजारों रानियाँ भी महल में ठहरी हुई थीं। उनके पाँव नितम्बों के भार

से धीरे-धीरे गति करते थे और उनके पाँवों के पायजेब मनोहर शब्द करते थे। उनकी कटि अत्यन्त पतली थी, उनके स्तनों पर लगे कुंकुम से उनकी मोती की मालाएँ लाल-लाल हो गयी थीं। उनके हिलते कुण्डलों तथा लहराते बालों से उनके मुखों की भव्य शोभा बढ़ रही थी।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''महाराज युधिष्ठिर के महल में ऐसी सुन्दरियों को देख कर दुर्योधन को ईर्ष्या होने लगी। वह द्रौपदी देवी की सुन्दरता को देख कर विशेष रूप से कामुक तथा ईर्ष्यालु हो उठा क्योंकि पाण्डवों के साथ द्रौपदी के विवाह के समय से ही दुर्योधन उसके प्रति विशेष आकर्षित था। द्रौपदी के स्वयंवर समारोह में दुर्योधन भी उपस्थित था और अन्य राजकुमारों की भाँति वह भी द्रौपदी की सुन्दरता पर मोहित हो उठा था, परन्तु उन्हें प्राप्त करने के प्रयास में वह असफल रहा था।''

सभायां मयक्लिप्तायां क्वापि धर्मसुतोऽधिराट् ।
वृतोऽनुगैर्बन्धुभिश्च कृष्णेनापि स्वचक्षुषा ॥ ३ ॥
आसीनः काञ्चने साक्षादासने मघवानिव ।
पारमेष्ठ्यश्रीया जुष्टः स्तूयमानश्च वन्दिभिः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सभायाम्—सभाभवन में; मय—मय दानव द्वारा; क्लिप्तायाम्—बनाया; क्व अपि—एक अवसर पर; धर्म-सुतः—यमराज के पुत्र (युधिष्ठिर); अधिराट्—सम्राट; वृतः—घिरे हुए; अनुगैः—अपने सेवकों से; बन्धुभिः—पारिवारिक सदस्यों से; च—तथा; कृष्णेन—भगवान् कृष्ण द्वारा; अपि—भी; स्व—अपनी; चक्षुषा—आँख से; आसीनः—बैठा; काञ्चने—सोने से बने; साक्षात्—स्वयं; आसने—सिंहासन पर; मघवान्—इन्द्र; इव—मानो; पारमेष्ठ्य—ब्रह्मा का, परम सत्ता के; श्रिया—ऐश्वर्य से; जुष्टः—जुड़ा; स्तूयमानः—प्रशंसित होकर; च—तथा; वन्दिभिः—राजकवियों द्वारा।

ऐसा हुआ कि धर्म-पुत्र सम्राट युधिष्ठिर मय दानव द्वारा निर्मित सभाभवन में स्वर्ण सिंहासन पर इन्द्र के समान विराजमान थे। उनके साथ उनके परिचारक तथा परिवार वाले लोगों के अतिरिक्त उनके विशेष नेत्रस्वरूप भगवान् कृष्ण भी थे। साक्षात् ब्रह्मा के ऐश्वर्य को प्रदर्शित कर रहे राजा युधिष्ठिर राजकवियों द्वारा प्रशंसित हो रहे थे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि यहाँ पर भगवान् कृष्ण को युधिष्ठिर की विशेष आँख (नेत्र) कहा गया है, क्योंकि वे ही राजा को सलाह देते थे कि क्या लाभप्रद है और क्या नहीं है।

तत्र दुर्योधनो मानी परीतो भ्रातृभिर्नृप ।
किरीटमाली न्यविशदसिहस्तः क्षिपन्रुषा ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; दुर्योधनः—दुर्योधन; मानी—अभिमानी; परीतः—घिरा हुआ; भ्रातृभिः—अपने भाइयों से; नृप—हे राजा; किरीट—मुकुट; माली—तथा हार पहने; न्यविशत्—प्रविष्ट हुआ; असि—तलवार; हस्तः—हाथ में; क्षिपन्—(द्वारपालों को) अपमानित करते हुए; रुषा—क्रोध से भरा हुआ।

अभिमानी दुर्योधन अपने हाथ में तलवार लिये और मुकुट तथा हार पहने क्रोध से भरा अपने भाइयों के साथ महल में गया। हे राजन्, घुसते समय उसने द्वारपालों का अपमान किया।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं कि दुर्योधन ''सदैव ईर्ष्यालु तथा क्रुद्ध रहता था इसलिए थोड़ी-सी उत्तेजना पर वह द्वारपालों से तीखेपन से बोला और क्रोधित हो गया।''

स्थलेऽभ्यगृह्णाद्वस्त्रान्तं जलं मत्वा स्थलेऽपतत् ।
जले च स्थलवद्भ्रान्त्या मयमायाविमोहितः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

स्थले—स्थल पर; अभ्यगृह्णात्—ऊपर उठा लिया; वस्त्र—अपने वस्त्र का; अन्तम्—छोर; जलम्—जल; मत्वा—मान कर; स्थले—तथा अन्य स्थान पर; अपतत्—गिर गया; जले—जल में; च—तथा; स्थल—स्थल; वत्—मानो; भ्रान्त्या—भ्रम से; मय—मय दानव के; माया—जादू से; विमोहितः—मोहग्रस्त।

मय दानव के जादू से निर्मित भ्रम से मोहग्रस्त होकर दुर्योधन ठोस फर्श को जल समझ बैठा, अतः उसने अपने वस्त्र का निचला सिरा ऊपर उठा लिया। अन्यत्र जल को ठोस फर्श समझ लेने से वह जल में गिर गया।

जहास भीमस्तं दृष्ट्वा स्त्रियो नृपतयो परे ।
निवार्यमाणा अप्यङ्ग राज्ञा कृष्णानुमोदिताः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

जहास—हँस पड़ा; भीमः—भीमसेन; तम्—उसको; दृष्ट्वा—देख कर; स्त्रियः—स्त्रियाँ; नृ-पतयः—राजागण; अपरे—तथा अन्य; निवार्यमाणाः—रोके जाने पर; अपि—भी; अङ्ग—हे प्रिय (परीक्षित); राज्ञा—राजा (युधिष्ठिर) द्वारा; कृष्ण—कृष्ण द्वारा; अनुमोदिताः—समर्थित, सहमत।

हे परीक्षित, यह देख कर भीम हँस पड़े और उसी तरह स्त्रियाँ, राजा तथा अन्य लोग भी हँसे। राजा युधिष्ठिर ने उन्हें रोकना चाहा, किन्तु भगवान् कृष्ण ने अपनी सहमति प्रदर्शित की।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती उल्लेख करते हैं कि राजा युधिष्ठिर ने स्त्रियों तथा भीम को तिरछी नजर से देख कर उनकी हँसी रुकवानी चाही। किन्तु भगवान् कृष्ण ने अपने भौंहों के इशारे से हँसी के लिए अपनी सहमति दे दी। भगवान् इस धरा पर दुष्ट राजाओं का भार दूर करने आये थे और यह घटना भगवान् के अभिप्राय से असम्बद्ध नहीं थी।

स व्रीडितोऽवग्वदनो रुषा ज्वलन्
निष्क्रम्य तूष्णीं प्रययौ गजाह्वयम् ।
हाहेति शब्दः सुमहानभूत्सता-
मजातशत्रुर्विमना इवाभवत् ।
बभूव तूष्णीं भगवान्भुवो भरं
समुज्जिहीर्षुर्भ्रमति स्म यद्दृशा ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, दुर्योधन; व्रीडितः—उद्विग्न; अवाक्—हक्का-बक्का; वदनः—मुख; रुषा—क्रोध से; ज्वलन्—जलता हुआ; निष्क्रम्य—बाहर निकल कर; तूष्णीम्—चुपके से; प्रययौ—चला गया; गज-आह्वयम्—हस्तिनापुर; हा-हा इति—हाय हाय; शब्दः—शब्द; सु-महान्—भीषण; अभूत्—उठा; सताम्—सन्त-पुरुषों से; अजात-शत्रुः—राजा युधिष्ठिर; विमनाः—उदास; इव—कुछ कुछ; अभवत्—हो गया; बभूव—था; तूष्णीम्—मौन; भगवान्—भगवान्; भुवः—पृथ्वी का; भरम्—भार; समुज्जिहीर्षुः—हटाने की इच्छा से; भ्रमति स्म—(दुर्योधन) ठगा गया; यत्—जिसकी; दृशा—दृष्टि से।

लज्जित एवं क्रोध से जलाभुना दुर्योधन अपना मुँह नीचा किये, बिना कुछ कहे, वहाँ से निकल गया और हस्तिनापुर चला गया। उपस्थित सन्त-पुरुष जोर-जोर से कह उठे, ''हाय! हाय!'' और राजा युधिष्ठिर कुछ दुखी हो गये। किन्तु भगवान्, जिनकी चितवन् मात्र से दुर्योधन मोहित हो गया था, मौन बैठे रहे, क्योंकि उनकी मंशा पृथ्वी के भार को हटाने की थी।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''जब दुर्योधन इतना क्रोधित होकर वहाँ से चला गया तो सबों ने इस घटना पर खेद प्रकट किया और महाराज युधिष्ठिर भी बहुत उदास हो गये। परन्तु इन सब घटनाओं के बावजूद भी कृष्ण शान्त थे। वे घटना के पक्ष में या विरोध में कुछ नहीं बोले। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि भगवान् श्रीकृष्ण की परम इच्छा के कारण वह इस भ्रम में डाला गया था। इस प्रकार यह कुरुवंश के दो पक्षों में शत्रुता का सूत्रपात था। ऐसा प्रतीत होता था कि यह संसार के भार को कम करने के कृष्ण के उद्देश्य की योजना का एक अंश था।''

एतत्तेऽभिहितं राजन्यत्पृष्टोऽहमिह त्वया ।
सुयोधनस्य दौरात्म्यं राजसूये महाक्रतौ ॥ ० ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ते—तुमसे; अभिहितम्—कहा गया; राजन्—हे राजन; यत्—जो; पृष्टः—पूछा गया; अहम्—मैंने; इह—इस सम्बन्ध में; त्वया—तुम्हारे द्वारा; सुयोधनस्य—सुयोधन (दुर्योधन) का; दौरात्म्यम्—असंतोष; राजसूये—राजसूय यज्ञ के दौरान; महा-क्रतौ—महान् यज्ञ।

हे राजन्, अब मैं तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर दे चुका हूँ कि दुर्योधन महान् राजसूय यज्ञ के अवसर पर क्यों असन्तुष्ट था।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''दुर्योधन का मानमर्दन'' नामक पचहत्तरवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छिहत्तर

शाल्व तथा वृष्णियों के मध्य युद्ध

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह शाल्व नामक असुर ने एक विशाल तथा भयानक विमान प्राप्त किया और किस तरह इसका उपयोग द्वारका में वृष्णियों पर आक्रमण करने के लिए किया और किस तरह उस युद्ध के दौरान प्रद्युम्न को युद्धस्थल से हर लिया गया।

शाल्व उन राजाओं में से एक था, जो रुक्मिणीदेवी के विवाह के समय पराजित हुए थे। उसने तब यह प्रतिज्ञा की थी कि वह पृथ्वी पर से समस्त यादवों का सफाया कर देगा, अत: वह प्रतिदिन मुट्ठी-भर धूल फाँक कर शिवजी की पूजा करने लगा। जब एक साल बीता तो शिवजी शाल्व के समक्ष प्रकट हुए और उससे वर माँगने के लिए कहा। शाल्व ने ऐसे उड़न-यंत्र का वर माँगा, जो कहीं भी जा सके और देवों, असुरों तथा मनुष्यों को भयभीत बना दे। शिवजी ने उसकी विनती मान ली और मय दानव से सौभ नामक एक उड़ता हुआ लोहे का नगर बनवाया। शाल्व यह यान लेकर द्वारका गया, जहाँ उसने अपनी विशाल सेना के साथ नगर में घेरा डाल दिया। उसने अपने विमान से द्वारका पर पेड़ों के तनों, पत्थरों तथा अन्य प्रक्षेप्यों से बमबारी की और ऐसा चक्रवात उत्पन्न कर दिया, जिसकी धूल से सब कुछ ओझल हो उठा।

जब प्रद्युम्न, सात्यकि तथा अन्य यदुवीरों ने द्वारका तथा द्वारकावासियों की दयनीय दशा देखी, तो वे शाल्व की सेना से लड़ने के लिए गये। योद्धाओं में श्रेष्ठ प्रद्युम्न ने अपने दैवी हथियारों से शाल्व का सारा भ्रामक जादू ध्वस्त कर दिया और शाल्व को भी मोहित कर दिया। इस तरह शाल्व का विमान पृथ्वी में, आकाश में तथा पर्वत की चोटियों पर निरुद्देश्य चक्कर लगाने लगा। किन्तु तब शाल्व के अनुयायी द्युमान ने प्रद्युम्न की छाती पर अपनी गदा से वार किया। प्रद्युम्न का सारथी अपने स्वामी को बुरी तरह घायल देख कर उन्हें युद्धस्थल से बाहर ले आया, किन्तु प्रद्युम्न को शीघ्र ही चेत हुआ, तो उन्होंने अपने सारथी को इस तरह के कार्य के लिए बुरी तरह से फटकारा।

श्रीशुक उवाच
अथान्यदपि कृष्णस्य शृणु कर्माद्भुतं नृप ।
क्रीडानरशरीरस्य यथा सौभपतिर्हत: ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—अब; अन्यत्—दूसरा; अपि—भी; कृष्णस्य—कृष्ण का; शृणु—सुनो; कर्म—कार्य; अद्भुतम्—विचित्र; नृप—हे राजा; क्रीडा—खिलवाड़ करने के लिए; नर—मनुष्य जैसा; शरीरस्य—शरीर का; यथा—कैसे; सौभ-पति:—सौभ का स्वामी (शाल्व); हत:—मारा गया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, अब उन भगवान् कृष्ण द्वारा सम्पन्न एक अन्य अद्भुत् कार्य सुनो, जो दिव्य लीलाओं का आनन्द लेने के लिए अपने मानव शरीर में प्रकट हुए। अब सुनो कि उन्होंने किस तरह सौभपति का वध किया।

शिशुपालसख: शाल्वो रुक्मिण्युद्वाह आगत: ।
यदुभिर्निर्जित: सङ्ख्ये जरासन्धादयस्तथा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

शिशुपाल-सख:—शिशुपाल का मित्र; शाल्व:—शाल्व नामक; रुक्मिणी-उद्वाहे—रुक्मिणी के विवाह में; आगत:—आया हुआ; यदुभि:—यदुओं द्वारा; निर्जित:—परास्त; सङ्ख्ये—युद्ध में; जरासन्ध-आदय:—जरासन्ध इत्यादि; तथा—भी।

शाल्व शिशुपाल का मित्र था। जब वह रुक्मिणी के विवाह में सम्मिलित हुआ था, तो यदुवीरों ने उसे जरासन्ध तथा अन्य राजाओं समेत युद्ध में परास्त कर दिया था।

शाल्व: प्रतिज्ञामकरोच्छृण्वतां सर्वभूभुजाम् ।
अयादवां क्ष्मां करिष्ये पौरुषं मम पश्यत ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

शाल्व:—शाल्व ने; प्रतिज्ञाम्—प्रतिज्ञा; अकरोत्—की; शृण्वताम्—सुनते हुए; सर्व—सभी; भू-भुजाम्—राजाओं के; अयादवाम्—यादवों से विहीन; क्ष्माम्—पृथ्वी को; करिष्ये—करूँगा; पौरुषम्—पराक्रम; मम—मेरा; पश्यत—जरा देखो।

शाल्व ने समस्त राजाओं के समक्ष प्रतिज्ञा की, ''मैं पृथ्वी को यादवों से विहीन कर दूँगा। जरा मेरे पराक्रम को देखो।''

इति मूढ: प्रतिज्ञाय देवं पशुपतिं प्रभुम् ।
आराधयामास नृप: पांशुमुष्टिं सकृद्ग्रसन् ॥ ॥

शब्दार्थ

इति—इन शब्दों से; मूढः—मूर्ख ने; प्रतिज्ञाय—प्रतिज्ञा करके; देवम्—स्वामी; पशु-पतिम्—पशु सदृश पुरुषों के रक्षक, शिव को; प्रभुम्—अपने स्वामी; आरधयाम् आस—पूजा की; नृपः—राजा; पांशु—धूल की; मुष्टिम्—मुट्ठी; सकृत्—एक बार (नित्य ही); ग्रसन्—खाते हुए।

यह प्रतिज्ञा कर चुकने के बाद वह मूर्ख राजा प्रतिदिन मात्र एक मुट्ठी धूल फाँक कर भगवान् पशुपति (शिव) की पूजा करने लगा।

संवत्सरान्ते भगवानाशुतोष उमापतिः ।
वरेण च्छन्दयामास शाल्वं शरणमागतम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

संवत्सर—एक वर्ष के; अन्ते—अन्त में; भगवान्—भगवान्; आशु-तोषः—तुरन्त प्रसन्न होने वाले; उमा-पतिः—उमा के पति; वरेण—वर से; छन्दयाम् आस—चुनने के लिए; शाल्वम्—शाल्व को; शरणम्—शरण लेने के लिए; आगतम्—आया हुआ।

भगवान् उमापति शीघ्र प्रसन्न होने वाले अर्थात् आशुतोष कहलाते हैं, फिर भी उन्होंने अपनी शरण में आये शाल्व को एक वर्ष के बाद ही यह कह कर तुष्ट किया कि तुम जो वर चाहो माँग सकते हो।

तात्पर्य : शाल्व ने आशुतोष नाम से विख्यात शिवजी की पूजा की। फिर भी शिवजी पूरे एक वर्ष तक उसके समझ नहीं आये क्योंकि भगवान् अर्थात् सर्वज्ञ और महान् होने के नाते वे जान गये थे कि भगवान् कृष्ण के शत्रु को दिया गया कोई भी वर निष्फल होगा तो भी जैसाकि *शरणम् आगतम्* शब्दों से विदित होता है, शाल्व शिवजी की शरण में आया था और प्रामाणिक नियम को बनाये रखने के लिए कि पूजा करने वाले को वर मिलना ही चाहिए इस दृष्टि से शिवजी ने शाल्व को एक वर दिया।

देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
अभेद्यं कामगं वव्रे स यानं वृष्णिभीषणम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

देव—देवताओं द्वारा; असुर—असुरों; मनुष्याणाम्—तथा मनुष्यों को; गन्धर्व—गन्धर्वों द्वारा; उरग—दैवी सर्प; रक्षसाम्—तथा राक्षसगण को; अभेद्यम्—नष्ट न किया जा सकने वाला; काम—इच्छानुसार; गम्—भ्रमण करते हुए; वव्रे—चुना; सः—उसने; यानम्—सवारी, यान; वृष्णि—वृष्णियों को; भीषणम्—भयभीत बनाने के लिए।

शाल्व ने ऐसा यान चुना, जो न तो देवताओं, असुरों, मनुष्यों, गन्धर्वों, उरगों और न ही राक्षसों द्वारा नष्ट किया जा सके और जो उसकी इच्छानुसार कहीं भी यात्रा करा सके और वृष्णियों को भयभीर करा सके।

तथेति गिरिशादिष्टो मयः परपुरंजयः ।
पुरं निर्माय शाल्वाय प्रादात्सौभमयस्मयम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

तथा—ऐसा ही हो; इति—ऐसा कहने के बाद; गिरि-श—शिव द्वारा; आदिष्टः—आदेश दिया; मयः—मय दानव; पर—शत्रु के; पुरम्—नगरों को; जयः—जीतने वाला; पुरम्—नगर; निर्माय—बनाने के लिए; शाल्वाय—शाल्व के लिए; प्रादात्—दिया; सौभम्—सौभ नामक; अयः—लोहे का; मयम्—निर्मित।

शिवजी ने कहा, "ऐसा ही हो।" उनके आदेश पर अपने शत्रुओं के नगरों को जीत लेने वाले मय दानव ने एक लोहे की उड़न नगरी बनाई, जिसका नाम सौभ था और लाकर शाल्व को भेंट कर दी।

स लब्ध्वा कामगं यानं तमोधाम दुरासदम् ।
ययस्द्वारवतीं शाल्वो वैरं वृष्णिकृतं स्मरन् ॥ ८॥

शब्दार्थ

सः—वह; लब्ध्वा—प्राप्त करके; काम-गम्—इच्छानुसार भ्रमण करने वाला; यानम्—यान को; तमः—अंधकार का; धाम—घर; दुरासदम्—जहाँ पहुँचा न जा सके; ययौ—गया; द्वारवतीम्—द्वारका; शाल्वः—शाल्व; वैरम्—शत्रुता; वृष्णि-कृतम्—वृष्णियों द्वारा की गई; स्मरन्—स्मरण करते हुए।

यह दुर्दम्य यान अंधकार से पूर्ण था और कहीं भी जा सकता था। इसे प्राप्त करने पर शाल्व अपने प्रति वृष्णियों की शत्रुता स्मरण करते हुए द्वारका गया।

निरुध्य सेनया शाल्वो महत्या भरतर्षभ ।
पुरीं बभञ्जोपवनानुद्यानानि च सर्वशः ॥ ९॥
सगोपुराणि द्वाराणि प्रासादाट्टालतोलिकाः ।
विहारान्स विमानाछ्यान्निपेतुः शस्त्रवृष्टयः ॥ ॥
शिलाद्रुमाश्चाशनयः सर्पा आसारशर्कराः ।
प्रचण्डश्चक्रवातोऽभूद्रजसाच्छादिता दिशः ॥ ११॥

शब्दार्थ

निरुध्य—घेरा डाल कर; सेनया—सेना के साथ; शाल्वः—शाल्व; महत्या—महान्; भरत-ऋषभ—हे भरत-श्रेष्ठ; पुरीम्—नगर को; बभञ्ज—तोड़ डाला; उपवनान्—वाटिकाओं को; उद्यानानि—बगीचे; च—तथा; सर्वशः—चारों ओर; स-गोपुराणि—बुर्जियों समेत; द्वाराणि—तथा द्वार; प्रासाद—महल; अट्टाल—अटारियाँ; तोलिकाः—तथा चार दीवारियाँ; विहारान्—मनोरंजन के स्थलों को; सः—वह, शाल्व; विमान—हवाईजहाज से; अछ्यात्—सर्वश्रेष्ठ; निपेतुः—गिराया; शस्त्र—हथियारों की; वृष्टयः—वर्षा; शिला—पत्थर; द्रुमाः—तथा वृक्ष; च—भी; अशनयः—वज्र; सर्पाः—सर्प; आसार-शर्कराः—तथा ओले; प्रचण्डः—भयानक; चक्रवातः—बवण्डर; अभूत्—उठा; रजसा—धूल से; आच्छादिताः—ढकी हुई; दिशः—समस्त दिशाएँ।

हे भरतश्रेष्ठ, शाल्व ने विशाल सेना के साथ नगर को घेर लिया और बाहरी वाटिकाओं तथा उद्यानों, अट्टालिकाओं समेत महलों, गोपुरों तथा चार दीवारियों के साथ साथ सार्वजनिक

मनोरंजन स्थलों को भी ध्वस्त कर दिया। उसने अपने इस उत्कृष्ट यान से पत्थरों, वृक्ष के तनों, वज्रों, सर्पों, ओलों इत्यादि हथियारों की वर्षा की। एक भीषण बवण्डर उठ खड़ा हुआ और उसने धूल से सारी दिशाओं को ओझल बना दिया।

इत्यर्द्यमाना सौभेन कृष्णस्य नगरी भृशम् ।
नाभ्यपद्यत शं राजंस्त्रिपुरेण यथा मही ॥ १२॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अर्द्यमाना—सतायी हुई; सौभेन—सौभ नामक विमान से; कृष्णास्य—कृष्ण की; नगरी—पुरी; भृशम्—बुरी तरह से; न अभ्यपद्यत—नहीं पा सका; शम्—शान्ति; राजन्—हे राजन्; त्रि-पुरेण—असुरों की तीन हवाई-नगरियों द्वारा; यथा—जिस तरह; मही—पृथ्वी।

हे राजन्, इस तरह सौभ विमान द्वारा बुरी तरह सताये जाने से कृष्ण की पुरी में अमन-चैन नहीं रहा, जिस तरह असुरों की तीन हवाई-नगरियों द्वारा आक्रमण किये जाने पर पृथ्वी अशान्त हो गई थी।

प्रद्युम्नो भगवान्वीक्ष्य बाध्यमाना निजाः प्रजाः ।
म भैष्टेत्यभ्यधाद्वीरो रथारूढो महायशाः ॥ १३॥

शब्दार्थ

प्रद्युम्नः—प्रद्युम्न; भगवान्—भगवान्; वीक्ष्य—देख कर; बाध्यमानाः—सताया जाकर; निजाः—अपनी; प्रजाः—प्रजा; मा भैष्ट—मत डरो; इति—इस प्रकार; अभ्यधात्—सम्बोधित किये गये; वीरः—महान् वीर; रथ—अपने रथ पर; आरूढः—सवार हुआ; महा—महान्; यशाः—कीर्ति वाला।

अपनी प्रजा को इस प्रकार सताई जाते देखकर यशस्वी तथा वीर भगवान् प्रद्युम्न ने उनसे इस प्रकार कहा, ''डरो मत'' तथा वह अपने रथ पर सवार हो गया।

सात्यकिश्चारुदेष्णश्च साम्बोऽक्रूरः सहानुजः ।
हार्दिक्यो भानुविन्दश्च गदश्च शुकसारणौ ॥ १॥
अपरे च महेष्वासा रथयूथपयूथपाः ।
निर्ययुर्दंशिता गुप्ता रथेभाश्वपदातिभिः ॥ १५॥

शब्दार्थ

सात्यकिः चारुदेष्णः च—सात्यकि तथा चारुदेष्ण; साम्बः—साम्ब; अक्रूरः—एवं अक्रूर; सह—साथ; अनुजः—छोटे भाई; हार्दिक्यः—हार्दिक्य; भानुविन्दः—भानुविन्द; च—तथा; गदः—गद; च—तथा; शुक-सारणौ—शुक एवं सारण; अपरे—अन्य; च—भी; महा—प्रमुख; इष्व्-आसाः—धनुर्धर; रथ—रथ के (योद्धा); यूथ-प—नेताओं के; यूथ-पाः—नेता; निर्ययुः—बाहर चले गये; दंशिताः—कवच धारण किये; गुप्ताः—सुरक्षित; रथ—रथों (पर सवार सैनिकों) द्वारा; इभ—हाथियों; अश्व—तथा घोड़ों; पदातिभिः—तथा पैदल सैनिकों से।

रथियों के प्रमुख सेनापति यथा सात्यकि, चारुदेष्ण, साम्ब, अक्रूर तथा उसके छोटे भाई और उनके साथ ही हार्दिक्य, भानुविन्द, गद, शुक तथा सारण अनेक अन्य प्रमुख धनुर्धरों के साथ कवच धारण करके तथा रथों, हाथियों और घोड़ों पर सवार सैनिकों एवं पैदल सिपाहियों की टुकड़ियों से सुरक्षित होकर नगर से बाहर आ गये।

ततः प्रववृते युद्धं शाल्वानां यदुभिः सह ।
यथासुराणां विबुधैस्तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; प्रववृते—शुरू कर दिया; युद्धम्—युद्ध; शाल्वानाम्—शाल्व के अनुयायियों का; यदुभिः सह—यदुओं के साथ; यथा—जिस तरह; असुराणाम्—असुरों का; विबुधैः—देवताओं के साथ; तुमुलम्—घनघोर; लोम-हर्षणम्—रोंगटे खड़ा करने वाला।.

तब शाल्व की सेनाओं तथा यदुओं के बीच रोंगटे खड़ा कर देने वाला भीषण युद्ध प्रारम्भ हुआ। यह असुरों तथा देवताओं के मध्य हुए महान् युद्ध के तुल्य था।

ताश्च सौभपतेर्माया दिव्यास्त्रै रुक्मिणीसुतः ।
क्षणेन नाशयामास नैशं तम इवोष्णगुः ॥ १७॥

शब्दार्थ

ताः—वे; च—तथा; सौभ-पतेः—सौभ के स्वामी की; मायाः—जादुई माया; दिव्य—दैवी; अस्त्रैः—हथियारों से; रुक्मिणी-सुतः—रुक्मिणी-पुत्र (प्रद्युम्न); क्षणेन—क्षण में; नाशयाम् आस—नष्ट कर दिया; नैशम्—रात्रि का; तमः—अंधकार; इव—सदृश; उष्ण—गर्म; गुः—जिसकी किरणें (सूर्य)।.

प्रद्युम्न ने अपने दैवी हथियारों से शाल्व की सारी माया को क्षण-भर में उसी तरह नष्ट कर दिया, जिस तरह सूर्य की तप्त किरणें रात्रि के अँधेरे को दूर कर देती हैं।

विव्याध पञ्चविंशत्या स्वर्णपुङ्खैरयोमुखैः ।
शाल्वस्य ध्वजिनीपालं शरैः सन्नतपर्वभिः ॥ १८ ॥
शतेनाताडयच्छाल्वमेकैकेनास्य सैनिकान् ।
दशभिर्दशभिर्नेतृन्वाहनानि त्रिभिस्त्रिभिः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

विव्याध—चलाया; पञ्च—पाँच; विंशत्या—बीस; स्वर्ण—सोना; पुङ्खैः—जिनके पुछल्ले; अयः—लोहा के; मुखैः—जिनके सिरे; शाल्वस्य—शाल्व का; ध्वजिनी-पालम्—प्रधान सेनापति; शरैः—तीरों से; सन्नत—समतल; पर्वभिः—जोड़ों से; शतेन—एक सौ; अताडयत्—प्रहार किया; शाल्वम्—शाल्व को; एक-एकेन—प्रत्येक को एक-एक से; अस्य—उसका; सैनिकान्—सिपाही; दशभिः दशभिः—दस-दस करके; नेतृन्—रथ हाँकने वाले; वाहनानि—वाहनों को; त्रिभिः त्रिभिः—प्रत्येक को तीन-तीन से।.

प्रद्युम्न के सारे तीरों के पुछल्ले सोने के, सिरे लोहे के तथा जोड़ एकदम सपाट थे। उसने पच्चीस तीरों से शाल्व के प्रधान सेनापति द्युमान् को मार गिराया और एक सौ तीरों से शाल्व पर प्रहार किया। फिर उसने शाल्व के हर अधिकारी को एक-एक तीर से, सारथियों में से प्रत्येक को दस-दस तीरों से तथा उसके घोड़ों एवं अन्य वाहनों को तीन-तीन बाणों से बेध डाला।

तदद्भुतं महत्कर्म प्रद्युम्नस्य महात्मनः ।
दृष्ट्वा तं पूजयामासुः सर्वे स्वपरसैनिकाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; अद्भुतम्—चकित करने वाले; महत्—बलशाली; कर्म—करतब; प्रद्युम्नस्य—प्रद्युम्न का; महा-आत्मनः—महापुरुष; दृष्ट्वा—देखकर; तम्—उसको; पूजयाम् आसुः—आदर-सम्मान किया; सर्वे—सभी; स्व—अपने पक्ष के; पर—तथा शत्रु पक्ष के; सैनिकाः—सिपाही।.

जब उन्होंने यशस्वी प्रद्युम्न को वह चकित करने वाला तथा बलशाली ऐसा करतब करते देखा, तो दोनों पक्षों के सैनिकों ने उसकी प्रशंसा की।

बहुरूपैकरूपं तद्दृश्यते न च दृश्यते ।
मायामयं मयकृतं दुर्विभाव्यं परैरभूत् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

बहु—अनेक; रूप—रूपों के साथ; एक—एक; रूपम्—रूप के साथ; तत्—वह (सौभ विमान); दृश्यते—दिखाई पड़ता है; न—नहीं; च—तथा; दृश्यते—दिखता है; माया-मयम्—जादूमय; मय—मय दानव द्वारा; कृतम्—बनाया गया; दुर्विभाव्यम्—ढूँढ़ पाना कठिन; परैः—शत्रु (यादवों) द्वारा; अभूत्—बन गया।.

मय दानव द्वारा निर्मित यह मायावी विमान एक क्षण अनेक एक जैसे रूपों में प्रकट होता और दूसरे क्षण पुनः केवल एक रूप में दिखता। कभी यह दिखता और कभी नहीं दिखता था। इस तरह शाल्व के विरोधी यह निश्चित नहीं कर पाते थे कि वह कहाँ है।

क्वचिद्भूमौ क्वचिद्व्योम्नि गिरिमूर्ध्नि जले क्वचित् ।
अलातचक्रवद्भ्राम्यत्सौभं तद्दुरवस्थितम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—एक क्षण में; भूमौ—पृथ्वी पर; क्वचित्—एक क्षण में; व्योम्नि—आकाश में; गिरि—पर्वत की; मूर्ध्नि—चोटी पर; जले—जल में; क्वचित्—कभी; अलात-चक्र—आग का गोला; वत्—सदृश; भ्राम्यत्—घूमते हुए; सौभम्—सौभ को; तत्—उस; दुरवस्थितम्—कभी एक स्थान में न रहते हुए।.

एक क्षण से दूसरे क्षण में सौभ विमान पृथ्वी में, आकाश में, पर्वत की चोटी पर या जल में दिखता था। घूमते हुए अग्नि-पुंज की तरह वह कभी एक स्थान पर नहीं टिकता था।

यत्र यत्रोपलक्ष्येत ससौभः सहसैनिकः ।
शाल्वस्ततस्ततोऽमुञ्चञ्छरान्सात्वतयूथपाः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यत्र यत्र—जहाँ जहाँ; उपलक्ष्येत—दिखता; स-सौभः—सौभ के साथ; सह-सैनिकः—अपने सिपाहियों के साथ; शाल्वः—शाल्व; ततः ततः—वहाँ वहाँ; अमुञ्चन्—छोड़ा, चलाया; शरान्—अपने बाणों को; सात्वत—यदुओं के; यूथ-पाः—सेना के प्रधानों ने।

शाल्व जहाँ जहाँ अपने सौभ यान तथा अपनी सेना के साथ प्रकट होता, वहाँ वहाँ यदु-सेनापति अपने बाण छोड़ते।

शरैरग्न्यर्कसंस्पर्शैराशीविषदुरासदैः ।
पीड्यमानपुरानीकः शाल्वोऽमुह्यत्परेरितैः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

शरैः—बाणों से; अग्नि—अग्नि के समान; अर्क—तथा सूर्य के समान; संस्पर्शैः—स्पर्श से; आशी—सर्प के; विष—विष की तरह; दुरासदैः—असह्य; पीड्यमान—पीड़ित; पुर—वायव-पुरी; अनीकः—तथा जिसकी सेना; शाल्वः—शाल्व; अमुह्यत्—मोहित हो गया; पर—शत्रु द्वारा; ईरितैः—चलाया या छोड़ा गया।

अपने शत्रु के बाणों से त्रस्त हो रही अपनी सेना तथा वायव-पुरी को देखकर शाल्व मोहग्रस्त हो गया, क्योंकि शत्रु के बाण अग्नि तथा सूर्य की तरह प्रहार कर रहे थे और सर्प-विष की तरह असह्य हो रहे थे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि यदु-सेनापतियों के बाण अग्नि की तरह जल रहे थे, चारों ओर से सूर्य की किरणों के समान प्रहार कर रहे थे और सर्प-विष की तरह एक ही बार स्पर्श करने पर प्राणघातक थे।

शाल्वानीकपशस्त्रौघैर्वृष्णिवीरा भृशार्दिताः ।
न तत्यजू रणं स्वं स्वं लोकद्वयजिगीषवः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

शाल्व—शाल्व की; अनीक-प—सेना के नायकों के; शस्त्र—हथियारों की; ओघैः—बाढ़ से; वृष्णि-वीराः—वृष्णि-कुल के वीर; भृश—अत्यन्त; अर्दिताः—पीड़ित; न तत्यजुः—नहीं छोड़ा; रणम्—युद्धभूमि में नियत स्थानों को; स्वम् स्वम्—अपने अपने; लोक—लोक; द्वय—दो; जिगीषवः—जीतने की इच्छा करते हुए।

चूँकि वृष्णि-कुल के वीरगण इस जगत में तथा अगले लोक में विजय पाने के लिए उत्सुक थे, इसलिए उन्होंने रणभूमि में अपने नियत स्थानों का परित्याग नहीं किया, यद्यपि शाल्व के सेनापतियों द्वारा चलाये गये हथियारों की वर्षा से उन्हें त्रास हो रहा था।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''यदुकुल के वीर युद्धभूमि में प्राण गँवाने या विजय प्राप्त करने के लिए कृतसंकल्प थे। उन्हें विश्वास था कि यदि वे लड़ते हुए मरेंगे तो उन्हें स्वर्गलोक की प्राप्ति होगी और यदि वे विजयी हुए तो इस संसार का भोग करेंगे।''

शाल्वामात्यो द्युमान्नाम प्रद्युम्नं प्रक्प्रपीडितः ।
आसाद्य गदया मौर्व्या व्याहत्य व्यनदद्बली ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

शाल्व-अमात्यः—शाल्व का मंत्री; द्युमान् नाम—जिसका नाम द्युमान् था; प्रद्युम्नम्—प्रद्युम्न को; प्राक्—पहले; प्रपीडितः—आघात किया था; आसाद्य—सामना करते हुए; गदया—अपनी गदा से; मौर्व्या—लोहे से बनी; व्याहत्य—प्रहार करके; व्यनदत्—गर्जना की; बली—शक्तिशाली।

शाल्व का मंत्री द्युमान्, जो इसके पूर्व श्री प्रद्युम्न द्वारा घायल कर दिया गया था, अब जोर से गरजता हुआ उनके पास आया और उसने उन पर काले इस्पात की बनी अपनी गदा से प्रहार किया।

प्रद्युम्नं गदया सीर्णवक्षःस्थलमरिंदमम् ।
अपोवाह रणात्सूतो धर्मविद्दारुकात्मजः ॥ २७॥

शब्दार्थ

प्रद्युम्नम्—प्रद्युम्न को; गदया—गदा से; शीर्ण—क्षत-विक्षत; वक्षः-स्थलम्—छाती; अरिम्—शत्रुओं के; दमम्—दमनकर्ता ने; अपोवाह—हटा लिया; रणात्—युद्धक्षेत्र से; सूतः—अपना सारथी; धर्म—अपने धर्म के; वित्—जानकार; दारुक-आत्मजः—दारुक-पुत्र (कृष्ण का सारथी)।

प्रद्युम्न के सारथी दारुक-पुत्र ने सोचा कि उसके वीर स्वामी की छाती गदा से क्षत-विक्षत हो चुकी है, अतः उसने अपने धार्मिक कर्तव्य को भलीभाँति जानते हुए प्रद्युम्न को युद्धभूमि से हटा लिया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि प्रद्युम्न का शरीर सच्चिदानन्द स्वरूप था, जो कभी भी संसारी हथियारों से घायल नहीं हो सकता था। किन्तु दारुक का पुत्र भगवान् का महान् भक्त था और प्रगाढ़ प्रेम के कारण अपने स्वामी को विपत्ति में जान कर उसने उन्हें युद्धक्षेत्र से हटा दिया।

श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''शाल्व के सेनापति का नाम द्युमान् था। वह अत्यन्त बलवान था और यद्यपि वह प्रद्युम्न के पच्चीस बाणों का मजा चख चुका था किन्तु उसने सहसा अपनी भयानक गदा से प्रद्युम्न पर आक्रमण कर दिया और इतनी तेजी से प्रहार किया कि प्रद्युम्न अचेत हो गया। तुरन्त ही

गर्जना हुई, ''अब वह मर गया! अब वह मर गया!'' गदा का प्रहार प्रद्युम्न की छाती पर इतना गम्भीर था कि उससे सामान्य व्यक्ति की छाती क्षत-विक्षत हो जाती।''

लब्धसञ्ज्ञो मुहूर्तेन कार्ष्णिः सारथिमब्रवीत् ।
अहो असाध्विदं सूत यद्रणान्मेऽपसर्पणम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

लब्ध—प्राप्त करके; संज्ञः—होश; मुहूर्तेन—क्षण-भर में; कार्ष्णिः—कृष्ण के पुत्र ने; सारथिम्—सारथी से; अब्रवीत्—कहा; अहो—ओह; असाधु—अनुचित; इदम्—यह; सूत—हे सारथी; यत्—जो; रणात्—युद्धभूमि से; मे—मेरा; अपसर्पणम्—ले जाया गया हुआ।

तुरन्त ही होश आने पर भगवान् कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न ने अपने सारथी से कहा, ''हे सारथी, यह निन्दनीय है कि तुम मुझे युद्धक्षेत्र से हटा लाये हो।''

न यदूनां कुले जातः श्रूयते रणविच्युतः ।
विना मत्क्लीबचित्तेन सूतेन प्राप्तकिल्बिषात् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यदूनाम्—यदुओं के; कुले—परिवार में; जातः—उत्पन्न; श्रूयते—सुना जाता है; रण—युद्धक्षेत्र से; विच्युतः—परित्यक्त; विना—के अलावा; मत्—मुझको; क्लीब—नपुंसक की तरह; चित्तेन—जिसकी मनोवृत्ति; सूतेन—सारथी के कारण; प्राप्त—पाया हुआ; किल्बिषात्—दाग।

''मेरे अतिरिक्त यदुवंश के जन्मे किसी ने कभी युद्धभूमि का परित्याग नहीं किया। अब तो मेरी ख्याति एक सारथी द्वारा कलंकित हो चुकी है, जो एक नपुंसक की तरह सोचता है।''

किं नु वक्ष्येऽभिसङ्गम्य पितरौ रामकेशवौ ।
युद्धात्सम्यगपक्रान्तः पृष्टस्तत्रात्मनः क्षमम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; नु—तब; वक्ष्ये—कहूँगा; अभिसङ्गम्य—भेंट करके; पितरौ—अपने दोनों पिताओं से; राम-केशवौ—बलराम तथा कृष्ण; युद्धात्—युद्ध से; सम्यक्—सर्वथा; अपक्रान्तः—भागा हुआ; पृष्टः—पूछे जाने पर; तत्र—उस अवस्था में; आत्मनः—अपने; क्षमम्—योग्य।

मैं अपने पिता-द्वय राम तथा केशव से क्या कहूँगा, जब युद्ध से यों ही भाग कर मैं उनके पास वापस जाऊँगा? मैं उनसे क्या कह पाऊँगा, जो मेरी प्रतिष्ठा के अनुरूप हो?

तात्पर्य : श्री प्रद्युम्न ने यहाँ पर *पितरौ* शब्द का प्रयोग यो ही गलती से किया है। भगवान् बलराम तो उनके ताऊ थे।

व्यक्तं मे कथयिष्यन्ति हसन्त्यो भ्रातृजामयः ।
क्लैब्यं कथं कथं वीर तवान्यैः कथ्यतां मृधे ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

व्यक्तम्—निश्चय ही; मे—मेरी; कथयिष्यन्ति—कहेंगे; हसन्त्यः—हँस हँस कर; भ्रातृ-जामयः—भाभियाँ; क्लैब्यम्—क्लीवता; कथम्—कैसे; कथम्—कैसे; वीर—हे वीर; तव—तुम्हारा; अन्यैः—तुम्हारे शत्रुओं द्वारा; कथ्यताम्—बतलाओ; मृधे—युद्ध में।.

''निश्चय ही मेरी भाभियाँ मुझ पर हँसेंगी और कहेंगी, ''हे वीर, हमें यह तो बताओ कि किस तरह इस संसार में तुम्हारे शत्रुओं ने तुम्हें युद्ध में ऐसा कायर बना दिया।''

सारथिरुवाच
धर्मं विजानतायुष्मन्कृतमेतन्मया विभो ।
सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेद्रथिनं सारथिं रथी ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

सारथिः उवाच—सारथी ने कहा; धर्मम्—धर्म द्वारा संस्तुत; विजानता—अच्छी तरह जानने वाले के द्वारा; आयुः-मन्—हे दीर्घजीवी; कृतम्—किया गया; एतत्—यह; मया—मेरे द्वारा; विभो—हे प्रभु; सूतः—सारथी; कृच्छ्र—कठिनाई में; गतम्—गया हुआ; रक्षेत्—रक्षा करनी चाहिए; रथिनम्—रथ के स्वामी की; सारथिम्—अपने सारथी को; रथी—रथ का स्वामी।.

सारथी ने उत्तर दिया : हे दीर्घायु, मैंने अपने निर्दिष्ट कर्तव्य को अच्छी तरह जानते हुए ही ऐसा किया है। हे प्रभु, सारथी को चाहिए कि जब उसका स्वामी संकट में हो, तो उसकी रक्षा करे और स्वामी को भी चाहिए कि वह अपने सारथी की रक्षा करे।

एतद्विदित्वा तु भवान्मयापोवाहितो रणात् ।
उपसृष्टः परेणेति मूर्च्छितो गदया हतः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; विदित्वा—जान कर; तु—निस्सन्देह; भवान्—आप; मया—मेरे द्वारा; अपोवाहितः—हटाये गये; रणात्—युद्धभूमि से; उपसृष्टः—चोट खाये; परेण—शत्रु द्वारा; इति—इस तरह सोचते हुए; मूर्च्छितः—बेहोश; गदया—अपनी गदा से; हतः—प्रहार किया हुआ।.

इस नियम को मन में रखते हुए मैंने आपको युद्धस्थल से हटा लिया, क्योंकि आप अपने शत्रु की गदा से आहत होकर बेहोश हो गये थे और मैंने सोचा कि आप बुरी तरह से घायल हैं।

इस तरह श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''शाल्व तथा वृष्णियों के मध्य युद्ध'' नामक छिहत्तरवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सतहत्तर

कृष्ण द्वारा शाल्व का वध

इस अध्याय में इसका वर्णन है कि भगवान् कृष्ण ने किस तरह मायाजाल के स्वामी, शाल्व का अन्त करके उसके विमान, सौभ को नष्ट कर दिया।

युद्धक्षेत्र से हटाये जाने पर प्रद्युम्न अत्यधिक लज्जित था, अत: उसने अपने सारथी को आज्ञा दी कि वह पुन: द्युमान् के सामने उसके रथ को ले चले। जब प्रद्युम्न द्युमान् से लड़ रहा था, तो गद, सात्यकि तथा साम्ब जैसे यदुवीरों ने शाल्व की सेना में भगदड़ मचा दी। इस तरह यह युद्ध सत्ताइस दिन-रात चलता रहा।

जब भगवान् कृष्ण द्वारका लौटे, तो इसे उन्होंने घिरा पाया। उन्होंने तुरन्त दारुक को आज्ञा दी कि वह उन्हें युद्धक्षेत्र ले चले। सहसा शाल्व ने भगवान् को देख लिया और उसने कृष्ण के सारथी पर अपना भाला फेंका, लेकिन भगवान् ने इसको सैकड़ों टुकड़ों में खण्ड-खण्ड कर डाला और शाल्व तथा उसके सौभ-यान को अनेक बाणों से बेध डाला। शाल्व ने बदले में एक तीर छोड़ा, जो कृष्ण की बाईं भुजा में लगा। विचित्र बात यह हुई कि इस हाथ से पकड़ा हुआ उनका शार्ङ्ग धनुष गिर पड़ा। इस तरह धनुष को गिरते देखकर युद्ध देख रहे देवतागण इसे संकट का संकेत समझ कर चिल्ला पड़े, किन्तु शाल्व ने इस अवसर का उपयोग कृष्ण को अपमानित करने के लिए किया।

तब कृष्ण ने अपनी गदा से शाल्व पर प्रहार तो किया, लेकिन वह असुर रक्त वमन करता हुआ अदृश्य हो गया। एक क्षण के पश्चात् कृष्ण के समक्ष एक व्यक्ति आया और प्रणाम करने के बाद अपना परिचय देवकी माता के दूत के रूप में दिया। उस व्यक्ति ने भगवान् को जानकारी दी कि उनके पिता वसुदेव का अपहरण शाल्व ने कर लिया है। यह सुनकर भगवान् कृष्ण सामान्य व्यक्ति की भाँति शोक करते प्रतीत होने लगे। तब शाल्व वसुदेव जैसे ही एक व्यक्ति को आगे करके आता दिखा। उसने उसका सिर काटकर अपने सौभ विमान में रख लिया। किन्तु भगवान् कृष्ण शाल्व की जादूगरी की चाल समझ गये। अत: उन्होंने शाल्व को बाणों की बौछार से बेध डाला और सौभ-यान पर अपनी गदा का प्रहार करके उसे नष्ट कर दिया। शाल्व अपने विमान से उतर कर कृष्ण पर आक्रमण करने के लिए लपका, किन्तु भगवान् ने अपना सुदर्शन चक्र उठाया और शाल्व का सिर काट लिया।

शाल्व के मरते समय देवताओं ने हर्ष से आकाश में दुन्दुभियाँ बजाईं। तब उसके मित्र दन्तवक्र ने शाल्व की मृत्यु का बदला लेने का प्रण किया।

श्रीशुक उवाच
स उपस्पृश्य सलिलं दंशितो धृतकार्मुकः ।
नय मां द्युमतः पार्श्वं वीरस्येत्याह सारथिम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह (प्रद्युम्न); उपस्पृश्य—छूकर; सलिलम्—जल; दंशितः—अपना कवच पहन कर; धृत—धारण करके; कार्मुकः—अपना धनुष; नय—ले चलो; माम्—मुझको; द्युमतः—द्युमान् के; पार्श्वम्—पास; वीरस्य—वीर के; इति—इस प्रकार; आह—बोला; सारथिम्—अपने रथचालक से।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जल से अपने को तरोताजा करने के बाद, अपना कवच पहन कर तथा अपना धनुष लेकर भगवान् प्रद्युम्न ने अपने सारथी से कहा, ''मुझे वहीं वापस ले चलो, जहाँ वीर द्युमान् खड़ा है।''

तात्पर्य : प्रद्युम्न अपनी इस त्रुटि को सुधारना चाह रहे थे कि उनके बेहोश होने पर उनका सारथी उन्हें युद्धभूमि से हटा कर ले आया था।

विधमन्तं स्वसैन्यानि द्युमन्तं रुक्मिणीसुतः ।
प्रतिहत्य प्रत्यविध्यान्नाराचैरष्टभिः स्मयन् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

विधमन्तम्—तहस-नहस करके; स्व—अपने; सैन्यानि—सैनिकों को; द्युमन्तम्—द्युमान् को; रुक्मिणी-सुतः—रुक्मिणी-पुत्र (प्रद्युम्न); प्रतिहत्य—उलट कर आक्रमण करके; प्रत्यविध्यात्—उलट कर वार किया; नाराचैः—लोह के बने विशेष बाणों से; अष्टभिः—आठ; स्मयन्—हँसते हुए।

प्रद्युम्न की अनुपस्थिति में द्युमान् उसकी सेना को तहस-नहस किये जा रहा था, किन्तु अब प्रद्युम्न ने द्युमान् पर बदले में आक्रमण कर दिया और हँसते हुए आठ *नाराच* बाणों से उसे बेध दिया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका है कि प्रद्युम्न ने द्युमान् को यह कहकर ललकारा, ''अब जरा मुझे मार कर देखो!'' यह कहकर तथा द्युमान् को अस्त्र चलाने का अवसर देकर प्रद्युम्न ने अपने घातक बाण छोड़े।

चतुर्भिश्चतुरो वाहान्सूतमेकेन चाहनत् ।
द्वाभ्यं धनुश्च केतुं च शरेणान्येन वै शिरः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

चतुर्भिः—चार (बाणों) से; चतुरः—चार; वाहान्—सवारियों को; सूतम्—सारथी को; एकेन—एक से; च—तथा; अहनत्—मारा; द्वाभ्याम्—दो से; धनुः—धनुष; च—तथा; केतुम्—झंडे को; च—तथा; शरेण—बाण से; अन्येन—दूसरे; वै—निस्सन्देह; शिरः—सिर।

इन बाणों में से चार से उसने द्युमान् के चार घोड़ों को, एक बाण से उसके सारथी को तथा दो अन्य बाणों से उसके धनुष तथा रथ के झंडे को और अन्तिम बाण से द्युमान् के सिर पर प्रहार किया।

गदसात्यकिसाम्बाद्या जघ्नुः सौभपतेर्बलम् ।
पेतुः समुद्रे सौभेयाः सर्वे सञ्छिन्नकन्धराः ॥ ॥

शब्दार्थ

गद-सात्यकि-साम्ब-आद्याः—गद, सात्यकि, साम्ब तथा अन्यों ने; जघ्नुः—मार डाला; सौभ-पतेः—सौभ के स्वामी (शाल्व) की; बलम्—सेना को; पेतुः—वे गिर पड़े; समुद्रे—समुद्र में; सौभेयाः—सौभ के भीतर खड़े हुए; सर्वे—सारे लोग; सञ्छिन्न—कटी हुई; कन्धराः—गर्दनों वाले।

गद, सात्यकि, साम्ब तथा अन्य वीर शाल्व की सेना का संहार करने लगे और इस तरह विमान के भीतर के सारे सिपाही गर्दनें कट जाने से समुद्र में गिरने लगे।

एवं यदूनां शाल्वानां निघ्नतामितरेतरम् ।
युद्धं त्रिनवरात्रं तदभूत्तुमुलमुल्बणम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; यदूनाम्—यदुओं के; शाल्वानाम्—तथा शाल्व के अनुयायियों के; निघ्नताम्—प्रहार करते हुए; इतर-इतरम्—एक-दूसरे पर; युद्धम्—युद्ध; त्रि—तीन बार; नव—नौ; रात्रम्—रातों तक; तत्—वह; अभूत्—था; तुमुलम्—घनघोर; उल्बणम्—भयावना।

इस तरह यदुगण तथा शाल्व के अनुयायी एक-दूसरे पर आक्रमण करते रहे और यह घनघोर भयानक युद्ध सत्ताईस दिनों तथा रातों तक चलता रहा।

इन्द्रप्रस्थं गतः कृष्ण आहूतो धर्मसूनुना ।
राजसूयेऽथ निवृत्ते शिशुपाले च संस्थिते ॥ ६ ॥
कुरुवृद्धाननुज्ञाप्य मुनींश्च ससुतां पृथाम् ।
निमित्तान्यतिघोराणि पश्यन्द्वारवतीं ययौ ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रप्रस्थम्—पाण्डवों की राजधानी इन्द्रप्रस्थ को; गतः—गये हुए; कृष्णः—भगवान् कृष्ण; आहूतः—बुलाये गये; धर्म-सूनुना—साक्षात् धर्म, यमराज, के पुत्र (राजा युधिष्ठिर) द्वारा; राजसूये—राजसूय यज्ञ में; अथ—तब; निवृत्ते—पूर्ण होने पर; शिशुपाले—शिशुपाल के; च—और; संस्थिते—मारे जाने पर; कुरु-वृद्धान्—कुरुवंश के बड़े-बूढ़ों से; अनुज्ञाप्य—विदा

लेकर; मुनीन्—मुनियों से; च—तथा; स—सहित; सुताम्—पुत्रों (पाण्डवगण) को; पृथाम्—रानी कुन्ती को; निमित्तानि—अपशकुन; अति—अत्यन्त; घोराणि—भयानक; पश्यन्—देखते हुए; द्वारवतीम्—द्वारका; ययौ—चले गये।

धर्म-पुत्र युधिष्ठिर द्वारा आमंत्रित किये जाने पर भगवान् कृष्ण इन्द्रप्रस्थ गये हुए थे। अब जब राजसूय यज्ञ पूरा हो चुका था और शिशुपाल मारा जा चुका था, तो भगवान् को अपशकुन दिखने लगे। अतः उन्होंने कुरुवंशी बड़े-बूढ़ों तथा महान् ऋषियों से एवं अपनी बुआ—पृथा तथा उनके पुत्रों से भी विदा ली और द्वारका लौट आये।

आह चाहमिहायात आर्यमिश्राभिसङ्गतः ।
राजन्याश्चैद्यपक्षीया नूनं हन्युः पुरीं मम ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

आह—उन्होंने कहा; च—तथा; अहम्—मैं; इह—इस स्थान में (इन्द्रप्रस्थ); आयातः—आया हुआ; आर्य—मेरे अग्रज (बलराम); मिश्र—प्रसिद्ध पुरुष; अभिसङ्गतः—साथ में; राजन्याः—राजा; चैद्य-पक्षीयाः—चैद्य (शिशुपाल) के पक्षधर; नूनम्—निश्चय ही; हन्युः—आक्रमण कर रहे होंगे; पुरीम्—नगरी; मम—मेरी।

भगवान् ने अपने आप (मन ही मन) कहा : चूँकि मैं यहाँ अपने पूज्य ज्येष्ठ भ्राता सहित आया हूँ, शिशुपाल के पक्षधर राजा निश्चित ही मेरी राजधानी पर आक्रमण कर रहे होंगे।

वीक्ष्य तत्कदनं स्वानां निरूप्य पुररक्षणम् ।
सौभं च शाल्वराजं च दारुकं प्राह केशवः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

वीक्ष्य—देखकर; तत्—वह; कदनम्—विनाश; स्वानाम्—अपने व्यक्तियों का; निरूप्य—व्यवस्था करके; पुर—पुरी का; रक्षणम्—रक्षा के लिए; सौभम्—सौभ-यान; च—तथा; शाल्व-राजम्—शाल्व प्रदेश का राजा; च—तथा; दारुकम्—अपने सारथी दारुक से; प्राह—बोले; केशवः—भगवान् कृष्ण।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : द्वारका पहुँचने पर, उन्होंने देखा कि लोग किस तरह विनाश से भयभीत हैं और शाल्व तथा उसके सौभ विमान को भी देखा, तो केशव ने नगरी की सुरक्षा के लिए आयोजना की और फिर दारुक से निम्नवत् बोले।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने श्री बलराम को नगरी की सुरक्षा करने के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान पर तैनात कर दिया और श्री रुक्मिणी तथा अन्तःपुर की अन्य रानियों के लिए विशेष रक्षक नियुक्त कर दिया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार विशिष्ट सैनिक गुप्त रास्ते से रानियों को द्वारका के भीतर सुरक्षित स्थान पर सकुशल ले गये।

रथं प्रापय मे सूत शाल्वस्यान्तिकमाशु वै ।
सम्भ्रमस्ते न कर्तव्यो मायावी सौभराडयम् ॥ ॥

शब्दार्थ

रथम्—रथ को; प्रापय—लाओ; मे—मेरे; सूत—हे सारथी; शाल्वस्य—शाल्व के; अन्तिकम्—निकट; आशु—तेजी से; वै—निस्सन्देह; सम्भ्रमः—मोह; ते—तुम्हारे द्वारा; न कर्तव्यः—अनुभव नहीं होना चाहिए; माया-वी—महान् जादूगर; सौभ-राट्—सौभ का स्वामी; अयम्—यह।

[भगवान् कृष्ण ने कहा]: हे सारथी, शीघ्र ही मेरा रथ शाल्व के निकट ले चलो। यह सौभ-पति शक्तिशाली जादूगर है, तुम उससे विमोहित नहीं होना।

इत्युक्तश्चोदयामास रथमास्थाय दारुकः ।
विशन्तं ददृशुः सर्वे स्वे परे चारुणानुजम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—कहा गया; चोदयाम् आस—आगे बढ़ाया; रथम्—रथ को; आस्थाय—नियंत्रण अपने हाथ में लेकर; दारुकः—दारुक ने; विशन्तम्—घुसते हुए; ददृशुः—देखा; सर्वे—सबों के; स्वे—अपने; परे—विपक्षी दल में; च—भी; अरुण-अनुजम्—अरुण के छोटे भाई (गरुड़, जो कृष्ण की ध्वजा में थे) को।

इस तरह आदेश दिये जाने पर दारुक ने भगवान् के रथ की रास सँभाली और उसे आगे हाँका। ज्योंही रथ युद्धभूमि में प्रविष्ट हुआ, तो वहाँ पर उपस्थित शत्रु तथा मित्र हर एक की गरुड़ के प्रतीक की ओर दृष्टि पड़ी।

शाल्वश्च कृष्णमालोक्य हतप्रायबलेश्वरः ।
प्राहरत्कृष्णसूतय शक्तिं भीमरवां मृधे ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

शाल्वः—शाल्व ने; च—तथा; कृष्णम्—कृष्ण को; आलोक्य—देखकर; हत—नष्ट; प्राय—लगभग; बल—सेना का; ईश्वरः—स्वामी; प्राहरत्—उसने चलाया; कृष्ण-सूताय—कृष्ण के सारथी पर; शक्तिम्—अपना भाला; भीम—डरावना; रवाम्—गर्जन की ध्वनि; मृधे—युद्धस्थल में।

जब नष्ट-प्राय सेना के स्वामी शाल्व ने कृष्ण को पास आते देखा, तो उसने भगवान् के सारथी पर अपना भाला फेंका। यह भाला युद्धभूमि में से होकर उड़ते समय भयावह गर्जना कर रहा था।

तामापतन्तीं नभसि महोल्कामिव रंहसा ।
भासयन्तीं दिशः शौरिः सायकैः शतधाच्छिनत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; आपतन्तीम्—उड़ते हुए; नभसि—आकाश में; महा—महान्; उल्काम्—टूटता तारा; इव—सदृश; रंहसा—तेजी से; भासयन्तीम्—प्रकाश करते हुए; दिशः—दिशाओं को; शौरिः—भगवान् कृष्ण ने; सायकैः—बाणों से; शतधा—सैकड़ों खण्डों में; अच्छिनत्—काट दिया।

शाल्व द्वारा फेंके गये भाले ने सारे आकाश को अत्यन्त तेजवान् उल्का तारे की तरह प्रकाशित कर दिया, किन्तु भगवान् शौरि ने अपने बाणों से इस महान् अस्त्र को सैकड़ों खण्डों में छिन्न-भिन्न कर डाला।

तं च षोडशभिर्विद्ध्वा बानैः सौभं च खे भ्रमत् ।
अविध्यच्छरसन्दोहैः खं सूर्य इव रश्मिभिः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको, शाल्व को; च—तथा; षोडशभिः—सोलह; विद्ध्वा—बेध कर; बाणैः—बाणों से; सौभम्—सौभ को; च—भी; खे—आकाश में; भ्रमत्—घूमते हुए; अविध्यत्—प्रहार किया; शर—बाणों से; सन्दोहैः—मूसलाधार वर्षा से; खम्—आकाश को; सूर्यः—सूर्य; इव—सदृश; रश्मिभिः—अपनी किरणों से।

तब भगवान् कृष्ण ने शाल्व को सोलह बाणों से बेध दिया तथा आकाश में इधर-उधर घूमते हुए सौभ विमान पर बाणों की वर्षा से प्रहार किया। बाणों की वर्षा करते हुए भगवान् उस सूर्य की तरह लग रहे थे, जो अपनी किरणों से आकाश को आप्लावित करता है।

शाल्वः शौरेस्तु दोः सव्यं सशार्ङ्गं शार्ङ्गधन्वनः ।
बिभेद न्यपतद्धस्ताच्छार्ङ्गमासीत्तदद्भुतम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

शाल्वः—शाल्व; शौरेः—भगवान् कृष्ण के; तु—लेकिन; दोः—बाहु; सव्यम्—बाईं; स—सहित; शार्ङ्गम्—भगवान् का धनुष, जो शार्ङ्ग कहलाता है; शार्ङ्ग-धन्वनः—शाङ्र्गधन्वा कहलाने वाले; बिभेद—प्रहार किया; न्यपतत्—गिर पड़ा; हस्तात्—हाथ से; शार्ङ्गम्—शार्ङ्ग धनुष; असीत्—था; तत्—यह; अद्भुतम्—विचित्र।

तब शाल्व ने भगवान् कृष्ण की बाईं बाँह पर प्रहार किया, जिसमें वे अपना शार्ङ्ग धनुष पकड़े थे। विचित्र बात यह हुई कि यह धनुष उनके हाथ से गिर गया।

हाहाकारो महानासीद्भूतानां तत्र पश्यताम् ।
निनद्य सौभराडुच्चैरिदमाह जनार्दनम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

हाहा-कारः—निराशा की चिल्लाहट; महान्—अत्यधिक; आसीत्—हुई; भूतानाम्—जीवों में; तत्र—वहाँ; पश्यताम्—देख रहे; निनद्य—गरजकर; सौभ-राट्—सौभ के स्वामी ने; उच्चैः—तेजी से; इदम्—यह; आह—कहा; जनार्दनम्—कृष्ण से।

जो यह घटना देख रहे थे, वे सब हाहाकार करने लगे। तब सौभ के स्वामी ने जोर-जोर से गरजकर जनार्दन से इस प्रकार कहा।

यत्त्वया मूढ नः सख्युर्भ्रातुर्भार्या हृतेक्षताम् ।
प्रमत्तः स सभामध्ये त्वया व्यापादितः सखा ॥ १७॥
तं त्वाद्य निशितैर्बाणैरपराजितमानिनम् ।
नयाम्यपुनरावृत्तिं यदि तिष्ठेर्ममाग्रतः ॥ १८॥

शब्दार्थ

यत्—चूँकि; त्वया—तुम्हारे द्वारा; मूढ—हे मूर्ख; नः—हमारे; सख्युः—मित्र (शिशुपाल) की; भ्रातुः—(अपने) भाई की; भार्या—पत्नी; हृता—हरण की गई; ईक्षताम्—हमारे देखते-देखते; प्रमत्तः—लापरवाह; सः—वह, शिशुपाल; सभा—(राजसूय यज्ञ की) सभा; मध्ये—में; त्वया—तुम्हारे द्वारा; व्यापादितः—मारा गया; सखा—मेरा मित्र; तम् त्वा—वही तुम; अद्य—आज; निशितैः—तीक्ष्ण; बाणैः—बाणों से; अपराजित—न जीता जा सकने वाला; मानिनम्—माने वाले; नयामि—भेज दूँगा; अपुनः-आवृत्तिम्—ऐसे लोक में जहाँ से लौटना नहीं होगा; यदि—यदि; तिष्ठेः—तुम खड़े होगे; मम—मेरे; अग्रतः—सामने।

[शाल्व ने कहा] : रे मूर्ख! चूँकि हमारी उपस्थिति में तुमने हमारे मित्र और अपने ही भाई शिशुपाल की मंगेलर का अपहरण किया है और उसके बाद जब वह सतर्क नहीं था, तो पवित्र सभा में तुमने उसकी हत्या कर दी है, इसलिए आज मैं अपने तेज बाणों से तुम्हें ऐसे लोक में भेज दूँगा, जहाँ से लौटना नहीं होता। यद्यपि तुम अपने को अपराजेय मानते हो, किन्तु यदि तुम मेरे समक्ष खड़े होने का साहस करो, तो मैं तुम्हें अभी मार डालूँगा।

श्रीभगवानुवाच
वृथा त्वं कत्थसे मन्द न पश्यस्यन्तिकेऽन्तकम् ।
पौरुसं दर्शयन्ति स्म शूरा न बहुभाषिणः ॥ १९॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; वृथा—व्यर्थ ही; त्वम्—तुम; कत्थसे—डींग मारते हो; मन्द—हे मूर्ख; न पश्यसि—नहीं देख रहे; अन्तिके—निकट; अन्तकम्—मृत्यु; पौरुषम्—अपना पराक्रम; दर्शयन्ति—दिखलाते हैं; स्म—निस्सन्देह; शूराः—बहादुर जन; न—नहीं; बहु—अधिक; भाषिणः—बोलने वाले।

भगवान् ने कहा : रे मूर्ख! तुम व्यर्थ ही डींग मार रहे हो, क्योंकि तुम अपने निकट खड़ी मृत्यु को देख नहीं पा रहे हो। असली वीर कभी अधिक बातें नहीं करते, अपितु कार्य करके अपना पौरुष प्रदर्शित करते हैं।

इत्युक्त्वा भगवाञ्छाल्वं गदया भीमवेगया ।
तताड जत्रौ संरब्धः स चकम्पे वमन्नसृक् ॥ २०॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कह कर; भगवान्—भगवान् ने; शाल्वम्—शाल्व को; गदया—अपनी गदा से; भीम—भयानक; वेगया—वेग से; तताड—प्रहार किया; जत्रौ—कंधे की हड्डी पर; संरब्धः—क्रुद्ध; सः—वह; चकम्पे—काँप उठा; वमन्—कै करता; असृक्—रक्त।

ऐसा कह कर क्रुद्ध हुए भगवान् ने भयावनी शक्ति तथा अत्यन्त वेग से अपनी गदा घुमाई और उसे शाल्व के कंधे की हड्डी पर दे मारा, जिससे वह छटपटा उठा और रक्त वमन करने लगा।

गदायां सन्निवृत्तायां शाल्वस्त्वन्तरधीयत ।
ततो मुहूर्त आगत्य पुरुषः शिरसाच्युतम् ।
देवक्या प्रहितोऽस्मीति नत्वा प्राह वचो रुदन् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

गदायाम्—गदा के; सन्निवृत्तायाम्—वापस आ जाने पर; शाल्वः—शाल्व; तु—लेकिन; अन्तरधीयत—अदृश्य हो गया; ततः—तब; मुहूर्ते—क्षण-भर में; आगत्य—आकर; पुरुषः—व्यक्ति; शिरसा—अपने सिर से; अच्युतम्—भगवान् कृष्ण को; देवक्या—माता देवकी द्वारा; प्रहितः—भेजा गया; अस्मि—हूँ; इति—ऐसा कहते हुए; नत्वा—नमन करके; प्राह—बोला; वचः—ये शब्द; रुदन्—रोते हुए।

लेकिन भगवान् अच्युत द्वारा अपनी गदा वापस लेते ही शाल्व दृष्टि से ओझल हो गया और उसके एक पल बाद एक व्यक्ति भगवान् के पास आया। उनके समक्ष नतमस्तक होकर उसने कहा, ''मुझे देवकी ने भेजा है'' और रोते हुए उसने निम्नलिखित शब्द कहे।

कृष्ण कृष्ण महाबाहो पिता ते पितृवत्सल ।
बद्ध्वापनीतः शाल्वेन सौनिकेन यथा पशुः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण कृष्ण—हे कृष्ण, हे कृष्ण; महा-बाहो—हे बलशाली भुजाओं वाले; पिता—पिता; ते—तुम्हारा; पितृ—अपने माता-पिता के; वत्सल—हे प्रिय; बद्ध्वा—बाँध करके; अपनीतः—ले जाये गये; शाल्वेन—शाल्व द्वारा; सौनिकेन—कसाई द्वारा; यथा—जिस तरह; पशुः—घरेलू पशु।

[उस व्यक्ति ने कहा] : हे कृष्ण, हे कृष्ण, हे महाबाहु, हे अपने माता-पिता के प्रिय, शाल्व तुम्हारे पिता को बाँध कर उसी तरह ले गया है, जिस तरह कसाई किसी पशु का वध करने के लिए ले जाता है।

निशम्य विप्रियं कृष्णो मानुसीं प्रकृतिं गतः ।
विमनस्को घृणी स्नेहाद्बभाषे प्राकृतो यथा ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; विप्रियम्—क्षुब्ध करने वाले शब्दों को; कृष्ण:—भगवान् कृष्ण ने; मानुषीम्—मनुष्य की तरह; प्रकृतिम्—स्वभाव; गत:—बनाकर; विमनस्क:—दुखी; घृणी—करुणापूर्ण; स्नेहात्—स्नेह के वशीभूत; बभाषे—बोले; प्राकृत:—सामान्य व्यक्ति; यथा—जिस तरह।

जब उन्होंने यह क्षुब्धकारी समाचार सुना, तो सामान्य मनुष्य की भूमिका निर्वाह कर रहे भगवान् कृष्ण ने खेद तथा करुणा व्यक्त की और अपने माता-पिता के प्रति प्रेमवश उन्होंने सामान्य बद्धजीव जैसे शब्द कहे।

कथं राममसम्भ्रान्तं जित्वाजेयं सुरासुरै: ।
शाल्वेनाल्पीयसा नीत: पिता मे बलवान्विधि: ॥ २ ॥

शब्दार्थ

कथम्—किस तरह; रामम्—बलराम को; असम्भ्रान्तम्—विचलित न होने वाले; जित्वा—जीत कर; अजेयम्—अजेय; सुर—देवताओं द्वारा; असुरै:—तथा असुरों द्वारा; शाल्वेन—शाल्व द्वारा; अल्पीयसा—अत्यल्प; नीत:—ले जाया गया; पिता—पिता; मे—मेरा; बल-वान्—शक्तिशाली; विधि:—भाग्य।

[भगवान् कृष्ण ने कहा] : ''बलराम सदैव सतर्क रहने वाले हैं और कोई देवता या असुर उन्हें पराजित नहीं कर सकता। तो यह क्षुद्र शाल्व किस तरह उन्हें पराजित करके मेरे पिता का अपहरण कर सकता है? निस्सन्देह, भाग्य सर्वशक्तिमान होता है।''

इति ब्रुवाणे गोविन्दे सौभराट्प्रत्युपस्थित: ।
वसुदेवमिवानीय कृष्णं चेदमुवाच स: ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ब्रुवाणे—कहते हुए; गोविन्दे—कृष्ण के; सौभ-राट्—सौभ का स्वामी (शाल्व); प्रत्युपस्थित:—आगे आया; वसुदेवम्—कृष्ण के पिता वसुदेव; इव—सदृश; आनीय—आगे करके; कृष्णम्—कृष्ण से; च—तथा; इदम्—यह; उवाच—कहा; स:—उसने।

जब गोविन्द ये शब्द कह चुके, तो भगवान् के समक्ष वसुदेव जैसे दिखने वाले किसी पुरुष को लेकर सौभ-पति पुन: प्रकट हुआ। तब शाल्व ने इस प्रकार कहा।

एष ते जनिता तातो यदर्थमिह जीवसि ।
वधिष्ये वीक्षतस्तेऽमुमीशश्चेत्पाहि बालिश ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एष:—यह; ते—तुम्हारा; जनिता—जन्म देने वाला पिता; तात:—प्रिय; यत्-अर्थम्—जिसके लिए; इह—इस जगत में; जीवसि—तुम जीवित हो; वधिष्ये—मैं मार डालूँगा; वीक्षत: ते—तुम्हारे देखते-देखते; अमुम्—उसको; ईश:—समर्थ; चेत्—यदि; पाहि—उसकी रक्षा करो; बालिश—रे मूर्ख।

[शाल्व ने कहा] : यह रहा तुम्हें जन्म देने वाला तुम्हारा पिता, जिसके लिए तुम इस जगत

में जीवित हो। अब मैं तुम्हारी आँखों के सामने इसका वध कर दूँगा। रे मूर्ख! यदि तुम इसे बचा सको तो बचाओ।

एवं निर्भर्त्स्य मायावी खड्गेनानकदुन्दुभेः ।
उत्कृत्य शिर आदाय खस्थं सौभं समाविशत् ॥ २७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; निर्भर्त्स्य—मजाक उड़ाते हुए; माया-वी—जादूगर; खड्गेन—अपनी तलवार से; आनकदुन्दुभेः—श्री वसुदेव का; उत्कृत्य—काट कर; शिरः—सिर; आदाय—लेकर; ख—आकाश में; स्थम्—स्थित; सौभम्—सौभ में; समाविशत्—घुस गया।

इस प्रकार भगवान् की हँसी उड़ा कर जादूगर शाल्व अपनी तलवार से वसुदेव का सिर काटता हुआ प्रतीत हुआ। वह उस सिर को अपने साथ लेकर आकाश में मँडरा रहे सौभ यान में घुस गया।

ततो मुहूर्तं प्रकृतावुपप्लुतः
स्वबोध आस्ते स्वजनानुषङ्गतः ।
महानुभावस्तदबुध्यदासुरीं
मायां स शाल्वप्रसृतां मयोदिताम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

ततः—तब; मुहूर्तम्—एक क्षण के लिए; प्रकृतौ—सामान्य (मानव) स्वभाव में; उपप्लुतः—लीन; स्व-बोधः—(यद्यपि) पूर्णतया आत्मबोध से युक्त; आस्ते—रहा; स्व-जन—अपने प्रियजनों के लिए; अनुषङ्गतः—स्नेह के कारण; महा-अनुभावः—अनुभूति की महान् शक्ति का स्वामी; तत्—वह; अबुध्यत्—पहचान लिया; आसुरीम्—असुरों से सम्बद्ध; मायाम्—मोहक जादू; सः—वह; शाल्व—शाल्व द्वारा; प्रसृताम्—काम में लाई हुई; मय—मय दानवद्वारा; उदिताम्—विकसित।

भगवान् कृष्ण स्वभाव से ही ज्ञान से परिपूर्ण हैं और उनमें असीम अनुभूति की शक्ति है। तो भी प्रियजनों के प्रति महान् स्नेहवश एक क्षण के लिए वे सामान्य प्राणी की मुद्रा में लीन हो गये। लेकिन उन्हें तुरन्त ही स्मरण हो आया कि यह तो मय दानव द्वारा सृजित आसुरी माया है, जिसे शाल्व काम में ला रहा है।

न तत्र दूतं न पितुः कलेवरं
प्रबुद्ध आजौ समपश्यदच्युतः ।
स्वाप्नं यथा चाम्बरचारिणं रिपुं
सौभस्थमालोक्य निहन्तुमुद्यतः ॥ २९॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तत्र—वहाँ; दूतम्—सन्देशवाहक; न—न तो; पितुः—पिता का; कलेवरम्—शरीर; प्रबुद्धः—सतर्क; आजौ—युद्धभूमि में; समपश्यत्—देखा; अच्युतः—भगवान् कृष्ण ने; स्वाप्नम्—स्वप्न में; यथा—जिस तरह; च—तथा; अम्बर—आकाश में; चारिणम्—विचरण करते हुए; रिपुम्—शत्रु (शाल्व) को; सौभ-स्थम्—सौभ यान में बैठा हुआ; आलोक्य—देखकर; निहन्तुम्—मारने के लिए; उद्यतः—तैयार।

अब असली परिस्थिति के प्रति सतर्क भगवान् अच्युत ने अपने समक्ष युद्धभूमि में न तो दूत को देखा न अपने पिता के शरीर को। ऐसा लग रहा था, मानो वे स्वप्न से जागे हों। तब अपने शत्रु को अपने ऊपर सौभ-यान में उड़ता देखकर भगवान् ने उसे मार डालने की ठानी।

एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः के च नान्विताः ।
यत्स्ववाचो विरुध्येत नूनं ते न स्मरन्त्युत ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; वदन्ति—कहते हैं; राज-ऋषे—हे राजर्षि (परीक्षित); ऋषयः—ऋषिगण; के च—कुछ; न—नहीं; अन्विताः—सही ढंग से तर्क करते हुए; यत्—चूँकि; स्व—अपने; वाचः—शब्द; विरुध्येत—विपरीत हो जाते हैं; नूनम्—निश्चय ही; ते—वे; न स्मरन्ति—स्मरण नहीं करते; उत—निस्सन्देह।

हे राजर्षि, यह विवरण कुछ ऋषियों द्वारा दिया हुआ है, किन्तु जो इस तरह अतार्किक ढंग से बोलते हैं, वे अपने ही पूर्ववर्ती कथनों को भुला कर अपनी ही बात काटते हैं।

तात्पर्य : यदि कोई यह सोचता है कि कृष्ण सचमुच ही शाल्व के जादू से मोहग्रस्त हो गये और सामान्य जन की तरह शोक कर रहे थे, तो ऐसा मत अतार्किक एवं विपरीतार्थी है, क्योंकि यह सर्वविदित है कि कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, दिव्य हैं और परम पूर्ण हैं। इसकी और अधिक व्याख्या अगले श्लोकों में है।

क्व शोकमोहौ स्नेहो वा भयं वा येऽज्ञसम्भवाः ।
क्व चाखण्डितविज्ञानज्ञानैश्वर्यस्त्वखण्डितः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

क्व—कहाँ; शोक—शोक; मोहौ—तथा मोह; स्नेहः—भौतिक स्नेह; वा—अथवा; भयम्—भय; वा—अथवा; ये—जो; अज्ञा—अज्ञानवश; सम्भवाः—उत्पन्न; क्व च—और कहाँ, दूसरी ओर; अखण्डित—अनन्त; विज्ञान—जिनकी अनुभूति; ज्ञान—ज्ञान; ऐश्वर्यः—तथा शक्ति; तु—लेकिन; अखण्डितः—अनन्त भगवान्।

भला शोक, मोह, स्नेह या भय, जो कि अज्ञानजनित हैं, किस तरह से अनन्त भगवान् को प्रभावित कर सकते हैं, जिनकी अनुभूति, ज्ञान तथा शक्ति—सारे के सारे भगवान् की तरह ही अनन्त हैं?

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''शोक, संताप तथा मोह तो बद्धजीवों के लक्षण हैं, किन्तु

भला ऐसी बातें परम पुरुष को किस तरह प्रभावित कर सकती हैं, जो ज्ञान, शक्ति एवं समस्त ऐश्वर्य से परिपूर्ण हैं? वास्तव में, यह बिल्कुल सम्भव नहीं है कि भगवान् कृष्ण शाल्व के योगमय जादूगरी से गुमराह हो गये हों। वे तो मनुष्य लीला कर रहे थे।''

भागवत के सारे महान् टीकाकार इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि शोक, मोह, आसक्ति तथा भय—जो कि जीव के अज्ञान से उत्पन्न हैं, कभी भी भगवान् की दिव्य लीलाओं में उपस्थित नहीं रह सकते। श्रील रूप गोस्वामी ने इस बात को समझाने के लिए कृष्ण की लीलाओं से अनेक उदाहरण दिये हैं। उदाहरणार्थ, जब ग्वालबाल अघासुर के मुँह में चले गये थे, तो कृष्ण को ऊपरी आश्चर्य हुआ था। इसी तरह जब ब्रह्माजी कृष्ण के ग्वालमित्रों तथा बछड़ों को ले गये थे, तो भगवान् पहले तो उन सबकी खोज करते रहे, मानो वे जानते ही न हों कि वे सब कहाँ हैं? इस तरह भगवान् सामान्य मनुष्य की भूमिका अदा करते हैं, ताकि वे अपने भक्तों के साथ दिव्य लीलाओं का आस्वादन कर सकें। मनुष्य को चाहिए कि कभी भी वह भगवान् को सामान्य व्यक्ति न माने, जैसाकि शुकदेव गोस्वामी इस श्लोक में तथा इसके आगे के श्लोकों में बतलाते हैं।

यत्पादसेवोर्जितयात्मविद्यया
हिन्वन्त्यनाद्यात्मविपर्ययग्रहम् ।
लभन्त आत्मीयमनन्तमैश्वरं
कुतो नु मोहः परमस्य सद्गतेः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; पाद—पैरों की; सेवा—सेवा करने से; ऊर्जितया—सशक्त बना हुआ; आत्म-विद्यया—आत्म-साक्षात्कार द्वारा; हिन्वन्ति—दूर कर देते हैं; अनादि—जिसका आदि न हो; आत्म—आत्मा की; विपर्यय-ग्रहम्—गलत पहचान; लभन्ते—प्राप्त करते हैं; आत्मीयम्—उनके साथ निजी सम्बन्ध में; अनन्तम्—नित्य; ऐश्वरम्—कीर्ति; कुतः—कैसे; नु—निस्सन्देह; मोहः—मोह; परमस्य—ब्रह्म के; सत्—सन्त-भक्तों का; गतेः—गन्तव्य।

भगवान् के भक्तगण भगवान् के चरणों पर की गई सेवा से प्रबलित आत्म-साक्षात्कार के कारण देहात्मबुद्धि को दूर कर देते हैं, जो अनन्त काल से आत्मा को मोहग्रस्त करती रही है। इस तरह वे उनकी निजी संगति में नित्य कीर्ति प्राप्त करते हैं। तब भला वे परम सत्य, जो कि समस्त विशुद्ध सन्तों के गन्तव्य हैं, मोह के वशीभूत कैसे हो सकते हैं?

तात्पर्य : उपवास करने से शरीर कमजोर हो जाता है और मनुष्य सोचता है कि मैं क्षीण हो गया हूँ। इसी तरह कभी कभी बद्धजीव सोचता है कि मैं सुखी हूँ या दुखी हूँ—ये देहात्मबुद्धि पर आधारित

विचार हैं। किन्तु भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की सेवा करके ही भक्तगण देहात्मबुद्धि से मुक्त हो जाते हैं। तो फिर भगवान् को ऐसा मोह किसी भी समय कैसे प्रभावित कर सकता है ?

तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तमोजसा
शाल्वं शरैः शौरिरमोघविक्रमः ।
विद्ध्वाच्छिनद्वर्म धनुः शिरोमणिं
सौभं च शत्रोर्गदया रुरोज ह ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; शस्त्र—हथियारों की; पूगैः—झड़ी से; प्रहरन्तम्—आक्रमण करते हुए; ओजसा—बड़े ही बल से; शाल्वम्—शाल्व को; शरैः—बाणों से; शौरिः—कृष्ण ने; अमोघ—अचूक; विक्रमः—जिसका पराक्रम; विद्ध्वा—बेध कर; अच्छिनत्—उसने तोड़ दिया; वर्म—कवच; धनुः—धनुष; शिरः—शिर के; मणिम्—मणि को; सौभम्—सौभ-यान को; च—तथा; शत्रोः—अपने शत्रु के; गदया—अपनी गदा से; रुरोज—तोड़ दिया; ह—निस्सन्देह।

जब शाल्व बड़े वेग से उन पर अस्त्रों की झड़ी लगाये हुए था, तो अमोघ पराक्रम वाले भगवान् कृष्ण ने शाल्व पर अपने बाण छोड़े, जिससे वह घायल हो गया और उसका कवच, धनुष तथा मुकुट का मणि ध्वस्त हो गये। तब उन्होंने अपनी गदा से अपने शत्रु के सौभ-यान को छिन्न-भिन्न कर डाला।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''जब शाल्व ने सोचा कि कृष्ण उसके योगिक प्रदर्शन से विमोहित हो गये हैं, तो वह प्रोत्साहित हो उठा और अधिक शक्ति तथा बल से भगवान् पर अनेकानेक बाणों की वर्षा करने लगा। किन्तु शाल्व के उत्साह की तुलना अग्नि में तेजी से गिरने वाले पतंगों से की जा सकती है। भगवान् कृष्ण ने अपार शक्ति के साथ बाण फेंक कर शाल्व को घायल कर दिया, जिससे उसके कवच, धनुष तथा रत्नजटित मुकुट टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गये। कृष्ण की गदा के प्रहार से शाल्व का अद्भुत विमान चूर-चूर होकर समुद्र में गिर गया।''

शाल्व की नगण्य योगशक्ति कृष्ण को विमोहित नहीं कर सकी। इसी तथ्य को यहाँ पर जोर देते हुए दर्शाया गया है।

तत्कृष्णहस्तेरितया विचूर्णितं
पपात तोये गदया सहस्रधा ।
विसृज्य तद्भूतलमास्थितो गदा-
मुद्यम्य शाल्वोऽच्युतमभ्यगाद्द्रुतम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह (सौभ); कृष्ण-हस्त—कृष्ण के हाथ से; ईरितया—घुमाया; विचूर्णितम्—चूर-चूर किया हुआ; पपात—गिर गया; तोये—जल में; गदया—गदा से; सहस्रधा—हजारों खण्डों में; विसृज्य—छोड़ कर; तत्—इस; भू-तलम्—पृथ्वी पर; आस्थितः—खड़ा हुआ; गदाम्—अपनी गदा; उद्यम्य—लेकर; शाल्वः—शाल्व ने; अच्युतम्—भगवान् कृष्ण पर; अभ्यगात्—आक्रमण किया; द्रुतम्—तेजी से।

भगवान् कृष्ण की गदा से हजारों खण्डों में चूर-चूर हुआ सौभ विमान समुद्र में गिर गया। शाल्व ने इसे छोड़ दिया और पृथ्वी पर खड़ा हो गया। उसने अपनी गदा उठाई और भगवान् अच्युत की ओर लपका।

आधावतः सगदं तस्य बाहुं
भल्लेन छित्त्वाथ रथाङ्गमद्भुतम् ।
वधाय शाल्वस्य लयार्कसन्निभं
बिभ्रद्बभौ सार्क इवोदयाचलः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

आधावतः—उसकी ओर दौड़ता हुआ; स-गदम्—अपनी गदा लिए; तस्य—उसके; बाहुम्—बाहु को; भल्लेन—विशेष प्रकार के बाण से; छित्त्वा—काट कर; अथ—तब; रथ-अङ्गम्—अपने चक्र से; अद्भुतम्—अद्भुत; वधाय—मारने के लिए; शाल्वस्य—शाल्व के; लय—संहार के समय; अर्क—सूर्य; सन्निभम्—हूबहू; बिभ्रत्—पकड़े हुए; बभौ—चमकने लगा; स-अर्कः—सूर्य समेत; इव—मानो; उदय—सूर्योदय का; अचलः—पर्वत।

जब शाल्व उनकी ओर झपटा, तो भगवान् ने एक भाला छोड़ा और उसकी उस बाँह को काट लिया, जिसमें गदा पकड़ी थी। अन्त में शाल्व का वध करने का निश्चय करके भगवान् कृष्ण ने अपना सुदर्शन चक्र उठाया, जो ब्रह्माण्ड के प्रलय के समय दिखने वाले सूर्य जैसा लग रहा था। तेज से चमकते हुए भगवान् उदयाचल जैसे प्रतीत हो रहे थे, जो उदय होते सूर्य को धारण करता है।

जहार तेनैव शिरः सकुण्डलं
किरीटयुक्तं पुरुमायिनो हरिः ।
वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दरो
बभूव हाहेति वचस्तदा नृणाम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

जहार—काट लिया; तेन—इससे; एव—निस्सन्देह; शिरः—सिर; स—सहित; कुण्डलम्—कुण्डल; किरीट—मुकुट; युक्तम्—पहने हुए; पुरु—विस्तृत; मायिनः—जादू-शक्ति से युक्त; हरिः—भगवान् कृष्ण ने; वज्रेण—वज्र से; वृत्रस्य—वृत्रासुर का; यथा—जिस तरह; पुरन्दरः—इन्द्र ने; बभूव—उठा; हा-हा इति—हाय हाय, हाहाकार; वचः—ध्वनियाँ; तदा—तब; नृणाम्—(शाल्व के) मनुष्यों की।

भगवान् हरि ने अपने चक्र का इस्तेमाल करते हुए उस महान् जादूगर के सिर को कुण्डलों

तथा किरीट सहित विलग कर दिया, जिस तरह पुरन्दर ने वृत्रासुर के सिर काटने के लिए अपने वज्र का इस्तेमाल किया था। यह देखकर शाल्व के सारे अनुयायी ''हाय हाय'' कहकर चीत्कार उठे।

तस्मिन्निपतिते पापे सौभे च गदया हते ।
नेदुर्दुन्दुभयो राजन्दिवि देवगणेरिताः ।
सखीनामपचितिं कुर्वन्दन्तवक्रो रुषाभ्यगात् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उसके; निपतिते—गिरने पर; पापे—पापी; सौभे—सौभ-यान में; च—तथा; गदया—गदा से; हते—विनष्ट किये जाने पर; नेदुः—बज उठीं; दुन्दुभयः—दुन्दुभियाँ; राजन्—हे राजा (परीक्षित); दिवि—आकाश में; देव-गण—देवताओं का समूह; ईरिताः—खेलते हुए; सखीनाम्—मित्रों के लिए; अपचितिम्—बदला; कुर्वन्—लेने के विचार से; दन्तवक्रः—दन्तवक्र; रूषा—क्रोध से; अभ्यगात्—आगे दौड़ा।

अब पापी शाल्व के मृत हो जाने तथा उसके सौभ-यान के विनष्ट हो जाने से, देवताओं द्वारा बजाई गई दुन्दुभियों से आकाश गूँज उठा। तब अपने मित्र की मृत्यु का बदला लेने की इच्छा से दन्तवक्र ने बहुत कुपित होकर भगवान् पर आक्रमण कर दिया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''भगवान् कृष्ण द्वारा शाल्व की बध'' नामक सतहत्तरवें अध्याय के श्रील भक्तिसिद्धान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अठहत्तर

दन्तवक्र, विदूरथ तथा रोमहर्षण का वध

यह अध्याय बतलाता है कि भगवान् कृष्ण ने किस तरह दन्तवक्र तथा विदूरथ को मारा और वे कैसे वृन्दावन गये तथा फिर द्वारका लौट आये। इसमें यह भी वर्णन है कि बलदेव ने किस तरह युद्ध के लिए आये रोमहर्षण सूत को मारा।

अपने मित्र शाल्व की मृत्यु का बदला लेने पर उतारू दन्तवक्र अपने हाथ में गदा लिए युद्धभूमि में प्रकट हुआ। श्रीकृष्ण ने भी अपनी गदा उठाई और उसके समक्ष आये। तब दन्तवक्र ने कटु वचन कहकर भगवान् का अपमान किया और उनके सिर पर भीषण प्रहार किया। इससे कृष्ण बिल्कुल हिले–डुले नहीं, अपितु दन्तवक्र की छाती को चीर कर उसके हृदय को छिन्न–भिन्न कर दिया। दन्तवक्र

का एक भाई था, जिसका नाम विदूरथ था। वह दन्तवक्र की मृत्यु सुनकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। वह अपनी तलवार लेकर कृष्ण का सामना करने आया, किन्तु भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र से उसका सिर काट लिया। तब भगवान् कृष्ण दो मास के लिए वृन्दावन गये और अन्त में द्वारका लौट आये।

जब बलदेवजी ने सुना कि कौरव तथा पाण्डव युद्ध करने ही वाले हैं, तो तटस्थ बने रहने के उद्देश्य से तीर्थयात्रा पर जाने के बहाने उन्होंने द्वारका को छोड़ दिया। उन्होंने प्रभास, त्रितकूप तथा विशाल जैसे पवित्र स्थानों में स्नान किया और अन्त में पवित्र नैमिषारण्य वन में पहुँचे, जहाँ बड़े-बड़े ऋषि अग्नि यज्ञ कर रहे थे। जहाँ एक ओर एकत्र ऋषियों द्वारा पूजित होकर उन्हें सम्मानित-पद प्रदान किया गया, वहीं वक्ता के आसन पर बैठा रोमहर्षण सूत उनके सम्मान में खड़ा नहीं हुआ। इस अपराध से अत्यन्त कुपित होकर बलराम ने कुश घास के तिनके की नोक से छूकर रोमहर्षण को मार डाला।

एकत्र ऋषिगण बलदेव के इस कृत्य से विचलित हो गये और उनसे इस प्रकार बोले, "आपने अनजाने एक ब्राह्मण का वध किया है, अत: हमारी विनती है कि यद्यपि आप वैदिक आदेशों से ऊपर हैं आप इस पाप का प्रायश्चित्त करके आम जनता के लिए एक पूर्ण आदर्श स्थापित करें।" तब श्रीबलदेव ने इस वैदिक कथन का कि 'पुत्र स्वयं पिता के रूप में जन्म लेता है' अनुसरण करके रोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा को पुराणों के वक्ता का पद प्रदान किया और ऋषियों की इच्छानुसार उग्रश्रवा को अचूक संवेदनात्मक क्षमता सहित दीर्घायु प्रदान करने का वायदा किया।

ऋषियों के लिए कुछ और करने की इच्छा से बलदेव ने बल्वल नामक असुर का वध करने का वचन दिया, जिसने यज्ञशाला को दूषित कर रखा था। अन्त में ऋषियों के कहने पर वे भारत वर्ष के समस्त पवित्र स्थानों की एक वर्ष तक तीर्थयात्रा करने के लिए सहमत हो गए।

श्रीशुक उवाच
शिशुपालस्य शाल्वस्य पौण्ड्रकस्यापि दुर्मतिः ।
परलोकगतानां च कुर्वन्पारोक्ष्यसौहृदम् ॥ १ ॥
एकः पदातिः सङ्क्रुद्धो गदापाणिः प्रकम्पयन् ।
पद्भ्यामिमां महाराज महासत्त्वो व्यदृश्यत ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; **शिशुपालस्य**—शिशुपाल का; **शाल्वस्य**—शाल्व का; **पौण्ड्रकस्य**—पौण्ड्रक का; **अपि**—भी; **दुर्मतिः**—बुरे हृदय वाला (दन्तवक्र); **पर-लोक**—अन्य लोक को; **गतानां**—गये हुओं का; **च**—तथा;

कुर्वन्—करते हुए; पारोक्ष्य—दिवंगतों के लिए; सौहृदम्—मैत्री कर्म; एकः—अकेला; पदातिः—पैदल; सङ्क्रुद्धः—क्रुद्ध; गदा—गदा; पाणिः—अपने हाथ में; प्रकम्पयन्—हिलाते हुए; पद्भ्याम्—अपने पैरों से; इमम्—इस (पृथ्वी) को; महा-राज—हे महान् राजा (परीक्षित); महा—महान्; सत्त्वः—शारीरिक शक्ति वाला; व्यदृश्यत—देखा गया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अन्य लोकों को गये हुए शिशुपाल, शाल्व तथा पौण्ड्रक के प्रति मैत्री-भाव होने से दुष्ट दन्तवक्र बहुत ही क्रुद्ध होकर युद्धभूमि में प्रकट हुआ। हे राजन्, एकदम अकेला, पैदल एवं हाथ में गदा लिए उस बलशाली योद्धा ने अपने पदचाप से पृथ्वी को हिला दिया।

तं तथायान्तमालोक्य गदामादाय सत्वरः ।
अवप्लुत्य रथात्कृष्णः सिन्धुं वेलेव प्रत्यधात् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; तथा—इस तरह; आयान्तम्—पास आते हुए; आलोक्य—देखकर; गदाम्—अपनी गदा; आदाय—लेकर; सत्वरः—तेजी से; अवप्लुत्य—नीचे कूद कर; रथात्—अपने रथ से; कृष्णः—भगवान् कृष्ण; सिन्धुम्—समुद्र को; वेला—किनारा; इव—सदृश; प्रत्यधात्—रोका।

दन्तवक्र को पास आते देखकर भगवान् कृष्ण ने तुरन्त अपनी गदा उठा ली। वे अपने रथ से नीचे कूद पड़े और आगे बढ़ रहे अपने प्रतिद्वन्द्वी को रोका, जिस तरह तट समुद्र को रोके रहता है।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''जैसे ही कृष्ण दन्तवक्र के समक्ष प्रकट हुए उसकी वीरतापूर्ण अग्रगति तुरन्त रुक गयी, जिस तरह सागर की अत्यन्त भयावनी लहरें किनारे द्वारा रोक ली जाती हैं।''

गदामुद्यम्य कारूषो मुकुन्दं प्राह दुर्मदः ।
दिष्ट्या दिष्ट्या भवानद्य मम दृष्टिपथं गतः ॥ ॥

शब्दार्थ

गदाम्—अपनी गदा को; उद्यम्य—घुमाकर; कारूषः—करूष का राजा (दन्तवक्र); मुकुन्दम्—कृष्ण से; प्राह—बोला; दुर्मदः—मिथ्या गर्व से उन्मत्त; दिष्ट्या—सौभाग्य से; दिष्ट्या—सौभाग्य से; भवान्—आप; अद्य—आज; मम—मेरी; दृष्टि—दृष्टि के; पथम्—पथ पर; गतः—आये हुए।

अपनी गदा उठाते हुए करूष के दुर्मद राजा ने भगवान् मुकुन्द से कहा, ''अहो भाग्य! अहो भाग्य! कि तुम आज मेरे समक्ष आये हो।''

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि तीन जन्मों तक प्रतीक्षा करते रहने के बाद दन्तवक्र, जो पहले वैकुण्ठ में द्वारपाल था, अब वैकुण्ठ-लोक जा सका। अतएव उसके कथन का दिव्य भाव यह है : ''मैं कितना भाग्यशाली हूँ कि आज मैं वैकुण्ठ में अपनी वास्तविक स्थिति में वापस जा

सकता हूँ।''

अगले श्लोक में दन्तवक्र श्रीकृष्ण को *मातुलेय* अर्थात् ममेरा भाई कहता है। दन्तवक्र की माता श्रुतश्रवा कृष्ण के पिता वसुदेव की बहन थी।

त्वं मातुलेयो नः कृष्ण मित्रध्रुङ्मां जिघांससि ।
अतस्त्वां गदया मन्द हनिष्ये वज्रकल्पया ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; मातुलेयः—मामा का लड़का; नः—हमारे; कृष्ण—हे कृष्ण; मित्र—मेरे मित्रों के साथ; ध्रुक्—हिंसा करने वाले; माम्—मुझको; जिघांससि—मारना चाहते हो; अतः—इसलिए; त्वाम्—तुमको; गदया—अपनी गदा से; मन्द—रे मूर्ख; हनिष्ये—मैं मार डालूँगा; वज्र-कल्पया—वज्र सरीखी।

''हे कृष्ण तुम मेरे ममेरे भाई हो, किन्तु तुमने मेरे मित्रों के साथ हिंसा की है और अब मुझे भी मार डालना चाहते हो। इसलिए रे मूर्ख! मैं तुम्हें अपनी वज्र सरीखी गदा से मार डालूँगा।

तात्पर्य : आचार्यों ने इस श्लोक के तृतीय पद का वैकल्पिक व्याकरणिक विभाजन इस प्रकार किया है—*अतस् त्वां गदया अमन्द।* इस तरह दन्तवक्र कहता है, ''हे कृष्ण, तुम *अमन्द* (मूर्ख नहीं) हो इसलिए अपनी शक्तिशाली गदा से तुम मुझे भगवद्धाम भेज दोगे।'' यही इस श्लोक का गूढ़ार्थ है।

तर्ह्यानृण्यमुपैम्यज्ञ मित्राणां मित्रवत्सलः ।
बन्धुरूपमरिं हत्वा व्याधिं देहचरं यथा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तर्हि—तब; आनृण्यम्—ऋण से उऋण; उपैमि—हो सकूँगा; अज्ञ—रे मूर्ख; मित्राणाम्—मित्रों के; मित्र-वत्सलः—अपने मित्रों का प्रिय; बन्धु—पारिवारिक सदस्य के; रूपम्—रूप में; अरिम्—शत्रु को; हत्वा—मार कर; व्याधिम्—रोग; देह-चरम्—शरीर में; यथा—जिस तरह।

''हे बुद्धिहीन! अपने मित्रों का कृतज्ञ मैं तुम्हें मार कर तब उनके ऋण से उऋण हो जाऊँगा। सम्बन्धी के रूप में तुम मेरे शरीर के भीतर रोग की तरह प्रच्छन्न शत्रु हो।''

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार *अज्ञ* शब्द सूचित करता है कि भगवान् कृष्ण की तुलना में कोई भी व्यक्ति उनसे अधिक बुद्धिमान नहीं है। यही नहीं, *बन्धु-रूपम्* शब्द सूचित करता है कि कृष्ण वास्तव में हर एक के असली मित्र हैं। *व्याधिम्* शब्द बतलाता है कि भगवान् कृष्ण परमात्मा हैं, हृदय के भीतर ध्यान करने की वस्तु हैं और वे हमारे मानसिक क्लेश को दूर करते हैं। आचार्य लोग *हत्वा* का *ज्ञात्वा* करते हैं। दूसरे शब्दों में, कृष्ण को सही ढंग से जान लेने पर मनुष्य अपने सारे मित्रों को मुक्त बना

सकता है।

एवं रूक्षैस्तुदन्वाक्यैः कृष्णं तोत्रैरिव द्विपम् ।
गदयाताडयन्मूर्ध्नि सिंहवद्व्यनदच्च सः ॥ ७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; रूक्षैः—कर्कश, कटु; तुदन्—कष्ट देने वाले; वाक्यैः—शब्दों से; कृष्णम्—कृष्ण को; तोत्रैः—अंकुशों से; इव—सदृश; द्विपम्—हाथी को; गदया—अपनी गदा से; अताडयत्—उन पर प्रहार किया; मूर्ध्नि—सिर पर; सिंह-वत्—शेर की तरह; व्यनदत्—गर्जना की; च—तथा; सः—उसने।

इस तरह कटु वचनों से कृष्ण को उत्पीड़ित करने का प्रयास करते हुए, जिस तरह किसी हाथी को तेज अंकुश चुभाया जा रहा हो, दन्तवक्र ने अपनी गदा से भगवान् के सिर पर आघात किया और शेर की तरह गर्जना की।

गदयाभिहतोऽप्याजौ न चचाल यदूद्वहः ।
कृष्णोऽपि तमहन्गुर्व्या कौमोदक्या स्तनान्तरे ॥ ८॥

शब्दार्थ

गदया—गदा से; अभिहतः—प्रताड़ित; अपि—यद्यपि; आजौ—युद्धक्षेत्र में; न चचाल—हिला-डुला नहीं; यदु-उद्वहः—यदुओं के उद्धारक; कृष्णः—कृष्ण ने; अपि—भी; तम्—उसको (दन्तवक्र को); अहन्—मारा; गुर्व्या—भारी; कौमोदक्या—अपनी कौमोदकी गदा से; स्तन-अन्तरे—छाती के बीच।

यद्यपि दन्तवक्र की गदा से उन पर आघात हुआ, किन्तु यदुओं के उद्धारक कृष्ण युद्धस्थल में अपने स्थान से रंच-भर भी नहीं हिले। प्रत्युत अपनी भारी कौमोदकी गदा से उन्होंने दन्तवक्र की छाती के बीचों-बीच प्रहार किया।

गदानिर्भिन्नहृदय उद्वमन्रुधिरं मुखात् ।
प्रसार्य केशबाह्वङ्घ्रीन्धरण्यां न्यपतद्व्यसुः ॥ ९॥

शब्दार्थ

गदा—गदा से; निर्भिन्न—खण्ड-खण्ड हुआ; हृदयः—हृदय; उद्वमन्—वमन करते हुए; रुधिरम्—रक्त; मुखात्—मुख से; प्रसार्य—बाहर फेंक कर; केश—बाल; बाहु—भुजाएँ; अङ्घ्रीन्—तथा पाँव; धरण्याम्—धरती पर; न्यपतत्—गिर पड़ा; व्यसुः—निर्जीव।

गदा के प्रहार से दन्तवक्र का हृदय छितरा गया, जिससे वह रुधिर वमन करने लगा और निर्जीव होकर भूमि पर गिर गया, उसके बाल बिखर गये तथा उसकी भुजाएँ और पाँव छितरा गये।

ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः कृष्णमाविशदद्भुतम् ।
पश्यतां सर्वभूतानां यथा चैद्यवधे नृप ॥ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; सूक्ष्म-तरम्—अत्यन्त सूक्ष्म; ज्योतिः—प्रकाश; कृष्णम्—कृष्ण में; आविशत्—प्रविष्ट हुआ; अद्भुतम्—विचित्र; पश्यताम्—देखते-देखते; सर्व—सभी; भूतानाम्—जीवों के; यथा—जिस तरह; चैद्य-वधे—जब शिशुपाल मारा गया था; नृप—हे राजा (परीक्षित)।

हे राजन्, तब (उस असुर के शरीर से) एक अत्यन्त सूक्ष्म एवं अद्भुत प्रकाश की चिनगारी सबों के देखते-देखते (निकली और) कृष्ण में प्रवेश कर गई, ठीक उसी तरह जब शिशुपाल मारा गया था।

विदूरथस्तु तद्भ्राता भ्रातृशोकपरिप्लुतः ।
आगच्छदसिचर्माभ्यामुच्छ्वसंस्तज्जिघांसया ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

विदूरथः—विदूरथ; तु—लेकिन; तत्—उसका, दन्तवक्र का; भ्राता—भाई; भ्रातृ—भाई के; शोक—शोक में; परिप्लुतः—मग्न; आगच्छत्—आया; असि—तलवार; चर्माभ्याम्—तथा ढाल समेत; उच्छ्वसन्—तेजी से साँस लेता, हाँफता; तत्—उसको (कृष्ण को); जिघांसया—मारने की इच्छा से।

लेकिन तभी दन्तवक्र का भाई विदूरथ अपने भाई की मृत्यु के शोक में डूबा हाँफता हुआ आया और वह अपने हाथ में तलवार तथा ढाल लिए हुए था। वह भगवान् को मार डालना चाहता था।

तस्य चापततः कृष्णश्चक्रेण क्षुरनेमिना ।
शिरो जहार राजेन्द्र सकिरीटं सकुण्डलम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; च—तथा; आपततः—आक्रमण कर रहे; कृष्णः—कृष्ण ने; चक्रेण—अपने सुदर्शन चक्र से; क्षुर—छूरे की तरह; नेमिना—धार वाले; शिरः—सिर; जहार—काट लिया; राज-इन्द्र—हे राजाओं में श्रेष्ठ; स—सहित; किरीटम्—मुकुट; स—सहित; कुण्डलम्—कुण्डल।

हे राजेन्द्र, ज्योंही विदूरथ ने कृष्ण पर आक्रमण किया, उन्होंने अपने छुरे जैसी धार वाले सुदर्शन चक्र से उसके सिर को मुकुट तथा कुंडलों समेत काट डाला।

एवं सौभं च शाल्वं च दन्तवक्रं सहानुजम् ।
हत्वा दुर्विषहानन्यैरीडितः सुरमानवैः ॥ १३ ॥
मुनिभिः सिद्धगन्धर्वैर्विद्याधरमहोरगैः ।
अप्सरोभिः पितृगणैर्यक्षैः किन्नरचारणैः ॥ १ ॥

**उपगीयमानविजयः कुसुमैरभिवर्षितः ।
वृतश्च वृष्णिप्रवरैर्विवेशालङ्कृतां पुरीम् ॥ १५ ॥**

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सौभम्—सौभ-यान को; च—तथा; शाल्वम्—शाल्व को; च—तथा; दन्तवक्रम्—दन्तवक्र को; सह—सहित; अनुजम्—उसके छोटे भाई विदूरथ को; हत्वा—मार कर; दुर्विषहान्—दुर्लंघ्य; अन्यैः—अन्यों द्वारा; ईडितः—प्रशंसित; सुर—देवताओं; मानवैः—तथा मनुष्यों द्वारा; मुनिभिः—तथा मुनियों द्वारा; सिद्ध—सिद्धों; गन्धर्वैः—तथा गन्धर्वों द्वारा; विद्याधर—विद्याधर लोक के निवासियों द्वारा; महा-उरगैः—तथा दैवी सर्पों द्वारा; अप्सरोभिः—स्वर्ग की नर्तकियों द्वारा; पितृ-गणैः—पितरों द्वारा; यक्षैः—यक्षों द्वारा; किन्नर-चारणैः—किन्नरों तथा चारणों द्वारा; उपगीयमान—स्तुति किये गये; विजयः—विजय; कुसुमैः—फूलों से; अभिवर्षितः—वर्षा किये गये; वृतः—घिरा हुआ; च—तथा; वृष्णि-प्रवरैः—अग्रणी वृष्णियों द्वारा; विवेश—प्रवेश किया; अलङ्कृताम्—सजी हुई; पुरीम्—अपनी राजधानी द्वारका में।

शाल्व तथा उसके सौभ-यान के साथ साथ दन्तवक्र तथा उसके छोटे भाई को, जो सब किसी अन्य प्रतिद्वन्द्वी के समक्ष अजेय थे, इस तरह विनष्ट करने के बाद देवताओं, मनुष्यों, ऋषियों, सिद्धों, गन्धर्वों, विद्याधरों, महोरगों के अतिरिक्त अप्सराओं, पितरों, यक्षों, किन्नरों तथा चारणों ने भगवान् की प्रशंसा की। जब ये सब उनका यशोगान कर रहे थे और उन पर फूल बरसा रहे थे, तो भगवान् गण्य-मान्य वृष्णियों के साथ साथ उत्सवपूर्वक सजाई हुई अपनी राजधानी में प्रविष्ट हुए।

**एवं योगेश्वरः कृष्णो भगवान्जगदीश्वरः ।
ईयते पशुदृष्टीनां निर्जितो जयतीति सः ॥ १६ ॥**

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; योग—योग के; ईश्वरः—स्वामी; कृष्णः—कृष्ण; भगवान्—भगवान्; जगत्—ब्रह्माण्ड के; ईश्वरः—स्वामी; ईयते—प्रतीत होते हैं; पशु—पशुओं की तरह; दृष्टीनाम्—दृष्टिवानों को; निर्जितः—पराजित; जयति—विजयी होते हैं; इति—मानो; सः—वह।

इस तरह समस्त योगशक्ति के स्वामी तथा ब्रह्माण्ड के स्वामी, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण सदैव विजयी होते हैं। एकमात्र पाशविक दृष्टि वाले ही यह सोचते हैं कि कभी कभी उनकी हार होती है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने श्रीमद्भागवत के इस अनुभाग की विस्तृत व्याख्या की है, जो निम्नवत् है :

दन्तवक्र वध के विषय में *पद्म पुराण* के उत्तर खण्ड (२७९) में निम्नलिखित गद्यांश में विस्तृत जानकारी पाई जाती है *अथ शिशुपालं निहतं श्रुत्वा दन्तवक्रः कृष्णेन सह योद्धुं मथुराम् आजगाम्। कृष्णस्तु तच्छ्रुत्वा रथमारुह्य मथुराम् आययौ।* "तब यह सुन कर कि शिशुपाल मारा गया है, दन्तवक्र

कृष्ण के विरुद्ध लड़ने मथुरा गया। अत: जब कृष्ण ने यह सुना, तो वे अपने रथ पर सवार होकर मथुरा गये।''

तयोर्दन्तवक्रवासुदेवयोरहोरात्रं मथुराद्वारि संग्राम: समवर्तत/कृष्णस्तु गदया तं जघान। स तु चूर्णितसर्वांगो वज्रनिर्भिन्नो महीधर इव गतासुरवनितले निपतात। सोऽपि हरे: सारूप्येण योगिगम्यं नित्यानन्दसुखदं शाश्वतं परमं पदमवाप—''उन दोनों—दन्तवक्र तथा वासुदेव—के बीच मथुरा के द्वार पर युद्ध शुरू हुआ जो पूरे दिन तथा पूरी रात चलता रहा। अन्त में कृष्ण ने अपनी गदा से दन्तवक्र पर प्रहार किया, जिससे दन्तवक्र निर्जीव होकर भूमि पर गिर गया। उसके सारे अंग उसी तरह चकना चूर हो गये, जिस तरह वज्र से पर्वत क्षत-विक्षत हो जाता है। दन्तवक्र को सारूप्य मुक्ति मिली और इस तरह उसने भगवान् के शाश्वत परम धाम को प्राप्त किया जो पूर्ण योगियों को प्राप्त हो पाता है और जो शाश्वत आध्यात्मिक आनन्द प्रदान करने वाला है।''

इत्थं जयविजयौ सनकादिशापव्याजेन केवलं भगवतो लीलार्थं संसृतावववतीर्य जन्मत्रयेऽपि तेनैव निहतौ जन्मत्रयावसाने मुक्तिं अवाप्तौ—''इस तरह जय-विजय ने बाहरी तौर पर सनक तथा उसके भाइयों द्वारा शापित होने किन्तु आन्तरिक रूप से भगवान् की लीलाओं को सुगम बनाने के लिए इस जगत में अवतार लिया था और लगातार तीन जन्मों तक भगवान् के हाथों से मारे जाते रहे। तत्पश्चात् तीन जन्मों के पूरा होने पर उन्होंने मुक्ति प्राप्त की।''

पद्म पुराण के इस गद्यांश में *कृष्णस्तु तच्छ्रुत्वा* शब्दों से सूचित होता है कि कृष्ण ने नारद से ही जो मन की तीव्र गति से भ्रमण करते हैं, सुना होगा कि दन्तवक्र मथुरा गया हुआ है। इसलिए शाल्व को मारने के तुरन्त बाद, द्वारका में प्रविष्ट होने के पूर्व अपने तेज रथ पर चढ़ कर जो मन की तीव्र गति से चलता है एक ही क्षण में मथुरा के निकट जा पहुँचे और वहाँ दन्तवक्र को देखा। इसीलिए आज भी द्वारका की ओर अभिमुख मथुरा के द्वार के पास दतिहा नामक ग्राम है। यह नाम संस्कृत के *दन्तवक्र-हा*—दन्तवक्र को मारने वाला—से निकला है। इस ग्राम की स्थापना कृष्ण के प्रपौत्र वज्र ने की थी।

पद्म पुराण के इसी विभाग में आगे कहा गया है : कृष्णोऽपि तं हत्वा यमुनाम् उत्तीर्य नन्दव्रजं गत्वा सोत्कण्ठौ पितरावभिवाद्याश्वास्य ताभ्यां साश्रुसेकम् आलिंगित: सकलगोपवृद्धान् प्रणम्य बहुवस्त्राभरणादिभिस्तत्रस्थान् सन्तर्पयामास—''उसे (विदूरथ को) मारने के बाद कृष्ण ने यमुना पार

की और नन्द के ग्वालग्राम गये जहाँ उन्होंने अपने शोकसंतप्त माता-पिता को आदर सहित सान्त्वना प्रदान की। उन्होंने अपने आँसुओं से कृष्ण को भिगो दिया और उनका आलिंगन किया। तब भगवान् ने ज्येष्ठ गोपों को नमस्कार किया तथा वस्त्रों, आभूषणों इत्यादि विविध भेंटों से सारे निवासियों को कृतकृत्य किया।''

कालिन्द्याः पुलिने रम्ये पुण्यवृक्षसमाचिते।

गोपनारीभिरनिशं क्रीडयामास केशवः॥

रम्यकेलिसुखेनैव गोपवेशधरः प्रभुः।

बहुप्रेमरसेनात्र मासद्वयमुवास ह॥

''भगवान् केशव ने कालिन्दी के मनोहर तट पर, जो पवित्र वृक्षों से भरा-पुरा था, गोपियों के साथ लगातार क्रीड़ा की। इस तरह भगवान् गोप का स्वरूप बनाकर वहाँ दो मास तक पारस्परिक प्रेम के विविध रसों में अन्तरंग लीलाओं का आनन्द लूटते रहे।''

अथ तत्रस्था नन्दगोपादयः सर्वे जनाः पुत्रदारादिसहिता वासुदेवप्रसादेन दिव्यरूपधरा विमानम् आरूढाः परमं वैकुण्ठलोकम् अवापुः। कृष्णस्तु नन्दगोप व्रजौकसां सर्वेषां निरामयं स्वपदं दत्त्वा दिवि देवगणै संस्तूयमानो द्वारावतीं विवेश—''तब भगवान् वासुदेव की कृपा से नन्द तथा उस स्थान के अन्य सारे वासियों ने अपने बच्चों और पत्नियों सहित अपने नित्य आध्यात्मिक स्वरूप धारण किये, दैवी विमान में चढ़े और परम वैकुण्ठ-लोक (गोलोक वृन्दावन) चले गये। किन्तु भगवान् कृष्ण नन्दगोप तथा व्रज के अन्य वासियों को अपना दिव्यधाम जो सभी प्रकार के रोगों से रहित है, प्रदान करने के बाद आकाश-मार्ग से यात्रा करके द्वारका लौट आये, जबकि देवतागण उनकी स्तुति कर रहे थे।''

श्रील रूप गोस्वामी ने *लघु भागवतामृत* (१.८८-८९) में इस गद्यांश की नि म्नलिखित टीका की है—

व्रजेशादेर् अंशभूता ये द्रोणाद्या अवातरन्।

कृष्णस्तान् एव वैकुण्ठे प्राहिणोदिति साम्प्रतम्॥

प्रेष्ठेभ्योऽपि प्रियतमैर्जनैर्गोकुलवासिभिः।

वृन्दारण्ये सदैवासौ विहारं कुरुते हरिः॥

"चूँकि द्रोण तथा अन्य देवता पहले ही व्रजराज तथा वृन्दावन के अन्य भक्तों में भिन्नांशों के रूप में लीन होने के लिए पृथ्वी पर अवतारित हुए थे, इसलिए इस बार भगवान् कृष्ण ने इन्हीं देव अंशों को वैकुण्ठ भेजा। भगवान् कृष्ण वृन्दावन में अपने गोकुल निवासी घनिष्ठ भक्तों के साथ निरन्तर लीलाओं का आनन्द लूटते हैं। ये लोग उन्हें अपने अन्य प्रिय भक्तों से भी बढ़कर प्रिय हैं।"

पद्म पुराण के गद्यांश में *नन्दगोपादय: सर्वे जना: पुत्रदारादि सहिता:* (नंद, गोप और अन्य में, उनकी संतान व पत्नियाँ सम्मिलित हैं) में *पुत्र* शब्द सूचक है कृष्ण, श्रीदामा तथा सुबल जैसे पुत्रों का और *दारा* शब्द यशोदा तथा राधारानी की माता कीर्तिदा जैसी पत्नियों का द्योतक है। *सर्वे जना:* (सब व्यक्ति) पद व्रज जनपद में रहने वाले हर व्यक्ति का द्योतक है। इस तरह वे सभी सर्वोच्च वैकुण्ठ-लोक—गोलोक—गये। *दिव्यरूपधरा:* पद सूचित करता है कि गोलोक में वे देवोचित लीलाओं में लगे रहते हैं, गोकुल की जैसी मानवोचित लीलाओं में नहीं। जिस तरह भगवान् रामचन्द्र के राजतिलक के समय सारे अयोध्यावासी सशरीर वैकुण्ठ ले जाये गये थे, उसी तरह कृष्ण के इस राजतिलक में व्रज के वासी गोलोक गये।

द्वारका से व्रज तक की कृष्ण की यात्रा की पुष्टि श्रीमद्भागवत के इस अंश (१.११.९) से होती है—यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान् कुरून् मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया ।तत्राब्दकोटिप्रतिम: क्षणो भवेत्—"हे कमलनयन भगवान्! जब भी आप अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों से भेंट करने मथुरा, वृन्दावन या हस्तिनापुर चले जाते हैं, तो आपकी अनुपस्थिति का हर क्षण लाख वर्षों-सा प्रतीत होता है।" जब से बलदेव व्रज गये थे तभी से भगवान् कृष्ण वज्र जाकर अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों से भेंट करने की इच्छा मन में सँजोये थे, लेकिन द्वारका स्थित उनके माता-पिता तथा अन्य वृद्धजनों ने उन्हें अनुमति देने से इनकार कर रखा था। किन्तु अब शाल्व को मारने के बाद जब कृष्ण ने नारद से सुना कि दन्तवक्र मथुरा गया है, तो द्वारका में प्रवेश करने के पूर्व शीघ्र मथुरा जाने से कोई उन्हें मना नहीं कर सका। और दन्तवक्र को मारने के बाद उन्हें व्रज में रह रहे मित्रों तथा सम्बन्धियों से भेंट करने का सुअवसर भी प्राप्त होगा।

इस तरह सोचकर एवं गोपियों के प्रति उद्धव के द्वारा इंगित इन शब्दों *गायन्ति ते विशदकर्म* (भागवत .७१.९) का स्मरण करके वे वहाँ के निवासियों के विरह-भावों को दूर करने के लिए

व्रज गये। वे वृन्दावन में दो मास तक उसी तरह आनन्दपूर्वक रहे जिस तरह कंस को मारने के लिए मथुरा जाने के पूर्व रह रहे थे। तब, दो मास के बाद अपने माता-पिता तथा सम्बन्धियों-मित्रों के दैविक भागों को वैकुण्ठ ले जाकर संसार की नजरों से अपनी व्रज-लीलाएँ समेट लीं। इस तरह एक लोक के पूर्ण प्राकट्य में वे गोलोक गये, दूसरे में वे भौतिक आँखों से अदृश्य होकर व्रज में निरन्तर आनन्द लूटते रहे और उसके आगे वाले लोक में वे अपने रथ पर चढ़ कर अकेले ही द्वारका लौट आये। शौरसेन प्रदेश के लोगों ने सोचा कि दन्तवक्र का वध करने के बाद कृष्ण अपने माता-पिता तथा अन्य प्रियजनों से मिलने आये थे और अब द्वारका वापस जा रहे हैं। किन्तु व्रज के लोग यह न समझ पाये कि कृष्ण सहसा कहाँ अदृश्य हो गये, अत: वे सभी आश्चर्यचकित थे।

यही नहीं, शुकदेव गोस्वामी ने विचार किया कि महाराज परीक्षित शायद यह सोच सकते हैं कि ''जिन कृष्ण ने ग्वालों को सशरीर वैकुण्ठ प्राप्त करा दिया उन्हीं कृष्ण ने अपनी *मौषल लीला* में द्वारकावासियों को अशुभ स्थिति में क्यों पहुँचा दिया?'' इस तरह राजा, यदुओं के प्रति झुकाव होने से, इस व्यवस्था को अनुचित मान सकते हैं। इसीलिए शुकदेव गोस्वामी ने उन्हें *श्री पद्म पुराण* के उत्तर खण्ड में कही गई उपर्युक्त लीला को सुनने की अनुमति नहीं दी।

दसवें स्कंध पर सनातन गोस्वामी की *वैष्णव तोषणी* टीका में हमें लीलाओं का यह अनुक्रम प्राप्त होता है—सूर्यग्रहण के अवसर पर यात्रा, फिर राजसूय सभा, फिर द्यूत क्रीड़ा तथा द्रौपदी चीरहरण का प्रयास, तब पाण्डवों का बनवास, फिर शाल्व तथा दन्तवक्र का वध, तब कृष्ण का वृन्दावन जाना और अन्त में वृन्दावन लीलाओं का समापन।

श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः कुरूणां सह पाण्डवैः ।
तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; युद्ध—युद्ध के लिए; उद्यमम्—तैयारियाँ; रामः—बलराम ने; कुरूणाम्—कुरुओं के; सह—साथ; पाण्डवैः—पाण्डवों की; तीर्थ—तीर्थस्थानों में; अभिषेक—स्नान के; व्याजेन—बहाने; मध्य-स्थः—तटस्थ, बीच-बचाव करने वाले; प्रययौ—कूच किया; किल—निस्सन्देह।

तब बलराम ने सुना कि कुरुगण पाण्डवों के साथ युद्ध की तैयारी कर रहे हैं। तटस्थ होने के कारण वे तीर्थस्थानों में स्नान के लिए जाने का बहाना करके वहाँ से कूच कर गये।

तात्पर्य : बलराम को दुर्योधन तथा युधिष्ठिर दोनों ही प्रिय थे, अतएव विषम स्थिति से बचने के

लिए वे चले गये। यही नहीं, विदूरथ को मारने के बाद भगवान् कृष्ण ने अपने हथियार रख दिये, किन्तु बलराम को तो अभी भी रोमहर्षण तथा बल्वल को मार कर पृथ्वी को असुरों के भार से छुटकारा दिलाना शेष था।

स्नात्वा प्रभासे सन्तर्प्य देवर्षिपितृमानवान् ।
सरस्वतीं प्रतिस्रोतं ययौ ब्राह्मणसंवृतः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

स्नात्वा—स्नान करके; प्रभासे—प्रभास में; सन्तर्प्य—तथा सम्मान देकर; देव—देवताओं; ऋषि—ऋषियों; पितृ—पूर्वजों; मानवान्—तथा मनुष्यों को; सरस्वतीम्—सरस्वती नदी को; प्रति-स्रोतम्—समुद्र की ओर बहने वाली; ययौ—गये; ब्राह्मण-संवृतः—ब्राह्मणों से घिरे हुए।

प्रभास में स्नान करके तथा देवताओं, ऋषियों, पितरों एवं वरेषु मानवों का सम्मान करने के बाद वे ब्राह्मणों को साथ लेकर सरस्वती के उस भाग में गये, जो पश्चिम में समुद्र की ओर बहती है।

पृथूदकं बिन्दुसरस्त्रितकूपं सुदर्शनम् ।
विशालं ब्रह्मतीर्थं च चक्रं प्राचीं सरस्वतीम् ॥ १९ ॥
यमुनामनु यान्येव गङ्गामनु च भारत ।
जगाम नैमिषं यत्र ऋषयः सत्रमासते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

पृथु—चौड़ा; उदकम्—जल, पाट; बिन्दु-सरः—बिन्दु सरोवर; त्रित-कूपम् सुदर्शनम्—त्रितकूप तथा सुदर्शन नामक तीर्थस्थल; विशालम् ब्रह्म-तीर्थम् च—विशाल तथा ब्रह्मतीर्थ; चक्रम्—चक्रतीर्थ; प्राचीम्—पूर्व की ओर बहती; सरस्वतीम्—सरस्वती नदी; यमुनाम्—यमुना नदी के; अनु—किनारे-किनारे; यानि—जो; एव—सभी; गङ्गाम्—गंगा नदी के; अनु—किनारे-किनारे; च—भी; भारत—हे भरतवंशी (परीक्षित महाराज); जगाम—देखने गये; नैमिषम्—नैमिषारण्य; यत्र—जहाँ; ऋषयः—बड़े-बड़े मुनि; सत्रम्—विशाल यज्ञ; आसते—सम्पन्न कर रहे थे।

भगवान् बलराम ने चौड़े बिन्दु-सरस सरोवर, त्रितकूप, सुदर्शन, विशाल, ब्रह्मतीर्थ, चक्रतीर्थ तथा पूर्ववाहिनी सरस्वती को देखा। हे भारत, वे यमुना तथा गंगा नदियों के तटवर्ती सारे तीर्थस्थानों में गये और तब वे नैमिषारण्य आये, जहाँ ऋषिगण बृहद् यज्ञ (सत्र) सम्पन्न कर रहे थे।

तमागतमभिप्रेत्य मुनयो दीर्घसत्रिणः ।
अभिनन्द्य यथान्यायं प्रणम्योत्थाय चार्चयन् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; आगतम्—आया हुआ; अभिप्रेत्य—पहचान कर; मुनयः—मुनियों ने; दीर्घ—लम्बे समय तक; सत्रिणः—यज्ञ सम्पन्न कर रहे; अभिनन्द्य—सत्कार करके; यथा—जिस तरह; न्यायम्—उचित, सही; प्रणम्य—नमस्कार करके; उत्थाय—उठ कर; च—तथा; आर्चयन्—पूजा की।.

भगवान् के आगमन पर उन्हें पहचान लेने पर दीर्घकाल से यज्ञ कर रहे मुनियों ने खड़े होकर, नमस्कार करके तथा उनकी पूजा करके समुचित ढंग से उनका सत्कार किया।

सोऽर्चितः सपरीवारः कृतासनपरिग्रहः ।
रोमहर्षणमासीनं महर्षेः शिष्यमैक्षत ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अर्चितः—पूजित; स—सहित; परीवारः—अपनी टोली; कृत—कर चुकने पर; आसन—आसन की; परिग्रहः—स्वीकृति; रोमहर्षणम्—रोमहर्षण सूत को; आसीनम्—बैठा हुआ; महा-ऋषेः—ऋषियों में सबसे बड़े व्यासदेव के; शिष्यम्—शिष्य को; ऐक्षत—देखा।.

अपनी टोली समेत इस प्रकार पूजित होकर भगवान् ने सम्मान-आसन ग्रहण किया। तब उन्होंने देखा कि व्यासदेव का शिष्य रोमहर्षण बैठा ही रहा था।

अप्रत्युत्थायिनं सूतमकृतप्रह्वणाञ्जलिम् ।
अध्यासीनं च तान्विप्रांश्चुकोपोद्वीक्ष्य माधवः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अप्रत्युत्थायिनम्—खड़ा न होने वाले; सूतम्—सूत पुत्र (क्षत्रिय पिता तथा ब्राह्मण माता के संकर विवाह से उत्पन्न) को; अकृत—जिसने नहीं किया; प्रह्वण—नमस्कार; अञ्जलिम्—हाथ जोड़ना; अध्यासीनम्—ऊँचे स्थान पर आसीन; च—तथा; तान्—उन; विप्रान्—विद्वान ब्राह्मणों की अपेक्षा; चुकोप—क्रुद्ध हुआ; उद्वीक्ष्य—देखकर; माधवः—बलराम।.

श्री बलराम यह देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हुए कि सूत जाति का यह सदस्य किस तरह उठकर खड़े होने, नमस्कार करने या हाथ जोड़ने में विफल रहा है और किस तरह समस्त विद्वान ब्राह्मणों से ऊपर बैठा हुआ है।

तात्पर्य : रोमहर्षण ने वरिष्ठ पुरुष का स्वागत करने की आदर्श विधियों में से किसी के द्वारा बलराम का सत्कार नहीं किया। साथ ही, निम्न जाति का होने पर भी वह श्रेष्ठ ब्राह्मणों की सभा में ऊँचे आसन पर बैठा रहा।

यस्मादसाविमान्विप्रानध्यास्ते प्रतिलोमजः ।
धर्मपालांस्तथैवास्मान्वधमर्हति दुर्मतिः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यस्मात्—चूँकि; असौ—वह; इमान्—इन; विप्रान्—ब्राह्मणों की अपेक्षा; अध्यास्ते—ऊँचे स्थान पर बैठा है; प्रतिलोम-जः—अनुचित संकर विवाह से उत्पन्न; धर्म—धर्म के सिद्धान्तों का; पालान्—रक्षक; तथा एव—भी; अस्मान्—मुझसे; वधम्—मृत्यु; अर्हति—पात्र है; दुर्मतिः—मूर्ख।

[बलराम ने कहा]: चूँकि अनुचित रीति से संकर विवाह से उत्पन्न यह मूर्ख इन सारे ब्राह्मणों से ऊपर बैठा है और मुझ धर्म-रक्षक से भी ऊपर, इसलिए यह मृत्यु का पात्र है।

ऋषेर्भगवतो भूत्वा शिष्योऽधीत्य बहूनि च ।
सेतिहासपुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः ॥ २५ ॥
अदान्तस्याविनीतस्य वृथा पण्डितमानिनः ।
न गुणाय भवन्ति स्म नटस्येवाजितात्मनः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

ऋषेः—ऋषि (व्यासदेव) का; भगवतः—ईश्वर के अवतार; भूत्वा—बन कर; शिष्यः—शिष्य; अधीत्य—अध्ययन करके; बहूनि—अनेक; च—तथा; स—सहित; इतिहास—पौराणिक इतिहास; पुराणानि—तथा पुराण; धर्म-शास्त्राणि—मनुष्य के धार्मिक कर्तव्यों को बताने वाले शास्त्र; सर्वशः—पूर्णरूपेण; अदान्तस्य—उसके लिए जो आत्मसंयमी नहीं है; अविनीतस्य—अविनीत; वृथा—व्यर्थ ही; पण्डित—विद्वान; मानिनः—अपने को सोचते हुए; न गुणाय—सद्गुणों वाला नहीं; भवन्ति स्म—वे हो गये हैं; नटस्य—मंच पर नाटक करने वालों का; इव—सदृश; अजित—न जीता हुआ; आत्मनः—जिसका मन।

यद्यपि वह दिव्य मुनि व्यास का शिष्य है और उसने उनसे अनेक शास्त्रों को भलीभाँति सीखा है, जिसमें धार्मिक कर्तव्यों की संहिताएँ, इतिहास तथा पुराण सम्मिलित हैं, किन्तु इस सारे अध्ययन से उसमें सद्गुण उत्पन्न नहीं हुए हैं। प्रत्युत उसका शास्त्र अध्ययन किसी नट के द्वारा अपना अंश अध्ययन करने की तरह है, क्योंकि वह न तो आत्मसंयमी है, न विनीत है। वह व्यर्थ ही विद्वान होने का स्वाँग रचता है, यद्यपि वह अपने मन को जीत सकने में विफल रहा है।

तात्पर्य : कोई यह तर्क कर सकता है कि रोमहर्षण ने बलराम को न पहचानने की निर्दोष भूल की, किन्तु ऐसे तर्क का निराकरण बलराम द्वारा की गई तीखी आलोचना से हो जाता है।

एतदर्थो हि लोकेऽस्मिन्नवतारो मया कृतः ।
वध्या मे धर्मध्वजिनस्ते हि पातकिनोऽधिकाः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

एतत्—इसी; अर्थः—प्रयोजन के लिए; हि—निस्सन्देह; लोके—संसार में; अस्मिन्—इस; अवतारः—अवतार; मया—मेरे द्वारा; कृतः—किया गया; वध्याः—मारे जाने के लिए; मे—मेरे द्वारा; धर्म-ध्वजिनः—धार्मिक बनने का स्वाँग रचने वाले; ते—वे; हि—निस्सन्देह; पातकिनः—पापी; अधिकाः—सर्वाधिक।

इस संसार में मेरे अवतार का उद्देश्य ही यह है कि ऐसे दिखावटी लोगों का वध किया जाय, जो धार्मिक बनने का स्वाँग रचते हैं। निस्सन्देह, वे सबसे बड़े पापी धूर्त हैं।

तात्पर्य : भगवान् बलदेव रोमहर्षण के अपराध की अनदेखी नहीं करना चाह रहे थे। भगवान् ने इसीलिए अवतार लिया था कि जो अपने को महान् धार्मिक नेता घोषित करते हैं, किन्तु भगवान् तक का आदर नहीं करते, वे उनका सफाया कर दें।

एतावदुक्त्वा भगवान्निवृत्तोऽसद्वधादपि ।
भावित्वात्तं कुशाग्रेण करस्थेनाहनत्प्रभुः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

एतावत्—इतना; उक्त्वा—कह कर; भगवान्—भगवान्; निवृत्तः—रुक गये; असत्—अशुभ; वधात्—मारने से; अपि—यद्यपि; भावित्वात्—यद्यपि हटाया नहीं जा सकता था; तम्—उसको, रोमहर्षण को; कुश—कुश तृण की; अग्रेण—नोक से; कर—हाथ में; स्थेन—पकड़ा हुआ; अहनत्—मार डाला; प्रभुः—भगवान् ने।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : यद्यपि भगवान् बलराम ने अपवित्र लोगों को मारना बन्द कर दिया था, किन्तु रोमहर्षण की मृत्यु तो होनी ही थी। इसलिए ऐसा कहकर भगवान् ने कुश घास का एक तिनका उठाकर और उसकी नोक से छूकर उसे मार डाला।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''श्री बलराम ने कुरुक्षेत्र के युद्ध में भाग लेने से अपने को दूर रखा था फिर भी अपने पद के कारण धार्मिक सिद्धान्तों की पुनर्स्थापना उनका प्रमुख कर्तव्य था। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने कुश के तिनके से प्रहार करके रोमहर्षण सूत को मार डाला। वह तिनका घास की एक पत्ती मात्र था। यदि कोई व्यक्ति यह प्रश्न करे कि बलरामजी ने एक कुश के प्रहार से रोमहर्षण का वध किस प्रकार कर दिया, तो इसका उत्तर *श्रीमद्भागवत* में *प्रभु* शब्द के प्रयोग द्वारा दिया गया है। भगवान् का पद सदैव दिव्य है; क्योंकि वे सर्वशक्तिमान हैं, अतएव वे भौतिक नियमों तथा सिद्धान्तों का पालन किए बिना इच्छानुसार कार्य कर सकते हैं। अतएव एक कुश के प्रहार से रोमहर्षण सूत का वध करना उनके लिए सम्भव था।''

हाहेतिवादिनः सर्वे मुनयः खिन्नमानसाः ।
ऊचुः सङ्कर्षणं देवमधर्मस्ते कृतः प्रभो ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

हा-हा—हाय, हाय; इति—इस प्रकार; वादिनः—कहते हुए; सर्वे—सभी; मुनयः—मुनिगण; खिन्न—विचलित; मानसाः—मन वाले; ऊचुः—बोले; सङ्कर्षणम्—बलराम को; देवम्—भगवान्; अधर्मः—अधार्मिक कृत्य; ते—तुम्हारे द्वारा; कृतः—किया गया; प्रभो—हे प्रभु।

सारे मुनि अत्यन्त कातरता से ''हाय हाय'' कह कर चिल्ला पड़े। उन्होंने भगवान् संकर्षण

से कहा, ''हे प्रभु, आपने यह एक अधार्मिक कृत्य किया है।''

अस्य ब्रह्मासनं दत्तमस्माभिर्यदुनन्दन ।
आयुश्चात्माक्लमं तावद्यावत्सत्रं समाप्यते ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अस्य—इसका; ब्रह्म-आसनम्—गुरु का आसन; दत्तम्—दिया हुआ; अस्माभिः—हमारे द्वारा; यदु-नन्दन—हे यदुओं के प्रिय; आयुः—दीर्घ जीवन; च—तथा; आत्म—शरीर से; अक्लमम्—कष्ट से मुक्ति; तावत्—तब तक के लिए; यावत्—जब तक; सत्रम्—यज्ञ; समाप्यते—समाप्त हो जाता है।

''हे यदुओं के प्रिय, हमने उसे आध्यात्मिक गुरु का आसन प्रदान किया था और उसे दीर्घ आयु के लिए एवं जब तक यह सत्र चलता है तब तक भौतिक पीड़ा से मुक्ति के लिए वचन दिया था।

तात्पर्य : यद्यपि रोमहर्षण ब्राह्मण नहीं था, वह संकर विवाह से उत्पन्न प्रतिलोमज था, किन्तु उसे एकत्रित मुनियों ने वह पद प्रदान किया था और इस तरह उसे *ब्रह्मासन* अर्थात् प्रमुख कार्यकारी पुरोहित का आसन प्राप्त था।

अजानतैवाचरितस्त्वया ब्रह्मवधो यथा ।
योगेश्वरस्य भवतो नाम्नायोऽपि नियामकः ॥ ३१ ॥
यद्येतद्ब्रह्महत्यायाः पावनं लोकपावन ।
चरिष्यति भवाँल्लोकसङ्ग्रहोऽनन्यचोदितः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अजानता—न जानते हुए; एव—केवल; आचरितः—किया गया; त्वया—तुम्हारे द्वारा; ब्रह्म—ब्राह्मण का; वधः—वध; यथा—वास्तव में; योग—योगशक्ति के; ईश्वरस्य—भगवान् का; भवतः—आप; न—नहीं; आम्नायः—शास्त्रों का आदेश; अपि—भी; नियामकः—नियंत्रित करने वाला; यदि—यदि; एतत्—इसके लिए; ब्रह्म—ब्राह्मण की; हत्यायाः—हत्या; पावनम्—शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त; लोक—संसार का; पावन—हे पवित्रकर्ता; चरिष्यति—सम्पन्न करता है; भवान्—आप; लोक-सङ्ग्रहः—आम लोगों की भलाई; अनन्य—अन्य किसी के द्वारा नहीं; चोदितः—प्रेरित।

''आपने अनजाने में एक ब्राह्मण का वध कर दिया है। हे योगेश्वर, शास्त्रों के आदेश भी आपको आज्ञा नहीं दे सकते। किन्तु यदि आप स्वेच्छा से ब्राह्मण के इस वध के लिए संस्तुत शुद्धि कर लेंगे, तो हे सारे जगत के शुद्धिकर्ता, सामान्य लोग आपके उदाहरण से अत्यधिक लाभान्वित होंगे।''

श्रीभगवानुवाच

चरिष्ये वधनिर्वेशं लोकानुग्रहकाम्यया ।
नियमः प्रथमे कल्पे यावान्स तु विधीयताम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; चरिष्ये—मैं करूँगा; वध—हत्या करने के लिए; निर्वेशम्—प्रायश्चित्त; लोक—सामान्य लोगों के लिए; अनुग्रह—दया; काम्यया—दिखाने की इच्छा से; नियमः—आदेश; प्रथमे—प्रथम श्रेणी का; कल्पे—अनुष्ठान; यावान्—जितना; सः—वह; तु—निस्सन्देह; विधीयताम्—आप विधान करें, निर्धारित करें।

भगवान् ने कहा : मैं इस हत्या के लिए अवश्य ही प्रायश्चित करूँगा क्योंकि मैं सामान्य लोगों के प्रति दया दिखाना चाहता हूँ। इसलिए कृपा करके मुझे जो कुछ अनुष्ठान सर्वप्रथम करना हो, उसका निर्धारण करें।

दीर्घमायुर्बतैतस्य सत्त्वमिन्द्रियमेव च ।
आशासितं यत्तद्ब्रूते साधये योगमायया ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

दीर्घम्—लम्बी; आयुः—उम्र; बत—ओह; एतस्य—इसके लिए; सत्त्वम्—शक्ति; इन्द्रियम्—इन्द्रिय शक्ति; एव च—तथा; आशासितम्—वचन दिया हुआ; यत्—जो; तत्—वह; ब्रूते—कहिये; साधये—मैं करवा दूँगा; योग-मायया—अपनी योगशक्ति से।

हे मुनियो, कुछ कहिये तो। आपने उसे जो भी दीर्घायु, शक्ति तथा इन्द्रिय शक्ति के लिए वचन दिये हैं, उन्हें मैं पूरा करवा दूँगा।

ऋषय ऊचुः
अस्त्रस्य तव वीर्यस्य मृत्योरस्माकमेव च ।
यथा भवेद्वचः सत्यं तथा राम विधीयताम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

ऋषयः ऊचुः—ऋषियों ने कहा; अस्त्रस्य—(कुश) हथियार का; तव—तुम्हारे; वीर्यस्य—शक्ति का; मृत्योः—मृत्यु का; अस्माकम्—हमारा; एव च—भी; यथा—जिससे; भवेत्—बना रह सके; वचः—वचन; सत्यम्—सच; तथा—इस प्रकार; राम—हे राम; विधीयताम्—व्यवस्था कर दें।

ऋषियों ने कहा : हे राम, आप ऐसा करें कि आपकी तथा आपके कुश अस्त्र की शक्ति एवं साथ ही हमारा वचन तथा रोमहर्षण की मृत्यु—ये सभी बने रहें।

श्रीभगवानुवाच
आत्मा वै पुत्र उत्पन्न इति वेदानुशासनम् ।
तस्मादस्य भवेद्वक्ता आयुरिन्द्रियसत्त्ववान् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; आत्मा—आत्मा; वै—निस्सन्देह; पुत्रः—पुत्र; उत्पन्नः—उत्पन्न; इति—इस प्रकार; वेद-अनुशासनम्—वेदों का आदेश; तस्मात्—इसलिए; अस्य—इसका (पुत्र); भवेत्—होगा; वक्ता—व्याख्यान देने वाला, वाचक; आयुः—दीर्घायु; इन्द्रिय—प्रबल इन्द्रियाँ; सत्त्व—तथा शारीरिक बल; वान्—से युक्त।

भगवान् ने कहा : वेद हमें उपदेश देते हैं कि मनुष्य की आत्मा ही पुत्र रूप में पुनः जन्म लेती है। इस तरह रोमहर्षण का पुत्र पुराणों का वक्ता बने और वह दीर्घायु, प्रबल इन्द्रियों तथा बल से युक्त हो।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने भगवान् बलराम द्वारा बतलाये गये सिद्धान्त की व्याख्या के लिए निम्नलिखित वैदिक श्लोक उद्धृत किया है—

अंगाद् अंगात् सम्भवसि

हृदयाद् अभिजायसे।

आत्मा वै पुत्रनामासि

संजीव शरदः शतम्॥

''तुमने मेरे विविध अंगों से जन्म लिया है और मेरे हृदय से ही उत्पन्न हुए हो। तुम मेरे पुत्र के रूप में मेरे आत्मा हो। तुम सौ शरद् ऋतुओं तक जीवित रहो।'' यह श्लोक *शतपथ ब्राह्मण* (१.९.८.) में तथा *बृहदारण्यक उपनिषद्* (६..८) में आया है।

किं वः कामो मुनिश्रेष्ठा ब्रूताहं करवाण्यथ ।
अजानतस्त्वपचितिं यथा मे चिन्त्यतां बुधाः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; वः—तुम्हारी; कामः—इच्छा; मुनि—मुनियों में; श्रेष्ठाः—हे श्रेष्ठ; ब्रूत—कहें; अहम्—मैं; करवाणि—करूँगा; अथ—और तब; अजानतः—कौन नहीं जानता; तु—निस्सन्देह; अपचितिम्—प्रायश्चित्त; यथा—उचित रीति से; मे—मेरे लिए; चिन्त्यताम्—सोचें; बुधाः—हे बुद्धिमान जनो।

हे मुनिश्रेष्ठो, आप मुझे अपनी इच्छा बतला दें। मैं उसे अवश्य पूरा करूँगा। और हे बुद्धिमान आत्माओ, मेरे लिए समुचित प्रायश्चित्त का भलीभाँति निर्धारण कर दें, क्योंकि मैं यह नहीं जानता कि वह क्या हो सकता है।

तात्पर्य : भगवान् बलराम सुयोग्य ब्राह्मणों के समक्ष विनीत बनकर आम जनता के लिए पक्का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

ऋषय ऊचुः
इल्वलस्य सुतो घोरो बल्वलो नाम दानवः ।
स दूषयति नः सत्रमेत्य पर्वणि पर्वणि ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

ऋषयः ऊचुः—ऋषियों ने कहा; इल्वलस्य—इल्वल का; सुतः—पुत्र; घोरः—भयावह; बल्वलः नाम—बल्वल नामक; दानवः—असुर; सः—वह; दूषयति—दूषित कर देता है; नः—हमारा; सत्रम्—यज्ञ; एत्य—आकर; पर्वणि पर्वणि—हर प्रतिपदा को।.

ऋषियों ने कहा : एक भयावना असुर, जिसका नाम बल्वल है और जो इल्वल का पुत्र है, हर प्रतिपदा को अर्थात् शुक्लपक्ष के पहले दिन यहाँ आता है और हमारे यज्ञ को दूषित कर देता है।

तात्पर्य : सर्वप्रथम ऋषिगण बलरामजी को बतलाते हैं कि वे उनसे क्या अनुग्रह चाहते हैं।

तं पापं जहि दाशार्ह तन्नः शुश्रूषणं परम् ।
पूयशोणितविन्मूत्रसुरामांसाभिवर्षिणम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; पापम्—पापी व्यक्ति को; जहि—मार डालिये; दाशार्ह—हे दशार्ह के वंशज; तत्—वह; नः—हमारी; शुश्रूषणम्—सेवा; परम्—सर्वश्रेष्ठ; पूय—पीब; शोणित—रक्त; वित्—मल; मूत्र—मूत्र; सुरा—शराब; मांस—तथा मांस; अभिवर्षिणम्—नीचे गिराता है।.

हे दशार्ह-वंशज, कृपा करके उस पापी असुर का वध कर दें, जो हमारे ऊपर पीब, रक्त, मल, मूत्र, शराब तथा मांस डाल जाता है। आप हमारे लिए यही सबसे उत्तम सेवा कर सकते हैं।

ततश्च भारतं वर्षं परीत्य सुसमाहितः ।
चरित्वा द्वादशमासांस्तीर्थस्नायी विशुध्यसि ॥ ० ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; च—तथा; भारतम् वर्षम्—भारतवर्ष की; परीत्य—परिक्रमा करके; सु-समाहितः—गम्भीर मुद्रा में; चरित्वा—तपस्या करके; द्वादश—बारह; मासान्—महीनों; तीर्थ—तीर्थस्थल; स्नायी—स्नान करके; विशुध्यसि—शुद्ध हो सकोगे।.

तत्पश्चात् आप बारह महीनों तक गम्भीर ध्यान के भाव में भारतवर्ष की परिक्रमा करें और तपस्या करते हुए विविध पवित्र तीर्थस्थानों में स्नान करें। इस तरह आप विशुद्ध हो सकेंगे।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि *विशुध्यसि* शब्द का अर्थ है कि सामान्य जनता के समक्ष ऐसा सम्यक उदाहरण प्रस्तुत करके बलराम निर्मल यश प्राप्त करेंगे।

श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''ब्राह्मणजन भगवान् का तात्पर्य समझ गये इसलिए उन्होंने सुझाव दिया कि वे ऐसा प्रायश्चित्त करें जिससे उन सबों को लाभ हो।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "दन्तवक्र, विदूरथ तथा रोमहर्षण का वध" नामक अठहत्तरवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्यासी

भगवान् बलराम की तीर्थयात्रा

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह बलदेव ने बल्वल को मार कर *ब्राह्मणों* को तुष्ट किया, फिर विविध पवित्र तीर्थस्थानों में स्नान किया और तदन्तर भीमसेन तथा दुर्योधन को युद्ध करने से रोकने का प्रयास किया।

नैमिषारण्य वन में मुनियों की यज्ञशाला में प्रतिपदा के दिन भीषण हवा चलने लगी, जिससे पीब की दुर्गन्ध फैलने लगी और धूल से हर वस्तु ओझल होने लगी। तभी बल्वल असुर हाथ में त्रिशूल लिए प्रकट हुआ। उसका विशाल शरीर अत्यधिक काला था और मुँह अत्यन्त भयावना था। भगवान् बलदेव ने उस असुर को अपने हल से पकड़ लिया और तब अपनी गदा से उसके सिर पर ऐसा भीषण प्रहार किया कि वह मर गया। ऋषियों ने बलदेव का यशोगान किया और उन्हें अनेक भेंटें दीं।

तब बलदेव ने अपनी तीर्थयात्रा प्रारम्भ की। इस अवधि में वे अनेक पवित्र तीर्थों में गये। जब उन्होंने कौरवों तथा पाण्डवों के बीच युद्ध की खबर सुनी, तो वे भीम तथा दुर्योधन के बीच द्वन्द्व युद्ध रोकने के प्रयास के लिए कुरुक्षेत्र गये। किन्तु उन दोनों की शत्रुता इतनी गहरी थी कि वे उन्हें युद्ध करने से रोक नहीं सके। यह समझ कर कि वह युद्ध विधि का विधान है, भगवान् बलदेव युद्धभूमि छोड़ कर द्वारका लौट आये।

कुछ काल बाद बलराम पुनः नैमिषारण्य वन में गये, जहाँ ऋषियों ने उनकी ओर से अनेक अग्नि-यज्ञ सम्पन्न किये। बदले में बलराम ने ऋषियों को दिव्य ज्ञान प्रदान किया और उन्हें अपनी शाश्वत पहचान बतलाई।

श्रीशुक उवाच

ततः पर्वण्युपावृत्ते प्रचण्डः पांशुवर्षणः ।

भीमो वायुरभूद्राजन्पूयगन्धस्तु सर्वशः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; ततः—तत्पश्चात्; पर्वणि—प्रतिपदा का दिन; उपावृत्ते—आने पर; प्रचण्डः—भयानक; पांशु—धूल; वर्षणः—वर्षा; भीमः—डरावनी; वायुः—हवा; अभूत्—उठी; राजन्—हे राजन् (परीक्षित); पूय—पीब की; गन्धः—गन्ध; तु—तथा; सर्वशः—सर्वत्र।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, तब प्रतिपदा के दिन (शुक्लपक्ष का पहला दिन) एक प्रचण्ड तथा भयावना झंझावात आया, जिससे चारों ओर धूल बिखर गई और सर्वत्र पीब की दुर्गन्ध फैल गई।

ततोऽमेध्यमयं वर्षं बल्वलेन विनिर्मितम् ।
अभवद्यज्ञशालायां सोऽन्वदृश्यत शूलधृक् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; अमेध्य—गर्हित वस्तुएँ; मयम्—से पूर्ण; वर्षम्—वर्षा; बल्वलेन—बल्वल द्वारा; विनिर्मितम्—उत्पन्न किया गया; अभवत्—हुआ; यज्ञ—यज्ञ की; शालायाम्—शाला में; सः—वह, बल्वल; अन्वदृश्यत—इसके बाद प्रकट हुआ; शूल—त्रिशूल; धृक्—लिए हुए।

इसके बाद यज्ञशाला के क्षेत्र में बल्वल द्वारा भेजी गई घृणित वस्तुओं की वर्षा होने लगी। तत्पश्चात् वह असुर हाथ में त्रिशूल लिए साक्षात् प्रकट हुआ।

तं विलोक्य बृहत्कायं भिन्नाञ्जनचयोपमम् ।
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुं दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीमुखम् ॥ ३ ॥
सस्मार मूषलं रामः परसैन्यविदारणम् ।
हलं च दैत्यदमनं ते तूर्णमुपतस्थतुः ॥ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; विलोक्य—देखकर; बृहत्—विशाल; कायम्—शरीर वाले; भिन्न—टूटा; अञ्जन—काजल का; चय—ढेर; उपमम्—सदृश; तप्त—जलता हुआ; ताम्र—ताँबे (जैसे रंग वाला); शिखा—चोटी; श्मश्रुम्—तथा दाढ़ी; दंष्ट्रा—दाँत सहित; उग्र—भयावह; भ्रु—भौंहों के; कुटी—खाँचों से युक्त; मुखम्—मुख वाला; सस्मार—स्मरण किया; मूषलम्—अपनी गदा (मूसल); रामः—बलराम ने; पर—आमने-सामने; सैन्य—सेनाएँ; विदारणम्—फाड़ने के लिए; हलम्—अपना हल; च—तथा; दैत्य—असुर; दमनम्—दमन करने वाला; ते—वे; तूर्णम्—तुरन्त; उपतस्थतुः—प्रस्तुत किया, उपस्थित हुआ।

विशालकाय असुर काले कज्जल के पिंड जैसा लग रहा था। उसकी चोटी तथा दाढ़ी पिघले ताँबे जैसी थी और उसके चेहरे में भयावने दाँत थे तथा भौंहें गढ़े में घुसी थीं। उसे देखकर बलराम ने शत्रु-सेनाओं को खण्ड-खण्ड कर देने वाली अपनी गदा और असुरों को दण्ड देने वाले अपने हल का स्मरण किया। इस प्रकार बुलाये जाने पर उनके दोनों हथियार तुरन्त ही उनके समक्ष प्रकट हो गये।

तमाकृष्य हलाग्रेण बल्वलं गगनेचरम् ।
मूषलेनाहनत्क्रुद्धो मूर्ध्नि ब्रह्मद्रुहं बलः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; आकृष्य—अपनी ओर खींच कर; हल—हल के; अग्रेण—अगले भाग से; बल्वलम्—बल्वल को; गगने—आकाश में; चरम्—विचरण करने वाले; मूषलेन—अपनी गदा से; अहनत्—प्रहार किया; क्रुद्धः—नाराज; मूर्ध्नि—सिर पर; ब्रह्म—ब्राह्मणों का; द्रुहम्—तंग करने वाला; बलः—बलराम ने।

ज्योंही बल्वल असुर आकाश से उड़ा, भगवान् बलराम ने अपने हल की नोंक से उसे पकड़ लिया और इस ब्राह्मण-उत्पीड़क के सिर पर अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपनी गदा से प्रहार किया।

सोऽपतद्भुवि निर्भिन्नललाटोऽसृक्समुत्सृजन् ।
मुञ्चन्नार्तस्वरं शैलो यथा वज्रहतोऽरुणः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, बल्वल; अपतत्—गिर पड़ा; भुवि—पृथ्वी पर; निर्भिन्न—फट गया; ललाटः—कपाल; असृक्—रक्त; समुत्सृजन्—फव्वारे की तरह निकलता हुआ; मुञ्चन्—छोड़ते हुए; आर्त—पीड़ा के; स्वरम्—शब्द; शैलः—पर्वत; यथा—जिस तरह; वज्र—विद्युत्पात से; हतः—प्रहार किया हुआ; अरुणः—लाल-लाल।

बल्वल पीड़ा से चिल्ला उठा और पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसका सिर फट गया और उसमें से खून का फव्वारा निकलने लगा। वह विद्युत्पात से प्रताड़ित लाल (गेरू) पर्वत जैसा लग रहा था।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार वह असुर रक्त से लाल-लाल दिख रहा था, मानो गेरू से लाल हुआ कोई पर्वत हो।

संस्तुत्य मुनयो रामं प्रयुज्यावितथाशिषः ।
अभ्यषिञ्चन्महाभागा वृत्रघ्नं विबुधा यथा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

संस्तुत्य—प्रशंसा करके; मुनयः—मुनिगण; रामम्—बलराम की; प्रयुज्य—प्रदान करके; अवितथ—अच्युत; आशिषः—वर; अभ्यषिञ्चन्—जैसे उत्सव में नहलाया हुआ; महा-भागाः—महापुरुष; वृत्र—वृत्रासुर का; घ्नम्—मारने वाला (इन्द्र); विबुधाः—देवतागण; यथा—जिस प्रकार।

पूज्य ऋषियों ने हार्दिक स्तुतियों से बलराम का सम्मान किया और उन्हें अमोघ वर दिये। तब उन्होंने उनका अनुष्ठानिक स्नान कराया, जिस तरह देवताओं ने इन्द्र को औपचारिक स्नान कराया था, जब उसने वृत्र का वध किया था।

वैजयन्तीं ददुर्मालां श्रीधामाम्लानपङ्कजां ।
रामाय वाससी दिव्ये दिव्यान्याभरणानि च ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

वैजयन्तीम्—वैजयन्ती नामक; ददु:—दिया; मालाम्—फूलों की माला; श्री—लक्ष्मी के; धाम—घर; अम्लान—कभी न मुरझाने वाली; पङ्कजाम्—कमल-फूलों से बनी; रामाय—बलराम को; वाससी—वस्त्रों की जोड़ी (ऊपरी तथा निचले); दिव्ये—दिव्य; दिव्यानि—दिव्य; आभरणानि—आभूषण; च—तथा।

उन्होंने बलरामजी को कभी न मुरझाने वाली कमल के फूलों से बनी वैजयन्ती नामक माला दी, जिसमें लक्ष्मीजी रहती हैं। उन्होंने बलराम को दिव्य वस्त्रों की जोड़ी तथा आभूषण भी दिये।

अथ तैरभ्यनुज्ञातः कौशिकीमेत्य ब्राह्मणैः ।
स्नात्वा सरोवरमगाद्यतः सरयूरास्रवत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; तैः—उनके द्वारा; अभ्यनुज्ञातः—विदा किये गये; कौशिकीम्—कौशिकी नदी में; एत्य—आकर; ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों के साथ; स्नात्वा—नहाकर; सरोवरम्—झील के निकट; अगात्—गये; यतः—जिसमें से; सरयूः—सरयू नदी; आस्रवत्—निकलती है।

तत्पश्चात् ऋषियों से विदा होकर भगवान् ब्राह्मणों की टोली के साथ कौशिकी नदी गये, जहाँ उन्होंने स्नान किया। वहाँ से वे उस सरोवर पर गये, जिससे सरयू नदी निकलती है।

अनुस्रोतेन सरयूं प्रयागमुपगम्य सः ।
स्नात्वा सन्तर्प्य देवादीन्जगाम पुलहाश्रमम् ॥ ॥

शब्दार्थ

अनु—पीछे-पीछे; स्रोतेन—धारा; सरयूम्—सरयू के किनारे-किनारे; प्रयागम्—प्रयाग तक; उपगम्य—आकर; सः—वह; स्नात्वा—स्नान करके; सन्तर्प्य—तर्पण करके; देव-आदीन्—देवताओं आदि को; जगाम—गया; पुलह-आश्रमम्—पुलह ऋषि की कुटिया में।

भगवान् सरयू नदी की धारा का अनुसरण करते हुए प्रयाग आये, जहाँ उन्होंने स्नान किया और देवताओं तथा अन्य जीवों को तर्पण करने का अनुष्ठान सम्पन्न किया। इसके बाद वे पुलह ऋषि के आश्रम गये।

तात्पर्य : पुलह आश्रम हरिक्षेत्र के नाम से भी विख्यात है।

गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा विपाशां शोण आप्लुतः ।
गयां गत्वा पितृनिष्ट्वा गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ११ ॥
उपस्पृश्य महेन्द्राद्रौ रामं दृष्ट्वाभिवाद्य च ।
सप्तगोदावरीं वेणां पम्पां भीमरथीं ततः ॥ १२ ॥

स्कन्दं दृष्ट्वा ययौ रामः श्रीशैलं गिरिशालयम् ।
द्रविडेषु महापुण्यं दृष्ट्वाद्रिं वेङ्कटं प्रभुः ॥ १३ ॥
कामकोष्णीं पुरीं काञ्चीं कावेरीं च सरिद्वराम् ।
श्रीरन्गाख्यं महापुण्यं यत्र सन्निहितो हरिः ॥ १ ॥
ऋषभाद्रिं हरेः क्षेत्रं दक्षिणां मथुरां तथा ।
सामुद्रं सेतुमगमत्महापातकनाशनम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

गोमतीम्—गोमती नदी में; गण्डकीम्—गण्डकी नदी में; स्नात्वा—स्नान करके; विपाशाम्—विपाशा नदी में; शोणे—शोण नदी में; आप्लुतः—घुस करके; गयाम्—गया; गत्वा—जाकर; पितृन्—अपने पितरों को; इष्ट्वा—पूजा करके; गङ्गा—गंगा; सागर—तथा समुद्र के; सङ्गमे—संगम में; उपस्पृश्य—जल का स्पर्श करके (नहाकर); महा-इन्द्र-अद्रौ—महेन्द्र पर्वत पर; रामम्—परशुराम को; दृष्ट्वा—देखकर; अभिवाद्य—सम्मान करके; च—तथा; सप्त-गोदावरीम्—सात गोदावरियों के मिलन स्थल पर (जाकर); वेणाम्—वेणा नदी; पम्पाम्—पम्पा नदी; भीमरथीम्—तथा भीमरथी नदी; ततः—तब; स्कन्दम्—भगवान् स्कन्द (कार्तिकेय) को; दृष्ट्वा—देखकर; ययौ—गया; रामः—बलराम; श्री-शैलम्—श्रीशैल; गिरि-श—शिवजी के; आलयम्—वासस्थान; द्रविडेषु—दक्षिणी प्रान्तों में; महा—अत्यन्त; पुण्यम्—पवित्र; दृष्ट्वा—देखकर; अद्रिम्—पर्वत को; वेङ्कटम्—वेंकट नामक (जो बालाजी का धाम है); प्रभुः—भगवान्; काम-कोष्णीम्—कामकोष्णी; पुरीम् काञ्चीम्—काञ्चीपुरम् को; कावेरीम्—कावेरी को; च—तथा; सरित्—नदियों के; वराम्—सबसे बड़े; श्री-रङ्ग-आख्यम्—श्रीरंग नामक; महा-पुण्यम्—अत्यन्त पवित्र स्थान; यत्र—जहाँ; सन्निहितः—प्रकट; हरिः—भगवान् कृष्ण (रंगनाथ के रूप में); ऋषभ-अद्रिम्—ऋषभ पर्वत; हरेः—भगवान् विष्णु के; क्षेत्रम्—स्थान; दक्षिणाम् मथुराम्—दक्षिणी मथुरा (मदुराई, देवी मीनाक्षी का धाम); तथा—भी; सामुद्रम्—समुद्र पर; सेतुम्—पुल (सेतुबन्ध); अगमत्—गया; महा—सबसे बड़े; पातक—पापों का; नाशनम्—नष्ट करने वाला।

भगवान् बलराम ने गोमती, गण्डकी तथा विपाशा नदियों में स्नान किया और शोण में भी डुबकी लगाई। वे गया गये, जहाँ अपने पितरों की पूजा की। गंगामुख जाकर उन्होंने शुद्धि के लिए स्नान किया। महेन्द्र पर्वत पर उन्होंने परशुराम के दर्शन किये और उनकी स्तुति की। तत्पश्चात् उन्होंने गोदावरी नदी की सातों शाखाओं में स्नान किया। उन्होंने वेणा, पम्पा तथा भीमरथी नदियों में भी स्नान किया। फिर बलराम भगवान् स्कन्द से मिले और भगवान् गिरिश के धाम श्रीशैल गये। दक्षिणी प्रान्तों में, जिन्हें द्रविड़ देश कहा जाता है, भगवान् ने पवित्र वेंकट पर्वत, कामकोष्णी तथा कांची नामक शहर, पवित्र कावेरी नदी तथा अत्यन्त पवित्र श्रीरंग को देखा, जहाँ साक्षात् भगवान् कृष्ण प्रकट हुए थे। वहाँ से वे ऋषभ पर्वत गये, जहाँ पर कृष्ण भी रहते हैं और फिर दक्षिण मथुरा गये। तत्पश्चात् वे सेतुबन्ध गये, जहाँ बड़े से बड़े पाप नष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य : वैसे तो लोग मृत पूर्वजों की पूजा करने गया जाते हैं, किन्तु जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि यद्यपि बलरामजी के पिता तथा पितामह जीवित थे तो भी उनके पिता का आदेश था कि वे गया में अपने पूर्वजों की ठीक से पूजा करें। *वैष्णव तोषणी* के आधार पर आचार्य ने

यह भी बतलाया है कि यद्यपि बलरामजी जगन्नाथपुरी के बहुत ही निकट थे फिर भी वे वहाँ नहीं गये क्योंकि वे श्रीकृष्ण, बलभद्र तथा सुभद्रा के स्वरूपों के साथ अपने स्वरूप की पूजा करने से उत्पन्न उलझन से बचना चाहते थे।

तत्रायुतमदाद्धेनूर्ब्राह्मणेभ्यो हलायुधः ।
कृतमालां ताम्रपर्णीं मलयं च कुलाचलम् ।
तत्रागस्त्यं समासीनं नमस्कृत्याभिवाद्य च ॥ १६ ॥
योजितस्तेन चाशीर्भिरनुज्ञातो गतोऽर्णवम् ।
दक्षिणं तत्र कन्याख्यां दुर्गां देवीं ददर्श सः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ (सेतुबन्ध या रामेश्वरम में); अयुतम्—दस हजार; अदात्—दान में दी; धेनूः—गौवें; ब्रह्मणेभ्यः—ब्राह्मणों को; हल-आयुधः—जिसका हथियार हल है, बलराम ने; कृतमालाम्—कृतमाला नदी; ताम्रपर्णीम्—ताम्रपर्णी नदी; मलयम्—मलय; च—तथा; कुल-अचलम्—प्रमुख पर्वत श्रेणी; तत्र—वहाँ; अगस्त्यम्—अगस्त्य ऋषि को; समासीनम्—(ध्यान में) बैठे हुए; नमस्कृत्य—नमस्कार करके; अभिवाद्य—महिमा-गायन करके; च—तथा; योजितः—प्रदत्त; तेन—उसके द्वारा; च—तथा; आशीर्भिः—आशीर्वादों से; अनुज्ञातः—जाने की अनुमति पाकर; गतः—चले गये; अर्णवम्—समुद्र; दक्षिणम्—दक्षिणी; तत्र—वहाँ; कन्या-आख्याम्—कन्याकुमारी नामक; दुर्गाम् देवीम्—दुर्गादेवी को; ददर्श—देखा; सः—उसने।

सेतुबन्ध (रामेश्वरम) में भगवान् हलायुध ने ब्राह्मणों को दान में दस हजार गौवें दीं। फिर वे कृतमाला तथा ताम्रपर्णी नदियों एवं विशाल मलय पर्वत गये। मलय-श्रेणी में भगवान् बलराम को ध्यानमग्न अगस्त्य ऋषि मिले। ऋषि को नमस्कार करके भगवान् ने स्तुति की और उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया। अगस्त्य से विदा होकर वे दक्षिणी सागर के तट पर गये, जहाँ उन्होंने कन्याकुमारी के रूप में दुर्गादेवी को देखा।

ततः फाल्गुनमासाद्य पञ्चाप्सरसमुत्तमम् ।
विष्णुः सन्निहितो यत्र स्नात्वास्पर्शद्गवायुतम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; फाल्गुनम्—फाल्गुन; आसाद्य—पहुँच कर; पञ्च-अप्सरसम्—पाँच अप्सराओं की झील; उत्तमम्—उत्तम; विष्णुः—भगवान् विष्णु; सन्निहितः—प्रकट; यत्र—जहाँ पर; स्नात्वा—स्नान करके; अस्पर्शत्—स्पर्श किया (दान देते समय अनुष्ठान के रूप में); गव—गौवों को; अयुतम्—दस हजार।

इसके बाद वे फाल्गुन तीर्थ गये और उन्होंने पवित्र पञ्चाप्सरा सरोवर में स्नान किया, जहाँ साक्षात् भगवान् विष्णु प्रकट हुए थे। यहाँ पर उन्होंने और दस हजार गौवें दान में दीं।

ततोऽभिव्रज्य भगवान्केरलांस्तु त्रिगर्तकान् ।

गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रं सान्निध्यं यत्र धूर्जटेः ॥ १९ ॥
आर्यां द्वैपायनीं दृष्ट्वा शूर्पारकमगाद्बलः ।
तापीं पयोष्णीं निर्विन्ध्यामुपस्पृश्याथ दण्डकम् ॥ २० ॥
प्रविश्य रेवामगमद्यत्र माहिष्मती पुरी ।
मनुतीर्थमुपस्पृश्य प्रभासं पुनरागमत् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; अभिव्रज्य—यात्रा करके; भगवान्—भगवान्; केरलान्—केरल राज्य से होकर; तु—तथा; त्रिगर्तकान्—त्रिगर्त से होकर; गोकर्ण-आख्यम्—(उत्तरी कर्णाटक में अरब सागर के तट पर) गोकर्ण नामक; शिव-क्षेत्रम्—शिवजी के पवित्र स्थल; सान्निध्यम्—प्राकट्य; यत्र—जहाँ; धूर्जटेः—शिवजी की; आर्याम्—सम्मानित देवी (पार्वती, शिव-पत्नी); द्वैप—द्वीप में (गोकर्ण के निकट के तट से दूर); अयनीम्—रहने वाला; दृष्ट्वा—देखकर; शूर्पारकम्—शूर्पारक के पवित्र जिले में; अगात्—गये; बलः—बलराम; तापीम् पयोष्णीम् निर्विन्ध्याम्—तापी, पयोष्णी तथा निर्विन्ध्या नदियों में; उपस्पृश्य—जल छूकर; अथ—उसके बाद; दण्डकम्—दण्डक वन में; प्रविश्य—प्रवेश करके; रेवाम्—रेवा नदी तक; अगमत्—गये; यत्र—जहाँ; माहिष्मती पुरी—माहिष्मती नगरी में; मनु-तीर्थम्—मनुतीर्थ को; उपस्पृश्य—जल छूकर; प्रभासम्—प्रभास; पुनः—फिर; आगमत्—आये।

तब भगवान् ने केरल तथा त्रिगर्त राज्यों से होकर यात्रा करते हुए भगवान् शिव की पवित्र नगरी गोकर्ण देखी, जहाँ साक्षात् भगवान् धूर्जटि (शिव) प्रकट होते हैं। इसके बाद एक द्वीप में निवास करने वाली देवी पार्वती का दर्शन करके बलरामजी पवित्र शूर्पारक जिले से होकर गुजरे और तापी, पयोष्णी तथा निर्विन्ध्या नदियों में स्नान किया। तत्पश्चात् वे दण्डकारण्य में प्रविष्ट हुए और रेवा नदी गये, जिसके किनारे माहिष्मती नगरी स्थित है। फिर उन्होंने मनुतीर्थ में स्नान किया और अन्त में प्रभास लौट आये।

श्रुत्वा द्विजैः कथ्यमानं कुरुपाण्डवसंयुगे ।
सर्वराजन्यनिधनं भारं मेने हृतं भुवः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; द्विजैः—ब्राह्मणों द्वारा; कथ्यमानम्—सुनाये जा रहे; कुरु-पाण्डव—कुरुओं तथा पाण्डवों के बीच; संयुगे—युद्ध में; सर्व—सभी; राजन्य—राजाओं के; निधनम्—संहार को; भारम्—भार को; मेने—सोचा; हृतम्—हटाया हुआ; भुवः—पृथ्वी के।

भगवान् ने कुछ ब्राह्मणों से सुना कि किस तरह कुरुओं तथा पाण्डवों के बीच युद्ध में भाग लेने वाले सारे राजा मारे जा चुके थे। इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि अब पृथ्वी अपने भार से मुक्त हो गई है।

स भीमदुर्योधनयोर्गदाभ्यां युध्यतोर्मृधे ।
वारयिष्यन्विनशनं जगाम यदुनन्दनः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने, बलरामजी ने; भीम-दुर्योधनयोः—भीम तथा दुर्योधन के बीच; गदाभ्याम्—गदाओं से; युध्यतोः—लड़ते हुए; मृधे—युद्धक्षेत्र में; वारयिष्यन्—मना करने की इच्छा करते हुए; विनशनम्—युद्धक्षेत्र तक; जगाम—गये; यदु—यदुओं के; नन्दनः—प्रिय पुत्र (बलराम)।

उस समय युद्धक्षेत्र में भीम तथा दुर्योधन के मध्य चल रहे गदा-युद्ध को रोकने की इच्छा से बलरामजी कुरुक्षेत्र गये।

युधिष्ठिरस्तु तं दृष्ट्वा यमौ कृष्णार्जुनावपि ।
अभिवाद्याभवंस्तुष्णीं किं विवक्षुरिहागतः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः—राजा युधिष्ठिर ने; तु—लेकिन; तम्—उसे, बलराम को; दृष्ट्वा—देखकर; यमौ—जुड़वाँ भाई, नकुल तथा सहदेव ने; कृष्ण-अर्जुनौ—कृष्ण तथा अर्जुन ने; अपि—भी; अभिवाद्य—नमस्कार करके; अभवन्—थे; तुष्णीम्—मौन; किम्—क्या; विवक्षुः—कहना चाहते हुए; इह—यहाँ; आगतः—आया है।

जब युधिष्ठिर, कृष्ण, अर्जुन तथा जुड़वाँ भाई नकुल तथा सहदेव ने बलराम को देखा, तो उन सबों ने उन्हें नमस्कार किया, किन्तु यह सोचते हुए कि ''ये हमें क्या बतलाने आये हैं'' वे सब मौन रहे।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''उनके मौन रहने का कारण यह था कि बलरामजी दुर्योधन के प्रति कुछ-कुछ स्नेहिल थे, क्योंकि उसने उनसे गदा-युद्ध की कला सीखी थी। इसलिए जब युद्ध चल रहा था, तो राजा युधिष्ठिर तथा अन्यों ने सोचा कि हो सकता है कि बलरामजी दुर्योधन के पक्ष में कुछ कहने आये हों। इसीलिए वे मौन रहे।''

गदापाणी उभौ दृष्ट्वा संरब्धौ विजयैषिणौ ।
मण्डलानि विचित्राणि चरन्ताविदमब्रवीत् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

गदा—गदाएँ; पाणी—हाथ में लिए; उभौ—दोनों को, दुर्योधन तथा भीम को; दृष्ट्वा—देखकर; संरब्धौ—क्रुद्ध; विजय—जीत; एषिणौ—के लिए प्रयत्नशील; मण्डलानि—चक्र, गोले; विचित्राणि—कलात्मक; चरन्तौ—घूमते हुए; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।

बलराम ने देखा कि दुर्योधन तथा भीम अपने अपने हाथों में गदा लिए कलात्मक ढंग से चक्कर लगाते क्रोध से भरे हुए एक-दूसरे पर विजय पाने के लिए प्रयत्नशील हैं। भगवान् ने उन्हें इस प्रकार सम्बोधित किया।

युवां तुल्यबलौ वीरौ हे राजन्हे वृकोदर ।
एकं प्राणाधिकं मन्ये उतैकं शिक्षयाधिकम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

युवाम्—तुम दोनों; तुल्य—समान; बलौ—बल या पौरुष में; वीरौ—योद्धा; हे राजन्—हे राजन् (दुर्योधन); हे वृकोदर—हे भीम; एकम्—एक; प्राण—जीवनी-शक्ति में; अधिकम्—अधिक; मन्ये—मानता हूँ; उत—दूसरी ओर; एकम्—एक; शिक्षया—प्रशिक्षण में; अधिकम्—बढ़कर।

[बलरामजी ने कहा] : हे राजा दुर्योधन, हे भीम, सुनो तो, तुम दोनों योद्धा युद्ध-बल में समान हो। मैं जानता हूँ कि तुम दोनों में से एक में शारीरिक बल अधिक है, जबकि दूसरा कला में अधिक प्रशिक्षित है।

तात्पर्य : भीम शारीरिक दृष्टि से अधिक बलवान था, किन्तु दुर्योधन गदा चलाने की कला में अधिक निपुण था।

तस्मादेकतरस्येह युवयोः समवीर्ययोः ।
न लक्ष्यते जयोऽन्यो वा विरमत्वफलो रणः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; एकतरस्य—दोनों में से किसी एक का; इह—यहाँ; युवयोः—तुम दोनों का; सम—तुल्य; वीर्ययोः—पौरुष वाले; न लक्ष्यते—दिखाई नहीं पड़ता; जयः—विजय; अन्यः—विपरीत (हार); वा—अथवा; विरमतु—रुक जाना चाहिए; अफलः—व्यर्थ; रणः—युद्ध।

चूँकि तुम दोनों युद्ध-बल में बिल्कुल एक-जैसे हो अतः मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि इस द्वन्द्व में तुम में से कोई कैसे जीतेगा या हारेगा। अतएव कृपा करके इस व्यर्थ के युद्ध को बन्द कर दो।

न तद्वाक्यं जगृहतुर्बद्धवैरौ नृपार्थवत् ।
अनुस्मरन्तावन्योन्यं दुरुक्तं दुष्कृतानि च ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तत्—उसके; वाक्यम्—शब्दों को; जगृहतुः—दोनों ने स्वीकार किया; बद्ध—स्थिर; वैरौ—शत्रुता; नृप—हे राजा (परीक्षित); अर्थ-वत्—विवेकशील; अनुस्मरन्तौ—स्मरण रखते हुए; अन्योन्यम्—एक-दूसरे को; दुरुक्तम्—कटु वचन; दुष्कृतानि—दुष्कर्म; च—भी।

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा] : हे राजन्, तर्कपूर्ण होने पर भी बलरामजी के अनुरोध को उन दोनों ने स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उनकी पारस्परिक शत्रुता कट्टर थी। वे दोनों ही एक-दूसरे पर किये गये अपमानों तथा आघातों को निरन्तर स्मरण करते आ रहे थे।

दिष्टं तदनुमन्वानो रामो द्वारवतीं ययौ ।
उग्रसेनादिभिः प्रीतैर्ज्ञातिभिः समुपागतः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

दिष्टम्—भाग्य को; तत्—उस; अनुमन्वानः—निश्चित करते हुए; रामः—बलरामजी; द्वारवतीम्—द्वारका; ययौ—चले गये; उग्रसेन-आदिभिः—उग्रसेन इत्यादि द्वारा; प्रीतैः—प्रफुल्लित; ज्ञातिभिः—अपने पारिवारिक जनों द्वारा; समुपागतः—सत्कार किया गया।

इस निष्कर्ष पर पहुँचते हुए कि युद्ध विधाता द्वारा आयोजित होता है, बलरामजी द्वारका लौट गये। वहाँ उग्रसेन ने तथा उनके अन्य सम्बन्धियों ने उनका स्वागत किया, जो सभी उन्हें देखकर प्रफुल्लित थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती *दिष्टम्* शब्द अर्थात् भाग्य की व्याख्या करते हुए यह कहते हैं कि यह शब्द सूचित करता है कि भीम तथा दुर्योधन के मध्य का युद्ध भगवान् कृष्ण के आदेश के कारण था और उन्हीं के द्वारा आरम्भ करवाया गया था।

तं पुनर्नैमिषं प्राप्तमृषयोऽयाजयन्मुदा ।
क्रत्वङ्गं क्रतुभिः सर्वैर्निवृत्ताखिलविग्रहम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको, बलराम को; पुनः—फिर; नैमिषम्—नैमिषारण्य; प्राप्तम्—पहुँचे हुए; ऋषयः—ऋषिगण; अयाजयन्—वैदिक यज्ञ में व्यस्त; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; क्रतु—समस्त यज्ञों के; अङ्गम्—अंगस्वरूप; क्रतुभिः—अनुष्ठानों से; सर्वैः—सभी प्रकार के; निवृत्त—परित्यक्त किया गया; अखिल—समस्त; विग्रहम्—युद्ध।

बाद में बलरामजी नैमिषारण्य लौट आये, जहाँ ऋषियों ने समस्त यज्ञों के साक्षात् रूप उन्हें प्रसन्नतापूर्वक विविध प्रकार के वैदिक यज्ञों को सम्पन्न करने में लगा दिया। अब बलरामजी समस्त युद्धों से निवृत्ति प्राप्त कर चुके थे।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं: "[जब बलराम] पवित्र तीर्थस्थल नैमिषारण्य गये तो ऋषियों, सन्त-पुरुषों तथा ब्राह्मणों ने खड़े होकर उनका स्वागत किया। वे समझ गये कि यद्यपि बलराम क्षत्रिय हैं, किन्तु अब युद्ध-कार्य से निवृत्ति प्राप्त कर चुके हैं। सदैव सुख-शान्ति के पक्षधर ब्राह्मण तथा ऋषिगण इससे अत्यन्त प्रसन्न हुए। सभी ने अत्यन्त स्नेहपूर्वक श्री बलरामजी का आलिंगन किया तथा नैमिषारण्य नामक पवित्र स्थान में विभिन्न प्रकार के यज्ञ सम्पन्न करने के लिए उन्हें प्रेरित किया। वास्तव में बलराम का साधारण मनुष्यों के लिए संस्तुत यज्ञ से कोई प्रयोजन नहीं था, वे तो भगवान् हैं, अतएव वे स्वयं ऐसे समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं। फलतः यज्ञ निष्पादित करने का उनका अनुकरणीय

कार्य सामान्य जन को यह पाठ पढ़ाने के हेतु था कि किस तरह वेदों के आदेशों का पालन करना चाहिए।''

तेभ्यो विशुद्धं विज्ञानं भगवान्व्यतरद्विभुः ।
येनैवात्मन्यदो विश्वमात्मानं विश्वगं विदुः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—उन्हें; विशुद्धम्—एकदम शुद्ध; विज्ञानम्—दैवी ज्ञान; भगवान्—भगवान् ने; व्यतरत्—प्रदान किया; विभुः—सर्वशक्तिमान; येन—जिससे; एव—निस्सन्देह; आत्मनि—अपने भीतर; अदः—यह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; आत्मानम्—अपने को; विश्व-गम्—ब्रह्माण्ड में व्याप्त; विदुः—वे अनुभव कर सके।

सर्वशक्तिमान भगवान् बलराम ने ऋषियों को शुद्ध आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान किया, जिससे वे सभी बलरामजी के भीतर सारे ब्रह्माण्ड को देख सकें और यह भी देख सकें कि वे हर वस्तु में समाये हुए हैं।

स्वपत्यावभृथस्नातो ज्ञातिबन्धुसुहृद्वृतः ।
रेजे स्वज्योत्स्नयेवेन्दुः सुवासाः सुष्ठ्वलङ्कृतः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

स्व—अपनी; पत्या—पत्नी सहित; अवभृथ—यज्ञ-दीक्षा के अन्त का सूचक अवभृथ अनुष्ठान; स्नातः—स्नान किये हुए; ज्ञाति—अपने निकट सम्बन्धियों द्वारा; बन्धु—अन्य सम्बन्धीजन; सुहृत्—तथा मित्रगण; वृतः—घिरे हुए; रेजे—भव्य लग रहे थे; स्व-ज्योत्स्नया—अपनी ही किरणों समेत; इव—सदृश; इन्दुः—चन्द्रमा; सु—सुन्दर; वासाः—वस्त्र पहने; सुष्ठु—सुन्दर; अलङ्कृतः—सजे हुए।

अपनी पत्नी के साथ *अवभृथ* स्नान करने के बाद सुन्दर वस्त्रों से सज्जित और अलंकारों से विभूषित तथा अपने निकट सम्बन्धियों, अन्य परिवार वालों एवं मित्रों से घिरे बलरामजी ऐसे भव्य लग रहे थे, मानो तेजयुक्त अपनी किरणों से घिरा हुआ चन्द्रमा हो।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने इस दृश्य का सुन्दर ढंग से इस प्रकार वर्णन किया है : ''तत्पश्चात् श्री बलराम ने *अवभृथ* स्नान किया जिसे यज्ञ-सम्बन्धी क्रियाओं की समाप्ति होने पर सम्पन्न किया जाता है। स्नान करने के पश्चात् उन्होंने नवीन कौशेय (रेशमी) वस्त्र धारण किये और अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों के मध्य स्वयं को सुन्दर आभूषणों से सज्जित किया। वे आकाश में अनेक नक्षत्रों के बीच प्रकाशमान पूर्ण-चन्द्रमा के समान प्रतीत हो रहे थे।

ईदृग्विधान्यसङ्ख्यानि बलस्य बलशालिनः ।

अनन्तस्याप्रमेयस्य मायामर्त्यस्य सन्ति हि ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ईदृक्-विधानि—इस प्रकार के; असङ्ख्यानि—अनगिनत; बलस्य—बलराम के; बल-शालिनः—बलशाली; अनन्तस्य—अनन्त; अप्रमेयस्य—अप्रमेय, असीम; माया—अपनी माया-शक्ति द्वारा; मर्त्यस्य—मर्त्यों के; सन्ति—हैं; हि—निस्सन्देह।

उन अनन्त तथा अप्रमेय बलशाली भगवान् बलराम द्वारा असंख्य अन्य लीलाएँ सम्पन्न की गईं, जो अपनी योगमाया से मनुष्य के रूप में दिखते हैं।

योऽनुस्मरेत रामस्य कर्माण्यद्भुतकर्मणः ।
सायं प्रातरनन्तस्य विष्णोः स दयितो भवेत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो भी; अनुस्मरेत—नियमित रूप से; रामस्य—बलराम के; कर्माणि—कार्यकलाप; अद्भुत—आश्चर्यजनक; कर्मणः—जिनके सारे कर्म; सायम्—सायंकाल; प्रातः—प्रातःकाल; अनन्तस्य—अनन्त के; विष्णोः—विष्णु का; सः—वह; दयितः—प्रिय; भवेत्—बन जाता है।

अनन्त भगवान् बलराम के सारे कार्यकलाप चकित कर देने वाले हैं। जो कोई भी प्रातः तथा सायं उनका निरन्तर स्मरण करता है, वह भगवान् श्री विष्णु का अत्यन्त प्रिय बन जाता है।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं: ''श्री बलराम मूल विष्णु हैं, अतएव जो व्यक्ति प्रातःकाल तथा सायंकाल भगवान् बलराम की लीलाओं का स्मरण करेगा वह निश्चय ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का महान् भक्त बनेगा और इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से उसका जीवन सफल हो जायेगा।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''भगवान् बलराम की तीर्थयात्रा'' नामक उन्यासिवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अस्सी

द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण से ब्राह्मण सुदामा की भेंट

इस अध्याय में बतलाया गया है कि भगवान् कृष्ण ने किस तरह अपने ब्राह्मण मित्र की पूजा की, जो उनके महल में दान माँगने आया था और किस तरह उन्होंने उन लीलाओं की चर्चा की, जिनमें उन्होंने अपने गुरु सान्दीपनि मुनि के घर में रहते हुए भाग लिया था।

भगवान् कृष्ण का अन्तरंग मित्र ब्राह्मण सुदामा पूरी तरह निष्काम था। उसे जो कुछ अपने आप मिल जाता, उसी से वह अपना तथा अपनी पत्नी का भरण-पोषण करता था। इस तरह वे निर्धनता में जी रहे थे। एक दिन, जब सुदामा की पत्नी अपने पति के लिए भोजन तैयार करने के लिए कुछ न

जुटा पाई, तो वह सुदामा के पास गई और उससे कहा कि वह द्वारका में रह रहे अपने मित्र कृष्ण के पास जाकर कुछ दान माँगे। सुदामा पहले तो हिचका, किन्तु जब पत्नी ने बहुत आग्रह किया, तो वह यह सोच कर जाने के लिए तैयार हो गया कि भगवान् से भेंट करने का यह अतीव शुभ अवसर होगा। उसकी पत्नी श्रीकृष्ण को उपहार में देने के लिए मुट्ठी-भर चावल माँग लाई और सुदामा द्वारका के लिए प्रस्थान कर गया।

जब सुदामा भगवान् कृष्ण की पटरानी रुक्मिणीदेवी के महल के निकट पहुँचा, तो भगवान् ने उसे दूर से ही देख लिया। कृष्ण तुरन्त ही रुक्मिणी के बिस्तर से उठ खड़े हुए और उन्होंने अतीव हर्षपूर्वक अपने मित्र का आलिंगन किया। फिर उन्होंने सुदामा को बिस्तर पर बिठाया, अपने हाथों से उसके पाँव धोये और इस जल को अपने सिर पर छिड़का। इसके बाद उन्होंने उसे अनेक भेंटें दीं और धूप, दीप इत्यादि से उसकी पूजा की। इस बीच रुक्मिणी उस फटे-पुराने वस्त्रधारी ब्राह्मण पर चामर झलती रहीं। इससे महल के वासियों को आश्चर्य हुआ।

तब कृष्ण ने अपने मित्र का हाथ अपने हाथ में ले लिया और अपने गुरु की पाठशाला में बहुत काल पूर्व रहते हुए, जो कुछ उन्होंने मिल कर किया था उसका स्मरण करते रहे। सुदामा ने यह इंगित किया कि कृष्ण शिक्षा प्राप्त करने की लीला में इसीलिए प्रवृत्त होते हैं कि मानव समाज के समक्ष आदर्श उपस्थित हो सके।

श्रीराजोवाच
भगवन्यानि चान्यानि मुकुन्दस्य महात्मनः ।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य श्रोतुमिच्छामि हे प्रभो ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा (परीक्षित) ने कहा; भगवन्—हे प्रभु (शुकदेव गोस्वामी); यानि—जो; च—तथा; अन्यानि—अन्य लोगों के; मुकुन्दस्य—भगवान् कृष्ण का; महा-आत्मनः—परमात्मा; वीर्याणि—वीरतापूर्ण कार्य; अनन्त—असंख्य; वीर्यस्य—बहादुरी के; श्रोतुम्—सुनने के लिए; इच्छामि—इच्छा करता हूँ; हे प्रभो—हे स्वामी।

राजा परीक्षित ने कहा : हे प्रभु, हे स्वामी, मैं उन असीम शौर्य वाले भगवान् मुकुन्द द्वारा सम्पन्न अन्य शौर्यपूर्ण कार्यों के विषय में सुनना चाहता हूँ।

को नु श्रुत्वासकृद्ब्रह्मन्नुत्तमःश्लोकसत्कथाः ।

विरमेत विशेषज्ञो विषण्णः काममार्गणैः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; नु—निस्सन्देह; श्रुत्वा—सुनकर; असकृत्—बारम्बार; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; उत्तमः-श्लोक—भगवान् कृष्ण की; सत्—दिव्य; कथाः—कथाएँ; विरमेत—अपने को अलग रख सकता है; विशेष—(जीवन) का सार; ज्ञः—जानने वाला; विषण्णः—खिन्न; काम—भौतिक इच्छा की; मार्गणैः—खोज के साथ।

हे ब्राह्मण, जो जीवन के सार को जानता है और इन्द्रिय-तृप्ति के लिए प्रयास करने से ऊब चुका हो, वह भगवान् उत्तमश्लोक की दिव्य कथाओं को बारम्बार सुनने के बाद भला उनका परित्याग कैसे कर सकता है?

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती यहाँ पर यह टीका करते हैं कि ऐसे अनेक लोग देखे जाते हैं, जो भगवान् की कथाओं को बारम्बार सुनने के बाद भी अपना आध्यात्मिक समर्पण त्याग देते हैं। आचार्य यह उत्तर देते हैं कि इसीलिए *विशेषज्ञ* शब्द यहाँ पर सार्थक है। जिन्होंने वास्तव में जीवन-सार को समझ लिया है वे कृष्णभावनामृत का परित्याग नहीं करते। जो अन्य योग्यता होनी चाहिए वह है *विषण्णः काममार्गणै*—भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति से खिन्न होना। ये दोनों गुण पूरक हैं। जिसने कृष्णभावनामृत का असली आस्वादन कर लिया है, वह भौतिक आनन्द के निकृष्ट आस्वाद से स्वयमेव ऊब जाता है। कृष्ण-कथाओं का ऐसा प्रामाणिक श्रोता भगवान् की मोहक लीलाओं के श्रवण का कभी भी परित्याग नहीं कर सकता।

सा वाग्यया तस्य गुणान्गृणीते
करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च ।
स्मरेद्वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु
शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सा—वही (है); वाक्—बोलने की शक्ति, वाणी; यया—जिससे; तस्य—उसके; गुणान्—गुणों को; गृणीते—वर्णन करती है; करौ—दो हाथ; च—तथा; तत्—उसके; कर्म—कार्य; करौ—करते हुए; मनः—मन; च—तथा; स्मरेत्—स्मरण करता है; वसन्तम्—निवास करते हुए; स्थिर—जड़; जङ्गमेषु—चेतन के भीतर; शृणोति—सुनता है; तत्—उसके; पुण्य—पवित्र करने वाली; कथाः—कथाएँ; सः—वही (है); कर्णः—कान।

असली वाणी वही है, जो भगवान् के गुणों का वर्णन करती है, असली हाथ वे हैं, जो उनके लिए कार्य करते हैं, असली मन वह है, जो प्रत्येक जड़-चेतन के भीतर निवास करने वाले उन भगवान् का सदैव स्मरण करता है और असली कान वे हैं, जो निरन्तर उनकी पुण्य कथाओं का श्रवण करते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् को समर्पित श्रवणेन्द्रिय की प्रशंसा कर चुकने के बाद, राजा परीक्षित अन्य इन्द्रियों का भी उल्लेख करते हैं, जिससे हमें कृष्णभावनामृत का पूरा चित्र प्राप्त हो सके। यहाँ वे बतलाते हैं कि शरीर के सारे अंग व्यर्थ हो जाते हैं, यदि उनका सम्बन्ध कृष्ण से नहीं रहता। द्वितीय स्कंध के तीसरे अध्याय में श्लोक २० से २ में शौनक ऋषि द्वार ा ऐसा ही कथन दिया गया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती उल्लेख करते हैं कि कृष्णभावनामृत में सारी इन्द्रियों को मिल-जुलकर कार्य करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, आँखें या कान चाहें जो भी अनुभव करें, मन को तो एकमात्र अन्तर्यामी कृष्ण का ही स्मरण करना चाहिए।

शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमान-
मेत्तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः ।
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां
पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम् ॥ ॥

शब्दार्थ

शिरः—सिर; तु—तथा; तस्य—उसका; उभय—दोनों; लिङ्गम्—अभिव्यक्ति के लिए; आनमेत्—नमन करता है; तत्—वही; एव—एकमात्र; यत्—जो; पश्यति—देखती है; तत्—वह; हि—निस्सन्देह; चक्षुः—आँख; अङ्गानि—अंग; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; अथ—अथवा; तत्—उसके; जनानाम्—भक्तों के; पाद-उदकम्—चरणों के धोने से प्राप्त जल को; यानि—जो; भजन्ति—सम्मान करते हैं; नित्यम्—नियमित रूप से।

वास्तविक सिर वही है, जो जड़-चेतन के बीच भगवान् की अभिव्यक्तियों को नमन करता है। असली आँखें वे हैं, जो एकमात्र भगवान् का दर्शन करती हैं और असली अंग वे हैं, जो भगवान् या उनके भक्तों के चरणों को पखारने से प्राप्त जल का नियमित रूप से आदर करते हैं।

सूत उवाच
विष्णुरातेन सम्पृष्टो भगवान्बादरायणिः ।
वासुदेवे भगवति निमग्नहृदयोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; विष्णु-रातेन—विष्णुरात (महाराज परीक्षित) द्वारा; सम्पृष्टः—भलीभाँति पूछे गये; भगवान्—शक्तिमान ऋषि; बादरायणिः—शुकदेव; वासुदेवे—वासुदेव में; भगवति—भगवान्; निमग्न—पूर्णतया मग्न; हृदयः—हृदय वाले; अब्रवीत्—बोले।

सूत गोस्वामी ने कहा : विष्णुरात द्वारा इस तरह प्रश्न किये जाने पर शक्तिसम्पन्न ऋषि बादरायणि ने, जिनका हृदय भगवान् वासुदेव के ध्यान में पूर्णतया लीन रहता था, यह उत्तर दिया।

श्रीशुक उवाच
कृष्णस्यासीत्सखा कश्चिद्ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः ।
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; कृष्णस्य—कृष्ण का; आसीत्—था; सखा—मित्र (सुदामा नामक); कश्चित्—कोई; ब्राह्मणः—ब्राह्मण; ब्रह्म—वेदों का; वित्-तमः—अत्यन्त विद्वान; विरक्तः—उदासीन; इन्द्रिय-अर्थेषु—इन्द्रिय-भोग की वस्तुओं से; प्रशान्त—शान्त; आत्मा—मन वाला; जित—जीती हुई; इन्द्रियः—जिसकी इन्द्रियाँ।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् कृष्ण का एक ब्राह्मण मित्र (सुदामा नामक) था, जो वैदिक ज्ञान में प्रकाण्ड पंडित था और समस्त इन्द्रिय-भोग से उदासीन था। इससे भी बढ़कर, उसका मन शान्त था और उसकी इन्द्रियाँ संयमित थीं।

यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी ।
तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—स्वेच्छा से; उपपन्नेन—जो कुछ मिलता था, उससे; वर्तमानः—उस समय; गृह-आश्रमी—गृहस्थ जीवन में; तस्य—उसकी; भार्या—पत्नी; कु-चैलस्य—मैले-कुचैले वस्त्र पहने; क्षुत्—भूख से; क्षामा—दुर्बल; च—तथा; तथा-विधा—उसी तरह।

गृहस्थ के भाँति रहते हुए जो कुछ उसे अपने आप मिल जाता वह उसी से भरण-पोषण करता था। मैले-कुचैले वस्त्रधारी उस ब्राह्मण की पत्नी उसके साथ कष्ट भोग रही थी और भूख के कारण दुबली हो गई थी।

तात्पर्य : सुदामा की पतिव्रता पत्नी भी मैले-कुचैले वस्त्र पहनती थी और उसे जो भी भोजन मिलता वह अपने पति को ही दे देती थी। इस तरह वह भूख से थकी-थकी रहती थी।

पतिव्रता पतिं प्राह म्लायता वदनेन सा ।
दरिद्रं सीदमाना वै वेपमानाभिगम्य च ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

पति-व्रता—अपने पति के प्रति आज्ञाकारिणी; पतिम्—अपने पति से; प्राह—कहा; म्लायता—मुरझाये हुए; वदनेन—मुख से; सा—उसने; दरिद्रम्—गरीब; सीदमाना—पीड़ित; वै—निस्सन्देह; वेपमाना—काँपते हुए; अभिगम्य—पास आकर; च—तथा।

एक बार उस गरीब ब्राह्मण की सती-साध्वी पत्नी उसके पास आई। उसका मुख त्रास के कारण सूखा था। भय से काँपते हुए वह इस प्रकार बोली।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार वह पतिव्रता स्त्री विशेष रूप से दुखी थी, क्योंकि उसे अपने पति को खिलाने के लिए भोजन नहीं मिल रहा था। साथ ही वह अपने पति के पास जाने से डर रही थी, क्योंकि वह जानती थी कि उसका पति भगवान् की भक्ति के सिवा अन्य किसी वस्तु की याचना नहीं करना चाहता था।

ननु ब्रह्मन्भगवतः सखा साक्षाच्छ्रियः पतिः ।
ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च भगवान्सात्वतर्षभः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ननु—निस्सन्देह; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; भगवतः—आपका; सखा—मित्र; साक्षात्—प्रत्यक्ष; श्रियः—लक्ष्मी का; पतिः—पति; ब्रह्मण्यः—ब्राह्मणों के प्रति सदय; च—तथा; शरण्यः—शरण देने के लिए इच्छुक; च—तथा; भगवान्—भगवान्; सात्वत—यादवों में; ऋषभः—श्रेष्ठ।

[सुदामा की पत्नी ने कहा] : हे ब्राह्मण, क्या यह सत्य नहीं है कि लक्ष्मीजी के पति आपके निजी मित्र हैं? यादवों में सर्वश्रेष्ठ वे भगवान् कृष्ण ब्राह्मणों पर दयालु हैं और उन्हें अपनी शरण देने के लिए अतीव इच्छुक हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती टीका करते हुए बतलाते हैं कि ब्राह्मण की पत्नी ने किस तरह अपने पति द्वारा सभी संभव आपत्तियों की पहले से ही कल्पना करके अनुमान लगा लिया था, जो कृष्ण के पास दान लेने जाने के उसके आग्रह पर वह आपत्ति उठा सकता था। यदि ब्राह्मण यह कहेगा कि ''लक्ष्मीपति किस तरह से मुझ जैसे दरिद्र को अपना मित्र बनायेगा, तो वह यह उत्तर देगी कि भगवान् कृष्ण *ब्रह्मण्य* हैं अर्थात् ब्राह्मणों पर अनुकूल भाव रखने वाले हैं। यदि सुदामा यह कहेगा कि उनमें उसकी सच्ची भक्ति नहीं है, तो वह यह कहेगी कि तुम महान् एवं बुद्धिमान पुरुष हो जिसे अवश्य ही भगवान् शरण तथा कृपा प्रदान करेंगे (*शरण्यम्*)। यदि ब्राह्मण यह आपत्ति करेगा कि भगवान् उन असंख्य दुखियारे बद्धजीवों पर समान रूप से कृपा करने वाले हैं, जो अपने कर्मों के फल भोग रहे हैं, तो वह उत्तर देगी कि भगवान् कृष्ण भगवद्भक्तों पर विशेष रूप से कृपालु हैं। अतएव यदि वे स्वयं सुदामा पर कृपा नहीं भी करेंगे तो उनकी सेवा में लगे भक्तगण अवश्य ही उस पर दया

करके दान में कुछ न कुछ देंगे। चूँकि भगवान् सात्वतों अर्थात् यदुवंशियों की रक्षा करने वाले हैं, अत: उन्हें सुदामा जैसे विनीत ब्राह्मण की रक्षा करने में कौन-सी कठिनाई हो सकती है और उनके ऐसा करने में कौन-सी त्रुटि हो सकती है?

तमुपैहि महाभाग साधूनां च परायणम् ।
दास्यति द्रविणं भूरि सीदते ते कुटुम्बिने ॥ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसके; उपैहि—पास जाओ; महा-भग—हे भाग्यवान्; साधूनाम्—साधुओं के; च—तथा; पर-अयणम्—चरम शरण; दास्यति—देगा; द्रविणम्—सम्पत्ति; भूरि—प्रचुर; सीदते—कष्ट पा रहे; ते—तुम्हें; कुटुम्बिने—परिवार का पालन-पोषण कर रहे।.

हे भाग्यवान्, आप समस्त सन्तों के असली शरण, उनके पास जाइये। वे निश्चय ही आप जैसे कष्ट भोगने वाले गृहस्थ को प्रचुर सम्पदा प्रदान करेंगे।

आस्तेऽधुना द्वारवत्यां भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः ।
स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति ।
किं न्वर्थकामान्भजतो नात्यभीष्टान्जगद्गुरुः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

आस्ते—उपस्थित हैं; अधुना—इस समय; द्वारवत्याम्—द्वारका में; भोज-वृष्णि-अन्धक—भोजों, वृष्णियों तथा अन्धकों के; ईश्वरः—स्वामी; स्मरतः—स्मरण करने वाले को; पाद-कमलम्—उनके चरणकमलों को; आत्मनाम्—स्वयं को; अपि—यहाँ तक कि; यच्छति—देता है; किम् नु—तो फिर क्या कहा जाय; अर्थ—आर्थिक सफलता; कामान्—तथा इन्द्रिय-तृप्ति को; भजतः—उनकी पूजा करने वाले को; न—नहीं; अति—अत्यधिक; अभीष्टान्—इच्छित; जगत्—सारे ब्रह्माण्ड के; गुरुः—गुरु।.

इस समय भगवान् कृष्ण भोजों, वृष्णियों तथा अन्धकों के शासक हैं और द्वारका में रह रहे हैं। चूँकि वे ऐसे भी व्यक्ति को, जो उनके चरणकमलों का केवल स्मरण करता हो अपने आपको दे देने वाले हैं, तो फिर इसमें क्या संशय है कि ब्रह्माण्ड के गुरु स्वरूप वे अपने निष्ठावान् आराधक को वैभव तथा भौतिक भोग प्रदान करेंगे, जो कोई विशेष अभीष्ट वस्तुएँ नहीं हैं?

तात्पर्य : यहाँ ब्राह्मण-पत्नी इतना ही कहना चाहती है कि चूँकि भगवान् कृष्ण भोजों, वृष्णियों तथा अन्धकों के शासक हैं, अतएव यदि ये ऐश्वर्यशाली शासकगण सुदामा को कृष्ण का अभिन्न मित्र मात्र मान लें, तो वे उसे हर वांछित वस्तु प्रदान कर सकते हैं।

इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती यह टीका करते हैं कि चूँकि इस समय कृष्ण अपने हथियार त्याग चुके थे, अतएव वे अपनी राजधानी द्वारका के बाहर यात्रा करने नहीं जाते। ऐसा ही श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* में लिखा है "[ब्राह्मण-पत्नी ने कहा]मैंने तो सुना है कि वे कभी भी अपनी राजधानी द्वारका नहीं छोड़ते। वे वहाँ किसी बाह्य कार्य में व्यस्त हुए बिना रह रहे हैं।"

जैसाकि यहाँ पर उल्लेख हुआ है, भौतिक सम्पत्ति तथा इन्द्रिय-तृप्ति अत्यधिक वांछनीय नहीं हैं। इसका असली कारण यह है कि अन्ततोगत्वा इनसे असली तुष्टि प्राप्त नहीं हो पाती। तो भी सुदामा की पत्नी ने सोचा कि यदि सुदामा द्वारका जाँय और भगवान् के समक्ष मौन भी रहें फिर भी वे उन्हें प्रचुर सम्पदा तथा अपने चरणकमलों पर शरण प्रदान करेंगे जो कि सुदामा का असली ध्येय था।

स एवं भार्यया विप्रो बहुशः प्रार्थितो मुहुः ।
अयं हि परमो लाभ उत्तमःश्लोकदर्शनम् ॥ १२ ॥
इति सञ्चिन्त्य मनसा गमनाय मतिं दधे ।
अप्यस्त्युपायनं किञ्चिद्गृहे कल्याणि दीयताम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एवम्—इस प्रकार; भार्यया—अपनी पत्नी द्वारा; विप्रः—ब्राह्मण; बहुशः—अनेक प्रकार से; प्रार्थितः—प्रार्थना किया गया; मुहुः—पुनः पुनः; अयम्—यह; हि—निस्सन्देह; परमः—परम; लाभः—लाभ; उत्तमः-श्लोक—भगवान् कृष्ण का; दर्शनम्—दर्शन; इति—इस प्रकार; सञ्चिन्त्य—सोच कर; मनसा—अपने मन में; गमनाय—जाने के लिए; मतिम् दधे—निर्णय किया; अपि—क्या; अस्ति—है; उपायनम्—उपहार; किञ्चित्—कुछ; गृहे—घर में; कल्याणि—मेरी अच्छी स्त्री; दीयताम्—मुझे दो।

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा]: जब उसकी पत्नी ने उससे नाना प्रकार से अनुरोध किया, तो ब्राह्मण ने अपने मन में सोचा, "भगवान् कृष्ण के दर्शन करना निस्सन्देह जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है।" अतएव उसने जाने का निश्चय कर लिया, किन्तु उसने पहले अपनी पत्नी से यों कहा, "हे कल्याणी, यदि घर में ऐसी कोई वस्तु हो, जिसे मैं भेंट रूप में ले जा सकूँ, तो मुझे दो।"

तात्पर्य : सुदामा प्रकृति से विनीत था और यद्यपि वह अपनी पत्नी के प्रस्ताव से पहले असन्तुष्ट था, किन्तु अन्त में उसने मन को स्थिर किया और जाने का निश्चय किया। अब उसे अपने मित्र के लिए कुछ उपहार चाहिए था।

याचित्वा चतुरो मुष्टीन्विप्रान्पृथुकतण्डुलान् ।
चैलखण्डेन तान्बद्ध्वा भर्त्रे प्रादादुपायनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

याचित्वा—माँग कर; चतुरः—चार; मुष्टीन्—मुट्ठियाँ भर के; विप्रान्—(पड़ोसी) ब्राह्मणों से; पृथुक-तण्डुलान्—चिउड़ा, चावल; चैल—वस्त्र के; खण्डेन—टुकड़े से; तान्—उन्हें; बद्ध्वा—बाँध कर; भर्त्रे—अपने पति को; प्रादात्—दे दिया; उपायनम्—उपहार।

सुदामा की पत्नी अपने पड़ोसी ब्राह्मणों से चार मुट्ठी चावल (चिउड़ा) माँग लाई, उन्हें फटे वस्त्र के एक टुकड़े में बाँधा और भगवान् कृष्ण के लिए उपहार रूप में उसे अपने पति को दे दिया।

स तानादाय विप्राछ्य: प्रययौ द्वारकां किल ।
कृष्णसन्दर्शनं मह्यं कथं स्यादिति चिन्तयन् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; तान्—उन्हें; आदाय—लेकर; विप्र-अछ्यः—ब्राह्मण-श्रेष्ठ; प्रययौ—चला गया; द्वारकाम्—द्वारका; किल—निस्सन्देह; कृष्ण-सन्दर्शनम्—भगवान् कृष्ण के दर्शन; मह्यम्—मुझे; कथम्—कैसे; स्यात्—हो सकेगा; इति—इस प्रकार; चिन्तयन्—सोचते हुए।

वह साधु ब्राह्मण चिउड़ा लेकर द्वारका के लिए रवाना हो गया और लगातार विस्मित होता रहा, ''मैं किस तरह कृष्ण के दर्शन कर सकूँगा?''

तात्पर्य : अन्य बातों में से सुदामा ने यह कल्पना की कि द्वारपाल उसे रोक लेंगे।

त्रीणि गुल्मान्यतीयाय तिस्र: कक्षाश्च सद्विजः ।
विप्रोऽगम्यान्धकवृष्णीनां गृहेष्वच्युतधर्मिणाम् ॥ १६ ॥
गृहं द्व्यष्टसहस्राणां महिषीणां हरेर्द्विजः ।
विवेशैकतमं श्रीमद्ब्रह्मानन्दं गतो यथा ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

त्रीणि—तीन; गुल्मानि—रक्षकों की टोलियाँ; अतीयाय—पार करके; तिस्रः—तीन; कक्षाः—दरवाजे, ड्योढ़ियाँ; च—तथा; स-द्विजः—ब्राह्मण सहित; विप्रः—विद्वान ब्राह्मण; अगम्य—दुर्गम; अन्धक-वृष्णीनाम्—अन्धकों तथा वृष्णियों के; गृहेषु—घरों के बीच; अच्युत—भगवान् कृष्ण; धर्मिणाम्—आज्ञाकारियों के; गृहम्—घर; द्वि—दो; अष्ट—आठ गुना; सहस्राणाम्—हजार; महिषीणाम्—रानियों के; हरेः—कृष्ण के; द्विजः—ब्राह्मण ने; विवेश—प्रवेश किया; एकतमम्—उनमें से एक; श्री-मत्—ऐश्वर्यवान; ब्रह्म-आनन्दम्—निर्विशेष मुक्ति का आनन्द; गतः—प्राप्त; यथा—मानो।

विद्वान ब्राह्मण ने कुछ स्थानीय ब्राह्मणों के साथ मिलकर तीन सुरक्षा चौकियाँ पार कर लीं और तब वह तीन ड्योढ़ियों से होकर भगवान् कृष्ण के आज्ञाकारी भक्तों, अन्धकों तथा वृष्णियों के घरों के पास से गुजरा, जहाँ सामान्यतया कोई भी नहीं जा सकता था। तत्पश्चात् वह भगवान्

हरि की सोलह हजार रानियों के ऐश्वर्यशाली महलों में से एक में घुसा और ऐसा करते समय उसे ऐसा अनुभव हुआ, मानो वह ब्रह्मानन्द प्राप्त कर रहा हो।

तात्पर्य : जब वह साधु सदृश ब्राह्मण भगवान् कृष्ण के महलों के अहाते में प्रविष्ट हुआ और फिर वस्तुत: उनमें से एक महल के भीतर गया तो उसे सबकुछ भूल गया। इस तरह उसकी मानसिक स्थिति की तुलना उस व्यक्ति से की जा सकती है, जिसे अभी अभी ब्रह्मानन्द प्राप्त हुआ हो। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने *पद्म पुराण* के उत्तर खण्ड से एक उद्धरण दिया है, जिससे हमें पता चलता है कि यह ब्राह्मण वास्तव में रुक्मिणी के महल में घुसा था—*स तु रुक्मिण्यन्त:पुरद्वारि कृष्णं तूष्णीं स्थित:*—वह रानी रुक्मिणी के महल के दरवाजे पर क्षण-भर चुप होकर खड़ा रहा।

तं विलोक्याच्युतो दूरात्प्रियापर्यङ्कमास्थितः ।
सहसोत्थाय चाभ्येत्य दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; विलोक्य—देखकर; अच्युतः—भगवान् कृष्ण ने; दूरात्—दूर से ही; प्रिया—अपनी प्रियतमा के; पर्यङ्कम्—बिस्तर पर; आस्थितः—आसीन; सहसा—तुरन्त; उत्थाय—उठ कर; च—तथा; अभ्येत्य—आगे बढ़कर; दोर्भ्याम्—अपनी भुजाओं में; पर्यग्रहीत्—आलिंगन किया; मुदा—आनन्दपूर्वक।

उस समय भगवान् अच्युत अपनी प्रियतमा के पलंग पर विराजमान थे। उस ब्राह्मण को कुछ दूरी पर देखकर भगवान् तुरन्त उठ खड़े हुए और मिलने के लिए आगे गये और बड़े ही हर्ष से उसका आलिंगन किया।

सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः ।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून्नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सख्युः—अपने मित्र के; प्रियस्य—प्रिय; विप्र-ऋषेः—ब्राह्मण; अङ्ग—शरीर का; सङ्ग—संगति से; अति—अत्यधिक; निर्वृतः—आनन्दमय; प्रीतः—स्नेहिल; व्यमुञ्चत्—मुक्त किया; अप्—जल की; बिन्दून्—बूँदें; नेत्राभ्याम्—अपनी आँखों से; पुष्कर-ईक्षणः—कमल-नेत्र भगवान्।

कमलनयन भगवान् को अपने प्रिय मित्र विद्वान ब्राह्मण के शरीर का स्पर्श करने पर गहन आनन्द की अनुभूति हुई और उनकी आँखों से प्रेम के आँसू झरने लगे।

अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयम्सख्युः समर्हणम् ।
उपहृत्यावनिज्यास्य पादौ पादावनेजनीः ॥ २० ॥

अग्रहीच्छिरसा राजन्भगवाँल्लोकपावनः ।
व्यलिम्पद्दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कमैः ॥ २१ ॥
धूपैः सुरभिभिर्मित्रं प्रदीपावलिभिर्मुदा ।
अर्चित्वावेद्य ताम्बूलं गां च स्वागतमब्रवीत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; उपवेश्य—बैठाकर; पर्यङ्के—पलंग पर; स्वयम्—स्वयं; सख्युः—अपने मित्र के लिए; समर्हणम्—पूजा की सामग्री; उपहृत्य—लाकर; अवनिज्य—धोकर; अस्य—उसके; पादौ—दोनों पाँव; पाद-अवनेजनीः—उसके पाँवों को धोने वाला जल; अग्रहीत्—धारण किया; शिरसा—सिर पर; राजन्—हे राजा (परीक्षित्); भगवान्—भगवान् ने; लोक—सारे लोकों के; पावनः—पवित्र करने वाले; व्यलिम्पत्—लेप किया; दिव्य—दैवी; गन्धेन—गन्ध से; चन्दन—चन्दन-लेप से; अगुरु—अगुरु; कुङ्कमैः—तथा सिन्दूर से; धूपैः—धूप से; सुरभिभिः—सुगन्धित; मित्रम्—अपने मित्र को; प्रदीप—दीपकों की; अवलिभिः—पंक्तियों से; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; अर्चित्वा—पूजा करके; आवेद्य—नाश्ता कराकर; ताम्बूलम्—पान; गाम्—गाय; च—तथा; सु-आगतम्—स्वागत; अब्रवीत्—बोले।

भगवान् कृष्ण ने अपने मित्र सुदामा को बिस्तर पर बैठाया। फिर समस्त जगत को पवित्र करने वाले भगवान् ने स्वयं नाना प्रकार से उसका आदर किया और हे राजन्, उसके पाँव धोये तथा उसी जल को अपने सिर के ऊपर छिड़का। उन्होंने उसके शरीर पर दिव्य सुगन्धित चन्दन, अगुरु तथा कुंकुम का लेप किया और सुगन्धित धूप तथा दीपों की पंक्तियों से खुशी-खुशी उसकी पूजा की। अन्त में पान देने के बाद उसे दान में गाय दी और मधुर शब्दों से उसका स्वागत किया।

कुचैलं मलिनं क्षामं द्विजं धमनिसन्ततम् ।
देवी पर्यचरत्साक्षाच्चामरव्यजनेन वै ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

कु—फटे-पुराने, बुरे; चैलम्—वस्त्र वाले; मलिनम्—मैले; क्षामम्—दुबले; द्विजम्—ब्राह्मण को; धमनि-सन्ततम्—जिसकी नसें दिख रही हों; देवी—धन की देवी, लक्ष्मी; पर्यचरत्—सेवा की; साक्षात्—सशरीर; चामर—चमरी गाय की पूछ से बने; व्यजनेन—पंखे से; वै—निस्सन्देह।

साक्षात् लक्ष्मी देवी ने अपनी चामर से पंखा झल कर, उस गरीब ब्राह्मण की सेवा की, जिसके वस्त्र फटे हुए और मैले थे और जो इतना दुर्बल था कि उसके सारे शरीर की नसें दिख रही थीं।

अन्तःपुरजनो दृष्ट्वा कृष्णेनामलकीर्तिना ।
विस्मितोऽभूदतिप्रीत्या अवधूतं सभाजितम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

अन्तः-पुर—राजमहल के; जनः—लोग; दृष्ट्वा—देखकर; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; अमल—निर्मल, स्वच्छ; कीर्तिना—कीर्ति वाले; विस्मितः—चकित; अभूत्—हो गये; अति—अत्यधिक; प्रीत्या—स्नेहपूर्वक; अवधूतम्—अस्त-व्यस्त ब्राह्मण को; सभाजितम्—सम्मानित किया हुआ।

राजमहल के निवासी निर्मल कीर्ति वाले भगवान् कृष्ण को इस फटे-पुराने और मैले वस्त्र पहने ब्राह्मण का इतने प्रेम से सम्मान करते देख कर चकित हो गए।

किमनेन कृतं पुण्यमवधूतेन भिक्षुणा ।
श्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन्गर्हितेनाधमेन च ॥ २५॥
योऽसौ त्रिलोकगुरुणा श्रीनिवासेन सम्भृतः ।
पर्यङ्कस्थां श्रियं हित्वा परिष्वक्तोऽग्रजो यथा ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; अनेन—उसके द्वारा; कृतम्—किया गया; पुण्यम्—पुण्य-कार्य; अवधूतेन—अस्वच्छ; भिक्षुणा—भिक्षुक या संन्यासी द्वारा; श्रिया—धन से; हीनेन—हीन, रहित; लोके—संसार में; अस्मिन्—इस; गर्हितेन—निन्दनीय; अधमेन—नीच; च—तथा; यः—जो; असौ—वही; त्रि—तीन; लोक—लोकों के; गुरुणा—गुरु द्वारा; श्री—लक्ष्मी के; निवासेन—घर से; सम्भृतः—सत्कारित; पर्यङ्क—सेजपर; स्थाम्—आसीन; श्रीयम्—लक्ष्मी को; हित्वा—त्याग कर; परिष्वक्तः—आलिंगन किया; अग्र-जः—बड़ा भाई; यथा—मानो।

[राजमहल के निवासियों ने कहा] : इस अस्त-व्यस्त निर्धन ब्राह्मण ने कौन-सा पुण्य-कर्म किया है? लोग उसे नीच तथा निन्दनीय मानते हैं फिर भी तीनों लोकों के गुरु और श्रीदेवी के धाम आदरपूर्वक उसकी सेवा कर रहे हैं। लक्ष्मी को अपने पलंग पर बैठा हुआ छोड़ कर भगवान् ने इस ब्राह्मण का आलिंगन किया है, मानो वह उनका बड़ा भाई हो।

कथयां चक्रतुर्गाथाः पूर्वा गुरुकुले सतोः ।
आत्मनोर्ललिता राजन्करौ गृह्य परस्परम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

कथयाम् चक्रतुः—परस्पर विचार-विमर्श किया; गाथाः—कथाएँ; पूर्वाः—पुरानी; गुरु-कुले—अपने गुरु की पाठशाला में; सतोः—निवास कर रहे; आत्मनोः—अपनी अपनी; ललिताः—मनोहर; राजन्—हे राजा (परीक्षित); करौ—हाथों को; गृह्य—पकड़ कर; परस्परम्—एक-दूसरे के।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : हे राजन्, एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर कृष्ण तथा सुदामा अत्यन्त हर्ष के साथ बातें करते रहे कि किस तरह कभी वे दोनों अपने गुरु की पाठशाला में साथ-साथ रहे थे।

श्रीभगवानुवाच
अपि ब्रह्मन्गुरुकुलाद्भवता लब्धदक्षिणात् ।

समावृत्तेन धर्मज्ञ भार्योढा सदृशी न वा ॥ २८॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अपि—क्या; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; गुरु-कुलात्—गुरु की पाठशाला से; भवता—आपके द्वारा; लब्ध—प्राप्त कर लेने पर; दक्षिणात्—दक्षिणा से; समावृत्तेन—लौट आया; धर्म—धर्म के; ज्ञ—हे जानने वाले; भार्या—पत्नी; ऊढा—विवाहिता; सदृशी—अनुरूप; न—नहीं; वा—अथवा।

भगवान् ने कहा : हे ब्राह्मण, आप धर्म को भलीभाँति जानने वाले हैं। क्या गुरु-दक्षिणा देने के बाद तथा पाठशाला से घर लौटने के बाद आपने अपने अनुरूप पत्नी से विवाह किया या नहीं?

तात्पर्य : सुसंस्कृत मनुष्यों में *आश्रम* का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। दूसरे शब्दों में, हर मनुष्य को चाहिए कि वह ब्रह्मचारी, विवाहित, वानप्रस्थ या संन्यासी के लिए संस्तुत कर्तव्यों का पालन करे। चूँकि भगवान् कृष्ण देख रहे थे कि ब्राह्मण बहुत ही रद्दी वस्त्र पहने था अत: उन्होंने पूछा कि वह उचित रीति से विवाह करके गृहस्थ जीवन के कर्तव्यों को सम्पन्न कर रहा है कि नहीं। चूँकि उसने संन्यासी जैसा वेश नहीं बना रखा था, अत: जब तक वह ठीक से विवाहित न हो तब तक वह उपयुक्त आश्रम से विहीन होगा।

प्रायो गृहेषु ते चित्तमकामविहितं तथा ।
नैवातिप्रीयसे विद्वन्धनेषु विदितं हि मे ॥ २९॥

शब्दार्थ

प्राय:—अधिकांशत:; गृहेषु—घरेलू कार्यों में; ते—तुम्हारा; चित्तम्—मन; अकाम-विहितम्—भौतिक इच्छाओं से अप्रभावित; तथा—भी; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अति—अत्यधिक; प्रीयसे—रुचि लेते हो; विद्वन्—हे विद्वान; धनेषु—भौतिक सम्पत्ति की खोज में; विदितम्—यह ज्ञात है; हि—निस्सन्देह; मे—मेरे द्वारा।

यद्यपि आप गृहकार्यों में प्राय: व्यस्त रहते हैं, किन्तु आपका मन भौतिक इच्छाओं से प्रभावित नहीं होता। न ही, हे विद्वान, आप भौतिक सम्पत्ति के पीछे पड़ने में अधिक रुचि लेते हैं। मैं यह भलीभाँति जानता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण यहाँ पर प्रकट कर देते हैं कि वे अपने मित्र की स्थिति से पूर्णतया अवगत थे। सुदामा वास्तव में विद्वान और आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत था। इसलिए साधारण मनुष्य की तरह उसकी रुचि सामान्य इन्द्रिय-तृप्ति में नहीं थी।

केचित्कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतस: ।

त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीर्यथाहं लोकसङ्ग्रहम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

केचित्—कुछ लोग; कुर्वन्ति—करते हैं; कर्माणि—सांसारिक कर्तव्य; कामैः—इच्छाओं से; अहत—अविचल; चेतसः—मन वाला; त्ययन्तः—त्यागते हुए; प्रकृतीः—लालसाएँ; दैवीः—भगवान् की भौतिक शक्ति द्वारा उत्पन्न; यथा—जिस तरह; अहम्—मैं; लोक-सङ्ग्रहम्—सामान्य जनों को शिक्षा देने के लिए।

कुछ लोग भगवान् की मायाशक्ति से उत्पन्न समस्त भौतिक लिप्साओं का परित्याग करके सांसारिक इच्छाओं से मन को अविचल रखते हुए सांसारिक कर्म सम्पन्न करते हैं। जिस तरह मैं सामान्य जनों को शिक्षा देने के लिए कर्म करता हूँ, वे उसी तरह कर्म करते हैं।

कच्चिद्गुरुकुले वासं ब्रह्मन्स्मरसि नौ यतः ।
द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं तमसः पारमश्नुते ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; गुरु-कुले—गुरु की पाठशाला में; वासम्—आवास; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; स्मरसि—स्मरण करते हो; नौ—हम दोनों के; यतः—जिस (गुरु) से; द्विजः—दो बार जन्मा पुरुष; विज्ञाय—जान कर; विज्ञेयम्—जानने के योग्य; तमसः—अज्ञान का; पारम्—पार करके; अश्नुते—अनुभव करता है।

हे ब्राह्मण, क्या आपको स्मरण है कि हम किस तरह अपने गुरु की पाठशाला में एकसाथ रहते थे? जब कोई द्विज विद्यार्थी अपने गुरु से सीखने योग्य सबकुछ सीख चुकता है, तो वह आध्यात्मिक जीवन का आनन्द उठा सकता है, जो समस्त अज्ञान से परे है।

स वै सत्कर्मणां साक्षाद्द्विजातेरिह सम्भवः ।
आद्योऽङ्ग यत्राश्रमिणां यथाहं ज्ञानदो गुरुः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निस्सन्देह; सत्—पवित्र, शुद्ध किया; कर्मणाम्—कर्मों का; साक्षात्—प्रत्यक्ष; द्वि-जातेः—दो बार जन्म लेने वाले के; इह—इस भौतिक जगत में; सम्भवः—जन्म; आद्यः—प्रथम; अङ्ग—हे प्रिय मित्र; यत्र—जिससे होकर; आश्रमिणाम्—सभी आश्रमों के सदस्यों के लिए; यथा—जिस तरह; अहम्—मैं; ज्ञान—दैवी ज्ञान को; दः—देने वाला; गुरुः—गुरु।

हे मित्र, व्यक्ति को भौतिक जन्म देने वाला ही उसका प्रथम गुरु होता है और जो उसे द्विज के रूप में ब्राह्मण की दीक्षा देता है तथा धर्म-कृत्यों में लगाता है, वह निस्सन्देह उसका अधिक प्रत्यक्ष गुरु होता है। किन्तु जो सभी आध्यात्मिक आश्रमों के सदस्यों को दिव्य ज्ञान प्रदान करता है, वह उसका परम गुरु होता है। निस्सन्देह वह मुझ जैसा होता है।

नन्वर्थकोविदा ब्रह्मन्वर्णाश्रमवतामिह ।

ये मया गुरुणा वाचा तरन्त्यञ्जो भवार्णवम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ननु—निश्चय ही; अर्थ—उनके असली कल्याण हेतु; कोविदाः—विशेषज्ञ; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; वर्णाश्रम-वताम्—वर्णाश्रम प्रणाली में लगे हुओं में से; इह—इस संसार में; ये—जो; मया—मेरे द्वारा; गुरुणा—गुरु के रूप में; वाचा—वाणी से; तरन्ति—पार कर लेते हैं; अञ्जः—सरलता से; भव—भौतिक जीवन रूपी; अर्णवम्—समुद्र को।

हे ब्राह्मण, यह निश्चित है कि वर्णाश्रम प्रणाली के सारे अनुयायियों में से, जो लोग गुरु रूप में मेरे द्वारा कहे गये शब्दों से लाभ उठाते हैं और भवसागर को सरलता से पार कर लेते हैं, वे ही अपने असली कल्याण को सबसे अच्छी तरह समझ पाते हैं।

तात्पर्य : मनुष्य का पिता उस धार्मिक नेता की तरह पूजनीय है, जो पवित्र संस्कार कराता है और सामान्य विद्या प्रदान करता है। किन्तु अन्ततोगत्वा ऐसा प्रामाणिक गुरु जो दिव्य विज्ञान में पारंगत होता है और जन्म-मृत्यु के सागर से पार कराकर वैकुण्ठ ले जाने में समर्थ होता है, वह सर्वाधिक पूज्य तथा आदरणीय होता है, क्योंकि वह भगवान् का साक्षात् प्रतिनिधि होता है, जैसाकि यहाँ कहा गया है।

नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा ।
तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; इज्या—अनुष्ठानिक पूजा द्वारा; प्रजातिभ्याम्—ब्राह्मण दीक्षा के उच्चतर जन्म से; तपसा—तपस्या द्वारा; उपशमेन—आत्मसंयम द्वारा; वा—अथवा; तुष्येयम्—तुष्ट किया जा सकता हूँ; सर्व—सभी; भूत—जीवों का; आत्मा—आत्मा; गुरु—अपने गुरु की; शुश्रूषया—श्रद्धापूर्ण सेवा द्वारा; यथा—जिस तरह।

सभी जीवों का आत्मा स्वरूप मैं अनुष्ठानिक पूजा, ब्राह्मण-दीक्षा, तपस्या अथवा आत्मानुशासन द्वारा उतना तुष्ट नहीं होता, जितना कि मनुष्य की अपने गुरु के प्रति की गई श्रद्धापूर्ण सेवा द्वारा तुष्ट होता हूँ।

तात्पर्य : *प्रजाति* शब्द यहाँ पर सूचक है या तो अच्छी सन्तान उत्पन्न करने या वैदिक संस्कृति में दीक्षा द्वारा द्वितीय जन्म ग्रहण करने का। यद्यपि ये दोनों ही प्रशंसनीय हैं, किन्तु भगवान् कृष्ण कहते हैं कि प्रामाणिक गुरु के प्रति की गई श्रद्धापूर्ण सेवा अधिक उच्चतर है।

अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन्वृत्तं निवसतां गुरौ ।
गुरुदारैश्चोदितानामिन्धनानयने क्वचित् ॥ ३५ ॥
प्रविष्टानां महारण्यमपर्तौ सुमहद्द्विज ।
वातवर्षमभूत्तीव्रं निष्ठुराः स्तनयित्नवः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; नः—हमारा; स्मर्यते—स्मरण है; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; वृत्तम्—हमने जो कुछ किया; निवसताम्—एकसाथ रहते हुए; गुरौ—अपने गुरु के साथ; गुरु—गुरु की; दारैः—पत्नी के द्वारा; चोदितानाम्—भेजे गये; इन्धन—ईंधन; अनयने—लाने के लिए; क्वचित्—एक बार; प्रविष्टानाम्—प्रवेश कर चुके; महा-अरण्यम्—विशाल जंगल में; अप-ऋतौ—बिना ऋतु के, असामयिक; सु-महत्—अत्यन्त विशाल; द्विज—हे द्विजन्मा; वात—तेज हवा; वर्षम्—तथा वर्षा; अभूत्—होने लगी; तीव्रम्—भयानक; निष्ठुराः—कर्कश; स्तनयित्नवः—गर्जना।

हे ब्राह्मण, क्या आपको स्मरण है कि जब हम अपने गुरु के साथ रह रहे थे, तो हमारे साथ क्या घटना घटी थी? एक बार हमारे गुरु की पत्नी ने हमें जलाऊ लकड़ी लाने के लिए भेजा और हे द्विज, जब हम एक विशाल जंगल में प्रविष्ट हुए, तो तीव्र हवा और वर्षा के साथ साथ कर्कश गर्जन से युक्त असामयिक तूफान आ गया था।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि यह तूफान जाड़े की ऋतु में उठा था इसलिए असामयिक था।

सूर्यश्चास्तं गतस्तावत्तमसा चावृता दिशः ।
निम्नं कूलं जलमयं न प्राज्ञायत किञ्चन ॥ ३७॥

शब्दार्थ

सूर्यः—सूर्य; च—तथा; अस्तम् गतः—डूब चुका था; तावत्—तत्पश्चात्; तमसा—अँधेरे से; च—और; आवृताः—ढकी हुई; दिशः—सारी दिशाएँ; निम्नम्—निचली; कूलम्—ऊँची भूमि; जल-मयम्—जलमग्न; न प्राज्ञायत—पहचाना नहीं जा सकता था; किञ्चन—कुछ भी।

तब सूर्यास्त होते ही जंगल प्रत्येक दिशा में अंधकार से ढक गया और बाढ़ आ जाने से हम ऊँची तथा नीची भूमि में अन्तर नहीं कर पा रहे थे।

वयं भृशम्तत्र महानिलाम्बुभिर्
निहन्यमाना महुरम्बुसम्प्लवे ।
दिशोऽविदन्तोऽथ परस्परं वने
गृहीतहस्ताः परिबभ्रिमातुराः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; भृशम्—पूर्णतया; तत्र—वहाँ; महा—महान्; अनिल—तेज हवा; अम्बुभिः—तथा जल से; निहन्यमानाः—घिरे हुए; मुहुः—लगातार; अम्बु-सम्प्लवे—बाढ़ में; दिशः—दिशाएँ; अविदन्तः—पहचान में न आ सकना; अथ—तब; परस्परम्—एक-दूसरे को; वने—जंगल में; गृहीत—पकड़े हुए; हस्ताः—हाथ; परिबभ्रिम—हम घूमते रहे; आतुराः—दुखी।

जोरदार हवा और अनवरत वर्षा की चपेट में आकर हम बाढ़ के जल में अपना रास्ता भटक गये। हमने एक-दूसरे का हाथ पकड़ लिया और अत्यन्त संकट में पड़ कर, हम जंगल में निरुद्देश्य घूमते रहे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि *परिबभ्रिम* क्रिया में *परि* उपसर्ग है *भृ* या *भ्रम्* धातु के साथ। *भ्रम्* से सूचित होता है कि कृष्ण तथा सुदामा इधर-उधर भटकते रहे और *भृ* होने से, चूँकि इसका अर्थ "ले जाना" है यह सूचित होता है कि जब दोनों युवक इधर-उधर घूम रहे थे तब वे अपने गुरु के लिए एकत्र किये लकड़ियों को अपने साथ उठाये हुए थे।

एतद्विदित्वा उदिते रवौ सान्दीपनिर्गुरुः ।
अन्वेषमाणो नः शिष्यानाचार्योऽपश्यदातुरान् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; विदित्वा—जान कर; उदिते—उदय होने पर; रवौ—सूर्य के; सान्दीपनिः—सान्दीपनि; गुरुः—हमारे गुरु; अन्वेषमाणः—ढूँढ़ते हुए; नः—हम; शिष्यान्—शिष्यों को; आचार्यः—हमारे शिक्षक ने; अपश्यत्—देखा; आतुरान्—आतुर, कष्ट पा रहे।.

हमारे गुरु सान्दीपनि हमारी विषम स्थिति को समझ कर सूर्योदय होने पर हम शिष्यों की खोज करने के लिए निकल पड़े और हमें विपत्ति में फँसा पाया।

अहो हे पुत्रका यूयमस्मदर्थेऽतिदु:खिताः ।
आत्मा वै प्राणिनाम्प्रेष्ठस्तमनादृत्य मत्पराः ॥ ० ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; हे पुत्रकः—मेरे बच्चो; यूयम्—तुम दोनों ने; अस्मत्—हमारे; अर्थे—लिए; अति—अत्यन्त; दु:खिताः—कष्ट उठाया; आत्मा—शरीर; वै—निस्सन्देह; प्राणिनाम्—सारे जीवों के लिए; प्रेष्ठः—अत्यन्त प्रिय; तम्—उसकी; अनादृत्य—परवाह न करके; मत्—मेरे प्रति; पराः—समर्पित।.

[सान्दीपनि ने कहा] : मेरे बच्चो, तुमने मेरे लिए इतना कष्ट सहा है, हर जीव को अपना शरीर अत्यन्त प्रिय है, किन्तु तुम मेरे प्रति इतने समर्पित हो कि तुमने अपनी सुविधा की बिल्कुल परवाह नहीं की।

एतदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतम् ।
यद्वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ ॥ १ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; एव—अकेला; हि—निश्चय ही; सत्—असली; शिष्यैः—शिष्यों द्वारा; कर्तव्यम्—करणीय; गुरु—गुरु से; निष्कृतम्—उऋण होना; यत्—जो; वै—निस्सन्देह; विशुद्ध—नितान्त शुद्ध; भावेन—विचार से; सर्व—समस्त; अर्थ—सम्पत्ति; आत्मा—तथा शरीर का; अर्पणम्—समर्पण; गुरौ—गुरु को।.

दरअसल सारे सच्चे शिष्यों का यही कर्तव्य है कि वे विशुद्ध हृदय से अपने धन तथा अपने प्राणों तक को अर्पित करके अपने गुरु के ऋण से उऋण हों।

तात्पर्य : कोई भी मनुष्य अपने कार्य की पूर्ति के लिए अपना शरीर लगाता है। यह शरीर ''मैं'' नामक भौतिक विचार का भी आधार है और मनुष्य का धन ''मेरा'' का। किन्तु गुरु को अपनी हर वस्तु अर्पित कर देने पर मनुष्य अपने को भगवान् का नित्य दास मानने लगता है। गुरु भी शिष्य को कुमार्ग पर नहीं ले जाता अपितु शिष्य के नित्य लाभ के लिए उसे पूर्णतया कृष्णभावनामृत में लगाता है।

तुष्टोऽहं भो द्विजश्रेष्ठाः सत्याः सन्तु मनोरथाः ।
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च ॥ २॥

शब्दार्थ

तुष्टः—संतुष्ट; अहम्—मैं; भो—हे प्रिय; द्विज—ब्राह्मणों में; श्रेष्ठाः—श्रेष्ठ; सत्याः—पूर्ण; सन्तु—हों; मनः-रथाः—तुम्हारी इच्छाएँ; छन्दांसि—वैदिक मंत्र; अयात-यामानि—कभी वृद्ध न हों; भवन्तु—हों; इह—इस जगत में; परत्र—अगले जगत में; च—तथा।

हे बालको, तुम उत्तम श्रेणी के ब्राह्मण हो और मैं तुमसे संतुष्ट हूँ। तुम्हारी सारी इच्छाएँ पूरी हों और तुमने जो वैदिक मंत्र सीखे हैं, वे इस जगत में या अगले जगत में तुम्हारे लिए कभी अपना अर्थ न खोयें।

तात्पर्य : तीन घंटे तक रखा गया पका हुआ भोजन *यात-याम* कहलाता है, जिससे यह सूचित होता है कि इसमें स्वाद नहीं रहा। इसी तरह यदि कोई भक्त कृष्णभावनामृत में स्थिर नहीं रहता तो वह दिव्य ज्ञान जो कभी उसे आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के लिए उद्वेलित करता था उसके लिए अपना स्वाद या अर्थ खो देता है। अत: सान्दीपनि मुनि ने अपने शिष्यों को आशीर्वाद दिया कि ब्रह्म को प्रकट कराने वाले वैदिक मंत्र उनके लिए कभी अपना अर्थ नहीं खोयें अपितु उनके मस्तिष्क में सदैव ताजे बने रहें।

इत्थंविधान्यनेकानि वसतां गुरुवेश्मनि ।
गुरोरनुग्रहेणैव पुमान्पूर्णः प्रशान्तये ॥ ३॥

शब्दार्थ

इत्थम्-विधानि—इस तरह की; अनेकानि—अनेक बातें; वसताम्—रहते समय हमें; गुरु—गुरु के; वेश्मनि—घर में; गुरोः—गुरु की; अनुग्रहेण—कृपा से; एव—केवल; पुमान्—पुरुष; पूर्णः—पूर्ण; प्रशान्तये—पूर्ण शान्ति प्राप्त करने के लिए।

[भगवान् कृष्ण ने आगे कहा]: अपने गुरु के घर में रहते समय हमें इस तरह के अनेकानेक अनुभव हुए। कोई भी व्यक्ति अपने गुरु की कृपा मात्र से जीवन के प्रयोजन को पूरा

कर सकता है और शाश्वत शान्ति पा सकता है।

श्रीब्राह्मण उवाच
किमस्माभिरनिर्वृत्तं देवदेव जगद्गुरो ।
भवता सत्यकामेन येषां वासो गुरोरभूत् ॥ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्राह्मणः उवाच—ब्राह्मण ने कहा; किम्—क्या; अस्माभिः—हमारे द्वारा; अनिर्वृत्तम्—नहीं प्राप्त किया गया; देव-देव—हे देवों के ईश्वर; जगत्—ब्रह्माण्ड के; गुरो—हे गुरु; भवता—आपसे; सत्य—पूर्ण; कामेन—इच्छाओं से; येषाम्—जिनके; वासः—निवास; गुरोः—गुरु के घर पर; अभूत्—था।

ब्राह्मण ने कहा : हे देवों के देव, हे जगद्गुरु, चूँकि मैं पूर्णकाम अपने गुरु के घर पर आपके साथ रह सका, अतः मुझे अब प्राप्त करने के लिए बचा ही क्या है?

तात्पर्य : सुदामा ब्राह्मण अच्छी तरह समझता था कि यह तो उसका परम सौभाग्य था कि वह अपने गुरु के घर पर श्रीकृष्ण के साथ रह सका। इसलिये उन्हें जो भी कठिनाइयाँ हुईं वे गुरु की सेवा की महत्ता बताने के लिए भगवान् की कृपा की अभिव्यक्ति थीं।

श्रील प्रभुपाद ने विद्वान ब्राह्मण के भावों को इस प्रकार व्यक्त किया है : "[सुदामा ने कहा] हे कृष्ण! आप भगवान् हैं और सबों के परम गुरु हैं और चूँकि मैं अपने गुरु के घर पर आपके साथ रहने का सुअवसर प्राप्त कर सका अतएव मेरी समझ में नियत वैदिक कर्मों के विषय में अब कुछ और करना शेष नहीं रहा।"

यस्य च्छन्दोमयं ब्रह्म देह आवपनं विभो ।
श्रेयसां तस्य गुरुषु वासोऽत्यन्तविडम्बनम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; छन्दः—वेदों; मयम्—से युक्त; ब्रह्म—परम सत्य; देहे—शरीर के भीतर; आवपनम्—बोया गया खेत; विभो—हे सर्वशक्तिमान; श्रेयसाम्—शुभ लक्ष्यों का; तस्य—उसका; गुरुषु—गुरुओं के साथ; वासः—निवासस्थान; अत्यन्त—अत्यधिक; विडम्बनम्—विडम्बना।

हे विभु, आपका शरीर वेदों के रूप में ब्रह्ममय है और इस तरह जीवन के समस्त शुभ लक्ष्यों का स्त्रोत है। आपने गुरु की पाठशाला में जो निवास किया, वह तो आपकी लीलाओं में से एक है, जिसमें आप मनुष्य की भूमिका का निर्वाह करते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण से ब्राह्मण सुदामा की भेंट" नामक अस्सीवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा

रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter इक्यासी

भगवान् द्वारा सुदामा ब्राह्मण को वरदान

इस अध्याय में बतलाया गया है कि भगवान् कृष्ण ने किस तरह अपने मित्र सुदामा द्वारा लाये गये तंदुल का एक कौर खाकर, उसे स्वर्ग के राजा से भी बढ़कर सम्पदा प्रदान की।

भगवान् कृष्ण ने अपने मित्र सुदामा से प्यार-भरी बातें करते हुए कहा, ''हे ब्राह्मण! क्या तुम घर से मेरे लिए कोई उपहार लाये हो? मैं अपने प्रिय भक्त की तुच्छ से तुच्छ भेंट को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानता हूँ।'' लेकिन बेचारा ब्राह्मण तन्दुल की तुच्छ भेंट देते हुए लज्जित था। किन्तु भगवान् कृष्ण समस्त हृदयों में वास करने वाले परमात्मा होने से जानते थे कि सुदामा उनसे भेंट करने क्यों आया है। इसलिए उन्होंने सुदामा द्वारा छिपाई हुई तन्दुल की पोटली छीन ली और उसमें से वे मुट्ठी-भर प्रसन्नतापूर्वक खाने लगे। वे दूसरा कौर खाने वाले ही थे कि रुक्मिणीदेवी ने उन्हें रोक दिया।

यह अनुभव करते हुए कि मैं ईश्वर के पास वापस आ गया हूँ, सुदामा ने कृष्ण के महल में वह रात सुखपूर्वक बिताई और सुबह होते ही वह घर के लिए चल पड़ा। जब वह राजमार्ग से जा रहा था, तो वह सोच रहा था कि मैं कितना भाग्यशाली हूँ कि श्रीकृष्ण ने मेरा इतना आदर किया। इसी ध्यान में मग्न सुदामा उस स्थान पर पहुँचा जहाँ पहले उसका मकान था। वह बड़े ही आश्चर्य में पड़ गया। अपनी टूटी कुटिया के स्थान पर उसने वैभवशाली महलों की शृंखला देखी। जब वह आश्चर्यचकित खड़ा था, तो सुन्दर नर-नारियों की एक टोली गायन-वादन करती उसका स्वागत करने आई। ब्राह्मण की पत्नी तो दिव्य आभूषणों से सजी हुई महल के बाहर आई और उसने बड़े प्रेम तथा सम्मान से उसका स्वागत किया। सुदामा अपनी पत्नी के साथ अपने घर में यह सोचते हुए घुसा कि यह असाधारण परिवर्तन भगवान् की कृपा के फलस्वरूप ही हुआ होगा।

उसी के बाद से सुदामा धनी का-सा जीवन बिताने लगा, किन्तु साथ ही उसमें विरक्ति-भाव बना रहा और वह भगवान् श्रीकृष्ण का निरन्तर यशोगान करता रहा। उसने अल्प काल में सारे दैहिक आसक्ति के बन्धनों को तोड़ कर भगवद्धाम प्राप्त किया।

श्रीशुक उवाच

स इत्थं द्विजमुख्येन सह सङ्कथयन्हरिः ।
सर्वभूतमनोऽभिज्ञः स्मयमान उवाच तम् ॥ १ ॥
ब्रह्मण्यो ब्राह्मणं कृष्णो भगवान्प्रहसन्प्रियम् ।
प्रेम्णा निरीक्षणेनैव प्रेक्षन्खलु सतां गतिः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह; इत्थम्—इस प्रकार; द्विज—ब्राह्मणों में; मुख्येन—श्रेष्ठ के; सह—साथ; सङ्कथयन्—बात करते हुए; हरिः—भगवान् हरि ने; सर्व—समस्त; भूत—जीवों के; मनः—मनों को; अभिज्ञः—जानने वाले; स्मयमानः—हँसते हुए; उवाच—कहा; तम्—उस; ब्रह्मण्यः—ब्राह्मण-भक्त; ब्राह्मणम्—ब्राह्मण को; कृष्णः—कृष्ण ने; भगवान्—भगवान्; प्रहसन्—हँसते हुए; प्रियम्—अपने प्रिय मित्र पर; प्रेम्णा—प्रेमपूर्वक; निरीक्षणेन—तिरछी नजर से; एव—निस्सन्देह; प्रेक्षन्—देखते हुए; खलु—निस्सन्देह; सताम्—साधु-भक्तों के; गतिः—लक्ष्य।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा]: भगवान् हरि अर्थात् कृष्ण सभी जीवों के हृदयों से भलीभाँति परिचित हैं और वे ब्राह्मणों के प्रति विशेष रूप से अनुरक्त रहते हैं। समस्त सन्त-पुरुषों के लक्ष्य भगवान् सर्वश्रेष्ठ द्विज से इस तरह बातें करते हुए हँसने लगे और अपने प्रिय मित्र ब्राह्मण सुदामा की ओर स्नेहपूर्वक देखते हुए तथा मुसकाते हुए निम्नलिखित शब्द कहे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *सर्वभूतमनोऽभिज्ञ* शब्द यह सूचित करते हैं कि चूँकि भगवान् कृष्ण हर एक के मन की बात जानते हैं, अत: वे तुरन्त बतला सकते थे कि उनका मित्र सुदामा अपने साथ उनके लिए कुछ तंदुल लाया है, जिन्हें भेंट करते हुए वह सकुचा रहा है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक की आगे व्याख्या करते हुए यह लिखा है कि उस क्षण भगवान् कृष्ण यह सोचकर मुसकाये कि "रुको, मैं तुम्हें बतलाये दे रहा हूँ कि तुम मेरे लिए क्या लाये हो।" उनकी मुसकान तब अट्टहास में बदल गई जब उन्होंने सोचा, "तुम आखिर कितनी देर तक अपने वस्त्र में छिपे इस बहुमूल्य उपहार को रखे रहोगे?"

कृष्ण ने अपने मित्र के वस्त्र के भीतर छिपी पोटली पर दृष्टि डाली और अपनी प्रेम-भरी चितवन से सुदामा को बतला दिया, "तुम्हारी दुर्बल चमड़ी के नीचे से झलकती नसें तथा तुम्हारे फटे-पुराने वस्त्र यहाँ पर उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति को आश्चर्य में डालने वाले हैं, किन्तु दरिद्रता के ये लक्षण केवल कल प्रात:काल तक ही टिक पायेंगे।"

यद्यपि कृष्ण परम स्वतंत्र भगवान् हैं, किन्तु वे अपने प्रियजनों से, अपने स्नेहिल दासों से आदान-प्रदान करने में सदैव प्रसन्न रहते हैं। वे ब्राह्मण वर्ग के कृपालु संरक्षक होने के नाते ब्राह्मणों का जो

अपनी निरपेक्ष भक्ति के कारण अतिरिक्त योग्यता रखते हैं, पक्ष लेते हुए आनन्दित होते हैं।

श्रीभगवानुवाच
किमुपायनमानीतं ब्रह्मन्मे भवता गृहात् ।
अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भुर्यैव मे भवेत् ।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; किम्—क्या; उपायनम्—भेंट; आनीतम्—लाई हुई; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; मे—मेरे लिए; भवता—आपके द्वारा; गृहात्—अपने घर से; अणु—अति तुच्छ; अपि—भी; उपाहृतम्—दी गई वस्तु; भक्तैः—भक्तों द्वारा; प्रेम्णा—शुद्ध प्रेम से; भूरि—बहुत; एव—निस्सन्देह; मे—मेरे लिए; भवेत्—हो जाती है; भूरि—प्रचुर; अपि—भी; अभक्त—अभक्तों द्वारा; उपहृतम्—भेंट किया गया; न—नहीं; मे—मेरी; तोषाय—तुष्टि के लिए; कल्पते—कुशल (दक्ष) है।

भगवान् ने कहा : हे ब्राह्मण, तुम अपने घर से मेरे लिए कौन-सा उपहार लाये हो? शुद्ध प्रेमवश अपने भक्तों द्वारा प्रस्तुत की गई छोटी से छोटी भेंट को भी मैं बड़ी मानता हूँ, किन्तु अभक्तों द्वारा चढ़ाई गई बड़ी से बड़ी भेंट भी मुझे तुष्ट नहीं कर पाती।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ ॥

शब्दार्थ

पत्रम्—पत्ती; पुष्पम्—फूल; फलम्—फल; तोयम्—जल; यः—जो कोई भी; मे—मुझको; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; प्रयच्छति—प्रदान करता है; तत्—वह; अहम्—मैं; भक्ति-उपहृतम्—भक्ति की भेंट; अश्नामि—स्वीकार करता हूँ; प्रयत-आत्मनः—शुद्ध चेतना वाले से।

यदि कोई मुझे प्रेम तथा भक्ति के साथ एक पत्ती, फूल, फल या जल अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।

तात्पर्य : ये सुप्रसिद्ध शब्द भगवान् द्वारा *भगवद्गीता* (९.२६)में भी कहे गये हैं। उपर्युक्त भावार्थ तथा शब्दार्थ श्रील प्रभुपाद के *भगवद्गीता यथारूप* से लिये गये हैं।

सुदामा के द्वारका गमन की वर्णित घटना के प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती भगवान् कृष्ण के वाक्यों की व्याख्या करते हुए कहते हैं—यह श्लोक सुदामा की उस चिन्ता का उत्तर है कि उसके द्वारा लाई गई अनुपयुक्त भेंट की सोच अविवेकपूर्ण थी। *भक्त्या प्रयच्छति* तथा *भक्त्युपहृतम्* शब्द भले ही अनावश्यक लगें, क्योंकि दोनों का अर्थ ''भक्तिपूर्वक भेंट करना'' है किन्तु *भक्त्या* शब्द यह सूचित करता है कि भगवान् प्रेमपूर्वक भेंट करने वाले की भक्ति का किस तरह से आदान-प्रदान करते हैं।

दूसरे शब्दों में, भगवान् कृष्ण यह घोषित करते हैं कि शुद्ध प्रेम-विनिमय भेंट के बाह्य गुण पर निर्भर नहीं करता। कृष्ण कहते हैं, ''कोई वस्तु भले ही अपने में प्रभावशाली अथवा सुखद हो या न हो किन्तु जब भक्त उस वस्तु को भक्तिपूर्वक मुझे इस आशा के साथ अर्पित करता है कि मैं उसका आस्वादन करूँगा तो इससे मुझे अतिशय आनन्द होता है। इसमें मैं कोई भेदभाव नहीं बरतता।'' *अश्नामि* क्रिया का भाव यह है कि भगवान् कृष्ण फूल तक को खा लेते हैं, जो सूँघने की वस्तु है, क्योंकि अपने भक्त के लिए अनुभव किये जाने वाले भावमय प्रेम में वे विभोर हो जाते हैं।

हो सकता है कि भगवान् से कोई यह प्रश्न करे, ''तो क्या आप भक्त द्वारा किसी अन्य अर्चाविग्रह को अर्पित वस्तु नकार देंगे?'' भगवान् उत्तर देते हैं, ''हाँ, मैं उसे खाने से इनकार कर दूँगा।'' इसे भगवान् *प्रयतात्मनः* शब्द द्वारा कहते हैं जिसका अर्थ है ''मेरी भक्ति के द्वारा ही मनुष्य शुद्ध हृदय वाला बन सकता है।''

इत्युक्तोऽपि द्विजस्तस्मै व्रीडितः पतये श्रियः ।
पृथुकप्रसृतिं राजन्न प्रायच्छदवाङ्मुखः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—कहा गया; अपि—यद्यपि; द्विजः—ब्राह्मण; तस्मै—उसको; व्रीडितः—व्यग्र; पतये—पति को; श्रियः—लक्ष्मी के; पृथुक—तंदुल की; प्रसृतिम्—मुट्ठी को; राजन्—हे राजा (परीक्षित); न प्रायच्छत्—प्रदान नहीं किया; अवाक्—नमित; मुखः—सिर किये।

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा] : हे राजन्, इस प्रकार सम्बोधित किये जाने पर भी वह ब्राह्मण लक्ष्मी के पति को मुट्ठी-भर तंदुल देने में अत्यधिक हिचकिचा रहा था। बस, वह लज्जा के मारे अपना सिर नीचे किये रहा।

तात्पर्य : आचार्य विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार कृष्ण को ''लक्ष्मीपति'' कहने का आशय यह है कि सुदामा ने अपने आप से पूछा, ''भला श्रीपति इस कड़े बासी चावल को कैसे खा सकेंगे?'' सिर नीचा करके ब्राह्मण ने अपने इस ध्यान को प्रकट किया है कि ''हे प्रभु! आप मुझे इस तरह लज्जित न करें। यदि आप बारम्बार भी अनुरोध करें तो भी मैं आपको इसे नहीं दूँगा। मैंने यह संकल्प कर लिया है।'' लेकिन भगवान् ने अपने विचार से उसका प्रत्युत्तर दिया, ''चूँकि तुम मेरे भक्त हो अतएव आते समय तुमने जो भी मन में इरादा स्थिर किया हो, उसे विमुख नहीं होना चाहिए।''

सर्वभूतात्मदृक्साक्षात्तस्यागमनकारणम् ।
विज्ञायाचिन्तयन्नायं श्रीकामो माभजत्पुरा ॥ ६ ॥
पत्न्याः पतिव्रतायास्तु सखा प्रियचिकीर्षया ।
प्राप्तो मामस्य दास्यामि सम्पदोऽमर्त्यदुर्लभाः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सर्व—समस्त; भूत—जीवों के; आत्म—हृदयों के; दृक्—साक्षी; साक्षात्—प्रत्यक्ष; तस्य—उसके (सुदामा के); आगमन—आने का; कारणम्—कारण; विज्ञाय—भलीभाँति समझ कर; अचिन्तयत्—सोचा; न—नहीं; अयम्—यह; श्री—ऐश्वर्य का; कामः—इच्छुक; मा—मुझको; अभजत्—पूजता रहा; पुरा—भूतकाल में; पत्न्याः—अपनी पत्नी के; पति—अपने पति के प्रति; व्रतायाः—अनुरक्त; तु—लेकिन; सखा—मित्र; प्रिय—संतोष; चिकीर्षया—प्राप्त करने की इच्छा से; प्राप्तः—आया हुआ; माम्—मुझको; अस्य—इसको; दास्यामि—दूँगा; सम्पदः—सम्पदा; अमर्त्य—देवताओं के द्वारा; दुर्लभाः—अलभ्य।

समस्त जीवों के हृदयों में प्रत्यक्ष साक्षी स्वरूप होने के कारण भगवान् कृष्ण भलीभाँति समझ गये कि सुदामा उनसे मिलने क्यों आया है। अतः उन्होंने सोचा, "इसके पूर्व मेरे मित्र ने कभी भी भौतिक ऐश्वर्य की इच्छा से मेरी पूजा नहीं की है, किन्तु अब वही अपनी सती तथा पति-परायणा पत्नी को सन्तुष्ट करने के लिए मेरे पास आया है। मैं उसे वह सम्पदा प्रदान करूँगा, जो अमर देवतागण भी कभी प्राप्त नहीं कर सकते।"

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती टीका करते हैं कि भगवान् को क्षणिक आश्चर्य हुआ, "मेरी सर्वज्ञता के बावजूद यह किस तरह सम्भव हो सका कि मेरा यह भक्त इतनी दरिद्रता को प्राप्त हुआ?" फिर तुरन्त स्थिति समझते हुए उन्होंने अपने आपसे इस श्लोक में दिये गये शब्द कहे।

किन्तु कोई यह कह सकता है कि सुदामा को इतना दरिद्र नहीं होना चाहिए था क्योंकि समुचित भोग तो ईश-सेवा का उपफल होता है और ऐसा किसी परोक्ष अभिप्राय से रहित भक्त के लिए भी सत्य है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.२२) में हुई है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

"जो लोग मेरे दिव्य स्वरूप का ध्यान करते हुए अनन्य भक्ति के साथ मेरी पूजा करते हैं उन्हें मैं वह देता हूँ जो उनके पास नहीं होता और उनके पास जो होता है उसको सुरक्षित रखता हूँ।"

इस बात के उत्तर के रूप में दो प्रकार के विरक्त भक्तों में अन्तर करना आवश्यक है—एक प्रकार का भक्त इन्द्रिय-तृप्ति का शत्रु है और दूसरा उसके प्रति उदासीन रहता है। भगवान् कभी भी उस भक्त पर इन्द्रिय-तृप्ति नहीं थोपते जो सांसारिक भोगों से अन्यमनस्क होता है। जड़ भरत जैसे महान् विरक्तों

में ऐसा देखा जाता है। दूसरी ओर, भगवान् भक्त को अपार सम्पत्ति तथा शक्ति प्रदान कर सकते हैं, जो भौतिक वस्तुओं के द्वारा न तो आकृष्ट होते हैं न विकर्षित होते हैं, यथा प्रह्लाद महाराज। सुदामा अपने जीवन में अब तक इन्द्रिय-तृप्ति के प्रति पूर्णतया अन्यमनस्क था, किन्तु अब वह अपनी पति-परायणा पत्नी के प्रति दयाभाव से—और इसलिए भी कि उसमें कृष्ण का दर्शन करने की लालसा थी—वह भगवान् के पास याचना करने गया।

इत्थं विचिन्त्य वसनाच्चीरबद्धान्द्विजन्मनः ।
स्वयं जहार किमिदमिति पृथुकतण्डुलान् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस तरह; विचिन्त्य—सोच कर; वसनात्—कपड़े से; चीर—कपड़े के टुकड़े में; बद्धान्—बँधा हुआ; द्वि-जन्मनः—ब्राह्मण के; स्वयम्—खुद; जहार—छीन लिया; किम्—क्या; इदम्—यह; इति—ऐसा कहते हुए; पृथुक-तण्डुलान्—तन्दुल के दानों को।

इस प्रकार सोचते हुए भगवान् ने ब्राह्मण के वस्त्र में से कपड़े के पुराने टुकड़े में बँधे तन्दुल के दानों को छीन लिया और कह उठे, "यह क्या है?"

नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे ।
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ननु—क्या; एतत्—यह; उपनीतम्—लाया गया; मे—मेरे लिए; परम—परम; प्रीणनम्—संतोष प्रदान करते हुए; सखे—हे मित्र; तर्पयन्ति—कृपापात्र बनते हैं; अङ्ग—हे प्रिय; माम्—मुझको; विश्वम्—सारे ब्रह्माण्ड (स्वरूप में); एते—ये; पृठुक-तण्डुलाः—तन्दुल के दाने।

"हे मित्र, क्या इसे मेरे लिए लाये हो? इससे मुझे बहुत खुशी हो रही है। निस्सन्देह तन्दुल के ये थोड़े-से दाने न केवल मुझे, अपितु सारे ब्रह्माण्ड को तुष्ट करने वाले हैं।"

तात्पर्य : *भगवान् श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद लिखते हैं: "इस कथन से यह समझा जाता है कि प्रत्येक वस्तु के मूल स्रोत भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण सृष्टि के कारण हैं। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ में पानी डालने से सम्पूर्ण वृक्ष के प्रत्येक भाग को पानी मिलता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण को अर्पण की गई वस्तु को, अथवा श्रीकृष्ण के लिए किए गये किसी भी कार्य को सभी के लिए सर्वोच्च कल्याणकारी कार्य समझना चाहिए, क्योंकि ऐसे अर्पण के लाभ को सम्पूर्ण सृष्टि में वितरित किया जाता है। श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम सभी जीवात्माओं में वितरित हो जाता है।"

इति मुष्टिं सकृज्जग्ध्वा द्वितीयां जग्धुमाददे ।
तावच्छ्रीर्जगृहे हस्तं तत्परा परमेष्ठिनः ॥ ॥

शब्दार्थ

इति—ऐसा कहकर; मुष्टिम्—मुट्ठी-भर; सकृत्—एक बार; जग्ध्वा—खाकर; द्वितीयम्—दूसरी; जग्धुम्—खाने के लिए; आददे—लिया; तावत्—तब तो; श्रीः—लक्ष्मी (रुक्मिणीदेवी) ने; जगृहे—पकड़ लिया; हस्तम्—हाथ; तत्—उस; परा—अनुरक्त; परमे-स्थिनः—भगवान्।.

यह कहकर भगवान् ने एक मुट्ठी खाई और दूसरी मुट्ठी खाने ही वाले थे कि पति-परायणा देवी रुक्मिणी ने उनका हाथ पकड़ लिया।

तात्पर्य : महारानी रुक्मिणी ने कृष्ण का हाथ तन्दुल खाने से इसलिए पकड़ लिया जिससे वे और अधिक न खायें। श्रीपाद श्रीधर स्वामी के अनुसार इस संकेत द्वारा वे भगवान् को बता देना चाहती थीं कि ''आपकी इतनी-सी कृपा से किसी को अथाह धन मिल सकता है, जो मेरी चितवन का खिलवाड़ मात्र है। लेकिन आप मुझे इसके लिए बाध्य न करें कि मुझे इस ब्राह्मण को आत्मसमर्पण करना पड़े, जो कि आपके द्वारा एक और मुट्ठी खाने पर हो जायेगा।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की व्याख्या है कि रुक्मिणी द्वारा भगवान् कृष्ण का हाथ पकड़ने के पीछे भाव यह है कि, ''यदि आप अपने मित्र द्वारा घर से लाये गये इस सारे तन्दुल को खा जायेंगे तो मेरी सहेलियों, सौतों, नौकरों तथा मेरे लिए क्या बचेगा? तब तो हममें से किसी को एक-एक दाना भी नहीं मिल पायेगा।'' और उन्होंने संकेत द्वारा अपनी नौकरानियों से कहा, ''इन कड़े चावलों से मेरे स्वामी का मुलायम पेट बिगड़ जायेगा।''

श्रील प्रभुपाद की टीका है कि ''जब भगवान् श्रीकृष्ण को प्रेम एवं भक्ति के साथ अन्न अर्पित किया जाता है तथा वे प्रसन्न होकर भक्त की इस भेंट को स्वीकार कर लेते हैं, तो रुक्मिणी देवी जोकि लक्ष्मी हैं उस भक्त के प्रति इतनी कृतज्ञ हो उठती हैं कि उन्हें उस भक्त के निवासस्थान पर जाकर उसे विश्व के सर्वाधिक वैभवशाली घर में परिवर्तित करना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति श्री नारायण को अच्छी तरह से खिलाता है, तो लक्ष्मीजी स्वयं ही उसके घर की अतिथि बनती हैं, जिसका अर्थ है कि उसका घर वैभव से युक्त हो जाता है।''

एतावतालं विश्वात्मन्सर्वसम्पत्समृद्धये ।

अस्मिन्लोकेऽथ वामुष्मिन्पुंसस्त्वत्तोषकारणम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एतावता—इतना; अलम्—पर्याप्त; विश्व—ब्रह्माण्ड के; आत्मन्—हे आत्मा; सर्व—समस्त; सम्पत्—सम्पदा का; समृद्धये—समृद्धि के लिए; अस्मिन्—इस; लोके—संसार में; अथ वा—या फिर; अमुष्मिन्—अगले में; पुंसः—मनुष्य के लिए; त्वत्—तुम्हारे; तोष—संतोष; कारणम्—कारणस्वरूप।

[महारानी रुक्मिणी ने कहा] : हे ब्रह्माण्ड के आत्मा, इस जगत में तथा अगले जगत में सभी प्रकार की प्रभूत सम्पदा दिलाने के लिए यह पर्याप्त है। आखिर, किसी की समृद्धि आपकी तुष्टि पर ही तो निर्भर है।

ब्राह्मणस्तां तु रजनीमुषित्वाच्युतमन्दिरे ।
भुक्त्वा पीत्वा सुखं मेने आत्मानं स्वर्गतं यथा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः—ब्राह्मण; ताम्—उस; तु—तथा; रजनीम्—रात; उषित्वा—रह कर; अच्युत—भगवान् कृष्ण के; मन्दिरे—महल में; भुक्त्वा—खाकर; पीत्वा—पीकर; सुखम्—सुखपूर्वक; मेने—सोचा; आत्मानम्—अपने से; स्वः—आध्यात्मिक जगत, वैकुण्ठ-लोक; गतम्—प्राप्त करके; यथा—मानो।

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा] : उस ब्राह्मण ने जी-भरकर खाने-पीने के बाद वह रात्रि भगवान् अच्युत के महल में बिताई। उसे ऐसा अनुभव हुआ, मानो वह वैकुण्ठ-लोक में आ गया हो।

श्वोभूते विश्वभावेन स्वसुखेनाभिवन्दितः ।
जगाम स्वालयं तात पथ्यनव्रज्य नन्दितः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

श्वः-भूते—अगले दिन; विश्व—ब्रह्माण्ड के; भावेन—पालनकर्ता द्वारा; स्व—अपने भीतर; सुखेन—सुख का अनुभव करने वाले; अभिवन्दितः—आदरित; जगाम—चला गया; स्व—अपने; आलयम्—घर; तात—हे प्रिय (राजा परीक्षित); पथि—रास्ते में; अनुव्रज्य—चलते हुए; नन्दितः—हर्षित।

अगले दिन ब्रह्माण्ड के पालनकर्ता आत्माराम भगवान् कृष्ण द्वारा सम्मानित होकर सुदामा घर के लिए चल पड़ा। हे राजन्, वह ब्राह्मण मार्ग पर चलते हुए अत्यधिक हर्षित था।

तात्पर्य : हमें यहाँ स्मरण दिलाया जा रहा है कि भगवान् कृष्ण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को इच्छित वस्तुएँ प्रदान करते हैं। इसलिए यह समझना होगा कि वे सुदामा के लिए इन्द्र से भी बढ़कर ऐश्वर्य देने जा रहे थे। *स्वसुख* अर्थात् अपने आनंद में पूर्ण होने के कारण उनमें उपहार (वर) देने की असीम क्षमता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार *अभिवन्दितः* शब्द सूचित करता है कि श्रीकृष्ण

सुदामा के साथ मार्ग पर कुछ दूरी तक गये और अन्त में उस ब्राह्मण को शीश झुकाकर तथा आदरपूर्ण शब्द कहकर उससे विदा ली।

स चालब्ध्वा धनं कृष्णान्न तु याचितवान्स्वयम् ।
स्वगृहान्व्रीडितोऽगच्छन्महद्दर्शननिर्वृतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; च—तथा; अलब्ध्वा—न पाकर; धनम्—धन; कृष्णात्—कृष्ण से; न—नहीं; तु—फिर भी; याचितवान्—माँगा; स्वयम्—अपने से; स्व—अपने; गृहान्—घर को; व्रीडितः—खिन्न; अगच्छत्—चला गया; महत्—भगवान् के; दर्शन—दर्शन से; निर्वृतः—हर्षित होकर।

यद्यपि सुदामा को बाह्य रूप से भगवान् कृष्ण से कोई धन प्राप्त नहीं हुआ था, फिर भी वह अपनी ओर से कुछ भी माँगने में अत्यधिक सकुचा रहा था। वह यह अनुभव करते हुए पूर्ण सन्तुष्ट होकर लौटा कि उसने भगवान् के दर्शन पा लिये हैं।

अहो ब्रह्मण्यदेवस्य दृष्टा ब्रह्मण्यता मया ।
यद्दरिद्रतमो लक्ष्मीमाश्लिष्टो बिभ्रतोरसि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अहो—आह; ब्रह्मण्य—ब्राह्मणों के प्रति श्रद्धावान्; देवस्य—भगवान् का; दृष्ट—देखा हुआ; ब्रह्मण्यता—ब्राह्मण भक्ति; मया—मेरे द्वारा; यत्—जो भी; दरिद्र-तमः—सबसे निर्धन व्यक्ति; लक्ष्मीम्—लक्ष्मी को; आश्लिष्टः—आलिंगन किया; बिभ्रता—धारण करने वाले के द्वारा; उरसि—अपने वक्षस्थल पर।

[सुदामा ने सोचा] : भगवान् कृष्ण ब्राह्मण-भक्त के रूप में विख्यात हैं और अब मैंने स्वयं इस भक्ति को देख लिया है। निस्सन्देह लक्ष्मीजी को अपने वक्षस्थल पर धारण करने वाले उन्होंने सबसे दरिद्र भिखारी का आलिंगन किया है।

क्वाहं दरिद्रः पापीयान्क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः ।
ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

क्व—कौन; अहम्—मैं हूँ; दरिद्रः—निर्धन; पापीयान्—पापी; क्व—कौन; कृष्णः—भगवान् कृष्ण हैं; श्री-निकेतनः—समस्त ऐश्वर्य के दिव्य स्वरूप; ब्रह्म-बन्धुः—ब्राह्मण का मित्र, ब्राह्मण न कहलाने योग्य; इति—इस प्रकार; स्म—निश्चय ही; अहम्—मैं; बाहुभ्याम्—भुजाओं से; परिरम्भितः—आलिंगित।

मैं कौन हूँ? एक पापी, निर्धन ब्राह्मण और कृष्ण कौन हैं? भगवान्, छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण। तो भी उन्होंने अपनी दोनों भुजाओं से मेरा आलिंगन किया है।

तात्पर्य : उपर्युक्त भावार्थ श्रील प्रभुपाद द्वारा प्रस्तुत *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य ७.१३) के अँग्रेजी

पाठ के आधार पर किया गया है। सुदामा इतना दीन था कि वह अपनी निर्धनता को अपने ही दोष या पाप का फल मान रहा था। ऐसी मनोवृत्ति इस कहावत के अनुसार है कि *दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी*—निर्धन होने के दोष से तमाम सद्गुण नष्ट हो जाते हैं।

निवासित: प्रियाजुष्टे पर्यङ्के भ्रातरो यथा ।
महिष्या वीजित: श्रान्तो बालव्यजनहस्तया ॥ १७॥

शब्दार्थ

निवासित:—बैठाया गया; प्रिया—अपनी प्रियतमा द्वारा; जुष्टे—काम में लाये जाने वाले; पर्यङ्के—पलंग पर; भ्रातर:—भाइयों को; यथा—जिस तरह; महिष्या—अपनी रानी द्वारा; वीजित:—पंखा झला; श्रान्त:—थका हुआ; बाल—(चमरी के) बाल का; व्यजन—पंखा; हस्तया—हाथ से।

उन्होंने मेरे साथ अपने भाइयों जैसा वर्ताव किया और अपनी प्रियतमा के पलंग पर बैठाया। और चूँकि मैं थका हुआ था, इसलिए उनकी रानी ने *चामर* से स्वयं मुझ पर पंखा झला।

शुश्रूषया परमया पादसंवाहनादिभि: ।
पूजितो देवदेवेन विप्रदेवेन देववत् ॥ १८॥

शब्दार्थ

शुश्रूषया—सेवा से; परमया—निष्ठावान; पाद—पाँव की; संवाहन—मालिश; आदिभि:—इत्यादि से; पूजित:—पूजित; देव-देवेन—समस्त देवताओं के स्वामी द्वारा; विप्र-देवेन—ब्राह्मणों के स्वामी द्वारा; देव—देवता; वत्—सदृश।

यद्यपि वे समस्त देवताओं के स्वामी हैं और समस्त ब्राह्मणों के पूज्य हैं, फिर भी उन्होंने मेरे पाँवों की मालिश करके तथा अन्य विनीत सुश्रूषाओं द्वारा मेरी इस तरह पूजा की, मानो मैं ही देवता हूँ।

स्वर्गापवर्गयो: पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम् ।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम् ॥ १९॥

शब्दार्थ

स्वर्ग—स्वर्ग; अपवर्गयो:—तथा चरम मोक्ष का; पुंसाम्—सारे मनुष्यों के लिए; रसायाम्—रसातल में; भुवि—तथा पृथ्वी पर; सम्पदाम्—सम्पदा के; सर्वासाम्—समस्त; अपि—भी; सिद्धीनाम्—सिद्धियों के; मूलम्—मूल कारण; तत्—उनके; चरण—चरणों की; अर्चनम्—पूजा।

मनुष्य स्वर्ग में, मोक्ष में, रसातल में तथा इस पृथ्वी पर जितनी भी सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है, उसका आधारभूत कारण उनके चरणकमलों की भक्ति है।

अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत् ।
इति कारुणिको नूनं धनं मेऽभूरि नाददात् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अधनः—निर्धन व्यक्ति; अयम्—यह; धनम्—धन; प्राप्य—प्राप्त करके; माद्यन्—प्रसन्न होते हुए; उच्चैः—अत्यधिक; न—नहीं; माम्—मुझको; स्मरेत्—स्मरण करेगा; इति—इस प्रकार सोचते हुए; कारुणिकः—दयालु; नूनम्—निस्सन्देह; धनम्—धन; मे—मुझको; अभूरि—कुछ, रंच; न आददात्—नहीं दिया।

यह सोचकर कि यदि यह निर्धन बेचारा सहसा धनी हो जायेगा, तो वह मदमत्त करने वाले सुख में मुझे भूल जायेगा, दयालु भगवान् ने मुझे रंचमात्र भी धन नहीं दिया।

तात्पर्य : सुदामा के इस कथन से कि भगवान् कृष्ण ने उसे रंच-भर भी धन नहीं दिया यह अर्थ निकाला जा सकता है कि *अभूरि*—अल्प, रंच—धन देने की बजाय भगवान् ने उसे अपनी संगति का बृहत् कोष दे दिया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने यह वैकल्पिक अर्थ सुझाया है।

इति तच्चिन्तयन्नन्तः प्राप्तो नियगृहान्तिकम् ।
सूर्यानलेन्दुसङ्काशैर्विमानैः सर्वतो वृतम् ॥ २१ ॥
विचित्रोपवनोद्यानैः कूजद्द्विजकुलाकुलैः ।
प्रोत्फुल्लकमुदाम्भोजकह्लारोत्पलवारिभिः ॥ २२ ॥
जुष्टं स्वलङ्कृतैः पुम्भिः स्त्रीभिश्च हरिणाक्षिभिः ।
किमिदं कस्य वा स्थानं कथं तदिदमित्यभूत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; तत्—यह; चिन्तयन्—सोचते हुए; अन्तः—अन्दर ही अन्दर; प्राप्तः—आ गया; निज—अपने; गृह—घर के; अन्तिकम्—पड़ोस में; सूर्य—सूर्य; अनल—अग्नि; इन्दु—तथा चन्द्रमा; सङ्काशैः—होड़ में; विमानैः—दैवी महलों से; सर्वतः—सभी दिशाओं से; वृतम्—घिरा हुआ; विचित्र—आश्चर्यपूर्ण; उपवन—आँगन; उद्यानैः—तथा बगीचों से; कूजत्—कू-कू करते; द्विज—पक्षियों के; कुल—झुंडों समेत; आकुलैः—झुंड बनाते; प्रोत्फुल्ल—पूरी तरह खिले; कुमुद—कमलिनियों से युक्त; अम्भोज—दिन में खिलने वाले कमलों; कह्लार—श्वेत कमलों; उत्पल—तथा जल कुमुदिनी; वारिभिः—जलाशयों से; जुष्टम्—सुशोभित; सु—सुन्दर; अलङ्कृतैः—सजे; पुम्भिः—पुरुषों से; स्त्रीभिः—स्त्रियों से; च—तथा; हरिणा—हिरनी जैसी; अक्षिभिः—आँखों से; किम्—क्या; इदम्—यह; कस्य—किसका; वा—अथवा; स्थानम्—स्थान; कथम्—कैसे; तत्—वह; इदम्—यह; इति—इस तरह; अभूत्—हो गया है।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : इस प्रकार अपने आप सोचते-सोचते सुदामा अन्ततः उस स्थान पर आ पहुँचा, जहाँ उसका घर हुआ करता था। किन्तु अब वह स्थान सभी ओर से ऊँचे भव्य महलों से घनीभूत था, जो सूर्य, अग्नि तथा चन्द्रमा के सम्मिलित तेज से होड़ ले रहे थे। वहाँ आलीशान आँगन तथा बगीचे थे, जो कूजन करते हुए पक्षियों के झुंडों से भरे थे और जलाशयों से सुशोभित थे, जिनमें कुमुद, अम्भोज, कह्लार तथा उत्पल नामक कमल खिले हुए थे। अगवानी के लिए उत्तम वस्त्र धारण किये पुरुष तथा हिरनियों जैसी आँखों वाली स्त्रियाँ

खड़ी थीं। सुदामा चकित था कि यह सब क्या है? यह किसकी संपत्ति है? और यह सब कैसे हुआ?

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने ब्राह्मण के विचारों के क्रम को इस प्रकार बतलाया है—सर्वप्रथम महान् अपरिचित तेज देखकर उसने सोचा यह क्या है? फिर महलों को देखकर उसने अपने मन में कहा कि यह किसका स्थान है? और उसे अपना ही पहचान कर वह आश्चर्य करने लगा कि यह किस तरह इतना बदल गया है।

एवं मीमांसमानं तं नरा नार्योऽमरप्रभाः ।
प्रत्यगृह्णन्महाभागं गीतवाद्येन भूयसा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मीमांसमानम्—गम्भीरता से विचार करता हुआ; तम्—उसको; नराः—पुरुष; नार्यः—तथा स्त्रियाँ; अमर—देवताओं के समान; प्रभाः—तेजमय मुखड़ों वाले; प्रत्यगृह्णन्—सत्कार किया गया; महा-भागम्—अत्यन्त भाग्यशाली; गीत—गायन; वाद्येन—तथा बाजे से; भूयसा—उच्च।

जब वह इस तरह सोच-विचार में डूबा था, तो देवताओं जैसे तेजवान सुन्दर पुरुष तथा दासियाँ उँचे स्वर में गीत गाती तथा बाजे के साथ अपने अत्यन्त भाग्यशाली स्वामी का सत्कार करने आगे आईं।

तात्पर्य : जैसाकि आचार्य विश्वनाथ चक्रवर्ती ने बतलाया है, *प्रत्यगृह्णन* (बदले में कृतज्ञता ज्ञापित किया) सूचित करता है कि सर्वप्रथम सुदामा ने अपने मन में यह निश्चय करते हुए कि भगवान् चाहते हैं कि ये मेरे सेवक हों, उन्हें स्वीकार किया और उनके मनोभाव में परिवर्तन देखकर वे सेवक अपने स्वामी के पास आये।

पतिमागतमाकर्ण्य पत्न्युद्धर्षातिसम्भ्रमा ।
निश्चक्राम गृहात्तूर्णं रूपिणी श्रीरिवालयात् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

पतिम्—अपने पति को; आगतम्—आया हुआ; आकर्ण्य—सुन कर; पत्नी—उसकी पत्नी; उद्धर्षा—हर्षित; अति—अत्यधिक; सम्भ्रमा—उत्तेजित; निश्चक्राम—बाहर आ गई; गृहात्—घर से; तूर्णम्—तेजी से; रूपिणी—स्वरूप वाली; श्रीः—लक्ष्मी के; इव—मानो; आलयात्—अपने धाम से।

जब ब्राह्मण की पत्नी ने सुना कि उसका पति आया है, तो वह हर्ष के मारे तुरन्त घर से बाहर निकल आई। वह दिव्य धाम से निकलने वाली साक्षात् लक्ष्मी जैसी लग रही थी।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि चूँकि भगवान् कृष्ण ने सुदामा के घर को स्वर्गधाम बना दिया था इसलिए वहाँ रह रहा प्रत्येक व्यक्ति अब सुन्दर शरीर वाला और स्वर्ग के उपयुक्त वेशभूषा से युक्त था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने यह अन्तर्दृष्टि जोड़ी है—सुदामा की निर्धन तथा क्षीण पत्नी ने, जो कि एक रात पूर्व टूटी-फूटी कुटिया के नीचे चीथड़ों में सो रही थी प्रात: जगने पर पाया कि वह तथा उसका घर विचित्र रीति से बदल गये हैं। वह एक क्षण तक भौंचक्की रह गई। तब उसे अनुभूति हुई कि यह ऐश्वर्य उसके पति को जो इस समय रास्ते में कहीं होगा भगवान् द्वारा दिया हुआ उपहार है। अतएव वह उसके सत्कार की तैयारी करने लगी।

पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा प्रेमोत्कण्ठाश्रुलोचना ।
मीलिताक्ष्यनमद्बुद्ध्या मनसा परिषस्वजे ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पति-व्रता—पति-परायणा; पतिम्—पति को; दृष्ट्वा—देखकर; प्रेम—प्रेम की; उत्कण्ठ—उत्सुकता से; अश्रु—आँसू से भरे; लोचना—आँखों वाली; मीलित—बन्द किये; अक्षी—आँखें; अनमत्—प्रणाम किया; बुद्ध्या—विचारमग्न; मनसा—हृदय से; परिषस्वजे—आलिंगन किया।

जब उस पतिव्रता स्त्री ने अपने पति को देखा, तो उसकी आँखें प्रेम तथा उत्सुकता के आँसुओं से भर आईं। अपनी आँखें बन्द किये विचारमग्न होकर उसने पतिको प्रणाम किया और मन ही मन उसका आलिंगन कर लिया।

पत्नीं वीक्ष्य विस्फुरन्तीं देवीं वैमानिकीमिव ।
दासीनां निष्ककण्ठीनां मध्ये भान्तीं स विस्मित: ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

पत्नीम्—अपनी पत्नी को; वीक्ष्य—देखकर; विस्फुरन्तीम्—तेजवान लग रही; देवीम्—देवी को; वैमानिकीम्—विमान पर आरूढ़; इव—सदृश; दासीनाम्—दासियों के; निष्क—लॉकेट; कण्ठीनाम्—जिनके गलों में; मध्ये—बीचोबीच; भान्तीम्—चमकती हुई; स:—वह; विस्मित:—चकित।

सुदामा अपनी पत्नी को देखकर चकित था। रत्नजटित लॉकेटों से अलंकृत दासियों के बीच चमक रही वह उसी तरह तेजोमय लग रही थी, जिस तरह कोई देवी अपने दैवी-विमान में दीपित हो।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि अभी तक भगवान् उस ब्राह्मण को दरिद्र अवस्था में रखे रहे, जिससे उसकी पत्नी उसे पहचान सके।

प्रीतः स्वयं तया युक्तः प्रविष्टो निजमन्दिरम् ।
मणिस्तम्भशतोपेतं महेन्द्रभवनं यथा ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

प्रीतः—प्रसन्न; स्वयम्—खुद; तया—उसके; युक्तः—साथ होकर; प्रविष्टः—भीतर जाकर; निज—अपने; मन्दिरम्—घर में; मणि—मणियों वाले; स्तम्भ—ख भों; शत—सैकड़ों; उपेतम्—से युक्त; महा-इन्द्र—स्वर्ग के राजा महान् इन्द्र का; भवनम्—महल; यथा—सदृश।.

उसने आनन्दपूर्वक अपनी पत्नी को साथ लिए अपने घर में प्रवेश किया, जहाँ सैकड़ों रत्नजटित ख भे थे, जैसे देवराज महेन्द्र के महल में हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती टीका करते हैं कि सुदामा अपनी स्त्री को देखकर चकित था। जब वह आश्चर्य में था कि यह देव-पत्नी कौन है, जो मुझ जैसे पतितात्मा के पास आई है, तो दासियों ने सूचित किया कि यह उसी की पत्नी है। उसी क्षण सुदामा का शरीर तरुण तथा सुन्दर बन गया जो उत्तम वस्त्र तथा आभूषण से सुसज्जित था। *प्रीत:* शब्द यहाँ इसका सूचक है कि इन परिवर्तनों से उसे बेहद खुशी हुई।

महाभारत में *विष्णु सहस्रनाम* में सुदामा के एकाएक ऐश्वर्य का अमर वर्णन इन शब्दों में हुआ है—*श्रीदामा रंक-भक्तार्थभूम्यानीतेन्द्र वैभव:*—भगवान् विष्णु को अपने दयनीय भक्त श्रीदामा (सुदामा) के लाभार्थ इस धरा पर इन्द्र के तेज को लाने वाला भी कहा जाता है।

पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।
पर्यङ्का हेमदण्डानि चामरव्यजनानि च ॥ २९ ॥
आसनानि च हैमानि मृदूपस्तरणानि च ।
मुक्तादामविलम्बीनि वितानानि द्युमन्ति च ॥ ३० ॥
स्वच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ।
रत्नदीपान्भ्राजमानान्ललना रत्नसंयुताः ॥ ३१ ॥
विलोक्य ब्राह्मणस्तत्र समृद्धीः सर्वसम्पदाम् ।
तर्कयामास निर्व्यग्रः स्वसमृद्धिमहैतुकीम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

पयः—दूध के; फेन—झाग के; निभाः—सदृश; शय्याः—सेज, पलंग; दान्ताः—हाथी-दाँत से बनी; रुक्म—सुनहले; परिच्छदाः—सजावट; पर्यङ्काः—पलंग, आसन; हेम—सोने के; दण्डानि—जिसके पाए; चामर-व्यजनानि—चमरी गाय की पूँछ के बने पंखे; च—तथा; आसनानि—कुर्सियाँ; च—तथा; हैमानि—सुनहरे; मृदु—मुलायम; उपस्तरणानि—गद्दों; च—तथा; मुक्ता-दाम—मोती की लड़ों से; विलम्बीनि—लटकती; वितानानि—चँदोवों; द्युमन्ति—चमचमाते हुए; च—तथा; स्वच्छ—साफ; स्फटिक—संगमरमर की; कुड्येषु—दीवालों पर; महा-मारकतेषु—बहुमूल्य मरकत-मणियों से; च—भी;

रत्न—रत्नजटित; दीपान्—दीपकों; भ्राजमानान्—चमकते; ललनाः—स्त्रियाँ; रत्न—रत्नों से; संयुताः—सजी; विलोक्य—देखकर; ब्राह्मणः—ब्राह्मण ने; तत्र—वहाँ; समृद्धीः—वृद्धि की ओर उन्मुख; सर्व—समस्त; सम्पदाम्—ऐश्वर्य का; तर्कयाम् आस—अनुमान लगाया; निर्व्यग्रः—अविचलित; स्व—अपनी; समृद्धिम्—सम्पन्नता के विषय में; अहैतुकीम्—जिसकी आशा नहीं की गई थी।

सुदामा के घर में दूध के झाग सदृश कोमल तथा सफेद पलंग थे, जिनके पाए हाथी-दाँत के बने थे और सोने से अलंकृत थे। वहाँ कुछ सोफे भी थे, जिनके पाए सोने के थे। साथ ही राजसी चामर पंखे, सुनहरे सिंहासन, मुलायम गद्दे तथा मोती की लड़ों से लटकते चमचमाते चँदोवे थे। चमकते स्फटिक की दीवालों पर बहुमूल्य मरकत-मणि (पन्ने) जड़े थे और रत्नजटित दीपक प्रकाशमान थे। उस महल की सारी स्त्रियाँ बहुमूल्य रत्नों से अलंकृत थीं। जब उस ब्राह्मण ने सभी प्रकार का यह विलासमय ऐश्वर्य देखा, तो उसने शान्त भाव से इस आकस्मिक समृद्धि के विषय में अपने मन में तर्क किया।

नूनं बतैतन्मम दुर्भगस्य
शश्वद्दरिद्रस्य समृद्धिहेतुः ।
महाविभूतेरवलोकतोऽन्यो
नैवोपपद्येत यदूत्तमस्य ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

नूनम् बत—निश्चय ही; एतत्—इस; मम—मुझ; दुर्भगस्य—अभागे का; शश्वत्—सदैव; दरिद्रस्य—निर्धन की; समृद्धि—सम्पन्नता के; हेतुः—कारण; महा-विभूतेः—सर्वाधिक ऐश्वर्यशाली की; अवलोकतः—चितवन के अतिरिक्त; अन्यः—अन्य; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; उपपद्येत—पाया जाना चाहिए; यदु-उत्तमस्य—यदुओं में श्रेष्ठ की।

[सुदामा ने सोचा]: मैं सदैव से निर्धन रहा हूँ। निश्चय ही मुझ जैसे अभागे व्यक्ति का एकाएक धनी हो जाने का एकमात्र सम्भावित कारण यही हो सकता है कि यदुवंश के परम ऐश्वर्यशाली प्रधान भगवान् कृष्ण ने मुझ पर अपनी कृपा-दृष्टि की है।

नन्वब्रुवाणो दिशते समक्षं
याचिष्णवे भूर्यपि भूरिभोजः ।
पर्जन्यवत्तत्स्वयमीक्षमाणो
दाशार्हकाणामृषभः सखा मे ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ननु—आखिर; अब्रुवानः—न बोलते हुए; दिशते—दिया है; समक्षम्—उपस्थिति में; याचिष्णवे—याचना करने की इच्छा करने वाले को; भूरि—प्रचुर (धन); अपि—भी; भूरि—प्रचुर (धन); भोजः—भोक्ता; पर्जन्य-वत्—बादल के समान; तत्—वह; स्वयम्—स्वयं; ईक्षमाणः—देखते हुए; दाशार्हकाणाम्—राजा दाशार्ह के वंशजों में; ऋषभः—सर्वश्रेष्ठ; सखा—मित्र; मे—मेरा।

आखिर, दाशार्हों में सर्वश्रेष्ठ तथा असीम सम्पदा के भोक्ता, मेरे मित्र कृष्ण ने देखा कि मैं चुपके से उनसे माँगना चाहता था। इस तरह जब मैं उनके समक्ष खड़ा था, तो यद्यपि उन्होंने इसके विषय में कुछ कहा नहीं, तो भी उन्होंने मुझे प्रचुर सम्पदा प्रदान की है। उन्होंने दयावान वर्षा वाले बादल जैसा कार्य किया है।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण *भूरि-भोज* अर्थात् असीम भोक्ता हैं। उन्होंने सुदामा को यह नहीं बतलाया कि वे किस तरह उसकी अनकही याचना को पूरा करने जा रहे हैं, क्योंकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार वे उस समय यह सोच रहे थे, "मेरे प्रिय सखा ने मुझे जो तन्दुल के दाने दिये हैं, वे मेरे पास के सारे कोषों से बढ़कर हैं। यद्यपि उसके घर में मेरे पास लाने के लायक कोई ऐसी भेंट नहीं थी फिर भी उसने अपने पड़ोसी से माँगने का कष्ट उठाया। इसलिए उचित यही होगा कि मैं अपने पास जो कुछ है उससे भी बढ़कर कोई वस्तु उसे दूँ। किन्तु मेरे पास जो कुछ है उसके समान या उससे बढ़कर कुछ भी नहीं है, अतएव मैं इतना ही कर सकता हूँ कि इसे इन्द्र, ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं के कोष जैसी तुच्छ वस्तुएँ दे दूँ।" अपने भक्त की भेंट का समुचित प्रतिदान न कर पाने से उद्विग्न भगवान् कृष्ण ने उस ब्राह्मण को चुपके से अपनी कृपा प्रदान की। भगवान् ने उस वदान्य वर्षा वाले बादल की तरह कार्य किया जो अपने निकट और दूर के हर व्यक्ति की जीवन-आवश्यकताएँ प्रदान करने पर भी यह सोचता है कि किसानों द्वारा अर्पित की जाने वाली भेंटों की तुलना में उसकी यह वर्षा-रूपी भेंट तुच्छ है। लज्जावश बादल रात की प्रतीक्षा करता है और जब किसान सोये रहते हैं, तो वर्षा करता है।

भगवान् कृष्ण को जिस दाशार्ह वंश के प्रधानों में गिना गया है वे अपनी उदारता के लिए विख्यात थे।

किञ्चित्करोत्युर्वपि यत्स्वदत्तं
सुहृत्कृतं फल्ग्वपि भूरिकारी ।
मयोपणीतं पृथुकैकमुष्टिं
प्रत्यग्रहीत्प्रीतियुतो महात्मा ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

किञ्चित्—तुच्छ; **करोति**—करता है; **उरु**—महान्; **अपि**—भी; **यत्**—जो; **स्व**—स्वयं द्वारा; **दत्तम्**—दिया हुआ; **सुहृत्**—शुभचिन्तक मित्र द्वारा; **कृतम्**—किया गया; **फल्गु**—न्यून; **अपि**—भी; **भूरि**—अधिक; **कारी**—करने वाला; **मया**—मेरे द्वारा;

उपनीतम्—लाया हुआ; पृथुक—तन्दुल; एक—एक; मुष्टिम्—मुट्ठी-भर; प्रत्यग्रहीत्—स्वीकार किया; प्रीति-युतः—प्रसन्नतापूर्वक; महा-आत्मा—परमात्मा ने।

भगवान् अपने बड़े से बड़े वर को तुच्छ मानते हैं, किन्तु अपने शुभचिन्तक भक्त द्वारा की गई तुच्छ सेवा को बहुत बढ़ा देते हैं। इस तरह परमात्मा ने मेरे द्वारा लाये गये एक मुट्ठी तंदुल को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री-
दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात् ।
महानुभावेन गुणालयेन
विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके लिए; एव—निस्सन्देह; मे—मेरा; सौहृद—प्रेम, सौहार्द; सख्य—मित्रता; मैत्री—सहानुभूति; दास्यम्—तथा दास्य भाव; पुनः—बारम्बार; जन्मनि जन्मनि—जन्म-जन्मांतर; स्यात्—होए; महा-अनुभावेन—परम दयालु भगवान् से; गुण—दिव्य गुणों के; आलयेन—आगार; विषज्जतः—अनुरक्त; तत्—उसके; पुरुष—भक्तों की; प्रसङ्गः—बहुमूल्य संगति।

भगवान् समस्त दिव्य गुणों के परम दयामय आगार हैं। मैं जन्म-जन्मांतर प्रेम, मित्रता तथा सहानुभूति के साथ उनकी सेवा करूँ और उनके भक्तों के बहुमूल्य सान्निध्य से ऐसी दृढ़ अनुरक्ति उत्पन्न करूँ।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने बतलाया है यहाँ पर *सुहृदम्* उन भगवान् के प्रति स्नेह का सूचक है, जो अपने भक्तों के प्रति इतने दयालु हैं। *सख्यम्* वह आसक्ति है, जो उनके संग में रहने की इच्छा से प्रकट होती है, *मैत्री* घनिष्ठ मित्रता की प्रवृत्ति है और *दास्यम्* सेवा करने की उत्कण्ठा है।

भक्ताय चित्रा भगवान्हि सम्पदो
राज्यं विभूतीर्न समर्थयत्यजः ।
अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं
पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

भक्ताय—उनके भक्त के लिए; चित्राः—विचित्र; भगवान्—भगवान्; हि—निस्सन्देह; सम्पदः—ऐश्वर्य; राज्यम्—राज्य; विभूतीः—भौतिक सम्पत्ति; न समर्थयति—प्रदान नहीं करता; अजः—अजन्मा; अदीर्घ—छोटा; बोधाय—जिसकी समझ; विचक्षणः—चतुर; स्वयम्—स्वयं; पश्यन्—देखते हुए; निपातम्—पतन; धनिनाम्—धनी का; मद—गर्व से उत्पन्न नशे का; उद्भवम्—उत्थान।

जिस भक्त में आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि (समझ) नहीं होती, उसे भगवान् कभी भी इस जगत

का विचित्र ऐश्वर्य—राजसी शक्ति तथा भौतिक सम्पत्ति—नहीं सौंपते। दरअसल अपने अथाह ज्ञान से अजन्मा भगवान् भलीभाँति जानते हैं कि किस तरह गर्व का नशा किसी धनी का पतन कर सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती द्वारा व्याख्या की गयी है, विनम्र ब्राह्मण सुदामाने अपने आपको भगवान् के दुर्लभ बहुमूल्य वर, शुद्ध भक्ति, के लिए सर्वथा अयोग्य माना था। उसने तर्क दिया कि यदि वास्तव में उसमें शुद्ध भक्ति रहती तो भगवान् निश्चित रूप से उसे अविचल संपूर्ण भक्ति प्रदान करते न कि भौतिक सम्पत्ति तथा दास-दासी का सुख। भगवान् कृष्ण ऐसे विपथनों को न प्रदान करके एक गम्भीर भक्त की रक्षा करते। भगवान् एक निष्ठावान् किन्तु अल्पज्ञ भक्त को उसकी इच्छित सम्पत्ति प्रदान नहीं करते अपितु उतना ही प्रदान करते हैं जितने से उसकी भक्ति अग्रसर होती रहे। सुदामा ने सोचा, ''प्रह्लाद महाराज जैसे महान् सन्त तो अपार सम्पत्ति, बल तथा यश से दूषित होने से बच सकते हैं, किन्तु मुझे अपनी इस नवीन परिस्थिति में लोभ से सदैव सावधान रहना होगा।''

हम यह समझ सकते हैं कि इस दीन-भाव से भगवान् कृष्ण की महिमा के श्रवण एवं कीर्तन की प्रामाणिक प्रक्रिया द्वारा भक्तियोग को पूरा करने में विप्र सुदामा को सफलता प्राप्त हो सकी।

इत्थं व्यवसितो बुद्ध्या भक्तोऽतीव जनार्दने ।
विषयान्जायया त्यक्ष्यन्बुभुजे नातिलम्पटः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; व्यवसितः—संकल्प को स्थिर करते हुए; बुद्ध्या—बुद्धि से; भक्तः—अनुरक्त; अतीव—पूर्णतया; जनार्दने—समस्त जीवों के आश्रय भगवान् कृष्ण के प्रति; विषयान्—इन्द्रिय-तृप्ति की वस्तुएँ; जायया—अपनी पत्नी के साथ; त्यक्ष्यन्—त्याग करने की इच्छा से; बुभुजे—भोग किया; न—नहीं; अतिलम्पटः—धनलोलुप।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : इस तरह अपनी आध्यात्मिक बुद्धि के द्वारा अपने संकल्प को दृढ़ करते हुए सुदामा समस्त जीवों के आश्रय भगवान् कृष्ण के प्रति पूर्णतया अनुरक्त बना रहा। उसने धनलिप्ता से रहित होकर अपनी पत्नी के साथ साथ उस इन्द्रिय-सुख का भोग, अन्ततः समस्त इन्द्रिय-तृप्ति का परित्याग करने के विचार (अनासक्त भाव) से किया जो उसे प्रदान किया गया था।

तस्य वै देवदेवस्य हरेर्यज्ञपतेः प्रभोः ।

ब्राह्मणाः प्रभवो दैवं न तेभ्यो विद्यते परम् ॥ ३९॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; वै—भी; देव-देवस्य—ईश्वरों के ईश्वर; हरेः—कृष्ण का; यज्ञ—वैदिक यज्ञ के; पतेः—नियामक का; प्रभोः—परम स्वामी; ब्राह्मणाः—ब्राह्मणजन; प्रभवः—स्वामी; दैवम्—अर्चाविग्रह; न—नहीं; तेभ्यः—उनकी अपेक्षा; विद्यते—विद्यमान है; परम्—महान।

भगवान् हरि समस्त ईश्वरों के ईश्वर, समस्त यज्ञों के स्वामी तथा सृष्टि के परम शासक हैं। लेकिन वे सन्त ब्राह्मणों को अपना स्वामी मानते हैं, अतः उनसे बढ़कर कोई अन्य देव नहीं रह जाता।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती यह इंगित करते हैं कि यद्यपि श्रीकृष्ण इस सृष्टि के परम शासक हैं, तो भी वे ब्राह्मणों को अपने स्वामी के रूप में मानते हैं। यद्यपि वे समस्त ईश्वरों के ईश्वर हैं, तो भी वे ब्राह्मणों को अपना आराध्यदेव मानते हैं। वे समस्त यज्ञों के स्वामी होते हुए भी ब्राह्मणों की पूजा करने के लिए यज्ञ करते हैं।

एवं स विप्रो भगवत्सुहृत्तदा
दृष्ट्वा स्वभृत्यैरजितं पराजितम् ।
तद्ध्यानवेगोद्ग्रथितात्मबन्धन-
स्तद्धाम लेभेऽचिरतः सतां गतिम् ॥ ०॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सः—वह; विप्रः—ब्राह्मण; भगवत्—भगवान् का; सुहृत्—मित्र; तदा—तब; दृष्ट्वा—देखकर; स्व—निजी; भृत्यैः—दासों द्वारा; अजितम्—अजेय; पराजितम्—पराजित, हारा हुआ; तत्—उस पर; ध्यान—उसके ध्यान का; वेग—जोर या प्रवाह से; उद्ग्रथित—जुड़ा; आत्म—आत्मा को; बन्धनः—बन्धन; तत्—उसका; धाम—निवासस्थान; लेभे—प्राप्त किया; अचिरतः—अल्प समय में; सताम्—साधुओं की; गतिम्—गन्तव्य, लक्ष्य।

इस तरह यह देखते हुए कि अजेय भगवान् किस प्रकार से अपने दासों द्वारा जीत लिये जाते हैं, भगवान् के प्रिय ब्राह्मण मित्र को अनुभव हुआ कि उसके हृदय में भौतिक आसक्ति की जो ग्रंथियाँ शेष रह गई थीं, वे भगवान् के निरन्तर ध्यान के बल पर कट गई हैं। उसने अल्प काल में भगवान् कृष्ण का परम धाम प्राप्त किया, जो महान् सन्तों का गन्तव्य है।

तात्पर्य : सुदामा के पार्थिव वैभव का वर्णन कर चुकने के बाद अब शुकदेव गोस्वामी यह बतलाते हैं कि अगले लोक में उस ब्राह्मण ने किस ऐश्वर्य का भोग किया। श्रील जीव गोस्वामी उल्लेख करते हैं कि सुदामा में इस लेशमात्र भ्रम या माया का सूक्ष्म गर्व बचा हुआ था कि वह विरक्तया अर्थात् अनासक्त ब्राह्मण है। जब उसने भगवान् द्वारा अपने भक्तों के समक्ष आत्मसमर्पण का ध्यान किया, तो

यह लेशमात्र भाव भी जाता रहा।

एतद्ब्रह्मण्यदेवस्य श्रुत्वा ब्रह्मण्यतां नरः ।
लब्धभावो भगवति कर्मबन्धाद्विमुच्यते ॥ १ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ब्रह्मण्य-देवस्य—ब्राह्मणों के पक्षपाती भगवान् का; श्रुत्वा—सुन कर; ब्रह्मण्यताम्—ब्राह्मणों के प्रति दयाभाव को; नरः—मनुष्य; लब्ध—प्राप्त करते हुए; भावः—प्रेम; भगवति—भगवान् के प्रति; कर्म—भौतिक कार्य के; बन्धात्—बन्धन से; विमुच्यते—छूट जाता है।.

भगवान् सदैव ही ब्राह्मणों के प्रति विशेष कृपा दर्शाते हैं। जो भी ब्राह्मणों के प्रति भगवान् की दया के इस विवरण को सुनेगा, उसमें भगवत्प्रेम उत्पन्न होगा और इस तरह वह भौतिक कर्म के बन्धन से छूट जायेगा।

तात्पर्य : *भगवान् श्रीकृष्ण* नामक पुस्तक के उस अध्याय की भूमिका में जिसमें इस लीला का वर्णन हुआ है कृष्ण कृपामूर्ति श्रील प्रभुपाद ने टीका की है, ''समस्त जीवों के परमात्मा भगवान् कृष्ण हर एक के हृदय को भलीभाँति जानते हैं। ब्राह्मण भक्तों के प्रति उनका विशेष रूप से झुकाव रहता है। भगवान् कृष्ण *ब्रह्मण्यदेव* भी कहलाते हैं, जिसका अर्थ है कि वे ब्राह्मणों द्वारा पूजित हैं। अतएव यह मानी हुई बात है कि जो भक्त भगवान् के प्रति पूर्णतया समर्पित है उसे पहले से ही ब्राह्मण-पद प्राप्त हो चुका होता है। ब्राह्मण बने बिना कोई व्यक्ति परम ब्रह्म भगवान् कृष्ण तक नहीं पहुँच सकता। कृष्ण अपने भक्तों के दुख को मिटाने के लिए विशेष रूप से चिन्तित रहते हैं और वे अपने भक्तों के एकमात्र आश्रय हैं।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध अन्तर्गत ''भगवान् द्वारा सुदामा ब्राह्मण को वरदान'' नामक इक्यासीवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बयासी

वृन्दावनवासियों से कृष्ण तथा बलराम की भेंट

इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि सूर्य-ग्रहण के अवसर पर किस तरह यदुगण तथा अनेक अन्य राजा कुरुक्षेत्र में मिले और उन्होंने भगवान् कृष्ण से सम्बन्धित कथाओं की चर्चा चलाई। इसमें

यह भी बतलाया गया है कि किस तरह कुरुक्षेत्र में कृष्ण ने नन्द महाराज तथा अन्य वृन्दावनवासियों से मिलकर, उन्हें परम आनन्द प्रदान किया।

यह सुनकर कि पूर्ण सूर्य-ग्रहण पड़ने वाला है सारे भारतवर्ष के लोग, जिनमें यादवगण भी सम्मिलित थे, विशेष पुण्य पाने के लिए कुरुक्षेत्र में एकत्र हुए। जब सारे यदुजन स्नान करके अन्य आवश्यक अनुष्ठान कर चुके, तो उन्होंने देखा कि मत्स्य, उशीनर तथा अन्य स्थानों के राजा भी आये हुए हैं। यही नहीं, कृष्ण के विरह से गहन चिन्ता का अनुभव करने वाले नन्द महाराज तथा व्रज के सारे ग्वाले भी आये हुए हैं। अपने इन पुराने मित्रों को देखकर, जब सारे यादवों ने अति प्रसन्न होकर एक-दूसरे का आलिंगन किया, तो प्रेम के अश्रु गिरने लगे। उनकी पत्नियों ने भी अत्यन्त हर्षपूर्वक एक-दूसरे का आलिंगन किया।

जब महारानी कुन्ती ने अपने भाई वसुदेव तथा अपने परिवार के अन्य सदस्यों को देखा, तो उनका शोक जाता रहा। फिर भी उन्होंने वसुदेव से कहा, ''हे भ्राता! मैं अत्यन्त अभागिनी हूँ, क्योंकि मेरे कष्ट के समय तुम सबों ने मुझे भुला दिया। हाय, जिस पर विधि विपरीत होता है, उसे उसके सम्बन्धी भी भूल जाते हैं।''

वसुदेव ने उत्तर दिया, ''हे बहिन! हर व्यक्ति विधाता की कठपुतली है। हम यादवों को कंस ने इतना सताया कि तितर-बितर होकर हमें पराये देशों में शरण लेनी पड़ी। अतएव तुम्हारे साथ सम्पर्क बनाये रखने का हमारे पास कोई साधन ही न रहा।''

वहाँ उपस्थित राजागण भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनकी पत्नियों को देखकर आश्चर्यचकित थे और वे यादवों की प्रशंसा इस बात के लिए करने लगे कि उन्हें भगवान् का सान्निध्य प्राप्त है। नन्द महाराज को देखकर सारे यादव फूले नहीं समाये और उन सबों ने उनका कस कर आलिंगन किया। वसुदेव ने भी बड़े हर्ष से नन्द का आलिंगन किया और स्मरण किया कि जब वे कंस द्वारा सताये जा रहे थे, तो नन्द ने उनके पुत्रों—कृष्ण तथा बलराम—को किस तरह अपने संरक्षण में रखा। बलराम तथा कृष्ण ने माता यशोदा का आलिंगन किया और उन्हें शीश नवाया, किन्तु भावातिरेक से उनके गले रुँध गये, जिससे वे कुछ बोल नहीं पाये। नन्द तथा यशोदा ने अपने दोनों पुत्रों को गोद में उठाकर उनका आलिंगन किया और इस तरह उन्होंने विरह-दुख से अपने को विमुक्त किया। रोहिणी तथा देवकी

दोनों ने यशोदा का आलिंगन किया और अपने प्रति दिखाई गई मित्रता का स्मरण करके उन्हें बतलाया कि कृष्ण तथा बलराम का पालन-पोषण करके उन्होंने जो अनुग्रह किया है, उसका बदला इन्द्र की सम्पत्ति द्वारा भी नहीं चुकाया जा सकता।

तत्पश्चात् भगवान् तरुण गोपियों से एकान्त स्थान में मिले। उन्होंने उन्हें यह कह कर सान्त्वना दी कि मैं समस्त शक्तियों का स्रोत होने से सर्वव्यापी हूँ। इस तरह उनके कहने का मन्तव्य था कि गोपियाँ उनसे कभी भी पृथक् नहीं हो सकतीं। बहुत काल बाद कृष्ण से पुन: मिलकर गोपियों ने इतनी ही प्रार्थना की कि उनके चरणकमल उनके हृदयों में प्रकट हों।

श्रीशुक उवाच
अथैकदा द्वारवत्यां वसतो रामकृष्णयोः ।
सूर्योपरागः सुमहानासीत्कल्पक्षये यथा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; **अथ**—तब; **एकदा**—एक बार; **द्वारवत्याम्**—द्वारका में; **वसतोः**—रहते हुए; **राम-कृष्णयोः**—बलराम तथा कृष्ण के; **सूर्य**—सूर्य का; **उपरागः**—ग्रहण; **सु-महान्**—अत्यन्त विशाल; **आसीत्**—था; **कल्प**—ब्रह्मा के एक दिन के; **क्षये**—अन्त होने पर; **यथा**—जिस तरह।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : एक बार जब बलराम तथा कृष्ण द्वारका में रह रहे थे, तो ऐसा विराट सूर्य-ग्रहण पड़ा मानो, भगवान् ब्रह्मा के दिन का अन्त हो गया हो।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इंगित करते हैं *अथ* तथा *एकदा* शब्द संस्कृत साहित्य में प्राय: नवीन कथा की शुरुआत करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। यहाँ ये शब्द विशेष रूप से सूचित करते हैं कि कुरुक्षेत्र में यदुओं तथा वृष्णियों का पुन: मिलाप क्रमबद्ध रूप में सुनाया जा रहा है।

श्रील सनातन गोस्वामी ने *वैष्णव तोषणी* टीका में बतलाया है कि इस बयासीवें अध्याय की घटनाएँ भगवान् बलदेव की व्रज-यात्रा (अध्याय ६५) के बाद तथा महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ (अध्याय ७) के पूर्व की हैं। आचार्य तर्क देते हैं कि ऐसा हो सकता है क्योंकि सूर्यग्रहण के समय सारे कुरुओं ने, जिनमें धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर, भीष्म तथा द्रोण सम्मिलित थे, श्रीकृष्ण से मित्र की तरह मिल कर उनकी संगति का प्रसन्नतापूर्वक लाभ उठाया हो। दूसरी ओर, राजसूय यज्ञ में दुर्योधन की पाण्डवों के प्रति जोर की ईर्ष्या भड़क उठी। इसी के तुरन्त बाद दुर्योधन ने युधिष्ठिर तथा उनके भाइयों को जुआ

खेलने के लिए आमंत्रित किया, जिसमें छल से उनका साम्राज्य लेकर उन्हें बनवास दे दिया। बनवास से पाण्डवों की वापसी के तुरन्त बाद ही कुरुक्षेत्र का महायुद्ध हुआ जिसमें भीष्म तथा द्रोण मारे गये। अतएव ऐसा किसी भी तर्क के अन्तर्गत सम्भव नहीं है कि कुरुक्षेत्र में सूर्य-ग्रहण राजसूय यज्ञ के बाद पड़ा हो।

तं ज्ञात्वा मनुजा राजन्पुरस्तादेव सर्वतः ।
समन्तपञ्चकं क्षेत्रं ययुः श्रेयोविधित्सया ॥ २॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; ज्ञात्वा—जान कर; मनुजाः—लोग; राजन्—हे राजा (परीक्षित); पुरस्तात्—पहले से; एव—भी; सर्वतः—सभी जगहों से; समन्त-पञ्चकम्—समन्तपंचक नामक (जो कुरुक्षेत्र जनपद के अन्तर्गत है); क्षेत्रम्—स्थान में; ययुः—गये; श्रेयः—लाभ; विधित्सया—उत्पन्न करने की इच्छा से।.

हे राजन्, पहले से इस ग्रहण के विषय में जानते हुए अनेक लोग पुण्य अर्जित करने की मंशा से समन्तपञ्चक नामक पवित्र स्थान में गये।

तात्पर्य : ५,००० वर्ष पूर्व के वैदिक ज्योतिर्विद सूर्य तथा चन्द्र-ग्रहणों की भविष्यवाणी उसी प्रकार कर सकते थे, जिस तरह हमारे आधुनिक ज्योतिर्विद करते हैं। किन्तु प्राचीन ज्योतिर्विदों का ज्ञान और भी आगे बढ़ा हुआ था, क्योंकि वे ऐसी घटनाओं के कर्मफल को समझते थे। सूर्य तथा चन्द्र-ग्रहण सामान्य रूप से, कतिपय अपवादों को छोड़कर, अत्यन्त अशुभ होते हैं। किन्तु जिस तरह अन्यथा अशुभ एकादशी भगवान् हरि के गुणगान करने से लाभप्रद बन जाती है, उसी तरह किसी ग्रहण का समय भी उपवास तथा पूजा के लिए उपयोगी है।

समन्तपञ्चक नामक पवित्र तीर्थस्थल कुरुक्षेत्र में स्थित है, जहाँ कुरु-राजाओं के पूर्वजों ने अनेक वैदिक यज्ञ सम्पन्न किये। इसलिए कुरुओं को विद्वान ब्राह्मणों ने सलाह दी थी कि ग्रहण के समय व्रत रखने के लिए यह सर्वोत्तम स्थान होगा। उनसे बहुत काल पूर्व परशुराम ने अपने द्वारा की गई हत्याओं का प्रायश्चित्त करने के लिए कुरुक्षेत्र में तपस्या की थी। उन्होंने वहाँ जो पाँच तालाब—समन्तपञ्चक—खोदे थे वे द्वापर युग के अन्त तक बने हुए थे और वे आज भी हैं।

निःक्षत्रियां महीं कुर्वन् रामः शस्त्रभृतां वरः ।
नृपाणां रुधिरौघेण यत्र चक्रे महाह्रदान् ।

ईजे च भगवान् रामो यत्रास्पृष्टोऽपि कर्मणा ॥ ३॥

लोकं सङ्ग्राहयन्नीशो यथान्योऽघापनुत्तये ।
महत्यां तीर्थयात्रायां तत्रागन् भारती: प्रजा: ॥ ॥

वृष्णयश्च तथाक्रूरवसुदेवाहुकादय: ।
ययुर्भारत तत्क्षेत्रं स्वमघं क्षपयिष्णव: ॥ ५॥

गदप्रद्युम्नसाम्बाद्या: सुचन्द्रशुकसारणै: ।
आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायां कृतवर्मा च यूथप: ॥ ६॥

शब्दार्थ

नि:क्षत्रियाम्—राजाओं से विहीन; महीम्—पृथ्वी को; कुर्वन्—करके; राम:—परशुराम ने; शस्त्र—हथियारों को; भृताम्—धारण करने वालों के; वर:—सबसे श्रेष्ठ; नृपाणाम्—राजाओं के; रुधिर—खून की; ओघेण—बाढ़ से; यत्र—जहाँ; चक्रे—बनाया; महा—विशाल; ह्रदान्—सरोवर, झीलें; ईजे—पूजा किया; च—तथा; भगवान्—भगवान्; राम:—परशुराम ने; यत्र—जहाँ; अस्पृष्ट:—अछूता; अपि—यद्यपि; कर्मणा—कर्म तथा उसके फल से; लोकम्—संसार को; सङ्ग्राहयन्—उपदेश देते हुए; ईश:—भगवान्; यथा—मानो; अन्य:—दूसरा व्यक्ति; अघ—पाप; अपनुत्तये—दूर करने के लिए; महत्याम्—विशाल; तीर्थ-यात्रायाम्—पवित्र तीर्थयात्रा के अवसर पर; तत्र—वहाँ; आगन्—आये; भारती:—भारतवर्ष के; प्रजा:—लोग; वृष्णय:—वृष्णि-जाति के सदस्य; च—तथा; तथा—भी; अक्रूर-वसुदेव-आहुक-आदय:—अक्रूर, वसुदेव, आहुक (उग्रसेन) तथा अन्य; ययु:—गये; भारत—हे भरतवंशी (परीक्षित); तत्—उस; क्षेत्रम्—पवित्र स्थान में; स्वम्—अपने अपने; अघम्—पापों को; क्षपयिष्णव:—उखाड़ फेंकने के इच्छुक; गद-प्रद्युम्न-साम्ब-आद्या:—गद, प्रद्युम्न, साम्ब इत्यादि; सुचन्द्र-शुक-सारणै:—सुचन्द्र, शुक तथा सारण के साथ; आस्ते—रहे; अनिरुद्ध:—अनिरुद्ध; रक्षायाम्—रक्षा करने के लिए; कृतवर्मा—कृतवर्मा; च—तथा; यूथ-प:—सेना-नायक।

पृथ्वी को राजाओं से विहीन करने के बाद योद्धाओं में सर्वोपरि भगवान् परशुराम ने समन्तपञ्चक में राजाओं के रक्त से विशाल सरोवरों की उत्पत्ति की। यद्यपि परशुराम पर कर्मफलों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था, फिर भी सामान्य जनता को शिक्षा देने के लिए उन्होंने वहाँ पर यज्ञ किया। इस तरह अपने को पापों से मुक्त करने के लिए उन्होंने सामान्य व्यक्ति जैसा आचरण किया। अब इस समन्तपञ्चक में तीर्थयात्रा के लिए भारतवर्ष के सभी भागों से बहुत बड़ी संख्या में लोग आये थे। हे भरतवंशी, इस तीर्थस्थल में आये हुए लोगों में अनेकवृष्णिजन—यथा गद, प्रद्युम्न तथा साम्ब—अपने-अपने पापों से छुटकारा पाने के लिए आये थे। अक्रूर, वसुदेव, आहुक तथा अन्य राजा भी वहाँ गये थे। द्वारका की रक्षा करने के लिए सुचन्द्र, शुक तथा सारण के साथ अनिरुद्ध एवं उन्हीं के साथ उनकी सशस्त्र सेनाओं के नायक कृतवर्मा भी रह गये थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार नगर की रक्षा करने के लिए श्रीकृष्ण का पौत्र अनिरुद्ध द्वारका में इसीलिए रह गया क्योंकि वह दिव्य-लोक श्वेत-द्वीप के रक्षक के रूप में भगवान् विष्णु का आदि रूप है।

ते रथैर्देवधिष्ण्याभैर्हयैश्च तरलप्लवैः ।
गजैर्नदद्भिरभ्राभैर्नृभिर्विद्याधरद्युभिः ॥ ७॥
व्यरोचन्त महातेजाः पथि काञ्चनमालिनः ।
दिव्यस्रग्वस्त्रसन्नाहाः कलत्रैः खेचरा इव ॥ ८॥

शब्दार्थ

ते—वे; रथैः—रथों (पर सवार सैनिकों) सहित; देव—देवताओं के; धिष्ण्य—विमानों; आभैः—के अनुरूप; हयैः—घोड़ों के साथ; च—तथा; तरल—लहरों (के समान); प्लवैः—जिसकी गति; गजैः—हाथियों के साथ; नदद्भिः—चिग्घाड़ करते; अभ्र—बादल; आभैः—के सदृश; नृभिः—तथा पैदल सिपाहियों के सहित; विद्याधर—विद्याधर देवताओं (जैसे); द्युभिः—तेज से; व्यरोचन्त—(यादव राजकुमार) तेजवान प्रतीत हो रहे थे; महा—अत्यन्त; तेजाः—शक्तिशाली; पथि—मार्ग पर; काञ्चन—सोने की; मालिनः—मालाएँ पहने; दिव्य—दैवी; स्रक्—फूलों की माला; वस्त्र—वस्त्र; सन्नाहाः—तथा कवच; कलत्रैः—अपनी पत्नियों के साथ; खे-चराः—आकाश में विचरण करने वाले देवताओं के; इव—समान।

बलशाली यदुगण बड़ी शान से मार्ग से होकर गुजरे। उनके साथ साथ उनके सैनिक थे, जो स्वर्ग के विमानों से होड़ लेने वाले रथों पर, ताल-ताल पर पग रख कर चल रहे घोड़ों पर तथा बादलों जैसे विशाल एवं चिंग्घाड़ते हाथियों पर सवार थे। उनके साथ दैवी विद्याधरों के ही समान तेजवान अनेक पैदल सिपाही भी थे। सोने के हारों तथा फूल की मालाओं से सज्जित एवं कवच धारण किये हुये यदुगण दैवी वेशभूषा में इस तरह शोभा दे रहे थे कि जब वे अपनी पत्नियों के साथ मार्ग पर आगे बढ़ रहे थे, तो ऐसा लग रहा था, मानो आकाश-मार्ग से होकर देवतागण उड़ रहे हों।

तत्र स्नात्वा महाभागा उपोष्य सुसमाहिताः ।
ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूर्वासःस्रग्रुक्ममालिनीः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; स्नात्वा—स्नान करके; महा-भागाः—परम पुण्यात्मा (यादवगण); उपोष्य—उपवास करके; सु-समाहिताः—बड़े ही ध्यानपूर्वक; ब्राह्मणेभ्यः—ब्राह्मणों को; ददुः—दान दिया; धेनूः—गौवें; वासः—वस्त्र; स्रक्—फूल-मालाओं; रुक्म—सोने की; मालिनीः—तथा मालाओं से युक्त।

समन्तपञ्चक में सन्त स्वभाव वाले उन यादवों ने स्नान किया और फिर अत्यन्त सावधानी के साथ उपवास रखा। तत्पश्चात् उन्होंने ब्राह्मणों को वस्त्रों, फूल-मालाओं तथा सोने के हारों से सज्जित गौवें दान में दीं।

रामह्रदेषु विधिवत्पुनराप्लुत्य वृष्णयः ।
ददः स्वन्नं द्विजाछ्येभ्यः कृष्णे नो भक्तिरस्त्विति ॥ ॥

शब्दार्थ

राम—परशुराम के; ह्रदेषु—सरोवरों में; विधि-वत्—शास्त्रीय आदेशों के अनुसार; पुनः—फिर; आप्लुत्य—स्नान करके; वृष्णयः—वृष्णिजनों ने; ददुः—दान दिया; सु—सुन्दर; अन्नम्—भोजन; द्विज—ब्राह्मणों को; अछयेभ्यः—सर्वोत्तम; कृष्णे—कृष्ण के प्रति; नः—हमारी; भक्तिः—भक्ति; अस्तु—हो; इति—इस प्रकार।

तत्पश्चात् वृष्णिवंशियों ने शास्त्रीय आदेशों के अनुसार एक बार फिर परशुराम के सरोवरों में स्नान किया और उत्तम कोटि के ब्राह्मणों को अच्छा भोजन कराया। उन्होंने उस समय यही प्रार्थना की, ''हमें भगवान् कृष्ण की भक्ति प्राप्त हो।''

तात्पर्य : यह द्वितीय स्नान अगले दिन उनके उपवास की समाप्ति का द्योतक है।

स्वयं च तदनुज्ञाता वृष्णयः कृष्णदेवताः ।
भुक्त्वोपविविशुः कामं स्निग्धच्छायाङ्घ्रिपाङ्घ्रिषु ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

स्वयम्—अपने से; च—तथा; तत्—उनके (कृष्ण) द्वारा; अनुज्ञाताः—अनुमति दिये गये; वृष्णयः—वृष्णियों ने; कृष्ण—भगवान् कृष्ण; देवताः—एकमात्र देव; भुक्त्वा—खाकर; उपविविशुः—बैठ गये; कामम्—इच्छानुसार; स्निग्ध—शीतल; छाया—छाया वाले; अङ्घ्रिप—वृक्षों के; अङ्घ्रिषु—पैरों पर, नीचे।

फिर अपने एकमात्र आराध्यदेव भगवान् कृष्ण की अनुमति से वृष्णियों ने कलेवा किया और फुरसत में होने पर शीतल छाया प्रदान करने वाले वृक्षों के नीचे बैठ गये।

तत्रागतांस्ते ददृशुः सुहृत्सम्बन्धिनो नृपान् ।
मत्स्योशीनरकौशल्यविदर्भकुरुसृञ्जयान् ।
काम्बोजकैकयान्मद्रान्कुन्तीनानर्तकेरलान् ॥ १२ ॥
अन्यांश्चैवात्मपक्षीयान्परांश्च शतशो नृप ।
नन्दादीन्सुहृदो गोपान्गोपीश्चोत्कण्ठिताश्चिरम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; आगतान्—आये हुए; ते—उन्होंने (यादवों ने); ददृशुः—देखा; सुहृत्—मित्रों; सम्बन्धिनः—तथा सम्बन्धीजनों; नृपान्—राजाओं को; मत्स्य-उशीनर-कौशल्य-विदर्भ-कुरु-सृञ्जयान्—मत्स्यों, उशीनरों, कौशलों, विदर्भों, कुरुओं तथा सृञ्जयों को; काम्बोज-कैकयान्—काम्बोजों तथा कैकयों को; मद्रान्—मद्रों को; कुन्तीन्—कुन्तियों को; आनर्त-केरलान्—आनर्तों तथा केरलों को; अन्यान्—अन्यों को; च एव—भी; आत्म-पक्षीयान्—अपनी टोली वालों; परान्—विपक्षियों को; च—तथा; शतशः—सैकड़ों; नृप—हे राजा (परीक्षित); नन्द-आदीन्—नन्द महाराज इत्यादि; सुहृदः—उनके प्रिय मित्र; गोपान्—ग्वालों को; गोपीः—गोपियों को; च—तथा; उत्कण्ठिताः—चिन्तित; चिरम्—दीर्घकाल से।

यादवों ने देखा कि वहाँ पर आये अनेक राजा उनके पुराने मित्र तथा सम्बन्धी—मत्स्य, उशीनर, कौशल्य, विदर्भ, कुरु, सृञ्जय, काम्बोज, कैकय, मद्र, कुन्ती तथा आनर्त एवं केरल देशों के राजा थे। उन्होंने अन्य सैकड़ों राजाओं को भी देखा, जो स्वपक्षी तथा विपक्षी दोनों ही थे। इसके अतिरिक्त हे राजा परीक्षित, उन्होंने अपने प्रिय मित्रों, नन्द महाराज तथा ग्वालों और

गोपियों को देखा, जो दीर्घकाल से चिन्तित होने के कारण दुखी थे।

अन्योन्यसन्दर्शनहर्षरंहसा
प्रोत्फुल्लहृद्वक्त्रसरोरुहश्रिय: ।
आश्लिष्य गाढं नयनै: स्त्रवज्जला
हृष्यत्त्वचो रुद्धगिरो ययुर्मुदम् ॥ १॥

शब्दार्थ

अन्योन्य—एक-दूसरे के; सन्दर्शन—देखने से; हर्ष—हर्ष के; रंहसा—आवेग से; प्रोत्फुल्ल—विकसित, प्रफुल्लित; हृत्—अपने हृदयों; वक्त्र—तथा मुखों के; सरोरुह—कमलों के; श्रिय:—सौन्दर्य वाले; आश्लिष्य—आलिंगन करके; गाढम्—खूब तेजी से; नयनै:—आँखों से; स्त्रवत्—गिराते हुए; जला:—जल (अश्रु); हृष्यत्—रोमांचित; त्वच:—चमड़ी; रुद्ध—रुँधी हुई; गिर:—वाणी; ययु:—अनुभव किया; मुदम्—हर्ष, प्रसन्नता।

जब एक-दूसरे को देखने की अत्याधिक हर्ष से उनके हृदय तथा मुखकमल नवीन सौन्दर्य से खिल उठे, तो पुरुषों ने एक-दूसरे का उल्लासपूर्वक आलिंगन किया। अपने नेत्रों से अश्रु गिराते हुए, रोमांचित शरीर वाले तथा रुँधी वाणी से उन्होंने उत्कट आनन्द का अनुभव किया।

स्त्रियश्च संवीक्ष्य मिथोऽतिसौहृद-
स्मितामलापाङ्गदृशोऽभिरेभिरे ।
स्तनै: स्तनान्कुङ्कुमपङ्करूषितान्
निहत्य दोर्भि: प्रणयाश्रुलोचना: ॥ १५॥

शब्दार्थ

स्त्रिय:—स्त्रियाँ; च—तथा; संवीक्ष्य—देखकर; मिथ:—परस्पर; अति—अत्यन्त; सौहृद—मित्रवत् स्नेह के साथ; स्मित—मुसकाते हुए; अमल—निर्मल; अपाङ्ग—तिरछी नजर, चितवन; दृश:—आँखों वाली; अभिरेभिरे—आलिंगन किया; स्तनै:—स्तनों से; स्तनान्—स्तनों को; कुङ्कुम—केसर के; पङ्क—लेप से; रूषितान्—लेपित; निहत्य—दबाकर; दोर्भि:—अपनी बाहुओं से; प्रणय—प्रेम के; अश्रु—आँसुओं से पूर्ण; लोचना:—आँखें।

स्त्रियों ने प्रेममयी मैत्री की शुद्ध मुसकानों से एक-दूसरे को निहारा। और जब उन्होंने आलिंगन किया, तो केसर के लेप से लेपित उनके स्तन एक-दूसरे के जोर से दब गये और उनके नेत्रों में स्नेह के आँसू भर आये।

ततोऽभिवाद्य ते वृद्धान्यविष्ठैरभिवादिता: ।
स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा चक्रु: कृष्णकथा मिथ: ॥ १६॥

शब्दार्थ

तत:—तब; अभिवाद्य—नमस्कार करके; ते—वे; वृद्धान्—अपने वरिष्ठजनों को; यविष्ठै:—अपने से छोटे सम्बन्धियों के द्वारा; अभिवादिता:—अभिवादन की गई; सु-आगतम्—सुखपूर्वक आगमन; कुशलम्—तथा कुशल-क्षेम; पृष्ट्वा—पूछ कर; चक्रु:—किया; कृष्ण—कृष्ण के बारे में; कथा:—वार्ता; मिथ:—परस्पर।

तब उन सबों ने अपने वरिष्ठजनों को नमस्कार किया और अपने से छोटे सम्बन्धियों से आदर प्राप्त किया। एक-दूसरे से यात्रा की सुख-सुविधा एवं कुशल-क्षेम पूछने के बाद, वे कृष्ण के विषय में बातें करने लगीं।

तात्पर्य : ये वैष्णवों के विशेष आचार-विचार हैं। सामान्य बद्धजीवों को भ्रमित करने वाली पारिवारिक झंझटें उन लोगों को उलझन में नहीं डालतीं, जिनके परिवार वाले शुद्ध भगवद्भक्त होते हैं। निर्विशेषवादियों में इन घनिष्ठ व्यवहारों को समझने की क्षमता नहीं पाई जाती, क्योंकि उनका दर्शन किसी प्रकार के वैयक्तिक भावात्मक जगत को मायामय कह कर त्याज्य समझता है। जब निर्विशेषवाद के अनुयायी कृष्ण तथा उनके भक्तों के प्रेमपूर्ण सम्बन्धों को समझने का बहाना बनाते हैं, तो वे न केवल अपने लिए अपितु सुनने वालों के लिए भी विनाश की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं।

पृथा भ्रातॄन्स्वसॄर्वीक्ष्य तत्पुत्रान्पितरावपि ।
भ्रातृपत्नीर्मुकुन्दं च जहौ सङ्कथया शुचः ॥ १७॥

शब्दार्थ

पृथा—कुन्ती; भ्रातॄन्—अपने भाइयों को; स्वसॄः—तथा बहनों को; वीक्ष्य—देखकर; तत्—उनके; पुत्रान्—पुत्रों को; पितरौ—अपने माता-पिता को; अपि—भी; भ्रातृ—अपने भाइयों की; पत्नीः—पत्नियों; मुकुन्दम्—भगवान् कृष्ण को; च—भी; जहौ—त्याग दिया; सङ्कथया—बातें करते हुए; शुचः—अपना शोक।

महारानी कुन्ती अपने भाइयों तथा बहनों और उनके बच्चों से मिलीं। वे अपने माता-पिता, अपने भाइयों की पत्नियों (भाभियों) तथा भगवान् मुकुन्द से भी मिलीं। उनसे बातें करती हुईं वे अपना शोक भूल गईं।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त की निरन्तर चिन्ता भी, जो निर्विशेषवादियों की *शान्ति* से सर्वथा विपरीत होती है, भगवत्प्रेम की सुन्दर अभिव्यक्ति बन सकती है, जैसाकि पाण्डवों की माता तथा कृष्ण की बुआ श्रीमती कुन्तीदेवी के उदाहरण में देखी जाती है।

कुन्त्युवाच
आर्य भ्रातरहं मन्ये आत्मानमकृताशिषम् ।
यद्वा आपत्सु मद्वार्तां नानुस्मरथ सत्तमाः ॥ १८॥

शब्दार्थ

कुन्ती उवाच—महारानी कुन्ती ने कहा; आर्य—हे आदरणीय; भ्रातः—भाई; अहम्—मैं; मन्ये—सोचती हूँ; आत्मानम्—अपने को; अकृत—प्राप्त करने में असफल; आशिषम्—इच्छाएँ; यत्—चूँकि; वै—निस्सन्देह; आपत्सु—संकट के समय; मत्—मुझको; वार्ताम्—जो घटित हुआ; न अनुस्मरथ—तुम लोग स्मरण नहीं करते; सत्-तमाः—सर्वाधिक साधु स्वभाव वाले।

महारानी कुन्ती ने कहा : हे मेरे सम्माननीय भाई, मैं अनुभव करती हूँ कि मेरी इच्छाएँ विफल रही हैं, क्योंकि यद्यपि आप सभी अत्यन्त साधु स्वभाव वाले हो, किन्तु मेरी विपदाओं के दिनों में आपने मुझे भुला दिया।

तात्पर्य : यहाँ महारानी कुन्ती अपने भाई वसुदेव को सम्बोधित कर रही हैं।

सुहृदो ज्ञातयः पुत्रा भ्रातरः पितरावपि ।
नानुस्मरन्ति स्वजनं यस्य दैवमदक्षिणम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सुहृदः—मित्रगण; ज्ञातयः—तथा सम्बन्धी; पुत्राः—पुत्र; भ्रातरः—भाई; पितरौ—माता-पिता; अपि—भी; न अनुस्मरन्ति—स्मरण नहीं करते; स्व-जनम्—प्रियजन; यस्य—जिसका; दैवम्—विधाता; अदक्षिणम्—प्रतिकूल।

जिस पर विधाता अनुकूल नहीं रहता, उसके मित्र तथा परिवार वाले, यहाँ तक कि बच्चे, भाई तथा माता-पिता भी अपने प्रियजन को भूल जाते हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर दोनों ने ही टीका दी हैं कि कुन्ती अपने कष्ट के लिए अपने सम्बन्धियों को दोष नहीं देतीं। वे उन्हें अत्यन्त साधु स्वभाव वाला कहती हैं। वे अपने दुख के कारण के लिए अपने दुर्भाग्य को कोसती हैं।

श्रीवसुदेव उवाच
अम्ब मास्मानसूयेथा दैवक्रीडनकान्नरान् ।
ईशस्य हि वशे लोकः कुरुते कार्यतेऽथ वा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-वसुदेवः उवाच—श्री वसुदेव ने कहा; अम्ब—हे बहन; मा—मत; अस्मान्—हमसे; असूयेथाः—क्रुद्ध होओ; दैव—भाग्य के; क्रीडनकान्—खिलौनों; नरान्—मनुष्यों को; ईशस्य—भगवान् के; हि—निस्सन्देह; वशे—अधीन; लोकः—व्यक्ति; कुरुते—अपने मन से करता है; कार्यते—औरों के द्वारा कराया जाता है; अथ वा—या फिर।

श्री वसुदेव ने कहा : हे बहन, तुम हम पर नाराज न होओ। हम सामान्य व्यक्ति भाग्य के खिलौने हैं। निस्सन्देह, मनुष्य चाहे अपने आप कार्य करे या अन्यों द्वारा करने को बाध्य किया जाय, वह सदैव भगवान् के नियंत्रण में रहता है।

कंसप्रतापिताः सर्वे वयं याता दिशं दिशम् ।

एतर्ह्येव पुनः स्थानं दैवेनासादिताः स्वसः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कंस—कंस द्वारा; प्रतापिताः—खूब सताये गये; सर्वे—सभी; वयम्—हम; याताः—भाग गये; दिशम् दिशम्—विभिन्न दिशाओं में; एतर्हि एव—अभी अभी; पुनः—फिर; स्थानम्—अपने अपने स्थानों को; दैवेन—विधाता द्वारा; आसादिताः—लाये गये; स्वसः—हे बहन।

हे बहन, कंस द्वारा सताये हुए हम विभिन्न दिशाओं में भाग गये थे, किन्तु विधाता की कृपा से अन्ततोगत्वा हम अब अपने अपने घरों में लौट सके हैं।

श्रीशुक उवाच
वसुदेवोग्रसेनाद्यैर्यदुभिस्तेऽर्चिता नृपाः ।
आसन्नच्युतसन्दर्शपरमानन्दनिर्वृताः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; वसुदेव-उग्रसेन-आद्यैः—वसुदेव, उग्रसेन इत्यादि; यदुभिः—यादवों द्वारा; ते—वे; अर्चिताः—सम्मानित; नृपाः—राजागण; आसन्—हो गये; अच्युत—भगवान् कृष्ण के; सन्दर्श—दर्शन से; परम—परम; आनन्द—आनन्द में; निर्वृताः—शान्त।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : वसुदेव, उग्रसेन तथा अन्य यदुओं ने उन विविध राजाओं का सम्मान किया, जो भगवान् अच्युत को देखकर अत्यधिक आनन्द विभोर और संतुष्ट हो गये।

भीष्मो द्रोणोऽम्बिकापुत्रो गान्धारी ससुता तथा ।
सदाराः पाण्डवाः कुन्ती सञ्जयो विदुरः कृपः ॥ २३ ॥
कुन्तीभोजो विराटश्च भीष्मको नग्नजिन्महान् ।
पुरुजिद्द्रुपदः शल्यो धृष्टकेतुः स काशिराट् ॥ २ ॥
दमघोषो विशालाक्षो मैथिलो मद्रकेकयौ ।
युधामन्युः सुशर्मा च ससुता बाह्लिकादयः ॥ २५ ॥
राजानो ये च राजेन्द्र युधिष्ठिरमनुव्रताः ।
श्रीनिकेतं वपुः शौरेः सस्त्रीकं वीक्ष्य विस्मिताः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

भीष्मः द्रोणः अम्बिका-पुत्रः—भीष्म, द्रोण तथा अम्बिका के पुत्र (धृतराष्ट्र); गान्धारी—गान्धारी; स—सहित; सुताः—उसके पुत्र; तथा—भी; स-दाराः—पत्नियों सहित; पाण्डवाः—पाण्डु-पुत्र; कुन्ती—कुन्ती; सञ्जयः विदुरः कृपः—संजय, विदुर तथा कृप; कुन्तीभोजः विराटः च—कुन्तीभोज तथा विराट; भीष्मकः—भीष्मक; नग्नजित्—नग्नजित; महान्—महान्; पुरुजित् द्रुपदः शल्यः—पुरुजित, द्रुपद तथा शल्य; धृष्टकेतुः—धृष्टकेतु; सः—वह; काशि-राट्—काशी का राजा; दमघोषः विशालाक्षः—दमघोष तथा विशालाक्ष; मैथिलः—मिथिलाराज; मद्र-केकयौ—मद्र तथा केकय के राजा; युधामन्युः सुशर्मा च—युधामन्यु तथा सुशर्मा; स-सुताः—अपने पुत्रों समेत; बाह्लिक-आदयः—बाह्लिक तथा अन्य; राजानः—राजागण; ये—जो; च—तथा; राज-इन्द्र—हे राजाओं में श्रेष्ठ (परीक्षित); युधिष्ठिरम्—युधिष्ठिर को; अनुव्रताः—अनुसरण करते हुए; श्री—ऐश्वर्य तथा सौन्दर्य के; निकेतम्—धाम; वपुः—शरीर; शौरेः—भगवान् कृष्ण का; स-स्तृईकम्—पत्नियों सहित; वीक्ष्य—देखकर; विस्मिताः—चकित।

हे राजाओं में श्रेष्ठ परिक्षित, भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र, गान्धारी तथा उनके पुत्र, पाण्डव तथा

उनकी पत्नियाँ, कुन्ती, सञ्जय, विदुर, कृपाचार्य, कुन्तीभोज, विराट, भीष्मक, महान् नग्नजित, पुरुजित, द्रुपद, शल्य, धृष्टकेतु, काशिराज, दमघोष, विशालाक्ष, मैथिल, मद्र, केकय, युधामन्यु, सुशर्मा, बाह्लिक तथा उसके संगी और उन सबों के पुत्र एवं महाराज युधिष्ठिर के अधीन अन्य अनेक राजा—ये सारे के सारे अपने समक्ष समस्त ऐश्वर्य तथा सौन्दर्य के धाम अपनी पत्नियों के साथ खड़े भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य रूप को देखकर चकित हो गये।

तात्पर्य : ये सारे राजा अब युधिष्ठिर के अनुयायी थे, क्योंकि राजसूय यज्ञ करने के विशेषाधिकार से वे इन सबों को अधीन बना चुके थे। वैदिक आदेश के अनुसार जो क्षत्रिय स्वर्ग जाने के लिए राजसूय यज्ञ करना चाहता है, उसे स्वतंत्र विचरण करने के लिए एक ''विजय अश्व'' छोड़ना पड़ता है। जिस किसी राजा के राज्य में यह घोड़ा प्रवेश करता है, उसे या तो स्वेच्छा से अधीनता स्वीकार करनी होती है या फिर उस क्षत्रिय से या उसके प्रतिनिधियों से युद्ध करना होता है।

अथ ते रामकृष्णाभ्यां सम्यक्प्राप्तसमर्हणाः ।
प्रशशंसुर्मुदा युक्ता वृष्णीन्कृष्णपरिग्रहान् ॥ २७॥

शब्दार्थ

अथ—तब; ते—वे, उन्होंने; राम-कृष्णाभ्याम्—बलराम तथा कृष्ण द्वारा; सम्यक्—भलीभाँति; प्राप्त—पाकर के; समर्हणाः—उचित सम्मान; प्रशशंसुः—प्रशंसा की; मुदा—हर्ष से; युक्ताः—पूर्ण; वृष्णीन्—वृष्णियों को; कृष्ण—कृष्ण के; परिग्रहान्—निजी संगियों को।

जब बलराम तथा कृष्ण उदारतापूर्वक उनका आदर कर चुके, तो ये राजा अतीव प्रसन्नता एवं उत्साह के साथ श्रीकृष्ण के निजी संगियों की प्रशंसा करने लगे, जो वृष्णि-कुल के सदस्य थे।

अहो भोजपते यूयं जन्मभाजो नृणामिह ।
यत्पश्यथासकृत्कृष्णं दुर्दर्शमपि योगिनाम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; भोज-पते—हे भोजों के स्वामी, उग्रसेन; यूयम्—तुम; जन्म-भाजः—सफल जीवन पाकर; नृणाम्—मनुष्यों के बीच; इह—इस संसार में; यत्—क्योंकि; पश्यथ—देखते हो; असकृत्—बारम्बार; कृष्णम्—कृष्ण को; दुर्दर्शम्—विरले ही देखे जाने वाले; अपि—भी; योगिनाम्—योगियों द्वारा।

[राजाओं ने कहा] : हे भोजराज, आप ही एकमात्र ऐसे हैं, जिन्होंने मनुष्यों में सचमुच उच्च जन्म प्राप्त किया है, क्योंकि आप भगवान् श्रीकृष्ण को निरन्तर देखते हैं, जो बड़े से बड़े

योगियों को भी विरले ही दिखते हैं।

यद्विश्रुतिः श्रुतिनुतेदमलं पुनाति
पादावनेजनपयश्च वचश्च शास्त्रम् ।
भूः कालभर्जितभगापि यदङ्घ्रिपद्म-
स्पर्शोत्थशक्तिरभिवर्षति नोऽखिलार्थान् ॥ २९ ॥

तद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्प-
शय्यासनाशनसयौनसपिण्डबन्धः ।
येषां गृहे निरयवर्त्मनि वर्ततां वः
स्वर्गापवर्गविरमः स्वयमास विष्णुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसका; विश्रुतिः—यश; श्रुति—वेदों द्वारा; नुता—गुँजाया; इदम्—इस (ब्रह्माण्ड) को; अलम्—पूरी तरह; पुनाति—पवित्र बनाता है; पाद—जिसके चरणों का; अवनेजन—प्रक्षालन; पयः—जल; च—तथा; वचः—शब्द; च—तथा; शास्त्रम्—शास्त्रों को; भूः—पृथ्वी; काल—समय द्वारा; भर्जित—विनष्ट; भगा—जिसका सौभाग्य; अपि—भी; यत्—जिसके; अङ्घ्रि—पैरों के; पद्म—कमल-सदृश; स्पर्श—छूने से; उत्थ—जागृत; शक्तिः—जिसकी शक्ति; अभिवर्षति—प्रचुर वर्षा करती है; नः—हम पर; अखिल—समस्त; अर्थान्—वांछित वस्तुएँ; तत्—उसके; दर्शन—देखने; स्पर्शन—छूने; अनुपथ—साथ-साथ चलने; प्रजल्प—बातचीत करने; शय्या—विश्राम करने के लिए लेट जाना; आसन—बैठना; अशन—भोजन करना; स-यौन—वैवाहिक सम्बन्धों में; स-पिण्ड—तथा रक्त के सम्बन्ध में; बन्धः—सम्बन्ध; येषाम्—जिनके; गृहे—गृहस्थ-जीवन में; निरय—नरक के; वर्त्मनि—मार्ग पर; वर्तताम्—चलने वाले; वः—तुम्हारे; स्वर्ग—स्वर्ग (प्राप्त करने की इच्छा के); अपवर्ग—तथा मोक्ष; विरमः—विराम (का कारण); स्वयम्—स्वयं; आस—उपस्थित था; विष्णुः—भगवान् विष्णु।

वेदों द्वारा प्रसारित उनका यश, उनके चरणों को प्रक्षलित करने वाला जल और शास्त्रों के रूप में उनके द्वारा कहे गये शब्द—ये सभी इस ब्रह्माण्ड को पूरी तरह शुद्ध करने वाले हैं। यद्यपि काल के द्वारा पृथ्वी का सौभाग्य नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था, किन्तु उनके चरणकमलों के स्पर्श से उसे पुनः जीवनदान मिला है, अतः पृथ्वी हमारी समस्त इच्छाओं की पूर्ति की वर्षा हम पर कर रही है। जो विष्णु स्वर्ग तथा मोक्ष के लक्ष्यों को भुलवा देते हैं, वे आपके साथ वैवाहिक और रक्त सम्बन्ध स्थापित कर चुके हैं, अन्यथा आप लोग गृहस्थ-जीवन के नारकीय पथ पर विचरण करते हैं। निस्सन्देह ऐसे सम्बन्ध होने से आप लोग उन्हें देखते हैं, उनका स्पर्श करते हैं, उनके साथ चलते हैं, उनसे बातें करते हैं, उनके साथ लेट कर आराम करते हैं, उठते-बैठते हैं और भोजन करते हैं।

तात्पर्य : समस्त वैदिक मंत्र भगवान् विष्णु की महिमा का बखान करते हैं। इस सत्य की पुष्टि विद्वान आचार्यों ने विफुल साक्ष्य द्वारा की है—यथा रामानुज ने *वेदार्थ संग्रह* तथा मध्व ने *ऋग्वेद भाष्य* द्वारा की है। भगवान् विष्णु जिन शब्दों को कहते हैं यथा *भगवद्गीता,* वे समस्त शास्त्रों के गुह्य सार

होते हैं। व्यासदेव के रूप में भगवान् ने *वेदान्त सूत्र* तथा *महाभारत* की रचना की और इस *महाभारत* में श्रीकृष्ण के निजी वाक्य हैं—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्।* ''समस्त वेदों के द्वारा मैं जाना जा सकता हूँ। निस्सन्देह मैं वेदान्त का संकलनकर्ता हूँ और वेदों का जानने वाला हूँ।'' (*भगवद्गीता* १५.१५)

जब भगवान् विष्णु बलि महाराज के समक्ष तीन पग भूमि माँगने के लिए प्रकट हुए तो भगवान् का दूसरा पग ब्रह्माण्ड के आवरण में धँस गया। इससे ब्रह्माण्ड के बाहर स्थित दिव्य विरजा नदी का जल भीतर चला आया जो भगवान् वामन के पाँव का प्रक्षालन करके गंगा नदी के रूप में बहने लगा। अपनी पावन उत्पत्ति के कारण ही गंगा सामान्यतया सर्वाधिक पवित्र नदी मानी जाती है। किन्तु इससे भी शक्तिशाली यमुना का जल है, जिसमें भगवान् विष्णु ने अपना आदि-रूप गोविन्द धारण करके अपने घनिष्ठ संगियों के साथ क्रीड़ा की।

इन दो श्लोकों में वहाँ एकत्रित राजा भगवान् कृष्ण के यदुकुल की विशेषताओं की प्रशंसा कर रहे हैं। वे न केवल कृष्ण का दर्शन पाते हैं, अपितु वैवाहिक तथा रक्त सम्बन्ध के द्विविध बन्धनों से उनसे सीधे तौर पर जुड़े हुए हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती सुझाव रखते हैं कि *बन्ध* शब्द अधिक स्पष्ट अर्थ ''सम्बन्ध'' के अतिरिक्त ''पकड़ना'' अर्थ भी देता है, जिससे व्यक्त होता है कि यदुओं में भगवान् के प्रति जो प्रेम है, उससे बँधे रहकर वे सदैव उनके साथ रहते हैं।

श्रीशुक उवाच
नन्दस्तत्र यदून्प्राप्ताञ्ज्ञात्वा कृष्णपुरोगमान् ।
तत्रागमद्वृतो गोपैरनःस्थार्थैर्दिदृक्षया ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; नन्दः—नन्द महाराज; तत्र—वहाँ; यदून्—यदुओं को; प्राप्तान्—आये हुए; ज्ञात्वा—पाकर; कृष्ण—कृष्ण; पुरः-गमान्—आगे करके; तत्र—वहाँ; अगमत्—गये; वृतः—साथ साथ; गोपैः—ग्वालों के द्वारा; अनः—अपनी अपनी बैलगाड़ियों पर; स्थ—रखी; अर्थैः—सामग्री से; दिदृक्षया—जानने की इच्छा से।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब नन्द महाराज को ज्ञात हुआ कि कृष्ण के नेतृत्व में यदुगण आ चुके हैं, तो वे तुरन्त उनसे भेंट करने गये। सारे ग्वाले अपनी अपनी बैलगाड़ियों में विविध वस्तुएँ लाद कर उनके साथ हो लिए।

तात्पर्य : व्रज के ग्वाले कुरुक्षेत्र में कुछ दिन रुकने की योजना बना रहे थे, इसलिए वे पर्याप्त

सामग्री से साथ लेकर—विशेष रूप से कृष्ण तथा बलराम की रुचि की दूध की बनी तथा अन्य प्रकार की खाद्य वस्तुएँ लेकर—आये थे।

तं दृष्ट्वा वृष्णयो हृष्टास्तन्वः प्राणमिवोत्थिताः ।
परिषस्वजिरे गाढं चिरदर्शनकातराः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको, नन्द को; दृष्ट्वा—देखकर; वृष्णयः—वृष्णिजन; हृष्टाः—प्रसन्न; तन्वः—सजीव शरीर; प्राणम्—प्राण; इव—मानो; उत्थिताः—उठ कर; परिषश्वजिरे—उनका आलिंगन किया; गाढम्—दृढ़ता से; चिर—दीर्घकाल के बाद; दर्शन—देखने से; कातराः—क्षुब्ध।

नन्द को देखकर सारे वृष्णि प्रसन्न हो उठे और इस तरह खड़े हो गये, मानो मृत शरीरों में फिर से प्राण संचार हो गया हो। दीर्घकाल से न देखने के कारण अधिक कष्ट का अनुभव करते हुए, उन्होंने नन्द प्रगाढ़ आलिंगन किया।

वसुदेवः परिष्वज्य सम्प्रीतः प्रेमविह्वलः ।
स्मरन्कंसकृतान्क्लेशान्पुत्रन्यासं च गोकुले ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

वसुदेवः—वसुदेव; परिष्वज्य—(नन्द महाराज का) आलिंगन करके; सम्प्रीतः—अत्यधिक प्रसन्न; प्रेम—प्रेम के कारण; विह्वलः—अपने आप में न रहना; स्मरन्—स्मरण करते हुए; कंस-कृतान्—कंस द्वारा उत्पन्न; क्लेशान्—कष्टों को; पुत्र—अपने पुत्रों की; न्यासम्—विदाई; च—तथा; गोकुले—गोकुल में।

वसुदेव ने बड़े ही हर्ष से नन्द महाराज का आलिंगन किया। प्रेमविह्वल होकर वसुदेव ने कंस द्वारा पहुँचाए गये कष्टों का स्मरण किया, जिसके कारण उन्हें अपने पुत्रों को उनकी रक्षा के लिए गोकुल में छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा।

कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरावभिवाद्य च ।
न किञ्चनोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण-रामौ—कृष्ण तथा बलराम; परिष्वज्य—आलिंगन करके; पितरौ—अपने माता-पिता को; अभिवाद्य—अभिवादन करके; च—तथा; न किञ्चन—कुछ नहीं; ऊचतुः—कहा; प्रेम्णा—प्रेमवश; स-अश्रु—आँसुओं से पूर्ण; कण्ठौ—जिनके कण्ठ हैं; कुरु-उद्वह—हे कुरुओं में सर्वाधिक वीर।

हे कुरुओं के वीर, कृष्ण तथा बलराम ने अपने पोषक माता-पिता का आलिंगन किया और उनको नमन किया, लेकिन प्रेमाश्रुओं से उनके गले इतने रुंध गये थे कि वे दोनों कुछ भी नहीं कह पाये।

तात्पर्य : दीर्घकालीन विछोह के बाद आज्ञाकारी बालक को सर्वप्रथम अपने माता-पिता का अभिवादन करना चाहिए। किन्तु नन्द तथा यशोदा ने अपने पुत्रों को इसका अवसर ही नहीं प्रदान किया, क्योंकि ज्योंही उन्होंने अपने पुत्रों को देखा, उन्होंने उनका आलिंगन किया। उसके बाद ही कृष्ण तथा बलराम उन्हें अपना उचित अभिवादन प्रदान कर सके।

तावात्मासनमारोप्य बाहुभ्यां परिरभ्य च ।
यशोदा च महाभागा सुतौ विजहतुः शुचः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तौ—वे दोनों; आत्म-आसनम्—अपनी गोदों में; आरोप्य—उठाकर; बाहुभ्याम्—अपनी बाहुओं से; परिरभ्य—आलिंगन करके; च—तथा; यशोदा—माता यशोदा; च—भी; महा-भागा—सन्त स्वभाव वाली; सुतौ—अपने पुत्रों को; विजहतुः—त्याग दिया; शुचः—अपना शोक।

अपने दोनों पुत्रों को अपनी गोद में उठाकर और अपनी बाहुओं में भर कर, नन्द तथा सन्त स्वभाव वाली माता यशोदा अपना शोक भूल गये।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि प्रारम्भिक आलिंगन तथा नमस्कार के बाद वसुदेव नन्द तथा यशोदा को अपने डेरे में ले गये। ये कृष्ण तथा बलराम का हाथ पकड़े थे। उनके पीछे पीछे अन्दर जाने वाली रोहिणी, व्रज की अन्य स्त्रियाँ तथा पुरुष एवं अनेक दास थे। भीतर जाकर नन्द तथा यशोदा ने दोनों बालकों को अपनी गोद में ले लिया। द्वारका के दोनों प्रभुओं के यशोगान सुनने के बावजूद तथा अब अपनी आँखों से इन ऐश्वर्यों को देख कर नन्द तथा यशोदा उन्हें अब भी आठ वर्ष के बालक ही समझ रहे थे।

रोहिणी देवकी चाथ परिष्वज्य व्रजेश्वरीम् ।
स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

रोहिणी—रोहिणी; देवकी—देवकी; च—और; अथ—तब; परिष्वज्य—आलिंगन करके; व्रज-ईश्वरीम्—व्रज की रानी (यशोदा) को; स्मरन्त्यौ—स्मरण करते हुए; तत्—अपने; कृतम्—किये हुए; मैतृईम्—दोस्ती; बाष्प—आँसू; कण्ठ्यौ—कण्ठों में; समूचतुः—उन्होंने उससे कहा।

तत्पश्चात् रोहिणी तथा देवकी दोनों ने व्रज की रानी का आलिंगन किया और उन्होंने उनके प्रति, जो सच्ची मित्रता प्रदर्शित की थी, उसका स्मरण करते हुए अश्रु से रुंधे गले से इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार यहाँ पर श्री वसुदेव ने नन्द को उग्रसेन तथा अन्य वरिष्ठ यदुओं से मिलाने के लिए बाहर बुलाया। इस बीच रोहिणी तथा देवकी यशोदारानी से बातें करने लगीं।

का विस्मरेत वां मैत्रीमनिवृत्तां व्रजेश्वरि ।
अवाप्याप्यैन्द्रमैश्वर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया ॥ ३७॥

शब्दार्थ

का—कौन-सी स्त्री; विस्मरेत—भूल सकती है; वाम्—तुम दोनों (यशोदा तथा नन्द) को; मैत्रीम्—मित्रता; अनिवृत्ताम्—निरन्तर; व्रज-ईश्वरि—हे व्रज की रानी; अवाप्य—प्राप्त करके; अपि—भी; ऐन्द्रम्—इन्द्र का; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; यस्याः—जिसके लिए; न—नहीं; इह—इस जगत में; प्रति-क्रिया—उऋण होना या बदला चुकाना।

[रोहिणी तथा देवकी ने कहा] : हे व्रज की रानी, भला ऐसी कौन स्त्री होगी, जो आप तथा नन्द द्वारा हम लोगों के प्रति प्रदर्शित सतत मित्रता को भूल सके? इस संसार में आपका बदला चुकाने का कोई उपाय नहीं है, यहाँ तक कि इन्द्र की सम्पदा से भी नहीं।

एतावदृष्टपितरौ युवयोः स्म पित्रोः
सम्प्रीणनाभ्युदयपोषणपालनानि ।
प्राप्योषतुर्भवति पक्ष्म ह यद्वदक्ष्णो-
र्न्यस्तावकुत्र च भयौ न सतां परः स्वः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

एतौ—ये दोनों; अदृष्ट—न देखकर; पितरौ—उनके माता-पिता; युवयोः—तुम दोनों के; स्म—निस्सन्देह; पित्रोः—माता-पिता के; सम्प्रीणन—दुलारना; अभ्युदय—पालन; पोषण—पोषण; पालनानि—तथा सुरक्षा; प्राप्य—प्राप्त करके; ऊषतुः—वे रहते थे; भवति—हे उत्तम नारी; पक्ष्म—पलकें; ह—निस्सन्देह; यद्वत्—जिस तरह; अक्ष्णोः—आँखों की; न्यस्तौ—गिरवी रखना; अकुत्र—कहीं नहीं; च—तथा; भयौ—जिसका डर; न—नहीं; सताम्—साधु-पुरुषों के लिए; परः—अन्य; स्वः—निजी।

इसके पूर्व कि इन दोनों बालकों ने अपने असली माता-पिता को देखा, आप दोनों ने उनके संरक्षक का कार्य किया और उन्हें सभी तरह से स्नेहपूर्ण देखभाल, प्रशिक्षण, पोषण तथा सुरक्षा प्रदान की। हे उत्तम नारी, वे कभी भी डरे नहीं, क्योंकि आप उनकी वैसे ही रक्षा करती रहीं, जिस तरह पलकें आँखों की रक्षा करती हैं। निस्सन्देह, आप-जैसी सन्त स्वभाव वाली नारियाँ कभी भी अपनों और परायों में कोई भेदभाव नहीं बरततीं।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती व्याख्या करते हैं, कृष्ण तथा बलराम ने अपने माता-पिता को दो कारणों से नहीं देखा था: एक तो व्रज में उनका भेजे जाना और दूसरे यह कि वे वास्तव में

जन्मे नहीं थे अतएव उनके कोई माता-पिता नहीं थे।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इसका भी वर्णन करते हैं कि देवकी ने यह श्लोक कहने के पूर्व क्या सोचा होगा, ''हाय! चूँकि इतने समय से ये मेरे दोनों पुत्र तुम यशोदा को अपनी संरक्षिका तथा माता मानते आये हैं और तुम्हारे प्रेमपूर्ण व्यवहार के विशाल सागर में इतने निमग्न रहे हैं और अब जब फिर तुम इनके सामने उपस्थित हो तो वे मेरी ओर निहार भी नहीं रहे। यही नहीं, तुम अविवेकी तथा उनके प्रति प्रेमान्ध की तरह आचरण कर रही हो और मेरी अपेक्षा लाखों गुना मातृ-स्नेह प्रदान कर रही हो। इसलिए तुम हम मित्रों को बिना पहचाने हमारी ओर ताक-भर रही हो। इसलिए कुछ स्नेहिल शब्द कहने के बहाने मैं तुम्हें वास्तविकता पर वापस लाऊँगी।''

जब देवकी ने यशोदा को सम्बोधित करने पर भी कोई उत्तर नहीं पाया तो रोहिणी ने कहा, ''हे देवकी! इस समय इन्हें इस भाव-समाधि से निकाल पाना असम्भव है। हम अरण्य-रोदन कर रही हैं। इनके दोनों पुत्र स्नेह-रज्जुओं द्वारा इन्हीं के समान इनसे बँधे हैं। इसलिए चलिये, हम बाहर चल कर पृथा, द्रौपदी और सबों से भेंट करें।''

श्रीशुक उवाच
गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा-
स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; गोप्यः—तरुण गोपियाँ; च—तथा; कृष्णम्—कृष्ण को; उपलभ्य—निहार कर; चिरात्—बहुत दिनों से; अभीष्टम्—अपनी इच्छित वस्तु को; यत्—जिसको; प्रेक्षणे—देखते हुए; दृशिषु—उनकी आँखों पर; पक्ष्म—पलकों के; कृतम्—बनाने वाले को; शपन्ति—कोसती हैं; दृग्भिः—उनकी आँखों से; हृदी-कृतम्—अपने हृदयों में बसाये हुए; अलम्—जी-भरकर; परिरभ्य—आलिंगन करके; सर्वाः—वे सभी; तत्—उसकी; भावम्—प्रेम-तल्लीनता; आपुः—प्राप्त की; अपि—यद्यपि; नित्य—निरन्तर; युजाम्—योगविद्या में लगे रहने वालों के लिए; दुरापम्—प्राप्त करना कठिन, दुष्प्राप्य।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अपने प्रिय कृष्ण पर टकटकी लगाये हुई तरुण गोपियाँ अपनी पलकों के सृजनकर्ता को कोसा करती थीं (क्योंकि वे उनका दर्शन करने में कुछ पलों के लिए बाधक होती थीं)। अब दीर्घकालीन विछोह के बाद कृष्ण को पुनः देखकर उन्हें अपनी आँखों के द्वारा ले जाकर, उन्होंने अपने हृदय में बिठा लिया और वहीं उनका जी-भरकर आलिंगन

किया। इस तरह वे उनके आनन्दमय ध्यान में पूरी तरह निमग्न हो गईं, यद्यपि योगविद्या का निरन्तर अभ्यास करने वाले को ऐसी तल्लीनता प्राप्त कर पाना कठिन होता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार तभी बलराम ने गोपियों को कुछ दूरी पर खड़े देखा। उन्हें कृष्ण से भेंट करने की उत्सुकता से काँपती हुई और न मिल पा सकने पर वे अपना प्राण तक दे सकने की अवस्था देखकर उन्होंने चतुराई से उठ कर अलग चले जाने और किसी दूसरे कार्य में लग जाने का निश्चय किया। तब गोपियों को इस श्लोक में वर्णित अवस्था प्राप्त हुई। गोपियों द्वारा ''पलकों के सृजनकर्ता'' ब्रह्मा के प्रति असह्य अनादर का उल्लेख करके शुकदेव गोस्वामी ने गोपियों के पक्ष के प्रति सूक्ष्म ईर्ष्या व्यक्त की है।

श्रील जीव गोस्वामी ने *नित्ययुजाम्* पद का अन्य अर्थ दिया है ''भगवान् की पटरानियों तक का, जिन्हें कृष्ण के निरन्तर सान्निध्य का गर्व प्रतीत होता था।''

भगवान् श्रीकृष्ण में श्रील प्रभुपाद लिखते हैं—

''चूँकि वे श्रीकृष्ण से इतने अधिक वर्षों तक अलग रही थीं, अतएव नन्द महाराज और माता यशोदा के साथ आकर और श्रीकृष्ण को देखकर गोपियों को परमानन्द का अनुभव हुआ। कोई भी व्यक्ति इस बात की कल्पना नहीं कर सकता कि श्रीकृष्ण को पुनः देखने के लिए गोपियाँ कितनी उत्सुक थीं। जैसे ही उन्हें श्रीकृष्ण दिखे वैसे ही उन्होंने अपने नेत्रों के द्वारा उन्हें अपने हृदय में बिठा लिया और तब तक आलिंगन करती रहीं, जब तक सन्तुष्ट नहीं हो लीं। यद्यपि वे कृष्ण का आलिंगन मन ही मन कर रही थीं तथापि आनन्द के कारण वे इतनी भाव-विभोर हो उठीं कि कुछ समय के लिए वे अपने आप को पूरी तरह से भूल गईं। गोपियों ने कृष्ण का मन ही मन आलिंगन करके जो परमानन्द प्राप्त किया था उस दिव्यानन्द को प्राप्त कर पाना उन महान् योगियों के लिए भी असम्भव है, जो सदैव भगवान् के चिन्तन में लीन रहते हैं। श्रीकृष्ण को यह भान था कि गोपियाँ मन ही मन उनका आलिंगन करके परमानन्द में लीन थीं, किन्तु सबों के हृदय में उपस्थित होने से उन्होंने भी प्रत्युत्तर में मन ही मन गोपियों का आलिंगन किया।''

भगवांस्तास्तथाभूता विविक्त उपसङ्गतः ।

आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ० ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् ने; ताः—उनको; तथा-भूताः—ऐसी दशा में होते हुए; विविक्ते—एकान्त स्थान में; उपसङ्गतः—जाकर; आश्लिष्य—आलिंगन करके; अनामयम्—स्वास्थ्य के (कुशलता) विषय में; पृष्ट्वा—पूछ कर; प्रहसन्—हँसते हुए; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।

जब गोपियाँ भावमग्न खड़ी थीं, तो भगवान् एकान्त स्थान में उनके पास पहुँचे। हर एक का आलिंगन करने तथा उनकी कुशल-क्षेम पूछने के बाद वे हँसने लगे और इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका है कि कृष्ण ने अपनी *विभूति शक्ति* से प्रत्येक गोपी का आलिंगन करने के लिए अपना विस्तार किया और इस तरह हर एक की समाधि तोड़ी। उन्होंने पूछा, ''अब अपनी विछोह-पीड़ा से मुक्त हुई कि नहीं?'' और उनका जी हल्का करने के लिए हँसने लगे।

अपि स्मरथ नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया ।
गतांश्चिरायिताञ्छत्रुपक्षक्षपणचेतसः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; स्मरथ—तुम स्मरण करती हो; नः—हमको; सख्यः—सखियाँ; स्वानाम्—अपने प्रियजनों के; अर्थ—हेतु; चिकीर्षया—करने की इच्छा से; गतान्—गये हुए; चिरायितान्—दीर्घकाल तक रहते हुए; शत्रु—हमारे शत्रुओं के; पक्ष—टोली; क्षपण—विनष्ट करने की; चेतसः—मनोभाव वाले।

[भगवान् कृष्ण ने कहा]: हे सखियो, क्या अब भी तुम लोग मेरी याद करती हो? मैं अपने सम्बन्धियों के लिए ही हमारे शत्रुओं का विनाश करने के लिए इतने लम्बे समय तक दूर रहता रहा।

अप्यवध्यायथास्मान्स्विदकृतज्ञाविशङ्कया ।
नूनं भूतानि भगवान्युनक्ति वियुनक्ति च ॥ २ ॥

शब्दार्थ

अपि—भी; अवध्यायथ—घृणा करती हो; अस्मान्—हमें; स्वित्—शायद; अकृत-ज्ञ—कृतघ्न के रूप में; आविशङ्कया—सन्देह से; नूनम्—निस्सन्देह; भूतानि—सारे जीव; भगवान्—भगवान्; युनक्ति—मिलाता है; वियुनक्ति—विलग करता है; च—तथा।

शायद तुम सोचती हो कि मैं कृतघ्न हूँ और इसलिए मुझे घृणा से देखती हो? अन्ततोगत्वा, सारे जीवों को पास लाने वाला और फिर उन्हें विलग करने वाला, तो भगवान् ही है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती गोपियों के भावों को इस प्रकार उद्घाटित करते हैं, ''हम तुम

जैसी नहीं हैं, जिसने दिन-रात हमारा स्मरण करते हुए अपना मन तोड़ दिया और विछोह के शोक में सारे इन्द्रिय-भोगों का परित्याग कर दिया हो। प्रत्युत हमने तुम्हारी रंच-भर भी याद नहीं की। वास्तव में, हम तो तुम्हारे बिना परम प्रसन्न रही हैं।'' इसके उत्तर में कृष्ण यहाँ पूछते हैं कि क्या वे सब उनकी अकृतज्ञता से नाराज हैं।

वायुर्यथा घनानीकं तृणं तूलं रजांसि च ।
संयोज्याक्षिपते भूयस्तथा भूतानि भूतकृत् ॥ ३॥

शब्दार्थ

वायुः—वायु; यथा—जिस तरह; घन—बादलों के; अनीकम्—समूहों को; तृणम्—तिनकों को; तूलम्—रुई को; रजांसि—धूल को; च—तथा; संयोज्य—पास लाकर; आक्षिपते—दूर-दूर फेंक देती है; भूयः—एक बार फिर; तथा—उसी प्रकार; भूतानि—जीवों को; भूत—जीवों के; कृत्—बनाने वाले।

जिस तरह वायु बादलों के समूहों, घास की पत्तियों, रुई के फाहों तथा धूल के कणों को पुनः बिखेर देने के लिए ही पास पास लाती है, उसी तरह स्त्रष्टा अपने द्वारा सृजित जीवों के साथ व्यवहार करता है।

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥ ॥

शब्दार्थ

मयि—मुझमें; भक्तिः—भक्ति; हि—निस्सन्देह; भूतानाम्—जीवों के लिए; अमृतत्वाय—अमरता के लिए; कल्पते—ले जाता है; दिष्ट्या—सौभाग्य से; यत्—जो; आसीत्—बनाया; मत्—मेरे लिए; स्नेहः—स्नेह; भवतीनाम्—आप लोगों के लिए; मत्—मुझको; आपनः—प्राप्त करने का कारणस्वरूप।

कोई भी जीव मेरी भक्ति करके शाश्वत जीवन प्राप्त करने के लिए सुयोग्य बन जाता है। किन्तु तुम लोगों ने अपने सौभाग्य से मेरे प्रति ऐसी विशेष प्रेममय प्रवृत्ति विकसित कर ली है, जिसके द्वारा तुम सबों ने मुझे पा लिया है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार तब गोपियों ने उत्तर दिया, ''हे वक्ताओं में सर्वाधिक चतुर! तुम जिस परमेश्वर को दोष दे रहे हो वह साक्षात् तुम्हीं हो। विश्व का हर प्राणी इसे जानता है। तो भला हम इस तथ्य से अनजान क्यों बनी रहतीं?'' तब भगवान् कृष्ण ने उनसे कहा, ''यदि यह सच है, तो मैं ईश्वर हो सकता हूँ, किन्तु तो भी मैं तुम्हारे प्रेम-व्यापार से जीत लिया गया हूँ।''

अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः ।
भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; हि—निस्सन्देह; सर्व—समस्त; भूतानाम्—जीवों का; आदिः—प्रारम्भ; अन्तः—अन्त; अन्तरम्—भीतर; बहिः—बाहर; भौतिकानाम्—समस्त भौतिक वस्तुओं का; यथा—जिस तरह; खम्—आकाश; वाः—जल; भूः—पृथ्वी; वायुः—वायु; ज्योतिः—तथा अग्नि; अङ्गनाः—हे स्त्रियो।.

हे स्त्रियो, मैं सारे जीवों का आदि तथा अन्त हूँ और मैं उनके भीतर तथा बाहर उसी तरह विद्यमान हूँ, जिस तरह आकाश, जल, पृथ्वी, वायु तथा अग्नि समस्त भौतिक वस्तुओं के आदि एवं अन्त हैं और उनके भीतर-बाहर विद्यमान रहते हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार इस श्लोक में भगवान् कृष्ण यह कहना चाहते हैं, ''यदि तुम जानती हो कि मैं भगवान् हूँ, तो मेरे विछोह से तुम्हें कष्ट उठाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि मैं सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हूँ। तुम्हारा दुख तुम्हारे विवेक के अभाव के कारण हुआ होगा। अतएव मुझसे यह शिक्षा लो, जिससे तुम्हारा अज्ञान जाता रहेगा।

किन्तु सच तो यह है कि तुम गोपियाँ पिछले जन्म में योगेश्वर थीं, अतएव तुम पहले से ही *ज्ञान योग* को जानती रही होगी। यही नहीं, मैं तुम्हें चाहे इसके बारे में सीधे शिक्षा दूँ या अपने प्रतिनिधि के माध्यम से यथा उद्धव द्वारा, तो इससे वांछित फल प्राप्त नहीं होगा। *ज्ञान योग* उन लोगों को कष्ट पहुँचाने वाला है, जो भगवान् के शुद्ध प्रेम में पूरी तरह लीन रहते हैं।''

एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्मात्मना ततः ।
उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; हि—निस्सन्देह; एतानि—ये; भूतानि—सारे जीव; भूतेषु—सृष्टि के तत्त्वों के भीतर; आत्मा—आत्मा; आत्मना—अपने असली स्वरूप में; ततः—व्याप्त; उभयम्—दोनों; मयि—मेरे भीतर; अथ—अर्थात्; परे—परम सत्य के भीतर; पश्यत—तुम्हें देखना चाहिए; आभातम्—प्रकट; अक्षरे-विथिन् थे इम्पेरिशब्ले.

इस तरह समस्त उत्पन्न की गई वस्तुएँ सृष्टि के मूलभूत तत्त्वों के भीतर निवास करती हैं और अपने असली स्वरूप में बनी रहती हैं, किन्तु आत्मा सारी सृष्टि में व्याप्त रहता है। तुम्हें इन दोनों ही को—भौतिक सृष्टि तथा आत्मा को—मुझ अक्षर ब्रह्म के भीतर प्रकट देखना चाहिए।

तात्पर्य : मनुष्य को इस जगत की भौतिक वस्तुओं, इनमें निहित मूलभूत तत्त्वों, अनेक आत्माओं

तथा एक परमात्मा के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध को भलीभाँति समझना चाहिए। भौतिक भोग की विविध वस्तुएँ—यथा बर्तन, नदियाँ एवं पर्वत—मूलभूत भौतिक तत्त्वों—पृथ्वी, जल, अग्नि इत्यादि से बनी हैं। ये तत्त्व भौतिक वस्तुओं में हेतु-रूप में व्यापक रहते हैं, जबकि आत्माएँ उनके भोक्ता के विशेष रूप में (*स्वात्मना*) उनके भीतर व्याप्त रहती हैं। अन्ततः ये सारे भौतिक तत्त्व, उनसे बने पदार्थ तथा सारे जीव अविनाशी, सम्पूर्ण परमात्मा कृष्ण के भीतर प्रकट होते हैं और उन्हीं में व्याप्त रहते हैं।

इन तथ्यों की अनुभूति वाले ज्ञानी को किसी भी स्थिति में भगवान् से विछोह का अनुभव नहीं करना चाहिए। लेकिन व्रज की गोपियाँ कृष्णभावनामृत में सामान्य ज्ञानियों से अधिक उन्नत हैं। मानव रूप सर्व-आकर्षक ग्वालबाल के रूप में कृष्ण के प्रति गहन प्रेम के कारण कृष्ण की अन्तरंगा शक्ति योगमाया ने भगवान् के सर्वव्यापक होने जैसे उनके सारे तेजस्वी पहलुओं के ज्ञान को आच्छादित कर दिया। इस तरह उनके विछोह से उत्पन्न प्रेम में गोपियाँ गहन प्रेम का आनन्द पा सकीं। कृष्ण विनोदवश उनमें आध्यात्मिक विवेक का अभाव बतलाते हैं।

श्रीशुक उवाच
अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः ।
तदनुस्मरणध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगन् ॥ ७॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अध्यात्म—आत्मा विषयक; शिक्षया—शिक्षा से; गोप्यः—गोपियाँ; एवम्—इस प्रकार; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; शिक्षिताः—पढ़ाई गई; तत्—उनका; अनुस्मरण—निरन्तर ध्यान से; ध्वस्त—विनष्ट; जीव-कोशाः—आत्मा का सूक्ष्म आवरण (मिथ्या अहंकार); तम्—उसको; अध्यगन्—समझ सकीं।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : कृष्ण द्वारा आध्यात्मिक विषयों में शिक्षा दिये जाने पर गोपियाँ मिथ्या अहंकार के समस्त कलुषों से मुक्त हो गईं क्योंकि वे उनका निरन्तर ध्यान करती थीं। वे उनमें अपनी गहन निमग्नता के कारण उन्हें पूरी तरह समझ सकीं।

तात्पर्य : *लीली पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण* में श्रील प्रभुपाद इस उद्धरण को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—"भेदाभेद दर्शन के विषय में श्रीकृष्ण द्वारा शिक्षा दिये जाने पर गोपियाँ सदैव कृष्णभावनामृत में रहती रहीं और इस तरह वे भौतिक दूषण से मुक्त हो गईं। उस जीवात्मा की चेतना *जीव कोश* कहलाती है, जो मिथ्या रूप से स्वयं को भौतिक जगत का भोक्ता मानता है। *जीव कोश* का अर्थ है मिथ्या अहंकार द्वारा बन्धन। केवल गोपियाँ ही नहीं अपितु कोई भी व्यक्ति जो श्रीकृष्ण के इन उपदेशों

का पालन करता है तुरन्त जीव कोश के बन्धन से मुक्त हो जाता है। कृष्णभावनामृत में पूर्णतया स्थित व्यक्ति सदैव ही मिथ्या अहंकार से मुक्त हो जाता है, वह प्रत्येक वस्तु का उपयोग कृष्ण-सेवा में करने लगता है और क्षण-भर के लिए भी श्रीकृष्ण से विलग नहीं होता।''

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहं जुषामपि मनस्युदियात्सदा नः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

आहुः—गोपियों ने कहा; च—तथा; ते—तुम्हारा; नलिन-नभ—कमल के फूल जैसी नाभि वाले, हे भगवान्; पद-अरविन्दम्—चरणकमलों को; योग-ईश्वरैः—बड़े-बड़े योगियों द्वारा; हृदि—हृदय के भीतर; विचिन्त्यम्—ध्यान करने योग्य; अगाध-बोधैः—जो प्रकाण्ड दार्शनिक थे; संसार-कूप—इस संसाररूपी अँधेरे कुएँ में; पतित—गिरे हुओं के; उत्तरण—उद्धारकों के; अवलम्बम्—एकमात्र आश्रय को; गेहम्—पारिवारिक मामले; जुषाम्—लगे हुओं के; अपि—यद्यपि; मनसि—मनों में; उदियात्—उदित हो; सदा—सदैव; नः—हमारे।

गोपियाँ इस प्रकार बोलीं : हे कमलनाभ प्रभु, आपके चरणकमल उन लोगों के लिए एकमात्र शरण हैं, जो भौतिक संसाररूपी गहरे कुएँ में गिर गये हैं। आपके चरणों की पूजा तथा ध्यान बड़े बड़े योगी तथा प्रकाण्ड दार्शनिक करते हैं। हमारी यही इच्छा है कि ये चरणकमल हमारे हृदयों के भीतर उदित हों, यद्यपि हम सभी गृहस्थकार्यों में व्यस्त रहने वाली सामान्य प्राणी मात्र हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक के शब्दार्थ तथा भावार्थ श्रील प्रभुपाद कृत *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य १.८१) में आये श्लोक के अंग्रेजी पाठ के अनुसार हैं।

गोपियाँ जिस ईर्ष्या की मुद्रा में ये आदरपूर्ण वाक्य छलपूर्वक कहती हैं उसका उद्घाटन करते हुए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती उनके कथन को इस प्रकार देते हैं—''हे प्रभु! हे प्रत्यक्ष परमात्मा, हे ज्ञानोपदेशकों के मुकुटमणि! घर, सम्पत्ति तथा परिवार के प्रति हमारी अत्यधिक अनुरक्ति से आप भलीभाँति अवगत हैं। इसीलिए आपने हमारे अज्ञान को दूर करने के लिए पहले उद्धव को भेजा था और अब वही कार्य स्वयं किया है। इस तरह आपने हमारे हृदय की मलिनता दूर कर दी है। फलस्वरूप हम अपने प्रति आपके शुद्ध प्रेम को समझती हैं, जो हमारे मोक्ष के अतिरिक्त और किसी उद्देश्य से नहीं है। लेकिन हम अज्ञानी ग्वालिने हैं, भला यह ज्ञान हमारे हृदयों में किस तरह स्थिर बना

रह सकता है? हम आपके उन चरणों का स्थायी रूप से ध्यान भी नहीं कर पातीं, जो ब्रह्मा जैसे महात्माओं के लिए आपके साक्षात्कार के लक्ष्य हैं। आप हम पर कृपालु हों और ऐसा करें कि हम आपमें अपने को किंचित् मात्र एकाग्र कर सकें। हम अब भी अपने कर्मफल भोग रही हैं, अतएव हम आपका ध्यान कैसे कर सकती हैं, जो महान् योगियों के भी लक्ष्य हैं? ऐसे योगी अपार बुद्धिमान होते हैं, किन्तु हम तो दुर्बल मनवाली स्त्रियाँ हैं। आप कुछ ऐसा करें, जिससे भौतिक जीवन के इस गहरे कूप से हम उबर सकें।

शुद्ध भक्तों को न तो भौतिक उत्थान की, न ही आध्यात्मिक मोक्ष की कभी इच्छा रहती है। और यदि भगवान् उन्हें ऐसे वर प्रदान करते हैं, तो भक्तगण प्राय: उन्हें अंगीकार करने से मना कर देते हैं। जैसाकि भगवान् कृष्ण ने *श्रीमद्भागवत* के ग्यारहवें स्कन्ध में(११.२०.३) कहा है—

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्त ह्येकान्तिनो मम।

वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥

"चूँकि मेरे भक्तों में सन्त स्वभाव तथा गम्भीर बुद्धि रहती है, अतएव वे पूर्णतया मुझमें आत्मसमर्पण कर देते हैं और मेरे अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की इच्छा नहीं करते। दरअसल, यदि मैं उन्हें जन्म-मरण से मुक्ति भी प्रदान करूँ तो वे उसे स्वीकार नहीं करते।" इसीलिए यह उचित ही है कि जब कृष्ण उन्हें ज्ञान योग की शिक्षा देने का प्रयास करते हैं, तो वे किञ्चित ईर्ष्यापूर्ण क्रोध से उत्तर देती हैं।

इस तरह श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, इस श्लोक में गोपियाँ जो वचन कहती हैं उसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है, "हे अज्ञान के अंधकार को दूर करने वाले सूर्य! हम इस दार्शनिक ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से झुलस रही हैं। हम तो चकोर हैं, जो आपके सुन्दर मुखमण्डल से निकलती हुई ज्योत्स्ना पर निर्भर करती हैं। कृपया हमारे साथ वृन्दावन वापस चलें और हमें पुन: जीवनदान दें।"

और यदि कृष्ण यह कहें कि "द्वारका चलो, वहाँ हम मिल कर आनन्द लूटेंगे" तो वे उत्तर देंगी कि श्री वृन्दावन उनका घर है और वे उससे इतनी अनुरक्त हैं कि अन्यत्र कहीं निवास नहीं कर सकतीं। केवल वहीं पर, गोपियों का अभिप्राय है, कृष्ण अपनी पाग में मोरपंख खोंस कर तथा अपनी वंशी के

मोहक संगीत से उन्हें आकृष्ट कर सकेंगे। यदि वे वृन्दावन में फिर से प्रकट हों तभी गोपियाँ बच सकती हैं, किसी प्रकार के ध्यान या आत्मा सम्बन्धी सैद्धान्तिक ज्ञान से नहीं।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''वृन्दावनवासियों से कृष्ण तथा बलराम की भेंट'' नामक बयासिवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तिरासी

कृष्ण की रानियों से द्रौपदी की भेंट

इस अध्याय में उस वार्ता का वर्णन हुआ है, जो द्रौपदी तथा भगवान् कृष्ण की पटरानियों के बीच हुई, जिसमें हर रानी यह बतलाती है कि भगवान् ने किस प्रकार उनके साथ ब्याह किया।

गोपियों से मिलने के बाद श्रीकृष्ण ने लौट कर राजा युधिष्ठिर तथा उनके अन्य सम्बन्धियों की कुशल-क्षेम पूछी। उन्होंने उत्तर दिया, ''हे नाथ! जिसने एक बार भी अपने कानों को आपकी लीलाओं के मधु से आपूरित कर लिया है, वह दुर्भाग्य को जानता ही नहीं।''

तत्पश्चात् द्रौपदी ने भगवान् कृष्ण की पत्नियों से पूछा कि भगवान् ने किस तरह उनसे विवाह किया? सर्वप्रथम महारानी रुक्मिणी बोलीं, ''जरासन्ध आदि अनेक राजा मुझे शिशुपाल को प्रदान करने पर तुले थे। इसलिए वे मेरी शादी के समय अपने हाथों में धनुष धारण किये किसी विपक्षी के विरुद्ध शिशुपाल की सहायता करने के लिए सन्नद्ध थे। किन्तु कृष्ण आये और बलपूर्वक मुझे उसी तरह ले गये, जिस तरह बकरियों तथा भेड़ों के बीच से सिंह अपना शिकार ले जाता है।''

रानी सत्यभामा ने कहा, ''जब मेरे चाचा प्रसेन मार डाले गये, तो मेरे पिता सत्राजित ने कृष्ण पर हत्या का झूठा आरोप लगाया। अपने नाम को निष्कलंक करने के लिए कृष्ण ने जाम्बवान को हराया, स्यमन्तक मणि प्राप्त की और उसे लाकर सत्राजित को दे दी। मेरे पिता को पछतावा हुआ, अत: उन्होंने वह मणि तथा उसी के साथ मुझको भी उनके हाथों सौंप दिया।''

रानी जाम्बवती ने कहा, ''जब श्रीकृष्ण स्यमन्तक मणि की खोज करते-करते मेरे पिता की गुफा में घुसे, तो पहले तो मेरे पिता जाम्बवान यह समझ ही नहीं पाये कि वे कौन थे। अतएव मेरे पिता

उनसे सत्ताइस दिनों और रातों तक निरन्तर युद्ध करते रहे। अन्त में जाम्बवान को समझ में आया कि कृष्ण अन्य कोई न होकर, उनके आराध्य भगवान् रामचन्द्र हैं। इस तरह उन्होंने कृष्ण को मेरे सहित स्यमन्तक मणि दे दी।''

कालिन्दी ने कहा, ''मुझे कृष्ण को पति रूप में पाने के लिए कठिन तपस्या करनी पड़ी। एक दिन भगवान् कृष्ण अर्जुन के साथ मेरे पास आये और उस समय भगवान् ने मुझसे ब्याह करना स्वीकार कर लिया।''

मित्रविन्दा ने कहा, ''श्रीकृष्ण मेरे स्वयंवर उत्सव में आये थे, जहाँ वे विरोध कर रहे सारे राजाओं को हराकर, मुझे अपनी नगरी द्वारका ले गये।''

महारानी सत्या ने कहा, ''मेरे पिता ने यह प्रण ठान रखा था कि जो कोई सात बलशाली साँड़ों को वश में करके उन्हें बाँध लेगा, उसी को मेरा हाथ देंगे। इस चुनौती को स्वीकार करते हुए भगवान् कृष्ण ने खेल खेल में ही उनका दमन किया और विवाह के सारे प्रतिद्वन्द्वी इच्छुकों को हराकर मुझे ब्याहा।''

रानी भद्रा ने कहा, ''मेरे पिता ने अपने भांजे कृष्ण को निमंत्रण दिया, क्योंकि मैं पहले ही उन्हें अपना दिल दे चुकी थी। अत: उन्होंने मुझे उनकी दुलहन के रूप में सौंप दिया। दहेज में पूरी सैनिक टुकड़ी तथा मेरी अनेक सहेलियाँ दी गई थीं।''

रानी लक्ष्मणा ने द्रौपदी से कहा, ''मेरे स्वयंवर में तुम्हारे ही स्वयंवर की तरह छत से एक मछली बाँध दी गई थी। लेकिन वह मछली चारों ओर से ढक दी गई थी। केवल उसकी छाया नीचे जल-भरे पात्र में देखी जा सकती थी। कई राजाओं ने बाण से मछली को बेधना चाहा, किन्तु ऐसा कर नहीं पाये। तब अर्जुन ने प्रयास किया। उन्होंने जल में मछली की छाया पर निशाना साध कर, जब बाण छोड़ा, तो वह लक्ष्य को केवल छूता हुआ निकल गया। तब श्रीकृष्ण ने अपने धनुष पर बाण चढ़ाया और ऐसा निशाना लगाया कि मछली जमीन पर आ गिरी। मैंने विजयमाला श्रीकृष्ण के गले में डाल दी, किन्तु जो राजा असफल हुए थे उन्होंने तीव्र विरोध किया। भगवान् कृष्ण उनसे वीरतापूर्वक लड़े और उनमें से कइयों के सिर, भुजाएँ तथा पाँव काट डाले और जो बचे वे अपनी जान लेकर भाग गये। तब भगवान् भव्य विवाह करने के लिए मुझे द्वारका ले गये।''

रोहिणीदेवी ने अन्य सभी रानियों की ओर से बतलाया कि वे भौमासुर द्वारा पराजित राजाओं की

कन्याएँ थीं। उस असुर ने उन्हें बन्दी बना रखा था, किन्तु जब भगवान् कृष्ण ने उसे मार कर सबों को छुड़ाया, तो उन्होंने उन सबों के साथ विवाह कर लिया।

श्रीशुक उवाच
तथानुगृह्य भगवान्गोपीनां स गुरुर्गतिः ।
युधिष्ठिरमथापृच्छत्सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; तथा—इस तरह से; अनुगृह्य—अनुग्रह दिखलाकर; भगवान्—भगवान् ने; गोपीनाम्—तरुण गोपियों के; सः—वह; गुरुः—उनका गुरु; गतिः—तथा लक्ष्य; युधिष्ठिरम्—युधिष्ठिर से; अथ—तब; अपृच्छत्—पूछा; सर्वान्—सबों के; च—तथा; सु-हृदः—अपने शुभचिन्तक परिवार वालों; अव्ययम्—कुशल-क्षेम।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह गोपियों के आध्यात्मिक गुरु तथा उनके जीवन के गन्तव्य भगवान् कृष्ण ने उन पर अपनी कृपा प्रदर्शित की। तत्पश्चात् वे युधिष्ठिर तथा अपने अन्य सभी सम्बन्धियों से मिले और उनसे उनकी कुशलता पूछी।

तात्पर्य : यहाँ पर *गुरुर्गतिः* शब्दों का ''गुरु तथा गन्तव्य'' के रूप में किया गया है। किन्तु श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने एक और अर्थ दिया है। जहाँ भगवान् कृष्ण सामान्यतः सभी साधुओं के लक्ष्य हैं, वहीं गोपियों के लिए वे विशेष रूप से वह गन्तव्य हैं, जो गुरु है—इस बात में ''प्रधान'' हैं क्योंकि अन्य सारे सम्भावित गन्तव्यों को वे पूरी तरह ग्रस लेते हैं।

त एवं लोकनाथेन परिपृष्टाः सुसत्कृताः ।
प्रत्यूचुर्हृष्टमनसस्तत्पादेक्षाहतांहसः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ते—वे (युधिष्ठिर तथा भगवान् कृष्ण के अन्य सम्बन्धी); एवम्—इस प्रकार; लोक—ब्रह्माण्ड के; नाथेन—स्वामी द्वारा; परिपृष्टाः—पूछे जाकर; सु—अत्यधिक; सत्-कृताः—सम्मानित; प्रत्यूचुः—उत्तर दिया; हृष्ट—प्रसन्न; मनसः—मन वाले; तत्—उसका; पाद—पैर; ईक्षा—देखने से; हत—विनष्ट; अंहसः—जिसके पाप।

ब्रह्माण्ड के स्वामी के चरणों को देखकर समस्त पापों से मुक्त राजा युधिष्ठिर तथा अन्यों ने अत्यधिक सम्मानित अनुभव करते हुए उनके प्रश्नों का खुशी खुशी उत्तर दिया।

कुतोऽशिवं त्वच्चरणाम्बुजासवं
महन्मनस्तो मुखनिःसृतं क्वचित् ।
पिबन्ति ये कर्णपुटैरलं प्रभो
देहंभृतां देहकृदस्मृतिच्छिदम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कुतः—कहाँ से; अशिवम्—अशुभ; त्वत्—तुम्हारे; चरण—पाँवों के; अम्बुज—कमलवत्; आसवम्—मदोन्मत्तकारी अमृत को; महत्—महात्माओं के; मनस्तः—मनों से; मुख—उनके मुँहों से होकर; निःसृतम्—निकला हुआ; क्वचित्—किसी समय; पिबन्ति—पीते हैं; ये—जो; कर्ण—उनके कानों के; पुटैः—प्यालों से; अलम्—इच्छानुसार; प्रभो—हे प्रभु; देहम्—भौतिक शरीर; भृताम्—धारण करने वालों के लिए; देह—देहों के; कृत्—स्रष्टा के विषय में; अस्मृति—विस्मरण के; छिदम्—उच्छेदक।

[भगवान् कृष्ण के सम्बन्धियों ने कहा] : हे प्रभु, उन लोगों का अमंगल कैसे हो सकता है, जिन्होंने आपके चरणकमलों से निकले अमृत का छक कर पान किया हो? यह मदोन्मत्तकारी तरल बड़े बड़े भक्तों के मनों से बहता हुआ, उनके मुखों से निकल कर, उनके कान रूपी प्यालों में उड़ेला जाता है। यह देहधारी जीवात्माओं द्वारा अपने शरीर के बनाने वाले के प्रति विस्मृति को विनष्ट करता है।

हि त्वात्म धामविधुतात्मकृतत्र्यवस्था-
मानन्दसम्प्लवमखण्डमकुण्ठबोधम् ।
कालोपसृष्टनिगमावन आत्तयोग-
मायाकृतिं परमहंसगतिं नताः स्म ॥ ॥

शब्दार्थ

हि—निस्सन्देह; त्वा—तुमको; आत्म—आपके साकार रूप का; धाम—प्रकाश द्वारा; विधुत—दूर किया हुआ; आत्म—भौतिक चेतना द्वारा; कृत—उत्पन्न; त्रि—तीन; अवस्थाम्—भौतिक अवस्थाएँ; आनन्द—आनन्द में; सम्प्लवम्—(जिसके भीतर) पूर्णतया निमग्न; अखण्डम्—अनन्त; अकुण्ठ—अनियंत्रित; बोधम्—जिसका ज्ञान; काल—समय द्वारा; उपसृष्ट—संकटग्रस्त; निगम—वेदों के; अवने—संरक्षण के लिए; आत्त—धारण करते हुए; योग-माया—अपनी योगमाया द्वारा; आकृतिम्—इस स्वरूप को; परम-हंस—पूर्ण-सन्तों के; गतिम्—लक्ष्य को; नताः स्म—(हम) नतमस्तक हैं।

आपके स्वरूप का तेज भौतिक चेतना के त्रिगुण प्रभावों को दूर करता है और आपके अनुग्रह से हम पूर्ण सुख में निमग्न हो जाते हैं। आपका ज्ञान अविभाज्य तथा असीम है। अपनी योगमाया शक्ति से आपने उन वेदों की रक्षा करने के लिए यह मानव रूप धारण किया है, जो कालक्रम से संकटग्रस्त हो गये थे। हे पूर्ण-सन्तों के चरम लक्ष्य, हम आपके समक्ष नतमस्तक हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण के सुन्दर स्वरूप से निकलने वाले तेजोमय प्रकाश से ही मनुष्य की बुद्धि सारे भौतिक कल्मष से शुद्ध हो जाती है। इस तरह सतो, रजो तथा तमो गुणों में आत्मा के विविध बन्धन छूट जाते हैं। भगवान् के सम्बन्धियों के कहने का मन्तव्य है कि "तब भला कभी भी हमारा अमंगल कैसे हो सकता है? हम सदैव परम सुख में निमग्न रहते हैं।" कृष्ण द्वारा कुशल-क्षेम पूछे

जाने पर यही उनका उत्तर था।

श्रीऋषिरुवाच
इत्युत्तमःश्लोकशिखामणिं जने-
ष्वभिष्टुवत्स्वन्धककौरवस्त्रियः ।
समेत्य गोविन्दकथा मिथोऽगृनं-
स्त्रिलोकगीताः शृणु वर्णयामि ते ॥ ५॥

शब्दार्थ

श्री-ऋषिः उवाच—ऋषि, शुकदेव ने कहा; इति—इस प्रकार; उत्तमः-श्लोक—महापुरुषों के जिनका यशोगान उत्तम श्लोकों द्वारा किया जाता है; शिखा-मणिम्—शिरोमणि (भगवान् कृष्ण); जनेषु—अपने भक्तों में; अभिष्टुवत्सु—महिमागान करते हुए; अन्धक-कौरव—अन्धक तथा कौरव वंशों की; स्त्रियः—स्त्रियाँ; समेत्य—मिल कर; गोविन्द-कथाः—भगवान् गोविन्द की कथाएँ; मिथः—परस्पर; अगृणन्—कहा; त्रि—तीन; लोक—लोकों में; गीताः—गाई गई; शृणु—सुनो; वर्णयामि—मैं वर्णन करूँगा; ते—तुमसे (परीक्षित महाराज से)।

ऋषिवर शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब युधिष्ठिर तथा अन्य लोग महापुरुषों में शिरोमणि भगवान् कृष्ण की इस तरह प्रशंसा कर रहे थे, तो अन्धक तथा कौरव वंश की महिलाएँ एक-दूसरे से मिलीं और तीनों लोकों में गाई जाने वाली गोविन्द विषयक कथाओं की चर्चा करने लगीं। कृपया सुनो, क्योंकि मैं तुमसे इनका वर्णन करने जा रहा हूँ।

श्रीद्रौपद्युवाच
हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे हे जाम्बवति कौशले ।
हे सत्यभामे कालिन्दि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे ॥ ६॥
हे कृष्णपत्न्य एतन्नो ब्रूते वो भगवान्स्वयम् ।
उपयेमे यथा लोकमनुकुर्वन्स्वमायया ॥ ७॥

शब्दार्थ

श्री-द्रौपदी उवाच—श्री द्रौपदी ने कहा; हे वैदर्भि—हे विदर्भ-पुत्री (रुक्मिणी); अच्युतः—भगवान् कृष्ण; भद्रे—हे भद्रा; हे जाम्बवति—हे जाम्बवान-पुत्री; कौशले—हे नाग्नजिती; हे सत्यभामे—हे सत्यभामा; कालिन्दि—हे कालिन्दी; शैब्ये—हे मित्रविन्दा; रोहिणि—हे रोहिणी (नरकासुर के वध के बाद सोलह हजार एक सौ रानियों में से एक, जिसके साथ कृष्ण ने ब्याह किया था); लक्ष्मणे—हे लक्ष्मणा; हे कृष्ण-पत्न्यः—हे कृष्ण की (अन्य) पत्नियो; एतत्—यह; नः—हमसे; ब्रूते—कहें; वः—तुम; भगवान्—भगवान् ने; स्वयम्—साक्षात्; उपयेमे—ब्याहा; यथा—कैसे; लोकम्—सामान्य समाज; अनुकुर्वन्—अनुकरण करते हुए; स्व-मायया—अपनी योगशक्ति से।

श्री द्रौपदी ने कहा : हे वैदर्भी, हे भद्रा, हे जाम्बवती, हे कौशला, हे सत्यभामा तथा कालिन्दी, हे शैब्या, रोहिणी, लक्ष्मणा तथा कृष्ण की अन्य पत्नियो, कृपा करके मुझे बतलाइये कि भगवान् अच्युत ने किस तरह अपनी योगशक्ति से इस संसार की रीति का अनुकरण करते हुए आपमें से हर एक से विवाह किया।

तात्पर्य : यहाँ पर द्रौपदी ने जिस रोहिणी को सम्बोधित किया है, वह बलराम की माता नहीं अपितु अन्य रोहिणी है, जो भौमासुर के कारागार से भगवान् कृष्ण द्वारा छुड़ाई गई सोलह हजार एक सौ राजकुमारियों में अग्रगण्य है। द्रौपदी उसे सोलह हजार एक सौ रानियों की प्रतिनिधि मान कर उसकी ओर अग्रसर होती है। उसे वह श्रीकृष्ण की आठ पटरानियों के तुल्य ही मानती है।

श्रीरुक्मिण्युवाच

चैद्याय मार्पयितुमुद्यतकार्मुकेषु
राजस्वजेयभटशेखरिताङ्घ्रिरेणुः ।
निन्ये मृगेन्द्र इव भागमजावियूथात्
तच्छ्रीनिकेतचरणोऽस्तु ममार्चनाय ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-रुक्मिणी उवाच—श्री रुक्मिणी ने कहा; चैद्याय—शिशुपाल को; मा—मुझको; अर्पयितुम्—प्रदान करने के लिए; उद्यत—तैयार; कार्मुकेषु—जिनके धनुष; राजसु—जब राजा; अजेय—दुर्जय; भट—सैनिकों के; शेखरित—सिर पर रखे; अङ्घ्रि—जिसके पाँवों की; रेणुः—धूलि; निन्ये—हर ले गया; मृगेन्द्रः—सिंह; इव—मानो; भागम्—अपना हिस्सा; अज—बकरियों; अवि—तथा भेड़ों के; यूथात्—रेवड़ से; तत्—उसका; श्री—लक्ष्मीजी का; निकेत—धाम; चरणः—पाँव; अस्तु—होयें; मम—मेरी; अर्चनाय—पूजा के लिए।

श्री रुक्मिणी ने कहा : जब सारे राजा अपने अपने धनुष लिए यह आश्वासन देने के लिए तैयार खड़े थे कि शिशुपाल को मैं अर्पित कर दी जाऊँ, तो अजेय योद्धाओं के सिरों पर अपनी चरण-धूलि रखने वाले ने उनके बीच में से उसी तरह मेरा हरण कर लिया, जिस तरह एक सिंह अपने शिकार को बकरियों तथा भेड़ों के बीच से बलपूर्वक ले जाता है। मैं चाहूँगी कि लक्ष्मीधाम भगवान् कृष्ण के उन पाँवों की पूजा मुझे करने को मिले।

तात्पर्य : कृष्ण द्वारा रुक्मिणी-हरण लीला का वर्णन श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत अध्याय ५२ से ५ तक विस्तार से हुआ है।

श्रीसत्यभामोवाच

यो मे सनाभिवधतप्तहृदा ततेन
लिप्ताभिशापमपमार्ष्टुमुपाजहार ।
जित्वर्क्षराजमथ रत्नमदात्स तेन
भीतः पितादिशत मां प्रभवेऽपि दत्ताम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-सत्यभामा उवाच—सत्यभामा ने कहा; यः—जो; मे—मेरा; सनाभि—मेरे भाई के; वध—मारने से; तप्त—दुखी; हृदा—जिसका हृदय; ततेन—मेरे पिता द्वारा; लिप्त—रँगा हुआ; अभिशापम्—गर्हणा से; अपमार्ष्टुम्—स्वच्छ करने के लिए;

उपाजहार—हटा दिया; जित्वा—जीत कर; ऋक्ष-राजम्—रीछों के राजा जाम्बवान को; अथ—तब; रत्नम्—(स्यमन्तक) मणि; अदात्—दे दिया; सः—उसने; तेन—इसके कारण; भीतः—भयभीत; पिता—मेरे पिता; अदिशत—अर्पित कर दिया; माम्—मुझको; प्रभवे—प्रभु को; अपि—यद्यपि; दत्ताम्—पहले ही प्रदत्त।

श्री सत्यभामा ने कहा : मेरे पिता का हृदय अपने भाई की हत्या से दुखित था, इसलिए उन्होंने भगवान् कृष्ण को इस अपराध के लिए दोषी ठहराया। भगवान् ने अपने यश पर लगे इस धब्बे को मिटाने के लिए रीछों के राजा को हराया और स्यमन्तक मणि वापस लेकर उसे मेरे पिता को लौटा दिया। अपने अपराध के फल से भयभीत मेरे पिता ने मुझे भगवान् को प्रदान कर दिया, यद्यपि मुझे अन्यों को दिये जाने का वायदा (वाग्दान) किया जा चुका था।

तात्पर्य : इस स्कन्ध के छप्पनवें अध्याय में वर्णन हो चुका है कि राजा सत्राजित ने अपनी पुत्री का हाथ पहले अक्रूर को और बाद में स्वयंवर में आये अनेक राजकुमारों को देने का वायदा करके अपने आपसे समझौता कर लिया था। किन्तु जब स्यमन्तक मणि लौट आया तो लज्जावश प्रेरित होकर उसने अपनी पुत्री भगवान् कृष्ण को अर्पित कर दी। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *प्रभवे* (भगवान् को) शब्द से उस शंका का समाधान हो जाता है, जिसमें दूसरों को वचन द्वारा दी गई वधू को कृष्ण को अर्पित करने के औचित्य की बात उठाई जाती है। यह एकदम उचित है कि मनुष्य के पास जो भी वस्तु हो वह उन्हें अर्पित की जाय तथा उनसे किसी वस्तु को रोके रखना अनुचित है।

श्रीजाम्बवत्युवाच
प्राज्ञाय देहकृदमुं निजनाथदैवं
सीतापतिं त्रिनवहान्यमुनाभ्ययुध्यत् ।
ज्ञात्वा परीक्षित उपाहरदर्हणं मां
पादौ प्रगृह्य मणिनाहममुष्य दासी ॥ ॥

शब्दार्थ

श्री-जाम्बवती उवाच—श्री जाम्बवती ने कहा; प्राज्ञाय—अनभिज्ञ; देह—शरीर का; कृत्—बनाने वाला (मेरा पिता); अमुम्—उसको; निज—अपना; नाथ—स्वामी रूप; दैवम्—तथा पूज्य देव; सीता—देवी सीता के; पतिम्—पति को; त्रि—तीन; नव—गुणे नौ; अहानि—दिन; अमुना—उसके साथ; अभ्ययुध्यत्—युद्ध किया; ज्ञात्वा—पहचान कर; परीक्षितः—ठीक से जानकर; उपाहरत्—भेंट कर दिया; अर्हणम्—सादर भेंट तुल्य; माम्—मुझको; पादौ—उनके चरणों को; प्रगृह्य—पकड़ कर; मणिना—मणि के साथ; अहम्—मैं; अमुष्य—उसकी; दासी—नौकरानी।

श्री जाम्बवती ने कहा : यह न जानते हुए कि भगवान् कृष्ण उन्हीं के स्वामी तथा आराध्यदेव, देवी सीता के पति हैं, मेरे पिता उनके साथ सत्ताईस दिनों तक युद्ध करते रहे। अन्त

में जब मेरे पिता को ज्ञान हुआ और उन्होंने प्रभु को पहचाना, तो उन्होंने उनके चरण पकड़ लिये और मुझे तथा स्यमंतक मणि दोनों को आदर के प्रतीक रूप में अर्पित कर दिया। मैं तो प्रभु की दासी मात्र हूँ।

तात्पर्य : जाम्बवान् कई हजारों वर्ष पूर्व भगवान् रामचन्द्र का सेवक था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इसका उल्लेख करते हैं कि जाम्बवती की कथा सुनते हुए वहाँ पर उपस्थित स्त्रियों ने उसे उस लड़की के रूप में पहचान लिया जिसे जाम्बवान् ने एक बार भगवान् राम को उनकी पत्नी के रूप में प्रदान किया था। चूँकि राम ने एक पत्नी-व्रत धारण कर रखा था इसलिए तब उसे वे स्वीकार नहीं कर सके किन्तु जब वे द्वापर युग में कृष्ण के रूप में वापस आये तो उन्होंने ऐसा किया। अन्य रानियों ने इसके लिये जाम्बवती को सम्मान देना चाहा किन्तु उसने विनीत भाव से उत्तर दिया, ''मैं तो भगवान् की दासी मात्र हूँ।''

जाम्बवती तथा सत्यभामा किस तरह कृष्ण की पत्नियाँ बनीं इसका वर्णन दशम स्कंध के छप्पनवें अध्याय में किया जा चुका है।

श्रीकालिन्द्युवाच
तपश्चरन्तीमाज्ञाय स्वपादस्पर्शनाशया ।
सख्योपेत्याग्रहीत्पाणिं योऽहं तद्गृहमार्जनी ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-कालिन्दी उवाच—श्री कालिन्दी ने कहा; तपः—तपस्या; चरन्तीम्—करते हुए; आज्ञाय—जानते हुए; स्व—उनके; पाद—पैरों के; स्पर्शन—स्पर्श की; आशया—इच्छा से; सख्या—अपने मित्र (अर्जुन) सहित; उपेत्य—आकर; अग्रहीत्—ग्रहण किया; पाणिम्—मेरा हाथ; यः—जो; अहम्—मैं; तत्—उसके; गृह—घर की; मार्जनी—बुहारने वाली।

श्री कालिन्दी ने कहा : भगवान् जानते थे कि मैं इस आशा से कठिन तपस्या कर रही हूँ कि एक दिन मुझे उनके चरणकमल स्पर्श करने को मिलेंगे। अतएव वे अपने मित्र के साथ मेरे पास आये और मेरा पाणिग्रहण किया। अब मैं उनके महल को बुहारने वाली दासी के रूप में लगी रहती हूँ।

श्रीमित्रविन्दोवाच
यो मां स्वयंवर उपेत्य विजित्य भूपान्
निन्ये श्वयूथगं इवात्मबलिं द्विपारिः ।

भ्रातृंश्च मेऽपकुरुतः स्वपुरं श्रियौक-
स्तस्यास्तु मेऽनुभवमङ्घ्र्यवनेजनत्वम् ॥ १२॥

शब्दार्थ

श्री-मित्रविन्दा उवाच—श्री मित्रविन्दा ने कहा; यः—जो; माम्—मुझको; स्वयं-वरे—मेरे स्वयंवर के समय (उत्सव जिसमें राजकुमारी कई योग्य वरों में से पति का वरण करती है); उपेत्य—आकर; विजित्य—हराकर; भू-पान्—राजाओंको; निन्ये—ले गया; श्व—कुत्तों के; यूथ—समूह में; गम्—गया हुआ; इव—मानो; आत्म—निजी; बलिम्—भाग को; द्विप-अरिः—हाथियों का शत्रु, सिंह; भ्रातृन्—भाइयों को; च—तथा; मे—मेरा; अपकुरुतः—उनकी निन्दा करने वाले; स्व—अपनी; पुरम्—राजधानी; श्री—लक्ष्मी के; ओकः—निवास; तस्य—उसका; अस्तु—होए; मे—मेरे लिए; अनु-भवम्—जन्म-जन्मांतर; अङ्घ्रि—पाँव; अवनेजनत्वम्—प्रक्षालन करने का पद।

श्री मित्रविन्दा ने कहा : मेरे स्वयंवर समारोह में वे आगे बढ़ आये, वहाँ पर उपस्थित सारे राजाओं को, जिनमें उनका अपमान करने का दुस्साहस करने वाले मेरे भाई भी थे, हरा दिया और मुझे उसी तरह उठा ले गये, जिस तरह सिंह कुत्तों के झुंड में से अपना शिकार उठा ले जाता है। इस तरह लक्ष्मीनिवास भगवान् कृष्ण मुझे अपनी राजधानी में ले आये। मैं चाहती हूँ कि मुझे जन्म-जन्मांतर उनके चरण धोने की सेवा करने का अवसर मिलता रहे।

श्रीसत्योवाच
सप्तोक्षणोऽतिबलवीर्यसुतीक्ष्णशृङ्गान्
पित्रा कृतान्क्षितिपवीर्यपरीक्षणाय ।
तान्वीरदुर्मदहनस्तरसा निगृह्य
क्रीडन्बबन्ध ह यथा शिशवोऽजतोकान् ॥ १३॥
य इत्थं वीर्यशुल्कां मां दासीभिश्चतुरन्गिणीम् ।
पथि निर्जित्य राजन्यान्निन्ये तद्दास्यमस्तु मे ॥ १॥

शब्दार्थ

श्री-सत्या उवाच—श्री सत्या ने कहा; सप्त—सात; उक्षणः—साँड़; अति—विशाल; बल—बलवान्; वीर्य—तथा वीर्यवान्; सु—अत्यधिक; तीक्ष्ण—पैने; शृङ्गान्—जिनके सींगों को; पित्रा—मेरे पिता द्वारा; कृतान्—बनाये गये; क्षितिप—राजाओं के; वीर्य—पराक्रम के; परीक्षणाय—परीक्षा लेने के लिए; तान्—उन (साँड़ों) को; वीर—वीरों के; दुर्मद—मिथ्या अहंकार को; हनः—विनष्ट करने वाले; तरसा—फुर्ती से; निगृह्य—दमन करके; क्रीडन्—खेल करते हुए; बबन्ध ह—बाँध लिया; यथा—जिस तरह; शिशवः—बच्चे; अज—बकरी के; तोकान्—बच्चों को; यः—जो; इत्थम्—इस तरह; वीर्य—बहादुरी; शुल्काम्—मूल्य वाले; माम्—मुझको; दासीभिः—दासियों समेत; चतुः-अङ्गिणीम्—चार टुकड़ियों (रथ, घोड़े, हाथी तथा पैदल) वाली सेना से सुरक्षित; पथि—रास्ते में; निर्जित्य—हराकर; राजन्यान्—राजाओं को; निन्ये—मुझे उठा ले गये; तत्—उनके प्रति; दास्यम्—दास्य भाव; अस्तु—होए; मे—मेरा।

श्री सत्या ने कहा : मेरे पिता ने मेरे साथ पाणिग्रहण के इच्छुक राजाओं के पराक्रम की परीक्षा लेने के लिए घातक पैने सींगों वाले सात अत्यन्त बलशाली तथा जोशीले साँड़ों की व्यवस्था की। यद्यपि ये साँड़ अनेक वीरों के मिथ्या गर्व को चूर-चूर कर चुके थे, किन्तु भगवान् कृष्ण ने बिना प्रयास के ही उन्हें वश में करके बाँध लिया, जिस तरह बच्चे खेल-खेल

में बकरी के बच्चों को बाँध लेते हैं। इस तरह उन्होंने मुझे अपने शौर्य के बल पर मोल ले लिया। तत्पश्चात् वे मेरे मार्ग में विरोध करने वाले सारे राजाओं को हराते हुए मुझे मेरी दासियों तथा चतुरंगिणी सेना समेत ले गये। मेरी यही अभिलाषा है कि उन प्रभु की सेवा करने का सुअवसर मुझे प्राप्त होता रहे।

श्रीभद्रोवाच

पिता मे मातुलेयाय स्वयमाहूय दत्तवान् ।
कृष्णे कृष्णाय तच्चित्तामक्षौहिण्या सखीजनैः ॥ १५ ॥
अस्य मे पादसंस्पर्शो भवेज्जन्मनि जन्मनि ।
कर्मभिर्भ्राम्यमाणाया येन तच्छ्रेय आत्मनः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भद्रा उवाच—श्री भद्रा ने कहा; पिता—पिता ने; मे—मेरे; मातुलेयाय—मेरे मामा के पुत्र को; स्वयम्—स्वेच्छा से; आहूय—बुलाकर; दत्तवान्—दिया; कृष्णे—हे कृष्णा (द्रौपदी); कृष्णाय—भगवान् कृष्णको; तत्—जिसमें समाया; चित्ताम्—जिसका हृदय; अक्षौहिण्या—एक अक्षौहिणी सैनिक रक्षक सहित; सखी-जनैः—अपनी सखियों के साथ; अस्य—उसका; मे—मेरे लिए; पाद—पाँवों का; संस्पर्शः—स्पर्श; भवेत्—शायद हो; जन्मनि जन्मनि—जन्म-जन्मांतर तक; कर्मभिः—भौतिक कार्यों के फलस्वरूप; भ्राम्यमाणायाः—जो घूम रहा होगा; येन—जिससे; तत्—वह; श्रेयः—चरम सिद्धि; आत्मनः—अपने को।.

श्री भद्रा ने कहा : हे द्रौपदी, मेरे पिता ने स्वयं ही मेरे मामा के पुत्र कृष्ण को बुलाया था, जिन्हें मैं पहले ही अपना हृदय सौंप चुकी थी और उन्होंने मुझे उनकी दुलहन के रूप में अर्पित कर दिया। मेरे पिता ने मेरे साथ उन्हें एक अक्षौहिणी सैन्य रक्षक और मेरी सखियों की एक टोली भी दी थी। मेरी चरम सिद्धि यही होगी कि जब मैं अपने कर्म से बँध कर एक जन्म से दूसरे जन्म में भ्रमण करूँ, तो मुझे भगवान् कृष्ण के चरणकमलों को स्पर्श करने की अनुमति सदैव मिलती रहे।

तात्पर्य : *आत्मनः* शब्द के प्रयोग द्वारा रानी भद्रा न केवल अपनी बात कहती है, अपितु सारे जीवों की बात कहती है। आत्मा की सिद्धि (*श्रेय आत्मनः*) भगवान् कृष्ण की भक्ति है, जिससे इस लोक में तथा इससे परे भी मुक्ति मिलती है।

श्रील जीव गोस्वामी की टीका है कि यद्यपि सुसंस्कृत समाज में अपने गुरु या पति का नाम सबके सामने लेना असम्मानजनक माना जाता है, किन्तु कृष्ण का नाम अद्वितीय है—केवल कृष्ण-नाम का उच्चारण ही ईश्वर के प्रति सर्वाधिक आदर का सूचक है। *श्वेताश्वतर उपनिषद* (.१९) में कहा गया

है— *यस्य नाम महद् यश:*—भगवान् का पवित्र नाम परम यशस्वी है।

श्रीलक्ष्मणोवाच
ममापि राज्ञ्यच्युतजन्मकर्म
श्रुत्वा मुहुर्नारदगीतमास ह ।
चित्तं मुकुन्दे किल पद्महस्तया
वृतः सुसम्मृश्य विहाय लोकपान् ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-लक्ष्मणा उवाच—श्री लक्ष्मणा ने कहा; मम—मेरा; अपि—भी; राज्ञि—हे रानी; अच्युत—भगवान् कृष्ण के; जन्म—जन्मों; कर्म—तथा कर्मों के विषय में; श्रुत्वा—सुन कर; मुहुः—बारम्बार; नारद—नारदमुनि द्वारा; गीतम्—उच्चारित; आस ह—बन गया; चित्तम्—मेरा हृदय; मुकुन्दे—मुकुन्द पर (टिका); किल—निस्सन्देह; पद्म-हस्तया—हाथ में पद्म धारण किये लक्ष्मी द्वारा; वृतः—चुनी हुई; सु—सावधानीपूर्वक; सम्मृश्य—विचार करके; विहाय—त्याग कर; लोक—लोकों के; पान्—शासकगण को।

श्री लक्ष्मणा ने कहा : हे रानी, मैंने नारद मुनि को भगवान् अच्युत के अवतारों तथा कार्यों की बारम्बार महिमा गाते सुना और इस तरह मेरा मन भी उन्हीं भगवान् मुकुन्द के प्रति आसक्त हो गया। दरअसल, देवी पद्महस्ता ने विविध लोकों पर शासन करने वाले बड़े बड़े देवताओं को तिरस्कृत करके काफी ध्यानपूर्वक विचार करने के बाद, उन्हें अपने पति के रूप में चुना है।

ज्ञात्वा मम मतं साध्वि पिता दुहितृवत्सलः ।
बृहत्सेन इति ख्यातस्तत्रोपायमचीकरत् ॥ १८॥

शब्दार्थ

ज्ञात्वा—जान कर; मम—मेरी; मतम्—मानसिकता; साध्वि—हे साधु स्वभाव वाली स्त्री; पिता—मेरा पिता; दुहितृ—अपनी पुत्री के प्रति; वत्सलः—स्नेही; बृहत्सेनः इति ख्यातः—बृहत्सेन के रूप में विख्यात; तत्र—उस दिशा में; उपायम्—साधन की; अचीकरत्—व्यवस्था कर दी।

मेरे पिता बृहत्सेन स्वभाव से अपनी पुत्री के ऊपर अनुकम्पावान थे और हे साध्वी, यह जानते हुए कि मैं कैसा अनुभव कर रही हूँ, उन्होंने मेरी इच्छा पूरी करने की व्यवस्था कर दी।

यथा स्वयंवरे राज्ञि मत्स्यः पार्थेप्सया कृतः ।
अयं तु बहिराच्छन्नो दृश्यते स जले परम् ॥ १९॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; स्वयम्-वरे—(तुम्हारे) स्वयंवर में; राज्ञि—हे रानी; मत्स्यः—एक मछली; पार्थ—अर्जुन को; ईप्सया—प्राप्त करने की इच्छा से; कृतः—(लक्ष्य) बनाया; अयम्—यह (मछली); तु—किन्तु; बहिः—बाहर से; आच्छन्नः—ढकी; दृश्यते—देखा जा सकता था; सः—वह; जले—जल में; परम्—एकमात्र।

हे रानी, जिस तरह आपके स्वयंवर समारोह में एक मछली का प्रयोग लक्ष्य के तौर पर यह

निश्चित करने के लिए हुआ था कि आप अर्जुन को पति रूप में पा सकें, उसी तरह मेरे स्वयंवर में भी एक मछली का ही प्रयोग हुआ। किन्तु मेरे संबंध में यह मछली चारों ओर से ढक दी गई थी और नीचे रखे जल-पात्र में इसका प्रतिबिम्ब ही देखा जा सकता था।

तात्पर्य : अर्जुन सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर के रूप में विख्यात हैं। तो फिर वे श्रीमती लक्ष्मणा के स्वयंवर में उसी तरह मत्स्य-बेध क्यों नहीं कर सके, जिस तरह एक बार पहले द्रौपदी को जीतने के समय किया था? श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं: द्रौपदी के स्वयंवर में लक्ष्य को अंशत: ढका गया था जिससे बेधने वाला उसे देख सकता था, यदि वह उस स्तम्भ जिस पर वह रखी थी को सीधे ऊपर की ओर देखता। किन्तु लक्ष्मणा के लक्ष्य-वेध के लिए एक साथ ऊपर-नीचे देख कर निशाना लगाना आवश्यक था, जो किसी भी मनुष्य के लिए असम्भव कौशल था। इसीलिए उस लक्ष्य को केवल कृष्ण ही बेध सके।

श्रुत्वैतत्सर्वतो भूपा आययुर्मत्पितु: पुरम् ।
सर्वास्त्रशस्त्रतत्त्वज्ञा: सोपाध्याया: सहस्रश: ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; एतत्—इसके; सर्वत:—चारों ओर से; भू-पा:—राजागण; आययु:—आये; मत्—मेरे; पितु:—पिता के; पुरम्—नगर में; सर्व—समस्त; अस्त्र—तीर जैसे हथियार; शस्त्र—तथा अन्य हथियार; तत्त्व—विज्ञान के; ज्ञा:—कुशल ज्ञाता; स—सहित; उपाध्याया:—अपने अपने गुरुओं; सहस्रश:—हजारों में।

यह सुन कर बाण चलाने तथा अन्य हथियारों को उपयोग में लाने में दक्ष हजारों राजा अपने सैन्य शिक्षकों के साथ मेरे पिता के नगर में सभी दिशाओं से एकत्र हुए।

पित्रा सम्पूजिता: सर्वे यथावीर्यं यथावय: ।
आददु: सशरं चापं वेद्धुं पर्षदि मद्धिय: ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पित्रा—मेरे पिता द्वारा; सम्पूजिता:—पूर्णतया आदरित; सर्वे—सारे जन; यथा—अनुरूप; वीर्यम्—शक्ति के; यथा—अनुरूप; वय:—आयु के; आददु:—उठा लिया; स—सहित; शरम्—बाण; चापम्—धनुष; वेद्धुम्—(लक्ष्य) बेधने के लिए; पर्षदि—सभा में; मत्—मुझ पर (स्थिर); धिय:—मनों वाले।

मेरे पिता ने हर राजा को उसके बल तथा वरिष्ठता के अनुसार उचित सम्मान दिया। तब जिन लोगों के मन मुझ पर टिके थे, उन्होंने अपना धनुष-बाण उठाया और सभा के मध्य एक-एक करके, लक्ष्य को बेधने का प्रयत्न करने लगे।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार केवल वे ही राजा जो राजकुमारी को पाने पर पूरी तरह मन बना चुके थे लक्ष्य-बेध करने का साहस जुटा पाये।

आदाय व्यसृजन्केचित्सज्यं कर्तुमनीश्वराः ।
आकोष्ठं ज्यां समुत्कृष्य पेतुरेकेऽमुनाहताः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

आदाय—उठाकर; व्यसृजन्—जाने दिया; केचित्—उनमें से कुछ ने; सज्यम्—डोरी; कर्तुम्—चढ़ाने में; अनीश्वराः—असमर्थ; आ-कोष्ठम्—(धनुष के) सिरे तक; ज्याम्—धनुष की डोरी को; समुत्कृष्य—खींच कर; पेतुः—गिर पड़े; एके—कुछ; अमुना—इस (धनुष) से; हताः—चोट खाये।

उनमें से कुछ ने धनुष उठाया, किन्तु उसकी डोरी नहीं चढ़ा सके, अतएव हताश होकर उन्होंने उसे एक ओर फेंक दिया। कुछ ने धनुष की डोरी को धनुष के एक सिरे तक खींच तो लिया, किन्तु इससे धनुष पीछे उछला और उन्हें ही जमीन पर पटक दिया।

सज्यं कृत्वापरे वीरा मागधाम्बष्ठचेदिपाः ।
भीमो दुर्योधनः कर्णो नाविदंस्तदवस्थितिम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सज्यम्—साज; कृत्वा—करके; अपरे—अन्य; वीराः—वीर पुरुष; मागध—मगध का राजा (जरासन्ध); अम्बष्ठ—अम्बष्ठ का राजा; चेदि-पाः—चेदि का शासक (शिशुपाल); भीमः दुर्योधनः कर्णः—भीम, दुर्योधन तथा कर्ण; न अविदन्—नहीं ढूँढ़ पाये; तद्—इस (लक्ष्य) की; अवस्थितिम्—स्थिति, स्थान।

कुछ वीर यथा जरासन्ध, शिशुपाल, भीम, दुर्योधन, कर्ण तथा अम्बष्ठराज धनुष पर डोरी चढ़ाने में सफल तो रहे, किन्तु इनमें से कोई भी लक्ष्य को ढूँढ़ नहीं सका।

तात्पर्य : ये राजा शरीर से अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट थे किन्तु लक्ष्य ढूँढ़ने में काफी दक्ष नहीं थे।

मत्स्याभासं जले वीक्ष्य ज्ञात्वा च तदवस्थितिम् ।
पार्थो यत्तोऽसृजद्बाणं नाच्छिनत्पस्पृशे परम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

मत्स्य—मछली की; आभासम्—परछाईं; जले—जल में; वीक्ष्य—देखकर; ज्ञात्वा—जान कर; च—तथा; तत्—उसकी; अवस्थितिम्—स्थिति; पार्थः—अर्जुन ने; यत्तः—सावधानी से निशाना लगाते हुए; असृजत्—छोड़ा; बाणम्—बाण; न अच्छिनत्—बेधा नहीं; पस्पृशे—छुआ; परम्—केवल।

तब अर्जुन ने जल में मछली की परछाईं की ओर देखा और उसकी स्थिति निर्धारित की। किन्तु जब उसने सावधानी से उस पर अपना बाण छोड़ा, तो वह लक्ष्य को बेध नहीं पाया, अपितु मात्र उसको स्पर्श करके निकल गया।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की व्याख्या के अनुसार अर्जुन अन्य राजाओं की अपेक्षा अधिक कुशल निशानेबाज था, किन्तु उसकी शारीरिक शक्ति पर्याप्त न थी कि वह उसे बिल्कुल ठीक तरह से बेध सकता।

राजन्येषु निवृत्तेषु भग्नमानेषु मानिषु ।
भगवान्धनुरादाय सज्यं कृत्वाथ लीलया ॥ २५ ॥
तस्मिन्सन्धाय विशिखं मत्स्यं वीक्ष्य सकृज्जले ।
छित्त्वेषुणापातयत्तं सूर्ये चाभिजिति स्थिते ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

राजन्येषु—जब राजाओं ने; निवृत्तेषु—त्याग दिया; भग्न—पराजित; मानेषु—जिनका गर्व; मानिषु—घमंडी; भगवान्—भगवान् ने; धनुः—धनुष; आदाय—लेकर; सज्यम् कृत्वा—डोरी चढ़ाकर; अथ—तब; लीलया—खेल-खेल में; तस्मिन्—उसमें; सन्धाय—स्थिर करके; विशिखम्—बाण; मत्स्यम्—मछली को; वीक्ष्य—देखकर; सकृत्—केवल एक बार; जले—जल में; छित्त्वा—भेद कर; इषुणा—बाण से; अपातयत्—गिरा दिया; तम्—उसको; सूर्ये—जब सूर्य; च—तथा; अभिजिते—अभिजित नक्षत्र में; स्थिते—स्थित।

जब सारे दम्भी राजाओं का घमंड चूर-चूर हो गया और उन्होंने यह प्रयास त्याग दिया, तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने धनुष उठाया, आसानी से डोरी चढ़ाई और तब उस पर बाण स्थिर किया। ज्योंही सूर्य अभिजित नक्षत्र में आया, तो उन्होंने जल में मछली को केवल एक बार देखा और फिर उसे बाण से बेध कर जमीन पर गिरा दिया।

तात्पर्य : प्रतिदिन सूर्य एक बार अभिजित नक्षत्र से होकर गुजरता है, जिससे वह समय विजय के लिए सबसे शुभ हो जाता है। जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इंगित किया है कि इस विशेष दिन अभिजित मुहूर्त मध्याह्न से मेल खा रहा था, जिससे भगवान् कृष्ण की महानता की और भी पुष्टि होती है, क्योंकि इससे निशाने को देख पाना और भी कठिन हो जाता है।

दिवि दुन्दुभयो नेदुर्जयशब्दयुता भुवि ।
देवाश्च कुसुमासारान्मुमुचुर्हर्षविह्वलाः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

दिवि—आकाश में; दुन्दुभयः—दुन्दुभियाँ; नेदुः—ध्वनि करने लगीं; जय—विजय; शब्द—ध्वनि; युताः—के साथ; भुवि—पृथ्वी पर; देवाः—देवतागण; च—तथा; कुसुम—फूलों की; आसारान्—वर्षा; मुमुचुः—उन्मुक्त की; हर्ष—हर्ष से; विह्वलाः—विह्वल।

आकाश में दुन्दुभियाँ बजने लगीं और पृथ्वी पर लोग जय! जय! की ध्वनि करने लगे। देवताओं ने अति प्रसन्न होकर फूल बरसाये।

तद्रङ्गमाविशमहं कलनूपुराभ्यां
पद्‍भ्यां प्रगृह्य कनकोइज्वलरत्नमालाम् ।
नूत्ने निवीय परिधाय च कौशिकाछ्ये
सव्रीडहासवदना कवरीधृतस्त्रक् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तत्—तब; रङ्गम्—रंगशाला में; आविशम्—प्रविष्ट हुई; अहम्—मैं; कल—मधुर ध्वनि करते; नूपुराभ्याम्—नूपुरों से; पद्‍भ्याम्—पाँवों से; प्रगृह्य—पकड़ कर; कनक—सोने के; उज्ज्वल—चमकीले; रत्न—रत्नों से; मालाम्—हार; नूत्ने—नवीन; निवीय—करधनी से बाँध कर; परिधाय—पहन कर; च—तथा; कौशिक—रेशमी वस्त्रों की जोड़ी; अछ्ये—उत्तम; स-व्रीड—लज्जालु; हास—हँसी से युक्त; वदना—मुख वाली; कवरी—बालों का गुच्छा; धृत—धारण किये; स्त्रक्—फूलों की माला।

तभी मैं रंगशाला में गई। मेरे पाँवों के नूपुर मन्द ध्वनि कर रहे थे। मैं उत्तम कोटि के रेशम के नये वस्त्र पहने थी, जिसके ऊपर करधनी बँधी थी और मैं सोने तथा रत्नों से बना चमकीला हार धारण किये थी। मेरे मुख पर लजीली मुसकान थी और मेरे बालों में फूलों की माला थी।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं कि श्री लक्ष्मणा यह स्मरण करके कि उसने भगवान् को किस प्रकार प्राप्त किया अत्यन्त उत्तेजित थी, इसलिए वह अपनी सहज लज्जा भूल कर अपनी सफलता का बखान करने लगी।

उन्नीय वक्त्रमुरुकुन्तलकुण्डलत्विड्-
गण्डस्थलं शिशिरहासकटाक्षमोक्षैः ।
राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्मुरारे-
रंसेऽनुरक्तहृदया निदधे स्वमालाम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

उन्नीय—उठाकर; वक्त्रम्—मुखमंडल; उरु—प्रचुर; कुन्तल—बालों के गुच्छों से; कुण्डल—कान के आभूषणों के; त्विट्—तथा तेज से; गण्ड-स्थलम्—गाल; शिशिर—शीतल; हास—हँसी से युक्त; कट-अक्ष—तिरछी चितवनों के; मोक्षैः—डालने से; राज्ञः—राजाओं को; निरीक्ष्य—देख कर; परितः—चारों ओर; शनकैः—धीरे-धीरे; मुरारेः—कृष्ण के; अंसे—कंधे पर; अनुरक्त—आकृष्ट; हृदया—हृदय वाली; निदधे—मैंने पहना दिया; स्व—अपना; मालाम्—गले का हार।

मैंने अपना सिर उठाया, जो मेरे प्रचुर बालों के गुच्छों तथा मेरे गालों से परावर्तित मेरे कुण्डलों की चमक के तेज से घिरा था। मैंने शान्त भाव से मन्द-हास के साथ इधर-उधर दृष्टि फेरी। तब चारों ओर सारे राजाओं को देखते हुए, मैंने धीरे से हार को मुरारी के कन्धों (गले) पर डाल दिया, जिसने मेरे मन को हर रखा था।

तावन्मृदङ्गपटहाः शङ्खभेर्यानकादयः ।

निनेदुर्नटनर्तक्यो ननृतुर्गायका जगुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तावत्—तभी; मृदङ्ग-पटहाः—मृदंग तथा पटह; शङ्ख—शंख; भेरी—दुन्दुभी; आनक—बड़े बड़े सैन्य नगाड़े; आदयः—इत्यादि; निनेदुः—गूँजने लगे; नट—पुरुष नर्तक; नर्तक्यः—तथा नर्तकियाँ; ननृतुः—नाचने लगीं; गायकाः—गाने वाले; जगुः—गाने लगे।

तभी शंखों तथा मृदंग, पटह, भेरी और आनक नगाड़ों एवं अन्य वाद्य जोर-जोर से बजने लगे। नट तथा नर्तकियाँ नाचने लगे और गवैये गाने लगे।

एवं वृते भगवति मयेशे नृपयूथपाः ।
न सेहिरे याज्ञसेनि स्पर्धन्तो हृच्छयातुराः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; वृते—चुने जाने पर; भगवति—भगवान् के; मया—मेरे द्वारा; ईशे—स्वामी; नृप—राजाओं के; यूथ-पाः—नायक; न सेहिरे—सहन नहीं कर सके; याज्ञसेनि—हे द्रौपदी; स्पर्धन्तः—लड़ते-झगड़ते; हृत्-शय—काम द्वारा; आतुराः—पीड़ित।

हे द्रौपदी, मेरे द्वारा भगवान् का चुना जाना प्रमुख राजाओं को सहन नहीं हो सका। वे कामातुर होने के कारण लड़ने-झगड़ने लगे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की टीका है कि काम के दूषण से वे राजा मूर्खतापूर्वक भगवान् से झगड़ने लगे, यद्यपि उन्होंने उनकी परम शक्ति देख ली थी।

मां तावद्रथमारोप्य हयरत्नचतुष्टयम् ।
शार्ङ्गमुद्यम्य सन्नद्धस्तस्थावाजौ चतुर्भुजः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; तावत्—उस समय; रथम्—रथ पर; आरोप्य—चढ़ाकर; हय—घोड़ों में; रत्न—रत्न; चतुष्टयम्—चार; शार्ङ्गम्—शार्ङ्ग नामक अपना धनुष; उद्यम्य—तैयार करके; सन्नद्धः—कवच पहन कर; तस्थौ—खड़े रहे; आजौ—युद्धभूमि में; चतुः—चार; भुजः—भुजाओं वाले।

तत्पश्चात् भगवान् ने मुझे चार अतीव उत्तम घोड़ों से खींचे जाने वाले अपने रथ में बिठा लिया। अपना कवच पहन कर तथा अपना शार्ङ्ग धनुष तैयार करके, वे रथ पर खड़े हो गये और युद्धभूमि में उन्होंने अपनी चार भुजाएँ प्रकट कीं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार भगवान् कृष्ण ने अपनी चार भुजाओं में से दो से अपनी पत्नी का आलिंगन किया और अन्य दो से धनुष-बाण ग्रहण किया।

दारुकश्चोदयामास काञ्चनोपस्करं रथम् ।
मिषतां भूभुजां राज्ञि मृगाणां मृगराडिव ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

दारुकः—दारुक (कृष्ण के सारथी) ने; चोदयाम् आस—हाँक दिया; काञ्चन—सोने के; उपस्करम्—किनारों वाला; रथम्—रथ; मिषताम्—उनके देखते-देखते; भू-भुजाम्—राजाओं के; राज्ञि—हे रानी; मृगाणाम्—पशुओं के; मृग-राट्—पशुओं का राजा, सिंह; इव—सदृश।

हे रानी, सारथी दारुक राजाओं के देखते-देखते भगवान् के सुनहरे किनारों वाले रथ को उसी तरह हाँक ले गया, जिस तरह छोटे छोटे पशु निस्सहाय होकर सिंह को देखते रह जाते हैं।

तेऽन्वसज्जन्त राजन्या निषेद्धुं पथि केचन ।
संयत्ता उद्धृतेष्वासा ग्रामसिंहा यथा हरिम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; अन्वसज्जन्त—पीछा करते हुए; राजन्याः—राजागण; निषेद्धुम्—रोकने के लिए; पथि—रास्ते में; केचन—उनमें से कुछ; संयत्ताः—सन्नद्ध; उद्धृत—उठे हुए; इषु-आसाः—बाणों वाले; ग्राम-सिंहा—गाँव के शेर (कुत्ते); यथा—जिस तरह; हरिम्—सिंह को।

राजाओं ने भगवान् का पीछा किया, जिस तरह सिंह का पीछा गाँव के कुत्ते करते हैं। कुछ राजा अपने धनुष उठाये हुए, उन्हें जाने से रोकने के लिए मार्ग में आ डटे।

ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैः कृत्तबाह्वङ्घ्रिकन्धराः ।
निपेतुः प्रधने केचिदेके सन्त्यज्य दुद्रुवुः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; शार्ङ्ग—कृष्ण के धनुष से; च्युत—छोड़े गये, निकले; बाण—बाणों की; ओघैः—बाढ़ से; कृत्त—घायल; बाहु—बाहुओं वाले; अङ्घ्रि—पैर; कन्धराः—तथा गर्दनें; निपेतुः—गिरा दिया; प्रधने—युद्धस्थल में; केचित्—कुछ; एके—कुछ; सन्त्यज्य—त्याग कर; दुद्रुवुः—भाग गये।

ये योद्धा भगवान् के शार्ङ्ग धनुष द्वारा छोड़े गये बाणों से अभिभूत हो गये। कुछ राजाओं की भुजाएँ, टांगें तथा गर्दनें कट गईं और वे युद्धभूमि में गिर पड़े। शेष लड़ना छोड़ कर भाग गये।

ततः पुरीं यदुपतिरत्यलङ्कृतां
रविच्छदध्वजपटचित्रतोरणाम् ।
कुशस्थलीं दिवि भुवि चाभिसंस्तुतां
समाविशत्तरणिरिव स्वकेतनम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; पुरीम्—नगरी; यदु-पतिः—यादवों के स्वामी; अति—अत्यधिक; अलङ्कृताम्—अलंकृत; रवि—सूर्य; छद—रोकते हुए; ध्वज—दंडों पर; पट—पताकाओं समेत; चित्र—विचित्र; तोरणाम्—तथा तोरण से युक्त; कुशस्थलीम्—द्वारका; दिवि—स्वर्ग में; भुवि—पृथ्वी पर; च—तथा; अभिसंस्तुताम्—प्रशंसित; समाविशत्—प्रवेश किया; तरणिः—सूर्य; इव—सदृश; स्व—अपने; केतनम्—धाम में।

तब यदुपति ने अपनी राजधानी कुशस्थली (द्वारका) में प्रवेश किया, जो स्वर्ग में तथा पृथ्वी पर प्रशंसित है। नगर को पताकाओं से युक्त दंडों से सजाया गया था, जो सूर्य को ढक दे रहे थे तथा शानदार तोरण भी लगाये गये थे। जब कृष्ण ने प्रवेश किया, तो वे ऐसे लग रहे थे, मानो सूर्य देव अपने धाम में प्रवेश कर रहे हों।

तात्पर्य : सूर्य का धाम पश्चिमी पर्वत मालाएँ हैं जहाँ हर संध्या को सूर्य अस्त होता है।

पिता मे पूजयामास सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान् ।
महार्हवासोऽलङ्कारैः शय्यासनपरिच्छदैः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

पिता—पिता ने; मे—मेरे; पूजयाम् आस—पूजा की; सुहृत्—अपने मित्रों; सम्बन्धि—सम्बन्धी लोगों; बान्धवान्—तथा अन्य पारिवारिक सदस्यों की; महा—अत्यन्त; अर्ह—मूल्यवान; वासः—वस्त्रों; अलङ्कारैः—तथा आभूषणों से; शय्या—पलंग; आसन—सिंहासन; परिच्छदैः—तथा अन्य साज-सामान से।

मेरे पिताजी ने अपने मित्रों, परिवार वालों तथा मेरे ससुराल वालों का सम्मान बहुमूल्य वस्त्रों, आभूषणों, राजसी पलंगों, सिंहासनों तथा अन्य साज-सामग्री से किया।

दासीभिः सर्वसम्पद्भिर्भटेभरथवाजिभिः ।
आयुधानि महार्हाणि ददौ पूर्णस्य भक्तितः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

दासीभिः—दासियों के साथ; सर्व—समस्त; सम्पद्भिः—धन से; भट—पैदल सिपाहियों से; इभ—हाथी पर सवार सैनिकों से; रथ—रथ पर सवार सैनिकों से; वाजिभिः—तथा घोड़े पर सवार सैनिकों से; आयुधानि—हथियार; महा-अर्हाणि—अत्यन्त मूल्यवान; ददौ—दिया; पूर्णस्य—परम पूर्ण भगवान् को; भक्तितः—भक्तिवश।

उन्होंने परमपूर्ण भगवान् को भक्तिपूर्वक अनेक दासियाँ दीं, जो बहुमूल्य आभूषणों से अलंकृत थीं। इन दासियों के साथ अंगरक्षक थे, जिनमें से कुछ पैदल थे, तो कुछ हाथियों, रथों और घोड़ों पर सवार थे। उन्होंने भगवान् को अत्यन्त मूल्यवान हथियार भी दिये।

तात्पर्य : भगवान् अपने आप में पूर्ण हैं। उन्हें अपनी तुष्टि के लिए कुछ भी नहीं चाहिए। यह जानते हुए भी भक्त प्रेमवश, *भक्तितः* अर्थात, किसी भौतिक लाभ की आशा किये बिना भेंट चढ़ाता है। और भगवान् प्रेमपूर्वक चढ़ाई छोटी से छोटी भेंट—फूल, तुलसी दल तथा जल—को स्वीकार कर लेते

हैं।

आत्मारामस्य तस्येमा वयं वै गृहदासिकाः ।
सर्वसङ्गनिवृत्त्याद्धा तपसा च बभूविम ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

आत्म-आरामस्य—आत्मतुष्ट की; तस्य—उस; इमाः—ये; वयम्—हम; वै—निस्सन्देह; गृह—घर में; दासिकाः—दासियाँ; सर्व—सभी; सङ्ग—भौतिक संगति के; निवृत्त्या—परित्याग से; अद्धा—प्रत्यक्ष; तपसा—तपस्या द्वारा; च—तथा; बभूविम—बन गई हैं।

इस तरह समस्त भौतिक संगति का परित्याग करके तथा तपस्या करके, हम सारी रानियाँ आत्माराम भगवान् की दासियाँ बन चुकी हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के मतानुसार श्रीमती लक्ष्मणा को अत्यन्त द्विविधा हो गई जब उन्हें ध्यान आया कि वे अपने विषय में इतनी देर से बातें कहे जा रही हैं, इसलिए उन्होंने यह श्लोक अपनी सौतों (सपत्नियों) की प्रशंसा करने के लिए कहा। लक्ष्मणा ने विनम्रतापूर्ण स्वीकार किया कि कृष्ण की रानियाँ सामान्य पत्नियों से सर्वथा भिन्न होने से अपने पति को अपने वश में न कर सकीं इसलिए वे अपने को उनकी दासियाँ ही कह सकती थीं। किन्तु वास्तव में भगवान् की रानियाँ तो उनकी अन्तरंगा ह्लादिनी शक्ति की प्रत्यक्ष अंशरूप हैं, अतएव वे अपने अपने प्रेम से उन्हें पूर्णतया वशीभूत किये थीं।

महिष्य ऊचुः
भौमं निहत्य सगणं युधि तेन रुद्धा
ज्ञात्वाथ नः क्षितिजये जितराजकन्याः ।
निर्मुच्य संसृतिविमोक्षमनुस्मरन्तीः
पादाम्बुजं परिणिनाय य आप्तकामः ॥ ० ॥

शब्दार्थ

महिष्यः ऊचुः—(अन्य) रानियों ने कहा; भौमम्—भौम असुर को; निहत्य—मार कर; स—सहित; गणम्—अपने अनुचरों के; युधि—युद्ध में; तेन—उस (भौम) के द्वारा; रुद्धाः—बन्दी बनाई; ज्ञात्वा—जान कर; अथ—तब; नः—हमको; क्षिति-जये—(भौम द्वारा) पृथ्वी पर विजय के समय; जित—पराजित; राज—राजाओं की; कन्याः—पुत्रियों को; निर्मुच्य—छुड़ाकर; संसृति—संसार से; विमोक्षम्—मोक्ष (के स्रोत); अनुस्मरन्तीः—निरन्तर स्मरण करती हुई; पाद-अम्बुजम्—उनके चरणकमल; परिणिनाय—विवाह किया; यः—जो; आप्त-कामः—जिनकी सारी इच्छाएँ पहले से पूर्ण हो चुकी हैं।

अन्य रानियों की ओर से रोहिणीदेवी ने कहा : भौमासुर तथा उसके अनुयायियों का वध करने के बाद भगवान् ने हमें उस असुर के बन्दीगृह में पाया और वे यह समझ गये कि हम उन

राजाओं की कन्याएँ हैं, जिन्हें भौम ने पृथ्वी पर विजय करते समय पराजित किया था। भगवान् ने हमें बन्दी-गृह से मुक्त कराया और चूँकि हम भौतिक बन्धन से मोक्ष के स्रोत उन भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर ध्यान करती रही थीं, इसलिए वे हमसे विवाह करने के लिए राजी हो गये, यद्यपि उनकी हर इच्छा पहले से पूरी रहती है।

तात्पर्य : रोहिणीदेवी उन नौ रानियों में से हैं, जिनसे द्रौपदी ने श्लोक ६ तथा ७ में प्रश्न किया था। इसलिए यहाँ पर मान लिया गया है कि वह अन्य १६,०९९ रानियों की ओर से बोल रही हैं। श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* में इसकी पुष्टि की है।

न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत ।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम् ॥ १ ॥
कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः ।
कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वयम्—हम; साध्वि—हे सन्त स्वभाव वाली (द्रौपदी); साम्राज्यम्—समस्त पृथ्वी पर शासन; स्वा-राज्यम्—स्वर्ग के राजा इन्द्र का पद; भौज्यम्—भोग की असीम शक्ति; अपि उत—भी; वैराज्यम्—योगशक्ति; पारमेष्ठ्यम्—ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्मा का पद; च—तथा; आनन्त्यम्—अमरता; वा—अथवा; हरेः—भगवान् के; पदम्—धाम की; कामयामहे—कामना करती हैं; एतस्य—उनके; श्री-मत्—दैवी; पाद—पैरों की; रजः—धूल; श्रियः—लक्ष्मी के; कुच—स्तन से; कुङ्कुम—सुगन्धित चूर्ण की; गन्ध—सुगन्ध से; आढ्यम्—समृद्ध, युक्त; मूर्ध्ना—अपने सिरों पर; वोढुम्—धारण करने के लिए; गदाभृतः—गदा चलाने वाले भगवान् कृष्ण के।

हे साध्वी, हमें पृथ्वी पर शासन, इन्द्र का पद, भोग की असीम सुविधा, योगशक्ति, ब्रह्मा का पद, अमरता या भगवद्धाम प्राप्त करने की भी इच्छा नहीं है। हम केवल इतना ही चाहती हैं कि भगवान् कृष्ण के उन चरणों की यशस्वी धूल को अपने सिर पर धारण करें, जो उनकी प्रियतमा के स्तन के कुंकुम की सुगन्धि से युक्त है।

तात्पर्य : *राज्* क्रिया का अर्थ है "शासन करना।" इसीसे *साम्राज्यम्* शब्द निकला है, जिसका अर्थ है "समूची पृथ्वी पर शासन" तथा *स्वाराज्यम्* का अर्थ है "स्वर्ग पर शासन।" *भौज्यम्* शब्द *भुज्* क्रिया से ("भोग करना") निकला है अतएव इसका अर्थ हुआ इच्छानुसार भोग करने की क्षमता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *विराट्* की व्याख्या *विविधं विराजते* (अनेक प्रकार का ऐश्वर्य भोगने वाला) पद के रूप में की है और आठ सिद्धियों—अणिमा इत्यादि—का विशेष उल्लेख किया है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने इन शब्दों की वैकल्पिक व्याख्या की है। उनका कहना है कि *बह्वृचच*

ब्राह्मण के अनुसार ये चारों शब्द चारों दिशाओं के ऊपर पूर्णसत्ता की शक्ति को बतलाने वाले हैं—*साम्राज्य*—पूर्व के लिए, *भौज्य*—दक्षिण के लिए, *स्वाराज्य*—पश्चिम के लिए और *वैराज्य*—उत्तर दिशा के लिए।

भगवान् कृष्ण की रानियाँ स्पष्ट कहती हैं कि उन्हें इनमें से एक भी शक्ति की इच्छा नहीं है, यहाँ तक कि ब्रह्मा के पद, मुक्ति या भगवद्धाम में जाने तक की इच्छा नहीं है। वे तो श्रीकृष्ण के उन चरणकमलों की धूल की ही कामना करती हैं, जिनकी पूजा स्वयं लक्ष्मीजी करती हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती हमें बतलाते हैं कि यहाँ जिस लक्ष्मी का उल्लेख है, वह नारायण-पत्नी लक्ष्मी नहीं हैं। आचार्य की व्याख्या है कि देवी लक्ष्मी को दीर्घकालीन तपस्या के बावजूद कृष्ण की प्रत्यक्ष संगति प्राप्त नहीं हो पाई थी, जैसाकि उद्धव कहते हैं—*नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरते: प्रसाद:* (*भागवत* .७.६०)। प्रत्युत, यहाँ जिस लक्ष्मी क ा प्रसंग आया है, उसकी पहचान *बृहद्गौतमीय तंत्र* द्वारा होती है—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्ति: सम्मोहिनी परा॥

''दिव्य देवी श्रीमती राधारानी भगवान् श्रीकृष्ण की प्रत्यक्ष अर्धांगिणी हैं। वे समस्त लक्ष्मियों में प्रमुख हैं। उनमें सर्वाकर्षक भगवान् को आकृष्ट करने के लिए समस्त आकर्षण हैं। वे भगवान् की आदि अन्तरंगा शक्ति हैं।''

व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः ।
गावश्चारयतो गोपाः पदस्पर्शं महात्मनः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

व्रज—**व्रज की**; स्त्रियः—**स्त्रियाँ**; यत्—**जैसा**; वाञ्छन्ति—**चाहती हैं**; पुलिन्द्यः—**व्रज में पुलिन्द आदिवासी स्त्रियाँ**; तृण—**घास**; वीरुधः—**तथा पौधों से**; गावः—**गौवें**; चारयतः—**चराने वाले**; गोपाः—**ग्वालबाल**; पाद—**पाँवों के**; स्पर्शम्—**स्पर्श**; महा-आत्मनः—**परमात्मा के**।

हम भगवान् के चरणों का वही स्पर्श चाहती हैं, जो व्रज की तरुणियों, ग्वालबालों तथा आदिवासिनी पुलिन्द स्त्रियाँ चाहती हैं—वह है, भगवान् द्वारा अपनी गौवें चराते समय पौधों तथा घास पर उनके द्वारा, छोड़ी गई धूल का स्पर्श।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती हमें उस ईर्ष्या या स्पर्धा का स्मरण दिलाते हैं, जो द्वारका की

रानियों तथा व्रज की गोपियों में सदैव बनी रही। गोपियाँ द्वारका की सुसंस्कृत स्त्रियों को श्रीकृष्ण पर अपना अधिकार बनाये रखने में सबसे बड़ा खतरा मानती थीं। उन्होंने इस चिन्ता को उद्धव के समक्ष स्वीकार किया है—*कस्मात् कृष्ण इहायाति प्राप्तराज्यो हताहितः। नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य*—राज्य जीतने, अपने शत्रुओं का वध कर लेने तथा राजाओं की कन्याओं के साथ विवाह कर चुकने के बाद कृष्ण भला यहाँ क्यों आने लगे? (भागवत .७.५)

रुक्मिणी तथा अन्य सात प्रमुख सपत्नियाँ अपने को द्वारका में कृष्ण के साथ अपने सम्बन्धों के कारण इतनी सौभाग्यशालिनी मानती थीं कि वे नहीं चाहती थीं कि वे ऐसे दिखें जैसे वे वृन्दावन में थे। किन्तु सोलह हजार अवर रानियाँ उद्धव द्वारा श्री राधा के सर्वोच्च गुणों का वर्णन सुनने के बाद चाहने लगीं कि उन्हें श्रीकृष्ण के पैरों की उस धूलि का स्पर्श हो पाये जो वृन्दावन की घास तथा पौधों पर गिरती है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि कुछ टीकाकार इसी को वह कारण बताते हैं जिससे *मौषल लीला* के बाद अर्जुन से सोलह हजार रानियाँ कृष्ण द्वारा सोलह हजार गोपों के वेश में हरण करके गोकुल ले जाई गईं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "कृष्ण की रानियों से द्रौपदी की भेंट" नामक तिरासिवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौरासी

कुरुक्षेत्र में ऋषियों के उपदेश

इस अध्याय में सूर्यग्रहण का शुभ अवसर मनाने के लिए ऋषियों का कुरुक्षेत्र में आगमन, ऋषियों द्वारा भगवान् कृष्ण की महिमा का तथा वसुदेव द्वारा उत्साहपूर्वक यज्ञ सम्पन्न किये जाने का वर्णन हुआ है।

सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा जैसी भद्र महिलाओं को भगवान् कृष्ण की रानियों से सान्निध्य प्राप्त करने का सुयोग प्राप्त हुआ। यह देखकर कि भगवान् की प्रियाएँ अपने पति को कितना प्यार करती हैं, वे सभी आश्चर्यचकित थीं। जब स्त्रियाँ परस्पर वार्तालाप कर रही थीं

और पुरुष भी वैसा ही कर रहे थे, तभी नारद, व्यासदेव इत्यादि मुनि भगवान् कृष्ण का दर्शन करने की इच्छा से वहाँ आ पधारे। अनेक राजा तथा अन्य प्रमुख व्यक्ति जो आराम से बैठे थे, जिनमें पाण्डव, कृष्ण तथा बलराम भी सम्मिलित थे। इन ऋषियों को देखते ही सब उठ कर खड़े हो गये। सबों ने उन महात्माओं को शीश, उनकी कुशल-क्षेत्र पूछी और उन्हें आसन, जल इत्यादि प्रदान करके, उनकी पूजा की। तब भगवान् कृष्ण ने कहा, ''अब हमारे जीवन सफल हुए, क्योंकि हमने ऋषियों तथा योगेश्वरों का दर्शन पाकर, जीवन-लक्ष्य प्राप्त कर लिया है, जो देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। किसी तीर्थस्थल का जल तथा देवताओं के अर्चाविग्रह दीर्घकाल के बाद ही किसी को पवित्र बना सकते हैं, किन्तु सन्त मुनिगण तो देखने-मात्र से पवित्र बना देते हैं। जो लोग अपनी पहचान अपने शरीरों के रूप में करते हैं और आप जैसे दिव्य मुनियों का सम्मान नहीं करते, वे गधों के तुल्य हैं।''

भगवान् कृष्ण के मुख से मर्त्य की-सी मुद्रा में इन शब्दों को सुनकर मुनिगण कुछ काल तक मौन तथा मोहग्रस्त रहे। तब उन्होंने कहा, ''हमारे प्रभु कितने विचित्र हैं! वे मनुष्य जैसे कार्यकलापों के द्वारा अपनी वास्तविक पहचान को आच्छादित कर देते हैं और ऐसा प्रदर्शित करते हैं कि वे किसी उच्च नियंत्रण के अधीन हैं। निश्चित रूप से उन्होंने सामान्य जनता को प्रबुद्ध करने के उद्देश्य से इस तरह कहा है। उनका ऐसा आचरण अचिन्त्य है।'' मुनिगण उनकी महिमा का गान भगवान्, अर्थात् परमात्मा एवं ब्राह्मणों के मित्र तथा आराधक के रूप में करते रहे।

जब मुनिगण उनकी प्रशंसा कर चुके, तो भगवान् कृष्ण ने उन्हें नमस्कार किया और मुनियों ने उनसे अपनी अपनी कुटियों में लौट जाने की अनुमति माँगी। किन्तु तभी वसुदेव आ गये। उन्होंने मुनियों को नमन करने के बाद पूछा, ''सकाम कर्म के बन्धन से छूटने के लिए मनुष्य को कौन-से कार्य करने चाहिए?'' मुनियों ने उत्तर दिया, ''वैदिक यज्ञों के द्वारा भगवान् हरि की पूजा करके आप सकाम कर्म के बन्धन से मुक्त हो सकेंगे।'' तब वसुदेव ने मुनियों से उनके पुरोहित बनने की प्रार्थना की और उन्होंने बड़ी सज-धज से वैदिक यज्ञों के सम्पन्न किये जाने की व्यवस्था कराई। बाद में वसुदेव ने इन पुरोहितों को गौवें तथा मूल्यवान आभूषण दान में दिये। यही नहीं, विवाह योग्य ब्राह्मण-कन्याएँ भी भेंट कीं। तत्पश्चात् उन्होंने *अवभृथ* स्नान अनुष्ठान सम्पन्न किया, जो यज्ञ की समाप्ति का सूचक था और हर एक को, यहाँ तक कि ग्रामीण कुत्तों को भी भोजन कराया। इसके बाद उन्होंने

अपने सम्बन्धियों, विविध राजाओं तथा अन्यों को पर्याप्त भेंटें दीं और वे सभी कृष्ण से विदा लेकर, अपने अपने घर लौट गये।

नन्द महाराज अपने सम्बन्धियों से गहन स्नेह के कारण विदा नहीं हो सके, इसलिए वे कुरुक्षेत्र में यादवों द्वारा सम्मानपूर्वक सेवित होकर तीन मास तक रहते रहे। एक अवसर पर वसुदेव नन्द द्वारा प्रदर्शित गहरी मित्रता का वर्णन करते करते खुल कर अश्रुपात करने लगे। तीन मास बाद नन्द महाराज मथुरा के लिए रवाना हुए, तो सभी यादवों ने उनको प्रेमपूर्वक विदा दी। जब यादवों ने अन्त में देखा कि वर्षाऋतु आने वाली है, तो वे द्वारका लौट गये और राजधानी में जाकर, उन्होंने वहाँ के वासियों को कुरुक्षेत्र की सारी घटनाएँ कह सुनाईं।

श्रीशुक उवाच
श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ याज्ञसेनी
माधव्यथ क्षितिपपत्न्य उत स्वगोप्यः ।
कृष्णेऽखिलात्मनि हरौ प्रणयानुबन्धं
सर्वा विसिस्म्युरलमश्रुकलाकुलाक्ष्यः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; श्रुत्वा—सुनकर; पृथा—कुन्ती; सुबल-पुत्री—सुबल की पुत्री गान्धारी; अथ—तथा; याज्ञसेनी—द्रौपदी; माधवी—सुभद्रा; अथ—तथा; क्षिति-प—राजाओं की; पत्न्यः—पत्नियाँ; उत—भी; स्व—(भगवान् कृष्ण की) निजी; गोप्यः—गोपियाँ; कृष्णे—कृष्ण को; अखिल—सबों के; आत्मनि—आत्मा; हरौ—भगवान् हरि को; प्रणय—प्रेममय; अनुबन्धम्—आसक्ति; सर्वाः—सभी; विसिस्म्युः—विस्मित हुईं; अलम्—अत्यधिक; अश्रु-कल—आँसुओं से; आकुल—पूर्ण; अक्ष्यः—नेत्रों वाली।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : पृथा, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा, अन्य राजाओं की पत्नियाँ तथा भगवान् की ग्वालिन सखियाँ सभी जीवों के आत्मा तथा भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति उनकी रानियों के अगाध प्रेम को सुनकर चकित थीं और उनके नेत्रों में आँसू डबडबा आये थे।

तात्पर्य : भद्र महिलाओं की इस गोष्ठी की प्रमुख श्रोता द्रौपदी हैं, क्योंकि श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार द्रौपदी ने ही प्रश्न किया था, जिसका उत्तर कृष्ण की रानियों ने अपनी अपनी कथा सुनाकर दिया। चूँकि पिछले अध्याय में उपस्थित जनों में गान्धारी तथा अन्य स्त्रियों का जिनका नाम यहाँ बताया गया है, उल्लेख नहीं हुआ है, अतएव आचार्य श्रीधर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उन्होंने रानियों की कथाओं को दूसरे के मुखों से सुना होगा। निस्सन्देह द्रौपदी अपने से वयोवृद्ध पृथा तथा गान्धारी की उपस्थिति में इतनी स्वतंत्रता से कभी नहीं बोली होंगी, न ही उन गोपियों के समक्ष जिनकी

मनोवृत्ति द्वारका की रानियों के प्रति संवेदनात्मक नहीं थी। यद्यपि गोपियों के भी आँसू आ गये, किन्तु ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि उन्हें श्रीकृष्ण की लीलाओं का स्मरण हो आया था न कि उन रानियों के प्रति उनको कोई प्रेम-सामीप्य था।

वस्तुत: हमें स्मरण रखना होगा कि आध्यात्मिक स्तर पर सदैव पूर्ण सामंजस्य रहता है। शुद्ध भक्तों में जो विरोध झलकता है, वह संसारी ईर्ष्या तथा लड़ाई-झगड़े जैसा नहीं होता। गोपियों की ईर्ष्या वास्तविकता न होकर मात्र आभास थी, जो कृष्ण के प्रति छल के स्नेह का आनन्दमय प्रतीक थी। श्रील श्रीधर स्वामीपाद *स्व-गोप्य:* की व्याख्या यह कह कर करते हैं कि गोपियाँ रानियों की *स्व-स्वरूप* थीं।

इति सम्भाषमाणासु स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु ।
आययुर्मुनयस्तत्र कृष्णरामदिदृक्षया ॥ २ ॥
द्वैपायनो नारदश्च च्यवनो देवलोऽसितः ।
विश्वामित्रः शतानन्दो भरद्वाजोऽथ गौतमः ॥ ३ ॥
रामः सशिष्यो भगवान्वसिष्ठो गालवो भृगुः ।
पुलस्त्यः कश्यपोऽत्रिश्च मार्कण्डेयो बृहस्पतिः ॥ ॥
द्वितस्त्रितश्चैकतश्च ब्रह्मपुत्रास्तथाङ्गिराः ।
अगस्त्यो याज्ञवल्क्यश्च वामदेवादयोऽपरे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; सम्भाषमाणासु—बात करती हुईं; स्त्रीभिः—स्त्रियों के साथ; स्त्रीषु—स्त्रियाँ; नृभिः—पुरुषों के साथ; नृषु—पुरुष; आययुः—आ गये; मुनयः—मुनिगण; तत्र—वहाँ पर; कृष्ण-राम—कृष्ण तथा बलराम का; दिदृक्षया—दर्शन करने की इच्छा से; द्वैपायनः—द्वैपायन वेदव्यास; नारदः—नारद; च—तथा; च्यवनः देवलः असितः—च्यवन, देवल तथा असित; विश्वामित्रः शतानन्दः—विश्वामित्र तथा शतानन्द; भरद्वाजः अथ गौतमः—भरद्वाज तथा गौतम; रामः—परशुराम; स—सहित; शिष्यः—उनके शिष्यगण; भगवान्—भगवान्; वसिष्ठः गालवः भृगुः—वसिष्ठ, गालव तथा भृगु; पुलस्त्यः कश्यपः अत्रिः च—पुलस्त्य, कश्यप तथा अत्रि; मार्कण्डेयः बृहस्पतिः—मार्कण्डेय तथा बृहस्पति; द्वितः त्रितः च एकतः च—द्वित, त्रित तथा एकत; ब्रह्म-पुत्राः—ब्रह्मा के पुत्र (सनक, सनत, सनन्द तथा सनातन); तथा—और; अङ्गिराः—अंगिरा; अगस्त्यः याज्ञवल्क्यः च—अगस्त्य तथा याज्ञवल्क्य; वामदेव-आदयः—वामदेव इत्यादि; अपरे—अन्य मुनि।

जब स्त्रियाँ स्त्रियों से और पुरुष पुरुषों से परस्पर बातें कर रहे थे, तो अनेक मुनिगण वहाँ आ पधारे। वे सभी के सभी कृष्ण तथा बलराम का दर्शन पाने के लिए उत्सुक थे। इनमें द्वैपायन, नारद, च्यवन, देवल तथा असित, विश्वामित्र, शतानन्द, भरद्वाज तथा गौतम, परशुराम तथा उनके शिष्य, वसिष्ठ, गालव, भृगु, पुलस्त्य तथा कश्यप, अत्रि, मार्कण्डेय तथा बृहस्पति, द्वित, त्रित, एकत तथा चारों कुमार एवं अंगिरा, अगस्त्य, याज्ञवल्क्य तथा वामदेव सम्मिलित थे।

तान्दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रागासीना नृपादयः ।
पाण्डवाः कृष्णरामौ च प्रणेमुर्विश्ववन्दितान् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; दृष्ट्वा—देखकर; सहसा—तुरन्त; उत्थाय—उठकर; प्राक्—अभी तक; आसीनाः—बैठे हुए; नृप-आदयः—राजा तथा अन्य लोग; पाण्डवाः—पाँचों पाण्डव; कृष्ण-रामौ—कृष्ण तथा बलराम; च—भी; प्रणेमुः—प्रणाम किया; विश्व—विश्व-भर के द्वारा; वन्दितान्—सम्मानितों को।

ज्योंही, उन्होंने मुनियों को आते देखा, सारे राजा तथा अन्य लोग, जो वहाँ बैठे थे, तुरन्त उठ खड़े हुए, जिनमें पाँचों पाण्डव तथा कृष्ण एवं बलराम भी थे। तब सबों ने उन विश्ववन्द्य मुनियों को प्रणाम किया।

तानानर्चुर्यथा सर्वे सहरामोऽच्युतोऽर्चयत् ।
स्वागतासनपाद्यार्घ्यमाल्यधूपानुलेपनैः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; आनर्चुः—उन्होंने पूजा की; यथा—उचित रीति से; सर्वे—उन सबों की; सह-राम—बलराम सहित; अच्युतः—तथा कृष्ण ने; अर्चयत्—उनकी पूजा की; स्व्-आगत—स्वागत; आसन—बैठने के स्थान; पाद्य—पाँव धोने के लिए जल; अर्घ्य—पीने के लिए जल; माल्य—फूलों की मालाएँ; धूप—अगुरु; अनुलेपनैः—तथा चन्दन-लेप से।

भगवान् कृष्ण, बलराम तथा अन्य राजाओं एवं प्रमुख व्यक्तियों ने उन मुनियों का, सत्कार, आसन, पाद-प्रक्षालन का जल, पीने के लिए जल, फूल-मालाएँ, अगुरु तथा चन्दन-लेप अर्पित करते हुए विधिपूर्वक पूजा की।

उवाच सुखमासीनान्भगवान्धर्मगुप्तनुः ।
सदसस्तस्य महतो यतवाचोऽनुश‍ृण्वतः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

उवाच—कहा; सुखम्—सुखपूर्वक; आसीनान्—बैठे हुओं को; भगवान्—भगवान्; धर्म—धर्म के; गुप्—रक्षा के साधन; तनुः—शरीर वाले; सदसः—सभा में; तस्य—उस; महतः—महात्माओं को; यत—संयमित; वाचः—वाणी वाले; अनुश‍ृण्वतः—ध्यानपूर्वक सुनते हुए।

जब सारे मुनि सुखपूर्वक बैठ गये, तो धर्म की रक्षा के निमित्त दिव्य शरीर धारण करने वाले भगवान् कृष्ण ने उस विराट सभा में उन्हें सम्बोधित किया। हर व्यक्ति ने मौन होकर बड़े ही ध्यान से सुना।

श्रीभगवानुवाच

अहो वयं जन्मभृतो लब्धं कार्त्स्न्येन तत्फलम् ।
देवानामपि दुष्प्रापं यद्योगेश्वरदर्शनम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अहो—ओह; वयम्—हम सभी; जन्म-भृतः—सफलतापूर्वक जन्म लेने वाले; लब्धम्—प्राप्त किये हुए; कार्त्स्न्येन—एकसाथ; तत्—उसका (जन्म का); फलम्—फल; देवानाम्—देवताओं के लिए; अपि—भी; दुष्प्रापम्—दुष्प्राप्य; यत्—जो; योग-ईश्वर—योगेश्वर का; दर्शनम्—दर्शन।

भगवान् ने कहा : अब हमारे जीवन निश्चित रूप से सफल हो गये, क्योंकि हमें जीवन का चरम लक्ष्य—महान् योगेश्वरों के दर्शन, जो देवताओं को भी विरले ही मिल पाता है—प्राप्त हो गया है।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के प्रशासकों के रूप में बड़े बड़े अधिकारों का भोग करते हुए भी देवतागण विरले ही नारद तथा व्यासदेव जैसे मुनियों का दर्शन कर पाते हैं। तो भला पृथ्वी के राजाओं तथा मात्र ग्वालों के लिए उनका दर्शन कर पाना कितना दुर्लभ होगा? यहाँ पर भगवान् कृष्ण समन्तपञ्चक में एकत्रित सारे राजाओं तथा अन्यों को अपना ही मानते हुए उनकी ओर से बोल रहे हैं।

किं स्वल्पतपसां नृणामर्चायां देवचक्षुषाम् ।
दर्शनस्पर्शनप्रश्नप्रह्वपादार्चनादिकम् ॥ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; सु-अल्प—अत्यन्त न्यून; तपसाम्—तपस्या वाले; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; अर्चायाम्—मन्दिर के अर्चाविग्रह में; देव—ईश्वर; चक्षुषाम्—जिनका देखना; दर्शन—देखना; स्पर्शन—छूना; प्रश्न—प्रश्न करना; प्रह्व—नमस्कार करना; पाद-अर्चन—पाँवों की पूजा करना; आदिकम्—इत्यादि।

वे लोग जो अधिक तपस्वी नहीं और जो ईश्वर को मन्दिर में उनके अर्चाविग्रह के रूप में ही पहचानते हैं, भला ऐसे लोग अब आपको कैसे देख सकते हैं, छू सकते हैं, आपसे प्रश्न कर सकते हैं, आपको नमस्कार कर सकते हैं, आपके चरणों की पूजा कर सकते हैं और अन्य विधियों से आपकी सेवा कर सकते हैं?

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अप्—जल से; मयानि—निर्मित; तीर्थानि—तीर्थस्थानों को; न—नहीं; देवाः—अर्चाविग्रह; मृत्—मिट्टी; शिला—तथा पत्थर; मयाः—निर्मित; ते—वे; पुनन्ति—पवित्र बनाते हैं; उरु-कालेन—दीर्घकाल के बाद; दर्शनात्—दर्शन करने से; एव—केवल; साधवः—साधुजन।

केवल जलमय स्थान ही असली पवित्र तीर्थस्थान नहीं होते, न ही मिट्टी तथा पत्थर की कोरी

प्रतिमाएँ असली आराध्यदेव हैं। ये किसी को दीर्घकाल के बाद ही पवित्र कर पाते हैं, किन्तु सन्त स्वभाव वाले मुनिजन दर्शन मात्र से पवित्र कर देते हैं।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् सर्वोपरि हैं—परमात्मा हैं—अत: उनका कोई भी स्वरूप चाहे वह पत्थर, रंग, ध्वनि या अन्य प्रामाणिक माध्यम से ही प्रकट क्यों न हो, सर्वोच्च दिव्य लोक—गोलोक वृन्दावन—में उनके आदि-रूप से अभिन्न होता है। किन्तु सामान्य देवता सर्वोच्च नहीं होते, वे अति सूक्ष्म आत्माएँ हैं। इस तरह देवताओं के स्वरूप कभी भी उनके समरूप नहीं होते। जिन लोगों में भगवान् के प्रति आध्यात्मिक श्रद्धा का अभाव होता है, उन्हें पवित्र स्थानों में देव-पूजा करने या विधिपूर्वक स्नान करने से केवल सीमित लाभ मिल पाता है।

दूसरी ओर, व्यासदेव, नारद तथा चारों कुमार जैसे महान् वैष्णव सन्त सदैव कृष्णभावनामृत में लीन रहते हैं। इस तरह वे सच्चे सचल तीर्थों के तुल्य होते हैं। क्षण-भर भी उनकी संगति करने से, विशेष रूप से उनके द्वारा भगवान् की महिमा का गान सुनने से, मनुष्य सारे भौतिक बन्धन से उबर सकता है। जैसाकि राजा युधिष्ठिर ने विदुर से कहा है—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूता: स्वयं विभो।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्त:स्थेन गदाभृता॥

''हे प्रभु! आप जैसे भक्त साक्षात् तीर्थस्थल हैं। चूँकि आप अपने हृदय में भगवान् को धारण करते हैं, अतएव आप सारे स्थानों को तीर्थों में बदल देते हैं।'' (*भागवत* १.१३.)

नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारका
न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मन: ।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं
विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया ॥ १२॥

शब्दार्थ

न—न तो; अग्नि:—अग्नि; न—न तो; सूर्य:—सूर्य; न—न ही; च—तथा; चन्द्र—चन्द्रमा; तारका:—तथा तारे; न—न तो; भू:—पृथ्वी; जलम्—जल; खम्—आकाश; श्वसन:—श्वास; अथ—अथवा; वाक्—वाणी; मन:—तथा मन; उपासिता:—पूजित; भेद—अन्तर (उसके तथा अन्य जीवों के बीच); कृत:—उत्पन्न करने वाले के; हरन्ति—छीन लेते हैं; अघम्—पापों को; विपश्चित:—ज्ञानी लोग; घ्नन्ति—नष्ट कर देते हैं; मुहूर्त—कुछ मिनटों की ही; सेवया—सेवा के द्वारा।

न तो अग्नि के नियामक देवता सूर्य तथा चन्द्रमा, न ही पृथ्वी, तारागण, जल, आकाश, वायु, वाणी तथा मन के अधिष्ठाता देवता अपने उन पूजकों के पापों को हर पाते हैं, जो द्वैत के

दृष्टिकोण से देखने के अभ्यस्त हैं। किन्तु ज्ञानी मुनिजन आदरपूर्वक कुछ ही क्षणों तक भी सेवा किये जाने पर, मनुष्य के पापों को नष्ट कर देते हैं।

तात्पर्य : भगवान् का बचकाना भक्त भगवान् के अर्चाविग्रह को ही दिव्य मानकर अन्य सारी वस्तुओं को भौतिक समझ सकता है—यहाँ तक कि भगवान् के विश्वस्त सेवकों को भी। इतने पर भी चूँकि वह भगवान् विष्णु के परम पद को पहचान लेता है, इसलिए वह देवताओं के भौतिकतावादी पूजकों से श्रेष्ठतर पद पर स्थित होता है, अतएव वह आदर के योग्य है।

इस श्लोक में उस व्यक्ति के लिए जो भक्तिमय जीवन की निम्न अवस्थाओं से ऊपर उठना चाहता है उन्हें उच्च विचार वाले मुनियों की संगति करने की संस्तुति की गई है—यह संगति चाहे प्रत्यक्ष हो या उनके उपदेशों के श्रवण रूप में। एक नवदीक्षित भक्त अबोध प्राणियों के तथा अपने ही शरीर तथा मन के प्रति अधिक स्पष्ट हिंसक पापों से भले ही मुक्त हो, किन्तु जब तक वह भक्ति-मार्ग पर बहुत उन्नत न हो जाये उसे चाहिए कि मिथ्या अहंकार, पूज्य वैष्णवों के प्रति अनादर और कष्ट भोग रहे जीवों के प्रति दया के अभाव जैसे सूक्ष्म दोषों से बचे। अप्रौढ़ता के इन लक्षणों के निवारण का सर्वोत्तम उपाय है, शुद्ध वैष्णवों का सम्मान करना और उनसे उपदेश लेना तथा पतित हो चुके बद्ध जीवों का उद्धार करने के काम में उनका सहयोग करना।

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसकी; आत्म—आत्मा के रूप में; बुद्धिः—विचार; कुणपे—शव में; त्रि-धातुके—तीन मूल तत्त्वों से बनी; स्व—निज के रूप में; धीः—विचार; कलत्र-आदिषु—पत्नी इत्यादि में; भौमे—पृथ्वी पर; इज्य—पूज्य के रूप में; धीः—विचार; यत्—जिसका; तीर्थ—तीर्थस्थान के रूप में; बुद्धिः—विचार; सलिले—जल में; न कर्हिचित्—कभी नहीं; जनेषु—लोगों में; अभिज्ञेषु—ज्ञानी; सः—वह; एव—निस्सन्देह; गः—गाय; खरः—या गधा।

जो व्यक्ति कफ, पित्त तथा वायु से बने निष्क्रिय काया को स्वयं मान बैठता है, जो अपनी पत्नी तथा अपने परिवार को स्थायी रूप से अपना मानता है, जो मिट्टी की प्रतिमा या अपनी जन्मभूमि को पूज्य मानता है या जो तीर्थस्थल को केवल जल मानता है, किन्तु आध्यात्मिक ज्ञानियों को अपना ही रूप नहीं मानता, उनसे सम्बन्ध का अनुभव नहीं करता, उनकी पूजा नहीं करता अथवा उनके दर्शन नहीं करता—ऐसा व्यक्ति गाय या गधे के तुल्य है।

तात्पर्य : असली बुद्धि तो आत्म की मिथ्या पहचान से मनुष्य की उन्मुक्तता द्वारा प्रदर्शित होती है। जैसाकि *बृहस्पति संहिता* में कहा गया है—

अज्ञात भगवद्धर्मा मन्त्रविज्ञानसंविदः।

नरास्ते गोखरा ज्ञेया अपि भूपालवन्दिताः॥

"जो लोग भगवान् की भक्ति के सिद्धान्तों को नहीं जानते, उन्हें गौवें तथा गधे के रूप में जानना चाहिए भले ही वे वैदिक मन्त्रों की पारिभाषिक व्याख्या करने में पटु क्यों न हों और विश्व-नेताओं द्वारा क्यों न पूजे जाते हों।"

द्वितीय श्रेणी के पद की ओर अग्रसर होने वाला अपूर्ण वैष्णव अपनी पहचान उन मुनियों से करता है, जो सत्य आध्यात्मिक मार्ग स्थापित कर चुके होते हैं, भले ही उसमें अब भी शरीर, परिवार इत्यादि के प्रति निम्न भौतिक आसक्ति क्यों न बनी हो। ऐसा भगवद्भक्त न तो मूर्ख गाय होता है, न ही अधिकांश भौतिकतावादियों की तरह अड़ियल गधा। किन्तु सर्वोत्तम वैष्णव वह है, जिसने भगवान् की विशेष कृपा प्राप्त कर ली है और जिसने माया और आसक्ति के बन्धनों से अपने को सर्वथा मुक्त कर लिया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार *भौम-इज्य-धीः* शब्द जिसका अर्थ "जो मिट्टी की बनी प्रतिमा को पूज्य मानता है" है, वह मन्दिर में भगवान् के अर्चाविग्रह का नहीं, अपितु देवताओं के अर्चाविग्रहों का सूचक है। इसी तरह *यत्-तीर्थ-बुद्धिः सलिले* पद जिसका अर्थ "जो तीर्थस्थल को केवल जल मानता है" है, वह गंगा-यमुना जैसी पवित्र नदियों का नहीं, अपितु छोटी-छोटी नदियों का द्योतक है।

श्रीशुक उवाच

निशम्येत्थं भगवतः कृष्णस्याकुण्ठमेधसः ।
वचो दुरन्वयं विप्रास्तूष्णीमासन्भ्रमद्धियः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; निशम्य—सुनकर; इत्थम्—ऐसा; भगवतः—भगवान्; कृष्णस्य—कृष्ण का; अकुण्ठ—असीम; मेधसः—बुद्धि; वचः—शब्द; दुरन्वयम्—समझ पाना कठिन; विप्राः—विद्वान ब्राह्मण; तूष्णीम्—मौन; आसन्—थे; भ्रमत्—चलायमान; धियः—मन वाले।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : असीम ज्ञानी भगवान् कृष्ण से ऐसा अगाध शब्द सुनकर विद्वान

ब्राह्मण मौन रह गये। उनके मन भ्रमित थे।

चिरं विमृश्य मुनय ईश्वरस्येशितव्यताम् ।
जनसङ्ग्रह इत्यूचुः स्मयन्तस्तं जगद्गुरुम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

चिरम्—कुछ काल तक; विमृश्य—सोचकर; मुनयः—मुनियों ने; ईश्वरस्य—परम नियन्ता के; ईशितव्यताम्—नियंत्रित होने की स्थिति; जन-सङ्ग्रहः—सामान्य लोगों की जागृति; इति—इस तरह (निष्कर्ष निकालते हुए); ऊचुः—कहा; स्मयन्तः—हँसते हुए; तम्—उन; जगत्—ब्रह्माण्ड के; गुरुम्—गुरु से।

मुनिगण कुछ समय तक भगवान् के इस आचरण पर विचार करते रहे, जो एक अधीनस्थ जीव के आचरण जैसा लग रहा था। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि वे सामान्य जनों को उपदेश देने के लिए ऐसा अभिनय कर रहे हैं। अतः वे मुस्कराये और जगद्गुरु से इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने *ईशितव्यता* शब्द की व्याख्या ''किसी के नियन्ता न होने'' के द्योतक के रूप में की है अथवा दूसरे शब्दों में, यह कर्म-नियम के अधीन होने अर्थात् कर्म करने और उसके फल को भोगने का द्योतक है। मुनियों को सम्बोधित करते समय भगवान् कृष्ण ने सन्त वैष्णवों को सुनने और उनकी सेवा करने पर बल देने के लिए एक अधीन-जीव की भूमिका अपनायी। भगवान् तो आध्यात्मिक समर्पण के भी परम शिक्षक हैं।

श्रीमुनय ऊचुः
यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयं
विमोहिता विश्वसृजामधीश्वराः ।
यदीशितव्यायति गूढ ईहया
अहो विचित्रम्भगवद्विचेष्टितम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-मुनयः ऊचुः—मुनियों ने कहा; यत्—जिसकी; मायया—माया-शक्ति से; तत्त्व—सत्य के; वित्—वेत्ता; उत्तमाः—सर्वश्रेष्ठ; वयम्—हम; विमोहिताः—विचलित; विश्व—ब्रह्माण्ड के; सृजाम्—स्रष्टाओं के; अधीश्वरः—प्रमुख; यत्—जिससे; ईशितव्यायति—(भगवान्) अपने को उच्चतर नियंत्रण के अधीन मानता है; गूढः—छिपा; ईहया—कार्यों द्वारा; अहो—ओह; विचित्रम्—आश्चर्यजनक; भगवत्—भगवान् का; विचेष्टितम्—कार्य, चेष्टा।

उन महान् मुनियों ने कहा : आपकी माया-शक्ति ने सत्य को सर्वोत्तम ढंग से जानने वाले तथा विश्व के प्रमुख स्रष्टा हम सबों को मोहित कर लिया है। ओह! भगवान् का आचरण कितना आश्चर्यजनक है! वे अपने को मानव जैसे कार्यों से आच्छादित करके अपने को किसी श्रेष्ठ

नियंत्रण के अधीन होने का स्वाँग रच रहे हैं।

तात्पर्य : मुनियों ने भगवान् के कथन को *दुरन्वयम्* अर्थात् अतर्क्य कहा है। यह इस तरह कैसे है उसको यहाँ बतलाया गया है—उनके शब्द तथा कार्य बड़े से बड़े विद्वानों को भी चकित करने वाले हैं जब वे अपने को अपने ही दासों के अधीन मान कर कार्य करते हैं।

अनीह एतद्बहुधैक आत्मना
सृजत्यवत्यत्ति न बध्यते यथा ।
भौमैर्हि भूमिर्बहुनामरूपिणी
अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

अनीहः—बिना चेष्टा किये; एतत्—यह (ब्रह्माण्ड); बहुधा—नाना प्रकार; एकः—अकेला; आत्मना—अपने द्वारा; सृजति—उत्पन्न करता है; अवति—पालन करता है; अत्ति—संहार करता है; न बध्यते—बँधता नहीं है; यथा—जिस तरह; भौमैः—पृथ्वी के रूपान्तरों (विकारों) से; हि—निस्सन्देह; भूमिः—पृथ्वी; बहु—अनेक; नाम-रूपिणी—नाम तथा रूपों वाली; अहो—ओह; विभूम्नः—सर्वशक्तिमान भगवान् का; चरितम्—कार्यकलाप; विडम्बनम्—बहाना।

निस्सन्देह, सर्वशक्तिमान की मनुष्य जैसी लीलाएँ केवल बहाना हैं। वे बिना प्रयास के ही अपने में से इस रंगबिरंगी सृष्टि को उत्पन्न करते हैं, इसका पालन करते हैं और फिर इसे निगल जाते हैं। आप यह सब बिना बँधे ही करते हैं, जिस तरह पृथ्वी-तत्त्व अपने विविध रूपान्तरों (विकारों) में अनेक नाम तथा रूप ग्रहण करती रहती है।

तात्पर्य : एक ही परम पुरुष अपनी पूर्णता में किसी ह्रास के बिना अपने आपको अनेक रूपों में विस्तार करते हैं। वे बिना प्रयास के, किसी पर किसी भी प्रकार से निर्भर हुए बिना ऐसा करते हैं। आत्मप्रसार की यह रहस्यमयी विधि उनके अलावा अन्य किसी की समझ में नहीं आती। किन्तु पृथ्वी तथा उसके विविध विकारों का उदाहरण कुछ न कुछ समता का आभास देता है। यही उदाहरण प्राय: उद्धृत *छांदोग्य उपनिषद* के इस अंश (६.१) द्वारा भी प्रस्तुत किया जाता है—*वाचारम्भनं विकारो नामध्येयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्*—पृथ्वी के रूपान्तर केवल नाम रखने की शाब्दिक उत्पत्तियाँ हैं, मात्र पृथ्वी ही सत्य है।

श्रील श्रीधर स्वामी का सुझाव है कि *श्रीमद्भागवत* का यह श्लोक कृष्ण पर संभवत: लगाये जा सकने वाले उस आक्षेप का कि "यदि मैं वसुदेव का पुत्र हूँ तो भला मैं इस ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन और संहार किस तरह कर सकता हूँ?" का उत्तर है। यह उत्तर *अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम्* शब्दों

द्वारा दिया गया है, जिसका अर्थ है ''आप परम पूर्ण हैं और आपका जन्म तथा आपके कार्यकलाप इस भौतिक जगत में सामान्य पुरुषों के कार्यकलापों के अनुकरण मात्र हैं। आप अपने को किसी उच्चतर नियंत्रण के अधीन होने का केवल स्वाँग भरते हैं।''

अथापि काले स्वजनाभिगुप्तये
बिभर्षि सत्त्वं खलनिग्रहाय च ।
स्वलीलया वेदपथं सनातनं
वर्णाश्रमात्मा पुरुषः परो भवान् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अथ अपि—तो भी; काले—सही समय पर; स्व-जन—अपने भक्तों की; अभिगुप्तये—रक्षा के लिए; बिभर्षि—धारण करते हो; सत्त्वम्—सतोगुण; खल—दुष्टों को; निग्रहाय—दण्ड देने के लिए; च—तथा; स्व—अपनी; लीलया—लीलाओं से; वेद-पथम्—वेदों का मार्ग; सनातनम्—नित्य; वर्ण-आश्रम—वर्णों तथा आश्रमों का; आत्मा—आत्मा; पुरुषः—भगवान्; परः—सर्वोच्च; भवान्—आप।

तो भी उचित अवसरों पर आप अपने भक्तों की रक्षा करने तथा दुष्टों को दण्ड देने के लिए शुद्ध सतोगुणी रूप धारण करते हैं। इस तरह वर्णाश्रम के आत्मास्वरूप आप भगवान् अपनी आनन्द-लीलाओं का भोग करते हुए वेदों के शाश्वत पथ को बनाये रखते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् द्वारा जनसामान्य को प्रबुद्ध करने (*जनसंग्रहः*) तथा सांसारिक आचरण का अनुकरण करने का वर्णन है। चूँकि भगवान् सदैव पूर्ण बने रहते हैं, अतएव वे इस जगत में आकर जिस शरीर को प्रकट करते हैं वह भौतिक सत्त्व से छुआ नहीं जाता, प्रत्युत वह *विशुद्ध सत्त्व* की अभिव्यक्ति होता है अर्थात् वही दिव्य तत्त्व जिससे उनका मूल-स्वरूप बनता है।

ब्रह्म ते हृदयं शुक्लं तपःस्वाध्यायसंयमैः ।
यत्रोपलब्धं सद्व्यक्तमव्यक्तं च ततः परम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म—वेद; ते—तुम्हारे; हृदयम्—हृदय; शुक्लम्—शुद्ध; तपः—तपस्या; स्वाध्याय—अध्ययन; संयमैः—तथा आत्मसंयम द्वारा; यत्र—जिसमें; उपलब्धम्—अनुभव किये गये; सत्—शुद्ध आध्यात्मिक; व्यक्तम्—प्रकट (भौतिक सृष्टि का प्रतिफल); अव्यक्तम्—अप्रकट (सृष्टि के सूक्ष्म कारण); च—तथा; ततः—उसको; परम्—दिव्य को।

वेद आपके निर्मल हृदय हैं और उनके माध्यम से तपस्या, अध्ययन एवं आत्मसंयम द्वारा मनुष्य प्रकट, अप्रकट तथा इन दोनों से परे शुद्ध अस्तित्व को देख सकता है।

तात्पर्य : *व्यक्त* के अन्तर्गत इस जगत की दृश्य वस्तुएँ आती हैं और *अव्यक्त* के अन्तर्गत विराट

सृष्टि के सूक्ष्म आधारभूत कारण आते हैं। सारे वेद भौतिक कार्य-कारण से परे ब्रह्म के दिव्य प्रक्षेत्र की ओर इंगित करने वाले हैं।

तस्माद्ब्रह्मकुलं ब्रह्मन्शास्त्रयोनेस्त्वमात्मनः ।
सभाजयसि सद्धाम तद्ब्रह्मण्याग्रणीर्भवान् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसीलिए; ब्रह्म—ब्राह्मणों के; कुलम्—वंश को; ब्रह्मन्—हे परम सत्य; शास्त्र—शास्त्र; योनेः—अनुभूति के साधन रूप; त्वम्—तुमको; आत्मनः—अपने आप; सभाजयसि—सम्मान प्रदर्शित करते हैं; सत्—पूर्ण; धाम—वास, स्थान; तत्—फलस्वरूप; ब्रह्मण्य—ब्राह्मण संस्कृति का आदर करने वालों के; अग्रणीः—नायक; भवान्—आप।

अतएव हे परब्रह्म, आप ब्राह्मण कुल के सदस्यों का आदर करते हैं, क्योंकि वे ही पूर्ण अभिकर्ता हैं, जिनके माध्यम से वेदों के साक्ष्य द्वारा कोई व्यक्ति आपका साक्षात्कार कर सकता है। इसी कारण से आप ब्राह्मणों के अग्रणी पूजक हैं।

अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्यायास्तपसो दृशः ।
त्वया सङ्गम्य सद्गत्या यदन्तः श्रेयसां परः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अद्य—आज; नः—हमारा; जन्म—जन्म का; साफल्यम्—फलीभूत; विद्यायाः—शिक्षा का; तपसः—तपस्या का; दृशः—देखने की शक्ति का; त्वया—तुम्हारे द्वारा; सङ्गम्य—संगति दी जाकर; सत्—साधु-पुरुषों की; गत्या—गन्तव्य; यत्—क्योंकि; अन्तः—सीमा; श्रेयसाम्—लाभों की; परः—चरम।

आज हमारा जन्म, शिक्षा, तपस्या तथा दृष्टि सभी पूर्ण हो चुके हैं, क्योंकि हम समस्त सन्त-पुरुषों के लक्ष्य, आपसे सान्निध्य प्राप्त करने में समर्थ हो सके हैं। निस्सन्देह आप स्वयं ही अनन्तिम, अर्थात् परम आशीर्वाद हैं।

तात्पर्य : मुनिगण यहाँ पर भगवान् के प्रति अपने आदर एवं उसके बदले उनके द्वारा मुनियों की पूजा की तुलना करते हैं। भगवान् कृष्ण ब्राह्मणों का आदर इसलिए करते हैं, क्योंकि अल्पज्ञों को उपदेश देने के वे साधन स्वरूप हैं, जबकि वास्तव में भगवान् स्वयं परम स्वतंत्र हैं। दूसरी ओर उनकी पूजा करने वाले ब्राह्मण कल्पना से बढ़कर लाभ प्राप्त करते हैं।

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने परमात्मने ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; तस्मै—उस; भगवते—भगवान् को; कृष्णाय—कृष्ण को; अकुण्ठ—असीम; मेधसे—बुद्धिमान; स्व—निजी; योग-मायया—अन्तरंगा माया-शक्ति द्वारा; आच्छन्न—ढका; महिम्ने—महिमा वाले; परम-आत्मने—परमात्मा को।.

हम अनन्त बुद्धि वाले परमात्मा अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार करते हैं, जिन्होंने अपनी योगमाया द्वारा अपनी महानता को छिपा रखा है।

तात्पर्य : भगवान् की पूजा करने से जो भावी लाभ होगा उसके अतिरिक्त हर मनुष्य का यह परमावश्यक कर्तव्य है कि वह अधीनता तथा दासता की कृतज्ञता के रूप में उनको नमस्कार करे। भगवान् कृष्ण ने इसकी संस्तुति की है (*भगवद्गीता* ९.३)—

मन्मना भव मदभक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवं आत्मानं मत्परायण: ॥

''अपने मन को सदैव मेरे चिन्तन में लगाओ, मेरे भक्त बनो, मुझे नमस्कार करो और मेरी ही पूजा करो। मुझमें पूर्णतया लीन होने पर तुम निश्चय ही मेरे पास आओगे।''

न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः ।
मायाजवनिकाच्छन्नमात्मानं कालमीश्वरम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यम्—जिसको; विदन्ति—जानते हैं; अमी—ये; भू-पाः—राजागण; एक—एकसाथ; आरामाः—भोग करने वाले; च—तथा; वृष्णयः—वृष्णिगण; माया—माया की दैवी शक्ति के; जवनिका—पर्दे द्वारा; आच्छन्नम्—आच्छादित; आत्मानम्—परमात्मा को; कालम्—काल को; ईश्वरम्-थे सुप्रेमे चोन्त्रोल्लेर्.

न तो ये राजा, न ही वृष्णिगण, जो आपकी घनिष्ठ संगति का आनन्द उठाते हैं, आपको समस्त सृष्टि के आत्मा, काल की शक्ति तथा परम नियन्ता के रूप में जानते हैं। उनके लिए तो आप माया के पर्दे से ढके रहते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की व्याख्या है कि भगवान् कृष्ण का परिवार अर्थात् वृष्णिजन उनसे भलीभाँति परिचित थे, किन्तु वे यह अनुभव नहीं कर सकते थे कि वे हर प्राणी के हृदय में वास करने वाले परमात्मा हैं। और कुरुक्षेत्र में आये वे राजा जो कृष्णभक्त नहीं थे, उन्हें काल के रूप में अर्थात् हर वस्तु के संहारक के रूप में नहीं पहचान सके। भक्त तथा अभक्त दोनों ही माया द्वारा आच्छन्न होते हैं, किन्तु भिन्न भिन्न तरीकों से। भौतिकतावादियों के लिए माया मोह होती है, किन्तु वैष्णवों के साथ वह योगमाया के रूप में कार्य करती है और वह भगवान् की महानता के प्रति उनकी भिज्ञता को आच्छादित करती है और उन्हें उनकी नित्य आनन्द-लीलाओं में लगाती है।

यथा शयानः पुरुष आत्मानं गुणतत्त्वदृक् ।
नाममात्रेन्द्रियाभातं न वेद रहितं परम् ॥ २॥
एवं त्वा नाममात्रेषु विषयेष्विन्द्रियेहया ।
मायया विभ्रमच्चित्तो न वेद स्मृत्युपप्लवात् ॥ २५॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; शयानः—सोता हुआ; पुरुषः—व्यक्ति; आत्मानम्—अपने को; गुण—गौण; तत्त्व—यथार्थ के; दृक्—जिसकी दृष्टि; नाम—नामों; मात्र—तथा स्वरूपों के साथ; इन्द्रिय—उसके मन से; आभातम्—प्रकट; न वेद—नहीं जानता; रहितम्—पृथक्; परम्—प्रत्युत; एवम्—इसी तरह; त्वा—तुम; नाम-मात्रेषु—नामों तथा स्वरूपों से युक्त; विषयेषु—भौतिक अनुभूति की वस्तुओं में; इन्द्रिय—इन्द्रियों की; ईहया—क्रियाशीलता से; मायया—आपकी माया के प्रभाव से; विभ्रमत्—मोहग्रस्त होकर; चित्तः—चेतना वाला; न वेद—नहीं जानता; स्मृति—अपनी स्मरणशक्ति के; उपप्लवात्—भंग हो जाने से।

सोया हुआ व्यक्ति अपने को एक वैकल्पिक सत्य मानता है और स्वयं यह देखते हुए कि उसके विविध नाम तथा रूप हैं, वह अपनी जाग्रत पहचान को भूल जाता है, जो उसके स्वप्न से सर्वथा पृथक् होती है। इसी प्रकार जिसकी चेतना माया द्वारा मोहित हो जाती है, वह भौतिक वस्तुओं के ही नामों तथा स्वरूपों को देखता है। इस तरह ऐसा पुरुष अपनी स्मरणशक्ति खो देता है और आपको जान नहीं सकता।

तात्पर्य : जिस तरह मनुष्य का स्वप्न उसकी स्मृतियों तथा इच्छाओं के संग्रह से उत्पन्न गौण वास्तविकता होता है, उसी तरह यह ब्रह्माण्ड परमेश्वर की निकृष्ट सृष्टि के रूप में विद्यमान रहता है, जो वास्तव में उनसे पृथक् नहीं होता। और जिस तरह निद्रा से जगा हुआ पुरुष अपने जाग्रत जीवन की उच्चतर वास्तविकता का अनुभव करता है, वैसे ही भगवान् की भी अपनी पृथक् उच्चतर वास्तविकता होती है, जो इस जगत में ज्ञेय किसी भी वस्तु से परे है। भगवान् के ही शब्दों में (*भगवद्गीता* ९.-५)—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

"मेरे अव्यक्त रूप में यह समूचा ब्रह्माण्ड मुझसे व्याप्त है। सारे जीव मुझमें हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। फिर भी प्रत्येक सृजित वस्तु मुझमें स्थित नहीं है। मेरे योग-ऐश्वर्य को देखो! यद्यपि मैं सारे

जीवों का पालनहार हूँ और मैं हर वस्तु हूँ फिर भी मैं इस विराट जगत का अंश नहीं हूँ, क्योंकि मैं ही सृष्टि का उद्गम हूँ।''

तस्याद्य ते ददृशिमाङ्घ्रिमघौघमर्ष-
तीर्थास्पदं हृदि कृतं सुविपक्वयोगैः ।
उत्सिक्तभक्त्युपहताशय जीवकोशा
आपुर्भवद्गतिमथानुगृहान भक्तान् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अद्य—आज; ते—तुम्हारा; ददृशिम—हम देख चुके हैं; अङ्घ्रिम्—पैरों को; अघ—पापों की; ओघ—बाढ़ें; मर्ष—नष्ट करते हैं; तीर्थ—तीर्थस्थानों (गंगा नदी) के; आस्पदम्—स्रोत; हृदि—हृदय में; कृतम्—रखा; सु—अच्छी तरह; विपक्व—पका हुआ; योगैः—उनके द्वारा जिनका योगाभ्यास; उत्सिक्त—पूर्णतया विकसित; भक्ति—भक्ति द्वारा; उपहत—विनष्ट; आशय—भौतिक मनोवृत्ति; जीव—जीवात्मा का; कोशाः—बाह्य आवरण; आपुः—उन्होंने प्राप्त किया; भवत्—आपका; गतिम्—गन्तव्य; अथ—इसलिए; अनुगृहाण—कृपा प्रदर्शित कीजिये; भक्तान्—अपने भक्तों पर।

आज हमने आपके उन चरणों का प्रत्यक्ष दर्शन पा लिया, जो उस पवित्र गंगा नदी के उद्गम हैं, जो पापों के ढेरों को धो डालती है। पूर्णयोगी आपके चरणों का ध्यान उत्तम विधि से अपने हृदयों में कर सकते हैं, किन्तु केवल वे, जो आपकी पूरे मन से भक्ति करते हैं और इस तरह आत्मा के आवरण—भौतिक मन—को दूर करते हैं, वे आपको अपने अन्तिम गन्तव्य के रूप में प्राप्त करते हैं। अतएव आप हम अपने भक्तों पर कृपा प्रदर्शित करें।

तात्पर्य : पवित्र गंगा नदी में सारे पापों को नष्ट करने की क्षमता है, क्योंकि यह भगवान् के चरणकमलों से निकलती है और इस तरह इसमें उनके चरणों की धूल मिली रहती है। इस श्लोक की व्याख्या करते हुए श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं, ''यदि भगवान् मुनियों को यह सलाह दें कि उन्हें भक्ति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वे पहले से आध्यात्मिक ज्ञान तथा तपस्या में बढ़े-चढ़े हैं, तो वे यहाँ पर आदरपूर्वक ऐसे सुझाव का तिरस्कार यह इंगित करते हुए कर रहे हैं कि जिन योगियों ने भक्तिपूर्वक कृष्ण की शरण में जाकर अपने भौतिक मन तथा अहंकार को विनष्ट कर दिया है वे ही पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। वे अपनी स्तुति यह कहकर समाप्त करते हैं कि वे उन्हें अपना भक्त बनाकर उन पर अपनी महान् कृपा प्रदर्शित करें।''

श्रीशुक उवाच
इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम् ।

राजर्षे स्वाश्रमान्गन्तुं मुनयो दधिरे मनः ॥ २७॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार कह कर; अनुज्ञाप्य—विदा होने की अनुमति लेकर; दाशार्हम्—महाराज दाशार्ह के वंशज कृष्ण से; धृतराष्ट्रम्—धृतराष्ट्र से; युधिष्ठिरम्—युधिष्ठिर से; राज—राजाओं में से; ऋषे—हे ऋषि; स्व—अपने अपने; आश्रमान्—कुटियों को; गन्तुम्—जाने में; मुनयः—मुनिगण; दधिरे—उन्मुख किया; मनः—अपने मनों को।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे ज्ञानवान राजा, इस तरह कहकर मुनियों ने दाशार्ह, धृतराष्ट्र तथा युधिष्ठिर से विदा होने की अनुमति ली और अपने अपने आश्रमों को जाने के लिए तैयार होने लगे।

तद्वीक्ष्य तानुपव्रज्य वसुदेवो महायशाः ।
प्रणम्य चोपसङ्गृह्य बभाषेदं सुयन्त्रितः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तत्—यह; वीक्ष्य—देखकर; तान्—उनको; उपव्रज्य—पास आकर; वसुदेवः—वसुदेव ने; महा—महान्; यशाः—यशस्वी; प्रणम्य—प्रणाम करके; च—तथा; उपसङ्गृह्य—उनके चरण पकड़ कर; बभाष—कहा; इदम्—यह; सु—अत्यन्त; यन्त्रितः—सावधानी के साथ बनाया हुआ।

यह देखकर कि वे साधु प्रस्थान करने वाले हैं, सम्मान्य वसुदेव उनके पास पहुँचे और उन्हें नमस्कार करने एवं उनके चरण-स्पर्श करने के बाद, उन्होंने अत्यन्त सावधानी से चुने हुए शब्दों में उनसे कहा।

श्रीवसुदेव उवाच

नमो वः सर्वदेवेभ्य ऋषयः श्रोतुमर्हथ ।
कर्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यान्नस्तदुच्यताम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-वसुदेवः उवाच—श्री वसुदेव ने कहा; नमः—नमस्कार; वः—आपको; सर्व—समस्त; देवेभ्यः—देवताओं के; ऋषयः—हे ऋषि; श्रोतुम् अर्हथ—कृपया सुनें; कर्मणा—भौतिक कार्य द्वारा; कर्म—(पूर्व) कार्य का; निर्हारः—निराकरण, नाश; यथा—कैसे; स्यात्—हो; नः—हमको; तत्—वह; उच्यताम्—कृपया कहें।

श्री वसुदेव ने कहा : हे समस्त देवताओं के आश्रय, आपको नमस्कार है। हे ऋषियो, कृपा करके मेरी बात सुनें। कृपा करके हमें यह बतलायें कि मनुष्य का कर्मफल किस तरह आगे और कर्म करके विनष्ट किया जा सकता है?

तात्पर्य : यहाँ पर वसुदेव ने ऋषियों को "समस्त देवताओं का निवास" कहकर सम्बोधित किया है। इस कथन की पुष्टि उस प्रामाणिक *श्रुति-मन्त्र* से होती है, जिसमें कहा गया है *यावतीर्वै देवतास्ताः*

सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति—जो भी देवता हैं, वे सब उस ब्राह्मण में वास करते हैं, जो वेद को जानता है।

श्रीनारद उवाच
नातिचित्रमिदं विप्रा वसुदेवो बुभुत्सया ।
कृष्णम्मत्वार्भकं यन्नः पृच्छति श्रेय आत्मनः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; न—नहीं; अति—अत्यन्त; चित्रम्—विचित्र; इदम्—यह; विप्राः—हे ब्राह्मणो; वसुदेवः—वसुदेव; बुभुत्सया—जानने की इच्छा से; कृष्णम्—कृष्ण को; मत्वा—सोच कर; अर्भकम्—बालक; यत्—यह तथ्य कि; नः—हमसे; पृच्छति—पूछता है; श्रेयः—सर्वोच्च मंगल के विषय में; आत्मनः—अपने लिए।

श्री नारद मुनि ने कहा : हे ब्राह्मणो, यह उतना आश्चर्यजनक नहीं है कि जानने की उत्सुकता से वसुदेव ने अपने चरम लाभ के विषय में हमसे प्रश्न किया है, क्योंकि वे कृष्ण को मात्र एक बालक ही मानते हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी नारद के विचारों का वर्णन करते हुए लिखते हैं: श्री नारद समझ गये कि किस तरह वसुदेव ने अपने को सामान्य गृहस्थ मानते हुए मुनियों से *कर्मयोग* के विषय में पूछा यद्यपि उन्हें पहले ही वह आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त हो चुका था, जिसे बड़े-बड़े योगी तथा ऋषि भी प्राप्त नहीं कर पाते। तो भी नारद को चिन्ता हुई कि वसुदेव इतने सारे मुनियों के सामने कहीं भगवान् कृष्ण को निरा बालक समझ कर कोई दुविधाजनक भाव न उत्पन्न कर दें। नारद तथा अन्य मुनियों ने भगवान् कृष्ण के प्रति आदर-भाव बनाये रखना उचित समझा, इसीलिए कृष्ण की अवहेलना करके वसुदेव को उत्तर क्योंकर देने देते? इसी परेशानी से बचने के लिए नारद ने वहाँ पर उपस्थित सारे व्यक्तियों के समक्ष श्रीकृष्ण की सर्वश्रेष्ठता का स्मरण दिलाना चाहा।

सन्निकर्षोऽत्र मर्त्यानामनादरणकारणम् ।
गाङ्गं हित्वा यथान्याम्भस्तत्रत्यो याति शुद्धये ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

सन्निकर्षः—निकटता; अत्र—यहाँ (इस जगत में); मर्त्यानाम्—मर्त्यों के लिए; अनादरण—अनादर का; कारणम्—कारण; गाङ्गम्—गंगा (के जल) को; हित्वा—त्याग कर; यथा—जिस तरह; अन्य—दूसरा; अम्भः—पानी; तत्रत्यः—उसके पास रहने वाला; याति—जाता है; शुद्धये—शुद्धि के लिए।

इस संसार में परिचय बढ़ने से अनादर पनपता है। उदाहरणार्थ जो व्यक्ति गंगा के तट पर रहता है, वह अपनी शुद्धि के लिए गंगा की उपेक्षा करके अन्य किसी जलाशय को जाय।

यस्यानुभूतिः कालेन लयोत्पत्त्यादिनास्य वै ।
स्वतोऽन्यस्माच्च गुणतो न कुतश्चन रिष्यति ॥ ३२॥

तं क्लेशकर्मपरिपाकगुणप्रवाहै-
रव्याहतानुभवमीश्वरमद्वितीयम् ।
प्राणादिभिः स्वविभवैरुपगूढमन्यो
मन्येत सूर्यमिव मेघहिमोपरागैः ॥ ३३॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसकी; अनुभूतिः—जानकारी से; कालेन—समय द्वारा उत्पन्न; लय—विनाश; उत्पत्ति—सृष्टि; आदिना—इत्यादि के द्वारा; अस्य—इस (ब्रह्माण्ड) का; वै—निस्सन्देह; स्वतः—अपने से; अन्यस्मात्—किसी अन्य कारण से; च—अथवा; गुणतः—अपने गुणों के रूप में; न—नहीं; कुतश्चन—किसी कारण से; रिष्यति—टूट जाता है; तम्—उसको; क्लेश—भौतिक कष्ट; कर्म—भौतिक कार्यकलाप; परिपाक—उनके परिणाम; गुण—प्रकृति के गुणों के; प्रवाहैः—तथा प्रवाह द्वारा; अव्याहत—अप्रभावित; अनुभवम्—जिसकी चेतना; ईश्वरम्—परम नियन्ता को; अद्वितीयम्—अद्वितीय; प्राण—प्राणवायु; आदिभिः—इत्यादि से; स्व—निजी; विभवैः—अंशों द्वारा; उपगूढम्—दूसरे वेश में; अन्यः—अन्य कुछ; मन्येत—मानता है; सूर्यम् इव—सूर्य की तरह; मेघ—बादलों के द्वारा; हिम—बर्फ; उपरागैः—तथा ग्रहणों के द्वारा।

भगवान् की चेतना कभी भी काल द्वारा, ब्रह्माण्ड की सृष्टि तथा संहार द्वारा, अपने ही गुणों में परिवर्तन द्वारा, या किसी अन्य कारण से, चाहे वह स्वजनित हो या बाह्य हो, विचलित नहीं होती। भले ही अद्वितीय भगवान् की चेतना भौतिक कष्ट द्वारा, भौतिक कर्म द्वारा या प्रकृति के गुणों के निरन्तर प्रवाह द्वारा प्रभावित न होती हो, किन्तु तो भी सामान्य व्यक्ति यही सोचते हैं कि भगवान् प्राण तथा अन्य भौतिक तत्त्वों की अपनी ही सृष्टियों से आच्छादित हैं, जिस तरह कोई व्यक्ति यह सोच सकता है कि सूर्य बादल, बर्फ या ग्रहण से ढक गया है।

तात्पर्य : इस संसार की वस्तुएँ किसी न किसी कारण से नष्ट हो जाती हैं। काल स्वयं ही प्रत्येक सृजित वस्तु का अन्त में क्षय करता है। उदाहरणार्थ, एक फल पहले पकता है, किन्तु उसके बाद किसी के द्वारा उसे खाया जायेगा या फिर सड़ जायेगा। कुछ वस्तुएँ, यथा आकाश की बिजली प्रकट होते ही नष्ट हो जाती हैं, जबकि अन्य वस्तुएँ बाह्य अभिकर्ताओं द्वारा सहसा नष्ट कर दी जाती हैं, जैसे कि मिट्टी का पात्र हथौड़े के द्वारा नष्ट किया जा सकता है। जीवित वस्तुओं तथा अन्य वस्तुओं में, जिनका अस्तित्व अल्पकालिक है, गुणों का प्रवाह निरन्तर होता रहता है। वे विनष्ट की जाती हैं और उनके स्थान पर दूसरी वस्तुएँ ला दी जाती हैं।

इन सबके विपरीत भगवान् की चेतना कभी भी किसी वस्तु द्वारा बाधित नहीं होती। मनुष्य अपने अज्ञान के ही कारण भगवान् को भौतिक परिस्थितियों के अधीन सामान्य मनुष्य समझ लेता है। मर्त्य

लोग अपने कर्मबन्धन तथा उसके फलस्वरूप सुख-दुख के द्वारा आच्छादित रहते हैं, किन्तु भगवान् कभी भी अपने ही अंशों द्वारा आच्छादित नहीं हो सकते। इसी तरह बृहद सूर्य बादलों, बर्फ तथा ग्रहणों जैसी क्षुद्र घटनाओं का स्रोत है, इसलिए वह कभी इनसे आच्छादित नहीं हो सकता, भले ही सामान्य प्रेक्षक (दर्शक) ऐसा सोचता हो।

अथोचुर्मुनयो राजन्नाभाष्यानल्सदुन्दभिम् ।
सर्वेषां शृण्वतां राज्ञां तथैवाच्युतरामयोः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; ऊचुः—कहा; मुनयः—मुनियों ने; राजन्—हे राजा (परीक्षित); आभाष्य—कहकर; आनक-दुन्दुभिम्—वसुदेव को; सर्वेषाम्—समस्त; शृण्वताम्—सुनते हुए; राज्ञाम्—राजाओं के; तथा एव—भी; अच्युत-रामयोः—कृष्ण तथा बलराम के।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : हे राजन्, तब मुनियों ने वसुदेव को सम्बोधित करते हुए फिर से कहा, जबकि भगवान् अच्युत तथा बलराम के साथ ही साथ सारे राजा सुन रहे थे।

कर्मणा कर्मनिर्हार एष साधुनिरूपितः ।
यच्छ्रद्धया यजेद्विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखैः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

कर्मणा—कर्म द्वारा; कर्म—विगत कर्मों के फलों के; निर्हारः—प्रतिक्रिया, निष्फल करना; एषः—यह; साधु—सही-सही; निरूपितः—निश्चित किया गया; यत्—जो; श्रद्धया—श्रद्धा के साथ; यजेत्—पूजा करे; विष्णुम्—विष्णु की; सर्व—समस्त; यज्ञ—यज्ञों के; ईश्वरम्—ईश्वर की; मखैः—वैदिक अग्नि-अनुष्ठानों द्वारा।

[मुनियों ने कहा] : यह निश्चित निष्कर्ष निकाला जा चुका है कि कर्म को उसके आगे और भी कर्म करके निष्फल किया जाता है जब मनुष्य श्रद्धापूर्वक समस्त यज्ञों के स्वामी विष्णु की पूजा करने के साधनस्वरूप वैदिक यज्ञ सम्पन्न करता है।

चित्तस्योपशमोऽयं वै कविभिः शास्त्रचक्षुसा ।
दर्शितः सुगमो योगो धर्मश्चात्ममुदावहः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

चित्तस्य—मन की; उपशमः—शान्ति; अयम्—यह; वै—निस्सन्देह; कविभिः—विद्वानों द्वारा; शास्त्र—शास्त्र रूप; चक्षुषा—आँख से; दर्शितः—दिखलाया हुआ; सु-गमः—सरलता से सम्पन्न; योगः—मोक्ष प्राप्त करने का साधन; धर्मः—धार्मिक कर्तव्य; च—तथा; आत्म—हृदय को; मुत्—आनन्द; आवहः—लाने वाला।

शास्त्र की आँख से देखने वाले विद्वानों ने यह प्रदर्शित कर दिया है कि क्षुब्ध मन को दमन करने तथा मोक्ष प्राप्त करने की यही सबसे सुगम विधि है और यही पवित्र धर्म है, जिससे मन

को आनन्द प्राप्त होता है।

अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः ।
यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; स्वस्ति—मंगल, कल्याण; अयनः—लाने वाला; पन्था—पथ; द्वि-जातेः—द्विज के लिए; गृह—घर पर; मेधिनः—यज्ञ करने वाला; यत्—जो; श्रद्धया—निःस्वार्थपूर्वक; आप्त—सही साधनों से प्राप्त; वित्तेन—अपने धन से; शुक्लेन—निर्मल; ईज्येत—पूजा करे; पूरुषः—भगवान् की।

धार्मिक द्विज गृहस्थ के लिए सर्वाधिक शुभ पथ यही है कि वह ईमानदारी से प्राप्त की गई सम्पदा से भगवान् की पूजा निःस्वार्थ भाव से करे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी तथा श्री जीव गोस्वामी दोनों ही एकमत हैं कि वैदिक यज्ञों का आनुष्ठानिक कर्म आसक्त गृहस्थों (गृहमेधियों) के लिए होता है। जो लोग पहले से कृष्णभावनामृत में वैराग्य प्राप्त हैं यथा स्वयं वसुदेव, उन्हें *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में बताया गया है, भगवान् के भक्तों, उनके अर्चाविग्रह रूप के, उनके नाम, प्रसादम् तथा उनकी शिक्षाओं के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने की ही आवश्यकता रहती है।

वित्तैषणां यज्ञदानैर्गृहैर्दारसुतैषणाम् ।
आत्मलोकैषणां देव कालेन विसृजेद्बुधः ।
ग्रामे त्यक्तैषणाः सर्वे ययुर्धीरास्तपोवनम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

वित्त—सम्पदा की; एषणाम्—इच्छा को; यज्ञ—यज्ञ से; दानैः—तथा दान द्वारा; गृहैः—गृहस्थी के कार्यों में व्यस्तता द्वारा; दार—पत्नी; सुत—तथा सन्तान की; एषणाम्—इच्छा को; आत्म—अपने लिए; लोक—(अगले जन्म में) उच्च लोक के लिए; एषणाम्—इच्छा; देव—हे सन्त स्वभाव वाले वसुदेव; कालेन—काल के कारण; विसृजेत्—त्याग देना चाहिए; बुधः—बुद्धिमान को; ग्रामे—गृहस्थ जीवन के लिए; त्यक्त—छोड़ी हुई; एषणाः—इच्छाएँ; सर्वे—समस्त; ययुः—चले गये; धीराः—गम्भीर मुनिगण; तपः—तपस्या के; वनम्—वन को।

बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि यज्ञ करके तथा दान-कर्मों के द्वारा धन-सम्पदा की अपनी इच्छा का परित्याग करना सीखे। उसे गृहस्थ जीवन के अनुभव से पत्नी तथा सन्तान की अपनी इच्छा का परित्याग करना सीखना चाहिए। हे सन्त वसुदेव, उसे काल के प्रभाव का अध्ययन करके अगले जीवन में उच्चतर लोक में जाने की अपनी इच्छा का परित्याग करना सीखना चाहिए। जिन आत्मसंयमी मुनियों ने गृहस्थ जीवन के प्रति अपनी आसक्ति का इस तरह परित्याग

कर दिया है, वे तपस्या करने के लिए वन में चले जाते हैं।

ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितृणां प्रभो ।
यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन्पतेत् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

ऋणैः—ऋणों से; त्रिभिः—तीनों; द्वि-जः—द्विज जाति का सदस्य; जातः—उत्पन्न होता है; देव—देवताओं को; ऋषि—मुनिगण; पितृणाम्—तथा पूर्वजों के; प्रभो—हे स्वामी (वसुदेव); यज्ञ—यज्ञ; अध्ययन—शास्त्र का अध्ययन; पुत्रैः—तथा सन्तान (उत्पन्न करने) से; तानि—ये (ऋण); अनिस्तीर्य—न समाप्त करके, उऋण हुए बिना; त्यजन्—(अपना शरीर) त्यागते हुए; पतेत्—नीचे गिर जाता है।.

हे प्रभु, एक द्विज तीन प्रकार के ऋण—देवताओं के प्रति ऋण, मुनियों के प्रति ऋण तथा अपने पुरखों के प्रति ऋण—लेकर उत्पन्न होता है। यदि वह यज्ञ, शास्त्र-अध्ययन तथा सन्तानोत्पत्ति द्वारा इन ऋणों को चुकता किये बिना अपना शरीर त्याग देता है, तो वह नरक में जा गिरेगा।

तात्पर्य : ब्राह्मण के विशेष कर्तव्यों के विषय में श्रुति का कथन है *जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिऋणवाञ्जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः*—"जब भी ब्राह्मण जन्म लेता है उसके साथ साथ तीन ऋण जन्म लेते हैं। वह मुनियों का ऋण ब्रह्मचर्य द्वारा चुका सकता है, देवताओं का ऋण यज्ञ द्वारा चुका सकता है और अपने पुरखों का ऋण सन्तान उत्पन्न करके चुकता कर सकता है।"

त्वं त्वद्य मुक्तो द्वाभ्यां वै ऋषिपित्रोर्महामते ।
यज्ञैर्देवर्णमुन्मुच्य निरृणोऽशरणो भव ॥ ० ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; तु—लेकिन; अद्य—आज; मुक्तः—मुक्त, स्वतंत्र; द्वाभ्याम्—दो (ऋणों) से; वै—निश्चय ही; ऋषि—ऋषियों; पित्रोः—तथा पूर्वजों के प्रति; महा-मते—हे उदार; यज्ञैः—वैदिक यज्ञों द्वारा; देव—देवताओं के प्रति; ऋणम्—ऋण से; उन्मुच्य—अपने को छुड़ाकर; निरृणः—उऋण; अशरणः—शरणविहीन; भव—बनो।.

किन्तु हे महामते, आप तो पहले ही अपने दो ऋणों—मुनियों के तथा पुरखों के ऋणों—से मुक्त हैं। अब आप वैदिक यज्ञ सम्पन्न करके देव-ऋण से भी उऋण हो लें। इस तरह आप अपने को ऋण से पूरी तरह मुक्त कर लें और समस्त भौतिक आश्रय का परित्याग कर दें।

वसुदेव भवान्नूनं भक्त्या परमया हरिम् ।

जगतामीश्वरं प्रार्चः स यद्वां पुत्रतां गतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

वसुदेव—हे वसुदेव; भवान्—आप; नूनम्—निस्सन्देह; भक्त्या—भक्ति से; परमया—परम; हरिम्—भगवान् कृष्ण को; जगताम्—सारे जगतों के; ईश्वरम्—परम नियन्ता को; प्रार्चः—ढंग से पूजा की है; सः—वह; यत्—जितना कि; वाम्—तुम दोनों (वसुदेव-देवकी) के; पुत्रताम्—पुत्र के कार्य को; गतः—ग्रहण किया हुआ।

हे वसुदेव, निस्सन्देह इसके पूर्व आपने समस्त जगतों के स्वामी भगवान् हरि की पूजा की होगी। आप तथा आपकी पत्नी दोनों ने ही परम भक्ति के साथ उनकी पूरी तरह से पूजा की होगी, क्योंकि उन्होंने आपके पुत्र की भूमिका स्वीकार की है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने मुनियों के भावों का इस प्रकार उद्धृत किया है "हमने आपको उसी प्रकार सामान्य ढंग से उत्तर दिया, जिस तरह आपने सामान्य वार्ता के रूप में प्रश्न किये हैं। किन्तु वास्तव में आप भगवान् के नित्यमुक्त पिता हैं, अतएव न तो सांसारिक रीति-रिवाज का, न ही शास्त्रीय आदेशों का आपके ऊपर कोई अधिकार है।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार *वसुदेव* नाम ही बतलाने वाला है कि वसुदेव शुद्ध भक्ति की सर्वोत्तम सम्पत्ति (वसु) को तेज के साथ प्रकट करते हैं (*दीव्यति*)। ग्यारहवें स्कन्ध में नारद पुनः वसुदेव से मिलेंगे तो उन्हें स्मरण दिलायेंगे कि—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां
न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

"हे राजन्! जिसने सारे भौतिक कर्तव्यों का परित्याग कर दिया है और सबों के आश्रयदाता मुकुन्द के चरणकमलों की पूर्ण शरण ग्रहण कर ली है, वह देवताओं, ऋषियों, सामान्य जीवों, सम्बन्धियों, मित्रों, मानव जाति या दिवंगत पूर्वजों का ऋणी नहीं रहता। चूँकि ऐसे सभी प्रकार के जीव भगवान् के अंश हैं, अतः जिसने भगवान् की सेवा में अपने को समर्पित कर दिया है, उसे ऐसे व्यक्तियों की पृथक् से सेवा करने की आवश्यकता नहीं रहती।" (*भागवत* ११.५.१)

श्रीशुक उवाच

इति तद्वचनं श्रुत्वा वसुदेवो महामनाः ।

तानृषीनृत्विजो वव्रे मूर्ध्नानम्य प्रसाद्य च ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—ऐसा कहे जाने पर; तत्—उनके; वचनम्—शब्दों को; श्रुत्वा—सुनकर; वसुदेवः—वसुदेव ने; महा-मनाः—उदार; तान्—उन; ऋषीन्—ऋषियों को; ऋत्विजः—पुरोहितों के रूप में; वव्रे—चुना; मूर्ध्ना—अपने सिर से; आनम्य—झुक कर; प्रसाद्य—तुष्ट करके; च—तथा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : ऋषियों के इन कथनों को सुनकर उदार वसुदेव ने भूमि तक अपना सिर झुकाया और उनकी प्रशंसा करते हुए, उनसे अनुरोध किया कि वे उनके पुरोहित बन जायँ।

त एनमृषयो राजन्वृता धर्मेण धार्मिकम् ।
तस्मिन्नयाजयन्क्षेत्रे मखैरुत्तमकल्पकैः ॥ ३॥

शब्दार्थ

ते—उन; एनम्—उसको; ऋषयः—ऋषियों ने; राजन्—हे राजा (परीक्षित); वृताः—चुने हुए; धर्मेण—धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार; धार्मिकम्—धार्मिक; तस्मिन्—उसमें; अयाजयन्—यज्ञ करने लग गये; क्षेत्रे—पवित्र क्षेत्र (कुरुक्षेत्र के) में; मखैः—यज्ञों के द्वारा; उत्तम—श्रेष्ठ; कल्पकैः—जिसकी व्यवस्था।

हे राजन्, इस तरह अनुरोध किये जाने पर ऋषियों ने पवित्र वसुदेव को कुरुक्षेत्र के पावन स्थान पर कठोर धार्मिक नियमों के अनुसार तथा उत्तम अनुष्ठानिक व्यवस्था के अनुसार अग्नि यज्ञ करने में लगा लिया।

तद्दीक्षायां प्रवृत्तायां वृष्णयः पुष्करस्रजः ।
स्नाताः सुवाससो राजन्राजानः सुष्ठ्वलङ्कृताः ॥ ॥
तन्महिष्यश्च मुदिता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः ।
दीक्षाशालामुपाजग्मुरालिप्ता वस्तुपाणयः ॥ ५॥

शब्दार्थ

तत्—उनकी (वसुदेव की); दीक्षायाम्—यज्ञ के लिए दीक्षा; प्रवृत्तायाम्—जब यह शुरू होने वाला था; वृष्णयः—वृष्णिगण; पुष्कर—कमलों की; स्रजः—माला पहने; स्नाताः—स्नान किये हुए; सुवाससः—अच्छे वस्त्र धारण किये; राजन्—हे राजा; राजानः—(अन्य) राजा; सुष्ठु—भव्य रीति से; अलङ्कृताः—आभूषित; तत्—उनकी; महिष्यः—रानियाँ; च—तथा; मुदिताः—प्रसन्नचित्त; निष्क—रत्नजटित हार; कण्ठ्यः—जिनके गलों में; सु-वाससः—सुन्दर वस्त्रों से युक्त; दीक्षा—दीक्षा के लिए; शालाम्—मंच, स्थल पर; उपाजग्मुः—गये; आलिप्ताः—लेप किये; वस्तु—शुभ वस्तुओं से; पाणयः—जिसके हाथों में।

हे राजन्, जब महाराज वसुदेव यज्ञ के लिए दीक्षित किये जाने वाले थे, तो वृष्णिजन स्नान करके तथा सुन्दर वस्त्र पहने एवं कमल की मालाएँ पहने दीक्षा-स्थल पर आये। अन्य राजा भी खूब सज-धज कर आये। उनके साथ उनकी प्रसन्नचित्त रानियाँ भी थीं। वे अपने गलों में रत्नजटित हार पहने थीं तथा सुन्दर वस्त्र धारण किये थीं। ये रानियाँ चन्दन का लेप किये थीं

और हाथों में पूजा की शुभ सामग्री लिये थीं।

नेदुर्मृदङ्गपटहशङ्खभेर्यानकादयः ।
ननृतुर्नटनर्तक्यस्तुष्टुवुः सूतमागधाः ।
जगुः सुकण्ठ्यो गन्धर्व्यः सङ्गीतं सहभर्तृकाः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

नेदुः—बजने लगे; मृदङ्ग-पटह—मृदंग तथा पटह जैसे ढोल; शङ्ख—शंख; भेरी-आनक—भेरि तथा आनक जैसे ढोल; आदयः—तथा अन्य बाजे; ननृतुः—नाचने लगे; नट-नर्तक्यः—पुरुष नर्तक तथा स्त्री नर्तकियाँ; तुष्टुवुः—यशोगान किया; सूत-मागधाः—सूतों तथा मागधों ने; जगुः—गाया; सु-कण्ठ्यः—मधुर वाणी वाली; गन्धर्व्यः—गन्धर्वियों ने; सङ्गीतम्—गीत; सह—साथ; भर्तृकाः—अपने पतियों के।

मृदंग, पटह, शंख, भेरी, आनक तथा अन्य वाद्य बजने लगे। नर्तकों तथा नर्तकियों ने नृत्य किया और सूतों तथा मागधों ने यशोगान किया। मधुर वाणी वाली गन्धर्वियों ने अपने अपने पतियों के साथ गीत गाये।

तमभ्यषिञ्चन्विधिवदक्तमभ्यक्तमृत्विजः ।
पत्नीभिरष्टादशभिः सोमराजमिवोडुभिः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; अभ्यषिञ्चन्—पवित्र जल छिड़कते हुए; विधिवत्—शास्त्रीय नियमों के अनुसार; अक्तम्—आँखों में अंजन लगाये; अभ्यक्तम्—ताजे नवनीत से शरीर को लेप किये; ऋत्विजः—पुरोहितगण; पत्नीभिः—अपनी अपनी पत्नियों के साथ; अष्टा-दशभिः—अठारह; सोम-राजम्—राजसी; इव—सदृश; उडुभिः—तारों से।

वसुदेव की आँखों में काजल लगाने तथा उनके शरीर को ताजे मक्खन से लेप करने के बाद पुरोहितों ने शास्त्रीय विधि के अनुसार उन पर तथा उनकी अठारह रानियों पर पवित्र जल छिड़क कर उन्हें दीक्षा दी। वे अपनी पत्नियों से घिर कर तारों से घिरे राजसी चन्द्रमा जैसे लग रहे थे।

तात्पर्य : देवकी वसुदेव की मुख्य पत्नी (पटरानी) थीं किन्तु उनकी कई सौतें थीं जिनमें उनकी छः बहनें सम्मिलित थीं। *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध में यह बात अभिलिखित है।

देवकश्चोग्रसेनश्च चत्वारो देवकात्मजाः ॥

देववानुपदेवश्च सुदेवो देववर्धनः ।

तेषां स्वसारः सप्तासन धृतदेवादयो नृप ॥

शान्तिदेवोपदेवा च श्रीदेवा देवरक्षिता ।

सहदेवा देवकी च वसुदेव उवाह ताः ॥

''आहुक के दो पुत्र थे जिनके नाम थे देवक तथा उग्रसेन। देवक के चार पुत्र हुए—देववान्, उपदेव, सुदेव तथा देववर्धन। उसके सात पुत्रियाँ भी थीं जिनके नाम थे शान्तिदेवा, उपदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता, सहदेवा, देवकी तथा धृतदेवा। धृतदेवा सबसे बड़ी थी। कृष्ण के पिता वसुदेव ने इन सभी बहनों के साथ विवाह किया।'' (*भागवत* ९.२.२१-२३)

वसुदेव की कुछ अन्य पत्नियों का उल्लेख थोड़े-से श्लोकों के बाद ही हुआ है—

पौरवी रोहिणी भद्रा मदिरा रोचना इला।

देवकीप्रमुखाश्चासन् पत्न्य आनकदुन्दुभेः ॥

''देवकी, पौरवी, रोहिणी, भद्रा, मदिरा, रोचना, इला इत्यादि आनकदुन्दुभि (वसुदेव) की पत्नियाँ थीं। उन सबों में देवकी मुख्य थीं।'' (*भागवत* ९.२.५)

ताभिर्दुकूलवलयैर्हारनूपुरकुण्डलैः ।
स्वलङ्कृताभिर्विबभौ दीक्षितोऽजिनसंवृतः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

ताभिः—उनके साथ; दुकूल—रेशमी साड़ियों के साथ; वलयैः—तथा चूड़ियों से; हार—गले का हार; नूपुर—पायल; कुण्डलैः—तथा कान के कुण्डलों से; सु—सुन्दर; अलङ्कृताभिः—सजी हुई; विबभौ—खूब चमक रहा था; दीक्षितः—दीक्षित होकर; अजिन—मृगचर्म से; संवृतः—आवृत, लपेटा हुआ।

वसुदेव ने अपनी पत्नियों के साथ साथ दीक्षा ग्रहण की। उनकी पत्नियाँ रेशमी साड़ियाँ पहने थीं और चूड़ियों, हारों, पायलों तथा कुण्डलों से सजी थीं। वसुदेव का शरीर मृगचर्म से लपेटा हुआ था, जिससे वे खूब शोभायमान हो रहे थे।

तस्यर्त्विजो महाराज रत्नकौशेयवाससः ।
ससदस्या विरेजुस्ते यथा वृत्रहणोऽध्वरे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; ऋत्विजः—पुरोहितगण; महा-राज—हे महान् राजा (परीक्षित); रत्न—रत्नों से; कौशेय—रेशमी; वाससः—तथा वस्त्र; स—सहित; सदस्याः—सभा के सदस्य; विरेजुः—तेजवान प्रतीत हो रहे थे; ते—वे; यथा—मानो; वृत्र-हणः—वृत्र को मारने वाले इन्द्र के; अध्वरे—यज्ञ में।

हे महाराज परीक्षित, रेशमी धोतियाँ पहने तथा रत्नजटित आभूषणों से अलंकृत वसुदेव के पुरोहितगण तथा सभा के कार्यकर्ता सदस्य इतने तेजवान दिख रहे थे, मानो वे वृत्र के मारने

वाले इन्द्र की यज्ञशाला में खड़े हों।

तदा रामश्च कृष्णश्च स्वैः स्वैर्बन्धुभिरन्वितौ ।
रेजतुः स्वसुतैर्दारैर्जीवेशौ स्वविभूतिभिः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; रामः—बलराम; च—तथा; कृष्णः—कृष्ण; च—भी; स्वैः स्वैः—अपने अपने; बन्धुभिः—सम्बन्धियों से; अन्वितौ—साथ में; रेजतुः—शोभायमान हो रहे थे; स्व—अपने; सुतैः—पुत्रों के साथ; दारैः—तथा पत्नियों के साथ; जीव—सारे जीवों के; ईशौ—दोनों प्रभु; स्व-विभूतिभिः—अपने ऐश्वर्य के अंशों सहित।

उस समय समस्त जीवों के प्रभु बलराम तथा कृष्ण अपने अपने पुत्रों, पत्नियों तथा अन्य पारिवारिक सदस्यों के साथ, जो उनके ऐश्वर्य के अंशरूप थे, अत्यधिक शोभायमान हो रहे थे।

ईजेऽनुयज्ञं विधिना अग्निहोत्रादिलक्षणैः ।
प्राकृतैर्वैकृतैर्यज्ञैर्द्रव्यज्ञानक्रियेश्वरम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

ईजे—पूजा की; अनु-यज्ञम्—हर तरह के यज्ञ से; विधिना—समुचित नियमों के द्वारा; अग्नि-होत्र—पवित्र अग्नि में आहुतियाँ डाल कर; आदि—इत्यादि; लक्षणैः—लक्षणों से युक्त; प्राकृतैः—बिना किसी संशोधन के, श्रुति के आदेशों के सर्वथा अनुकूल; वैकृतैः—संशोधित, अन्य स्रोतों के लक्षणों के अनुसार समंजित; यज्ञैः—यज्ञों से; द्रव्य—यज्ञ की साज-सामग्री के; ज्ञान—मंत्रों के ज्ञान के; क्रिया—तथा अनुष्ठानों के; ईश्वरम्—प्रभु को।

विविध प्रकार के वैदिक यज्ञों को समुचित विधि-विधानों के अनुसार सम्पन्न करते हुए वसुदेव ने समस्त यज्ञों की साज-सामग्री सहित, मंत्रों तथा अनुष्ठानों द्वारा ईश्वर की पूजा की। उन्होंने पवित्र अग्नि में आहुतियाँ डाल कर तथा यज्ञ-पूजा के अन्य पक्षों का पालन करते हुए मुख्य तथा गौण यज्ञों को सम्पन्न किया।

तात्पर्य : वैदिक अग्नि-यज्ञों के अनेक प्रकार हैं और हर एक यज्ञ के विशद विधि-विधान हैं। वैदिक श्रुति के *ब्राह्मण* अंश खण्ड में केवल कुछेक विशिष्ट यज्ञों का पदशः उल्लेख मिलता है—यथा ज्योतिष्टोम तथा दर्श-पूर्णमास यज्ञ। ये *प्राकृत* या मूल यज्ञ कहलाते हैं। अन्य यज्ञों का विस्तृत विवरण *मीमांसा शास्त्र* के कड़े नियमों के अनुसार इन प्राकृत आदेशों के ही ढाँचे से प्राप्त किया जाता है। चूँकि अन्य यज्ञ प्राकृत यज्ञों के आधार पर प्राप्त किये जाते हैं इसलिए वे *वैकृत* अर्थात् ''परिवर्तित'' कहलाते हैं।

अथर्त्विग्भ्योऽददात्काले यथाम्नातं स दक्षिणाः ।

स्वलङ्कृतेभ्योऽलङ्कृत्य गोभूकन्या महाधनाः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; ऋत्विग्भ्यः—पुरोहितों को; अददात्—दिया; काले—उचित समय पर; यथा-आम्नातम्—शास्त्रों के अनुसार; सः—उसने; दक्षिणाः—धन्यवाद की भेंटें; सु-अलङ्कृतेभ्यः—सुन्दर ढंग से सजाई; अलङ्कृत्य—खूब सजाकर; गो—गौवें; भू—भूमि; कन्याः—तथा विवाहयोग्य कन्याएँ; महा—अत्यधिक; धनाः—मूल्यवान।

तब उचित समय पर तथा शास्त्रों के अनुसार वसुदेव ने पुरोहितों को मूल्यवान आभूषणों से अलंकृत किया, यद्यपि वे पहले से सुसज्जित थे और उन्हें गौवें, भूमि तथा विवाह योग्य कन्याओं के मूल्यवान उपहार दान में दिये।

पत्नीसंयाजावभृथ्यैश्चरित्वा ते महर्षयः ।
सस्नू रामह्रदे विप्रा यजमानपुरःसराः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

पत्नी-संयाज—अपनी पत्नी के साथ मिलकर किया गया अनुष्ठान; अवभृथ्यैः—तथा अवभृथ्य नामक अन्तिम अनुष्ठान से; चरित्वा—सम्पन्न करके; ते—उन; महाऋषयः—महर्षियों ने; सस्नुः—स्नान किया; राम—परशुराम के; ह्रदे—सरोवर में; विप्राः—ब्राह्मणों ने; यजमान—यज्ञकर्ता (वसुदेव) को; पुरः-सराः—आगे करके।

पत्नीसंयाज तथा *अवभृथ्य* अनुष्ठानों को सम्पन्न कराने के बाद महान् ब्रह्मर्षियों ने यज्ञ के कर्ता वसुदेव को आगे करके, परशुराम सरोवर में स्नान किया।

स्नातोऽलङ्कारवासांसि वन्दिभ्योऽदात्तथा स्त्रियः ।
ततः स्वलङ्कृतो वर्णानाश्वभ्योऽन्नेन पूजयत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

स्नातः—स्नान किये; अलङ्कार—आभूषण; वासांसि—तथा वस्त्र; वन्दिभ्यः—वन्दीजनों को; अदात्—दिया; तथा—भी; स्त्रियः—स्त्रियाँ; ततः—तब; सु-अलङ्कृतः—सुन्दर आभूषणों से युक्त; वर्णान्—सारी जातियों के लोग; आ—तक; श्वभ्यः—कुत्तों को; अन्नेन—भोजन से; पूजयत्—सम्मान किया।

पवित्र स्नान पूरा हो जाने पर, वसुदेव ने अपनी पत्नियों के साथ साथ पेशेवर वन्दीजनों को वे आभूषण तथा वस्त्र दान में दिये, जिन्हें वे पहने हुए थे। तब वसुदेव ने नवीन वस्त्र धारण किये और उसके बाद सभी वर्णों के लोगों को, यहाँ तक कि कुत्तों को भी, भोजन कराकर सम्मानित किया।

बन्धून्सदारान्ससुतान्पारिबर्हेण भूयसा ।
विदर्भकोशलकुरून्काशिकेकयसृञ्जयान् ॥ ५५ ॥
सदस्यर्त्विक्सुरगणान्नृभूतपितृचारणान् ।

श्रीनिकेतमनुज्ञाप्य शंसन्तः प्रययुः क्रतुम् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

बन्धून्—अपने सम्बन्धियों; स-दारान्—पत्नियों समेत; स-सुतान्—अपने पुत्रों सहित; पारिबर्हेण—भेंटों सहित; भूयसा—ऐश्वर्यवान्; विदर्भ-कोशल-कुरून्—विदर्भ, कोशल तथा कुरुवंशियों के प्रमुखों को; काशि-केकय-सृञ्जयान्—काशी, केकय तथा सृञ्जयवंशियों को भी; सदस्य—यज्ञसभा के सदस्यों; ऋत्विक्—पुरोहितों; सुर-गणान्—विविध श्रेणी के देवताओं को; नृ—मनुष्यों; भूत—भूत-पिशाचों; पितृ—पूर्वजों; चारणान्—चारणों को, जो देवताओं की क्षुद्र श्रेणी के सदस्य हैं; श्री-निकेतम्—लक्ष्मी के निवास श्रीकृष्ण से; अनुज्ञाप्य—विदा लेकर; शंसन्तः—प्रशंसा करते हुए; प्रययुः—विदा ली; क्रतुम्—यज्ञ समाप्ति की।

उन्होंने अपनी पत्नियों तथा पुत्रों सहित अपने सारे सम्बन्धियों, विदर्भ, कोशल, कुरु, काशी, केकय तथा सृञ्जय राज्यों के राजाओं, सभा के कार्यकर्ता सदस्यों तथा पुरोहितों, दर्शक देवताओं, मनुष्यों, भूत-प्रेतों, पितरों तथा चारणों को बड़ी बड़ी भेंटें दीं। तब लक्ष्मीनिवास भगवान् कृष्ण से अनुमति लेकर विविध अतिथि वसुदेव के यज्ञ की महिमा का गुणगान करते वहाँ से विदा हुए।

धृतराष्ट्रोऽनुजः पार्था भीष्मो द्रोणः पृथा यमौ ।
नारदो भगवान्व्यासः सुहृत्सम्बन्धिबान्धवाः ॥ ५७ ॥
बन्धून्परिष्वज्य यदून्सौहृदाक्लिन्नचेतसः ।
ययुर्विरहकृच्छ्रेण स्वदेशांश्चापरे जनाः ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

धृतराष्ट्रः—धृतराष्ट्र; अनुजः—(धृतराष्ट्र का) छोटा भाई (विदुर); पार्थाः—पृथा के पुत्र (युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन); भीष्मः—भीष्म; द्रोणः—द्रोण; पृथा—कुन्ती; यमौ—जुड़वाँ (नकुल-सहदेव); नारदः—नारद; भगवान् व्यासः—व्यासदेव; सुहृत्—मित्र; सम्बन्धि—निकट सम्बन्धीगण; बान्धवाः—तथा अन्य सम्बन्धी; बन्धून्—सम्बन्धी तथा मित्रों को; परिष्वज्य—आलिंगन करके; यदून्—यदुओं को; सौहृद—मैत्री भाववश; आक्लिन्न—द्रवित; चेतसः—हृदयों वाले; ययुः—चले गये; विरह—विछोह से; कृच्छ्रेण—कठिनाई से; स्व—अपने अपने; देशान्—राज्यों को; च—भी; अपरे—अन्य; जनाः—लोग।

यदुओं के मित्रों, निकट परिवार के सदस्यों तथा अन्य सम्बन्धियों ने, जिनमें धृतराष्ट्र तथा उसके छोटे भाई विदुर, पृथा तथा उसके पुत्र, भीष्म, द्रोण, जुड़वाँ भाई नकुल एवं सहदेव, नारद तथा भगवान् व्यासदेव सम्मिलित थे, यदुओं का आलिंगन किया। स्नेह से द्रवित हृदयों वाले ये तथा अन्य अतिथिगण अपने अपने राज्यों के लिए प्रस्थान कर गये, किन्तु इनकी गति विरह की पीड़ा के कारण मन्द पड़ गई थी।

नन्दस्तु सह गोपालैर्बृहत्या पूजयार्चितः ।
कृष्णरामोग्रसेनाद्यैर्न्यवात्सीद्बन्धुवत्सलः ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

नन्दः—नन्द महाराज; तु—तथा; सह—साथ; गोपालैः—ग्वालों के; बृहत्या—विशेष रूप से ऐश्वर्यवान्; पूजया—पूजा सहित; अर्चितः—सम्मानित; कृष्ण-राम-उग्रसेन-आद्यैः—कृष्ण, बलराम, उग्रसेन तथा अन्यों द्वारा; न्यवात्सीत्—रुक गये; बन्धु—अपने सम्बन्धियों के प्रति; वत्सलः—स्नेहिल।

ग्वालों समेत नन्द महाराज ने अपने यदु-सम्बन्धियों के साथ वहाँ कुछ दिन और रह कर अपना स्नेह दर्शाया। उनके इस विश्राम-काल में कृष्ण, बलराम, उग्रसेन तथा अन्यों ने उनकी वृहद् ऐश्वर्ययुक्त पूजा करके उनका सम्मान किया।

वसुदेवोऽञ्जसोत्तीर्य मनोरथमहार्णवम् ।
सुहृद्वृतः प्रीतमना नन्दमाह करे स्पृशन् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

वसुदेवः—वसुदेव; अञ्जसा—आसानी से; उत्तीर्य—पार करके; मनः-रथ—अपनी इच्छाओं (यज्ञ करने की) के; महा—विशाल; अर्णवम्—सागर को; सुहृत्—अपने शुभचिन्तकों द्वारा; वृतः—घिरे हुए; प्रीत—प्रसन्न; मनाः—अपने मन में; नन्दम्—नन्द से; आह—कहा; करे—हाथ का; स्पृशन्—स्पर्श करते हुए।

अपनी इच्छाओं रूपी विशाल सागर को इतनी आसानी से पार कर लेने पर वसुदेव को पूर्ण तुष्टि का अनुभव हुआ। उन्होंने अपने अनेक शुभचिन्तकों की संगति में उन्होंने नन्द महाराज का हाथ पकड़ कर, उनसे इस प्रकार कहा।

श्रीवसुदेव उवाच
भ्रातरीशकृतः पाशो नृनां यः स्नेहसंज्ञितः ।
तं दुस्त्यजमहं मन्ये शूराणामपि योगिनाम् ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

श्री-वसुदेवः उवाच—श्री वसुदेव ने कहा; भ्रातः—हे भाई; ईश—भगवान् द्वारा; कृतः—तैयार किया गया; पाशः—फन्दा, बन्धन; नृणाम्—मनुष्यों के; यः—जो; स्नेह—स्नेह; संज्ञितः—नामक; तम्—उसको; दुस्त्यजम्—छुड़ा पाना कठिन; अहम्—मैं; मन्ये—सोचता हूँ; शूराणाम्—वीरों के लिए; अपि—भी; योगिनाम्—तथा योगियों के लिए।

श्री वसुदेव ने कहा : हे भ्राता, स्वयं भगवान् ने स्नेह नामक गाँठ बाँधी है, जो मनुष्यों को दृढ़तापूर्वक एक-दूसरे से बाँधे रखती है। मुझे लगता है कि बड़े बड़े वीरों तथा योगियों तक को इससे छूट पाना कठिन होता है।

तात्पर्य : मनुष्यों के वीर नेता अपने क्षुद्र बन्धनों को इच्छाशक्ति से पार करने का प्रयास करते हैं, जबकि अन्तर्मुखी योगी इस कार्य के लिए ज्ञान का उपयोग करते हैं। लेकिन भगवान् की मायाशक्ति किसी भी बद्धजीव की तुलना में अधिक बलवान है। मायापति भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करने से ही उस माया के प्रभाव से अप्रभावित रहा जा सकता है।

अस्मास्वप्रतिकल्पेयं यत्कृताज्ञेषु सत्तमैः ।
मैत्र्यर्पिताफला चापि न निवर्तेत कर्हिचित् ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

अस्मासु—हमारे लिए; अप्रतिकल्पा—अतुलनीय; इयम्—यह; यत्—चूँकि; कृत-अज्ञेषु—अपने ऊपर दिखाई गई दया के प्रति जो विस्मरणशील हैं; सत्-तमैः—अत्यन्त साधु-पुरुषों द्वारा; मैत्री—मित्रता; अर्पिता—अर्पित की हुई; अफला—जिससे आदान-प्रदान न हुआ हो; च अपि—यद्यपि; न निवर्तेत—रुकती नहीं; कर्हिचित्—कभी।

निस्सन्देह, भगवान् ने ही स्नेह के बन्धनों की रचना की होगी, क्योंकि आप जैसे महान् सन्तों ने कभी भी हम अकृतज्ञों के प्रति अपनी अद्वितीय मैत्री प्रदर्शित करना बन्द नहीं किया, यद्यपि इसका समुचित आदान-प्रदान नहीं हुआ।

प्रागकल्पाच्च कुशलं भ्रातर्वो नाचराम हि ।
अधुना श्रीमदान्धाक्षा न पश्यामः पुरः सतः ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

प्राक्—पूर्वकाल में; अकल्पात्—अक्षमता के कारण; च—तथा; कुशलम्—कुशलता; भ्रातः—हे भाई; वः—तुम्हारा; न आचराम—हमने माना नहीं; हि—निस्सन्देह; अधुना—अब; श्री—ऐश्वर्य; मद—नशे के कारण; अन्ध—अन्धी बन कर; अक्षाः—जिनकी आँखें; न पश्यामः—हम देख नहीं पाते; पुरः—सामने; सतः—उपस्थित, वर्तमान।

हे भ्राता, इसके पूर्व हमने आपके लाभ की कोई बात नहीं की, क्योंकि हम ऐसा करने में अशक्त थे। तो भी इस समय, यद्यपि आप हमारे समक्ष उपस्थित हैं, हमारी आँखें भौतिक सौभाग्य के मद से इस तरह अन्धी हो चुकी हैं कि हम आपकी उपेक्षा करते ही जा रहे हैं।

तात्पर्य : कंस की नृशंसता के अन्तर्गत रहते हुए वसुदेव नन्द की कुछ भी सहायता करने में असमर्थ थे और कृष्ण तथा बलराम का वध करने के लिए भेजे जाने वाले अनेक असुरों से अपनी रक्षा नन्द की प्रजा को स्वयं करनी पड़ती थी।

मा राज्यश्रीरभूत्पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद ।
स्वजनानुत बन्धून्वा न पश्यति ययान्धदृक् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; राज्य—राजा की; श्रीः—लक्ष्मी; अभूत्—उदय होती है; पुंसः—एक व्यक्ति के लिए; श्रेयः—जीवन का असली लाभ; कामस्य—चाहने वाले का; मान-द—हे सम्मान प्रदान करने वाले; स्व-जनान्—अपने निकट सम्बन्धियों को; उत—भी; बन्धून्—अपने मित्रों के; वा—अथवा; न पश्यति—नहीं देखता; यया—जिस (ऐश्वर्य) से; अन्ध—अन्धी हुई; दृक्—दृष्टि।

हे अत्यन्त आदरणीय, ईश्वर करे कि जो व्यक्ति जीवन में सर्वोच्च लाभ प्राप्त करना चाहते हैं, वे कभी भी राजसी ऐश्वर्य प्राप्त न कर पायें, क्योंकि इससे वे अपने परिवार तथा मित्रों की

आवश्यकताओं के प्रति अंधे बन जाते हैं।

तात्पर्य : वस्तुत: यह तो वसुदेव की गहन उदारता है कि वे अपने को तुच्छ मान रहे हैं लेकिन उनके द्वारा ऐश्वर्य की जो भर्त्सना की गई है, वह सामान्यतया वैध है। इसी स्कन्ध में इसके पूर्व नारद मुनि ने स्वर्ग के कोषाध्यक्ष कुवेर के दो धनी पुत्रों—नलकूवर तथा मणिग्रीव की तीखी आलोचना की थी। गर्व तथा मदिरा के द्वारा उन्मत्त हुए वे दोनों नारद का उस समय समुचित सत्कार नहीं कर पाये, जब वे दोनों कुछ तरुणियों के साथ मन्दाकिनी नदी में नग्न-क्रीड़ा कर रहे थे और नारद उधर से गुजरे थे। उन्हें ऐसी लज्जास्पद स्थिति में देखकर नारद ने कहा—

न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान् बुद्धिभ्रंशो रजोगुण: ।

श्रीमदाद् आभिजात्यादिर्यत्र स्त्री द्यूतमासव: ॥

''भौतिक भोग के समस्त आकर्षणों में से धन के प्रति आकर्षण ऐसा है, जो मनुष्य की बुद्धि को सुन्दर शारीरिक स्वरूप प्राप्त करने, राजसी परिवार में जन्म लेने तथा विद्वान होने से कहीं अधिक मोहित कर लेता है। जब कोई अशिक्षित होता है, किन्तु धन के कारण झूठे ही फूल कर कुप्पा हुआ रहता है, तो इसका परिणाम यह होता है कि वह अपनी सम्पत्ति को सुरा, सुन्दरी तथा द्यूत क्रीड़ा का आनन्द उठाने में लगाता है।'' (*भागवत* ..८)

श्रीशुक उवाच
एवं सौहृदशैथिल्यचित्त आनकदुन्दुभिः ।
रुरोद तत्कृतां मैत्रीं स्मरन्नश्रुविलोचनः ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस तरह; सौहृद—घनिष्ठ संवेदना द्वारा; शैथिल्य—मृदु बनाये गये; चित्तः—हृदय वाले; आनकदुन्दुभिः—वसुदेव द्वारा; रुरोद—रो पड़ा; तत्—उसके (नन्द के) द्वारा; कृताम्—किया गया; मैत्रीम्—मित्रता के कार्य; स्मरन्—स्मरण करते हुए; अश्रु—आँसू; विलोचनः—आँखों में।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : घनिष्ठ संवेदना के कारण हृदय द्रवित होने से वसुदेव रो पड़े। उनके नेत्र आँसुओं से डबडबा आये, जब उन्होंने अपने प्रति प्रदर्शित नन्द की मित्रता का स्मरण किया।

नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत्प्रेम्णा गोविन्दरामयोः ।

अद्य श्व इति मासांस्त्रीन्यदुभिर्मानितोऽवसत् ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

नन्दः—नन्द; तु—तथा; सख्युः—अपने मित्रों को; प्रिय—स्नेह; कृत्—दिखलाने वाला; प्रेम्णा—प्रेमवश; गोविन्द-रामयोः—कृष्ण तथा बलराम के लिए; अद्य—आज (देर से जाऊँगा); श्वः—(मैं) कल (जाऊँगा); इति—इस प्रकार; मासान्—महीने; त्रीन्—तीन; यदुभिः—यदुओं द्वारा; मानितः—सम्मानित; अवसत्—रहता रहा।

नन्द भी अपने मित्र वसुदेव के प्रति स्नेह से भरपूर थे। अतः बात के दिनों में नन्द बारम्बार यही कहते, ''मैं आज ही कुछ समय के बाद जाने वाला हूँ'' तथा ''मैं कल जाऊँगा।'' किन्तु कृष्ण तथा बलराम के स्नेह के कारण, वे समस्त यदुओं द्वारा सम्मानित होकर और तीन मास तक रहते रहे।

तात्पर्य : यह निश्चित कर लेने के बाद कि वे प्रातः जायेंगे, बाद में वे निश्चित करते ''मैं आज ही देर से जाऊँगा'' और जब दोपहर बीत जाती तो वे कहते, ''मैं कल तक रुकूँगा।'' श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने उनकी इस टालमटोल का एक संभव कारण सुझाया—नन्द चुपके से कृष्ण को अपने साथ व्रज ले जाना चाहते थे, किन्तु वसुदेव का हृदय नहीं तोड़ना चाहते थे। अनिश्चय की यह स्थिति तीन मास तक बनी रही।

ततः कामैः पूर्यमाणः सव्रजः सहबान्धवः ।
परार्ध्याभरणक्षौमनानानर्घ्यपरिच्छदैः ॥ ६७ ॥
वसुदेवोग्रसेनाभ्यां कृष्णोद्धवबलादिभिः ।
दत्तमादाय पारिबर्हं यापितो यदुभिर्ययौ ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; कामैः—इच्छित वस्तुओं से; पूर्यमाणः—तृप्त; स-व्रजः—व्रजवासियों सहित; सह-बान्धवः—अपने परिवार वालों के साथ; पर—अत्यन्त; अर्ध्य—मूल्यवान; आभरण—आभूषणों से; क्षौम—महीन मखमल; नाना—विविध; अनर्घ्य—अमूल्य; परिच्छदैः—तथा घरेलू साज-सामान से; वसुदेव-उग्रसेनाभ्याम्—वसुदेव तथा उग्रसेन द्वारा; कृष्ण-उद्धव-बल-आदिभिः—तथा कृष्ण, उद्धव, बलराम आदि के द्वारा; दत्तम्—दिया हुआ; आदाय—लेकर; पारिबर्हम्—उपहारों को; यापितः—विदा किया; यदुभिः—यदुओं द्वारा; ययौ—विदा हो गया।

जब वसुदेव, उग्रसेन, कृष्ण, उद्धव, बलराम तथा अन्य लोग नन्द की इच्छाएँ पूरी कर चुके तथा बहुमूल्य आभूषण, महीन मलमल तथा नाना प्रकार की बहुमूल्य घरेलू सामग्री भेंट कर चुके, तो नन्द महाराज ने ये सारी भेंटें स्वीकार कर लीं और सभी यदुओं से विदा ली तथा वे अपने पारिवारिक सदस्यों तथा व्रजवासियों के साथ रवाना हो गये।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार, तीन मास बाद नन्द महाराज कृष्ण के पास पहुँचे

और उनसे बोले, ''हे पुत्र! तुम्हारे दिव्य मुख से बहे पसीने की एक बूँद पर मैं असंख्य जीवन देने को तैयार हूँ। अब व्रज चलो। मैं अब एक क्षण भी यहाँ नहीं बिता सकता।'' तब वे वसुदेव के पास गये और उनसे कहा, ''हे मित्र! कृपया कृष्ण को व्रज भेज दीजिये'' और उग्रसेन से प्रार्थना की, ''आप मेरे मित्र को ऐसा करने का आदेश दें। यदि आप ऐसा नहीं करेंगे, तो मैं अपने आपको यहाँ परशुराम सरोवर में डुबो दूँगा। यदि मुझ पर विश्वास न हो तो देख ही लें। हम व्रज के लोग यहाँ पर सूर्यग्रहण के अवसर पर शुद्धि पाने के लिए नहीं आये अपितु हम कृष्ण को वापस ले जाना चाहते हैं, अन्यथा हम मर जायेंगे।'' नन्द के बौखलाए शब्द सुनकर वसुदेव तथा अन्यों ने मूल्यवान भेंटें देकर उन्हें शान्त करना चाहा।

राजनीति की कला में पटु वसुदेव ने अपने विश्वस्त सलाहकारों से सलाह ली और नन्द को यह कह कर सन्तुष्ट किया, ''मेरे मित्र, हे व्रजराज! यह सच है कि कृष्ण के बिना तुम में से कोई भी जीवित नहीं रह सकता। और हम आपको किस तरह मरने दे सकते हैं? इसलिए मुझे तो कृष्ण को किसी-न-किसी तरह व्रज वापस भेजना ही है। जब हम उनके साथ अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों को लेकर जिनमें अनेक निस्सहाय महिलाएँ भी होंगी, द्वारका वापस जायेंगे तो उसके बाद मैं ऐसा करूँगा। तब अगले ही दिन उन्हें किसी भी प्रकार की रुकावट न डाल कर शुभ समय पर व्रज के लिए रवाना होने दूँगा। मैं तुमसे एक हजार बार कसमें खाकर कहता हूँ। आखिर, हम जो कि कृष्ण के साथ यहाँ आये हैं, उनके बिना घर कैसे जा सकते हैं? लोग हमारे विषय में क्या कहेंगे? आप सभी मामलों में पंडित हैं, अतएव आपसे यह अनुरोध करता हूँ। इसके लिए मुझे क्षमा करेंगे।''

इसके बाद उग्रसेन ने नन्द महाराज से कहा, ''हे व्रजपति! मैं वसुदेव के कथन का साक्षी हूँ और यह प्रण करता हूँ कि यदि मुझे बल का भी प्रयोग करना पड़े तो भी मैं कृष्ण को व्रज वापस भेजूँगा।''

तब उद्धव तथा बलराम को साथ लेकर भगवान् कृष्ण ने नन्द से एकान्त में कहा, ''हे पिताश्री! यदि मैं इन वृष्णियों को छोड़ कर आज सीधे व्रज जाता हूँ, तो वे मेरे विछोह की पीड़ा से मर जायेंगे। तब केशी तथा अरिष्ट से कहीं अधिक शक्तिशाली हजारों शत्रु इन सारे राजाओं का सफाया करने आयेंगे।

''चूँकि मैं सर्वज्ञ हूँ, अतएव मैं जानता हूँ कि मुझ पर क्या अनिवार्य रूप से घटित होने वाला है।

यदि सुनें तो मैं आपसे बतलाऊँ। द्वारका लौटने पर मुझे युधिष्ठिर से निमंत्रण प्राप्त होगा और मैं उनके राजयूय यज्ञ में सम्मिलित होने इन्द्रप्रस्थ जाऊँगा। वहाँ पर मैं शिशुपाल का वध करूँगा और फिर द्वारका लौटने पर शाल्व को मारूँगा। इसके बाद मैं मथुरा से दक्षिण स्थित स्थान की यात्रा करूँगा जहाँ पर दन्तवक्र का वध करके, मैं आपको बचाऊँगा। इसके बाद मैं व्रज आऊँगा, अपने सारे मित्रों से मिलूँगा और फिर बड़े आनन्द से आपकी गोद से बैठूँगा। निस्सन्देह, मैं शेष जीवन आपके साथ अत्यन्त सुखपूर्वक बिताऊँगा। विधाता ने मेरे मस्तक पर यह भाग्य लिख दिया है और आपके मस्तक पर भी यह लिखा हुआ है कि जब तक मैं वापस न आऊँ तब तक आप मेरे विछोह को सहें। हममें से किसी का भी भाग्य बदल नहीं सकता, अतएव मुझे यहाँ छोड़ने तथा व्रज जाने के लिए साहस जुटाइये।

''यदि इसी बीच, हे मेरे माता-पिता तथा हे मेरे प्रिय मित्रो! आप अपने मस्तकों पर लिखे अमिट भाग्य से दुखी होते हों, तो जब भी आप लोग मुझे कोई अच्छी वस्तु खिलाना चाहें या मेरे साथ कोई क्रीड़ा करना चाहें या मेरा दर्शन करना चाहें तो अपनी आँखें बन्द कर लीजिए और मैं आपकी इच्छापूर्ति के लिए आपके सामने प्रकट हो जाऊँगा और आप के दुख को आकाश-पुष्पों में बदल कर आपकी सभी कामनाएँ पूरी कर दूँगा। मैं आपसे यह वादा करता हूँ और जंगल की अग्नि से अपने जिन युवक मित्रों की मैंने जान बचाई थी, वे इसके लिए साक्षी हैं।''

इन तर्कों से आश्वस्त होकर कि मेरे पुत्र का सुख सर्वोपरि है, नन्द ने सारी भेंटें स्वीकार कर लीं और विदा लेकर यदुओं की विशाल सेना के साथ वहाँ से चल पड़े।

नन्दो गोपास्' च गोप्यश्च गोविन्दचरणाम्बुजे ।
मनः क्षिप्तं पुनर्हर्तुमनीशा मथुरां ययुः ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

नन्दः—नन्द; गोपाः—ग्वाले; च—तथा; गोप्यः—गोपियाँ; च—भी; गोविन्द—कृष्ण के; चरण-अम्बुजे—चरणकमलों पर; मनः—उनके मन; क्षिप्तम्—फेंके हुए; पुनः—फिर; हर्तुम्—दूर करने के लिए; अनीशाः—असमर्थ; मथुराम्—मथुरा; ययुः—चले गये।

भगवान् गोविन्द के चरणकमलों पर समर्पित अपने मन को वहाँ से विलग कर पाने में असमर्थ नन्द तथा ग्वाल-ग्वालिनें मथुरा लौट गए।

बन्धुषु प्रतियातेषु वृष्णयः कृष्णदेवताः ।
वीक्ष्य प्रावृषमासन्नाद्ययुर्द्वारवतीं पुनः ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

बन्धुषु—अपने सम्बन्धियों से; प्रतियातेषु—विदा होकर; वृष्णयः—वृष्णिजन; कृष्ण-देवताः—जिनके आराध्यदेव कृष्ण थे; वीक्ष्य—देखकर; प्रावृषम्—वर्षाऋतु; आसन्नात्—सन्निकट; ययुः—गये; द्वारवतीम्—द्वारका; पुनः—फिर।

इस तरह जब उनके सम्बन्धी विदा हो चुके और जब उन्होंने वर्षाऋतु को निकट आते देखा, तो वृष्णिजन, जिनके एकमात्र स्वामी कृष्ण थे, द्वारका वापस चले गये।

जनेभ्यः कथयां चक्रुर्यदुदेवमहोत्सवम् ।
यदासीत्तीर्थयात्रायां सुहृत्सन्दर्शनादिकम् ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

जनेभ्यः—लोगों को; कथयाम् चक्रुः—कह सुनाया; यदु-देव—यदुओं के स्वामी वसुदेव का; महा-उत्सवम्—महान् उत्सव; यत्—जो; आसीत्—घटना घटी; तीर्थ-यात्रायाम्—तीर्थयात्रा के दौरान; सुहृत्—मित्रों के; सन्दर्शन—दर्शन करने; आदिकम्—इत्यादि।

उन्होंने नगर के लोगों को यदुओं के स्वामी वसुदेव द्वारा सम्पन्न यज्ञोत्सवों के बारे में तथा उनकी तीर्थयात्रा के दौरान, जो भी घटनाएँ घटी थीं, विशेष रूप से, जिस तरह वे अपने प्रियजनों से मिले, इन सबके बारे में कह सुनाया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''कुरुक्षेत्र में ऋषियों के उपदेश'' नामक चौरासिवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पिचासी

कृष्ण द्वारा वसुदेव को उपदेश दिया जाना तथा देवकी-पुत्रों की वापसी

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह कृष्ण ने अपने पिता को दिव्य ज्ञान दिया और बलराम के साथ मिल कर अपनी माता के मृत पुत्रों का उद्धार किया।

वहाँ आये हुए मुनियों द्वारा कृष्ण की प्रशंसा सुन कर वसुदेव ने उन्हें तथा बलराम को अपना पुत्र मानना छोड़ कर भगवान् के रूप में उनकी सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता तथा सर्वज्ञता की प्रशंसा करना आरम्भ कर दिया। अपने पुत्रों की महिमा का गुणगान करने के बाद वसुदेव भगवान् कृष्ण के

चरणकमलों पर गिर पड़े और उनसे प्रार्थना की कि वे उनके मन से यह धारणा दूर कर दें कि भगवान् उनके पुत्र हैं। ऐसा न करके भगवान् कृष्ण ने वसुदेव को भगवत्-विद्या का उपदेश देकर उस धारणा को पुन: ला दिया और इन उपदेशों को सुन कर वसुदेव शान्त तथा संशयमुक्त हो गये।

तब माता देवकी ने कृष्ण तथा बलराम की प्रशंसा, उन्हें यह स्मरण दिलाते हुए की कि उन दोनों ने किस तरह अपने गुरु के मृत पुत्र को पुन: जीवित कर दिया था। उन्होंने कहा, ''कृपा करके आप मेरी इच्छा वैसे ही पूरी करें। कृपा करके मेरे उन पुत्रों को वापस ला दें, जिन्हें कंस ने मार डाला था, जिससे मैं उन्हें एक बार फिर देख सकूँ।'' इस तरह अपनी माता द्वारा याचना किये जाने पर दोनों भाई भूगर्भीय सुतल लोक गये, जहाँ वे बलि महाराज के पास पहुँचे। बलि महाराज ने उन्हें सम्मानपूर्वक आसन देकर उनकी पूजा की तथा स्तुतियों द्वारा उनका सत्कार किया। तब कृष्ण तथा बलराम ने बलि से देवकी के मृत पुत्रों को लौटाने के लिए अनुरोध किया। दोनों ने बलि से उन बालकों को प्राप्त करके देवकी को लौटा दिया। स्नेह उमड़ने से उनके स्तनों से दूध बहने लगा। देवकी ने अत्यधिक प्रसन्न होकर अपने बच्चों को अपना दूध पिलाया। भगवान् कृष्ण द्वारा जूठा किया हुआ दूध पीकर, वे देवता स्वरूप अपने आदि रूपों को प्राप्त करके स्वर्ग वापस चले गये।

श्रीबादरायणिरुवाच
अथैकदात्मजौ प्राप्तौ कृतपादाभिवन्दनौ ।
वसुदेवोऽभिनन्द्याह प्रीत्या सङ्कर्षणाच्युतौ ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणि: उवाच—श्री बादरायणि (शुकदेव गोस्वामी) ने कहा; **अथ**—तब; **एकदा**—एक दिन; **आत्मजौ**—दोनों पुत्र; **प्राप्तौ**—उनके पास आये; **कृत**—करके; **पाद**—चरणों का; **अभिवन्दनौ**—आदर; **वसुदेव:**—वसुदेव ने; **अभिनन्द्य**—उनका सत्कार करके; **आह**—कहा; **प्रीत्या**—स्नेहपूर्वक; **सङ्कर्षण-अच्युतौ**—बलराम तथा कृष्ण से।

श्री बादरायणि ने कहा : एक दिन वसुदेव के दोनों पुत्र संकर्षण तथा अच्युत उनके (वसुदेव के) पास आये और उनके चरणों पर नतमस्तक होकर प्रणाम किया। वसुदेव ने बड़े ही स्नेह से उनका सत्कार किया और उनसे इस प्रकार बोले।

मुनीनां स वच: श्रुत्वा पुत्रयोर्धामसूचकम् ।
तद्वीर्यैर्जातविश्रम्भ: परिभाष्याभ्यभाषत ॥ २ ॥

शब्दार्थ

मुनीनाम्—मुनियों के; सः—उसने; वचः—शब्द; श्रुत्वा—सुन कर; पुत्रयोः—अपने दोनों पुत्रों की; धाम—शक्ति; सूचकम्—बताने वाले; तत्—उनके; वीर्यैः—वीरतापूर्ण कार्यों से; जात—उत्पन्न; विस्रम्भः—संकल्प; परिभाष्य—नाम लेकर; अभ्यभाषत—उनसे कहा।

अपने दोनों पुत्रों की शक्ति के विषय में महर्षियों के कथन सुन कर तथा उनके वीरतापूर्ण कार्यों को देख कर वसुदेव को उनकी दिव्यता पर पूरा-पूरा विश्वास हो गया। अतः उनका नाम लेकर, वे उनसे इस प्रकार बोले।

कृष्ण कृष्ण महायोगिन्सङ्कर्षण सनातन ।
जाने वामस्य यत्साक्षात्प्रधानपुरुषौ परौ ॥ ३॥

शब्दार्थ

कृष्ण कृष्ण—हे कृष्ण, हे कृष्ण; महा-योगिन्—हे महान् योगी; सङ्कर्षण—हे बलराम; सनातन—नित्य; जाने—मैं जानता हूँ; वाम्—तुम दोनों को; अस्य—इस (ब्रह्माण्ड) के; यत्—जो; साक्षात्—प्रत्यक्ष; प्रधान—प्रकृति का सृजनात्मक तत्त्व; पुरुषौ—तथा स्रष्टा भगवान्; परौ—परम।

[वसुदेव ने कहा]: हे कृष्ण, हे कृष्ण, हे योगीश्रेष्ठ, हे नित्य संकर्षण, मैं जानता हूँ कि तुम दोनों निजी तौर पर ब्रह्माण्ड की सृष्टि के कारणस्वरूप और साथ ही साथ सृष्टि के अवयव भी हो।

तात्पर्य : जैसाकि भगवान् कपिलदेव के सांख्य मत में शिक्षा दी गई है *परम पुरुष* की सृजनात्मक शक्ति *प्रधान* है। इस तरह इन दोनों तत्त्वों में *प्रधान* अधिशासित शक्ति, स्त्री है, जो स्वतंत्र कार्य करने में अक्षम है, जबकि *पुरुष* परम स्वतंत्र है और वह आदि-स्रष्टा तथा भोक्ता है। न तो कृष्ण, न ही उनके भाई बलराम किसी अधीन शक्ति की कोटि में आते हैं प्रत्युत वे दोनों मिलकर आदि *पुरुष* हैं, जिनके साथ उनकी आनन्द, ज्ञान तथा सृजन की बहुत-सी शक्तियाँ आकर मिल जाती हैं।

यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा ।
स्यादिदं भगवान्साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः ॥ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जिसमें; येन—जिसके द्वारा; यतः—जिससे; यस्य—जिसका; यस्मै—जिसको; यत् यत्—जो जो; यथा—फिर भी; यदा—जब भी; स्यात्—हो; इदम्—इस (सृष्टि) को; भगवान्—भगवान्; साक्षात्—अपनी उपस्थिति में; प्रधान-पुरुष—प्रकृति तथा उसके स्रष्टा (महाविष्णु) के; ईश्वरः—अधिष्ठता।

आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, जो प्रकृति तथा प्रकृति के स्रष्टा (महाविष्णु) दोनों के स्वामी के रूप में प्रकट होते हैं। फिर भी प्रत्येक वस्तु जिस का अस्तित्व बनता है और जब कभी ऐसा होता है, वह आपके भीतर, आपके द्वारा, आपसे, आपके लिए तथा आपसे ही सम्बन्धित

होती है।

तात्पर्य : सामान्य दर्शक को यह ज्ञात जगत कई भिन्न भिन्न कारकों से उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। इस विचार का अच्छा सूचन स्वयं भाषा है, जिसके द्वारा परंपरागत संस्कृत के वैयाकरणों की व्याख्या के अनुसार, प्रकृति की दृश्य विविधता प्रतिबिम्बित होती है। पाणिनि मुनि द्वारा सिखाई गई प्रामाणिक संस्कृत व्याकरण के अनुसार क्रिया को ही वाक्य का सार माना जाता है और शेष शब्द तो उससे सम्बन्ध बताने वाले होते हैं। उदाहरणार्थ, किसी वाक्य में संज्ञा को किसी भी कारक में क्रिया से उसका सम्बन्ध बताने के लिए रखा जाता है। क्रिया से संज्ञा का सम्बन्ध *कारक* कहलाता है—उदाहरणार्थ, कर्ता कारक, कर्म कारक, करण कारक, सम्प्रदान कारक, अपदान कारक तथा अधिकरण कारक। इन कारकों के अतिरिक्त कभी कभी संज्ञाएँ अन्य सम्बन्धसूचक संज्ञाओं को बतला सकती हैं। इसी तरह क्रियाविशेषण भी—स्थान, काल, विधि इत्यादि के सूचक हैं। इस तरह भाषा यद्यपि अनेक कर्ताओं की प्रकट सृष्टि में क्रियाशीलता का द्योतन करती है, किन्तु अधिकतर सच्चाई यह है कि सारे व्याकरणिक रूप मूलत: भगवान् के सूचक हैं। इस श्लोक में वसुदेव ने विभिन्न व्याकरणिक रूपों द्वारा अपने दोनों बढ़े चढ़े पुत्रों की प्रशंसा की है।

एतन्नानाविधं विश्वमात्मसृष्टमधोक्षज ।
आत्मनानुप्रविश्यात्मन्प्राणो जीवो बिभर्ष्यज ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एतत्—इस; नाना-विधम्—विविध; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; आत्म—अपने द्वारा; सृष्टम्—उत्पन्न किये गये; अधोक्षज—हे दिव्य प्रभु; आत्मना—अपने में (परमात्मा रूप में); अनुप्रविश्य—भीतर प्रवेश करके; आत्मन्—हे परमात्मा; प्राण:—प्राण, तत्त्व; जीव:—तथा चेतना तत्त्व; बिभर्षि—पालन करते हो; अज—हे अजन्मा।

हे दिव्य प्रभु, आपने इस विचित्र ब्रह्माण्ड की रचना अपने में से की और तब अपने परमात्मा स्वरूप में आप इसके भीतर प्रविष्ट हुए। इस तरह हे अजन्मा परमात्मा, आप प्रत्येक व्यक्ति के प्राण तथा चेतना के रूप में सृष्टि का पालन करने वाले हैं।

तात्पर्य : भौतिक ब्रह्माण्ड का सृजन करते समय भगवान् अपना विस्तार परमात्मा के रूप में करते हैं और सृष्टि को अपने विराट शरीर के रूप में अपनाते हैं। कोई भी भौतिक शरीर किसी न किसी जीवात्मा के भोगने की इच्छा के बिना विद्यमान नहीं रह सकता और कोई भी *जीव* अपने मार्गदर्शन के लिए परमात्मा का साथ किये बिना शरीर को स्वत: नहीं बनाये रख सकता। वैष्णव आचार्यों ने

श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंध की टीका करते हुए व्याख्या की है कि गर्भोदकशायी विष्णु की कमल-नाभि से उत्पन्न होने के पूर्व भी ब्रह्मा सर्वप्रथम इस सम्पूर्ण भौतिक शक्ति अर्थात् *महत् तत्त्व* को अपने शरीर रूप में अपनाते हैं। इस तरह ब्रह्मा ब्रह्माण्ड से युक्त *जीव* हैं और विष्णु परमात्मा हैं, जो उनके साथ रहते हैं। ब्रह्मा को सृष्टि के विशिष्ट स्वरूप को संघटित करना होता है, किन्तु वे तब तक ऐसा नहीं कर पाते जब तक भगवान् विष्णु क्रिया की सूक्ष्म शक्ति—*सूत्र-तत्त्व* या प्राण-वायु—के रूप में तथा चेतना की सृजनात्मक शक्ति, अर्थात् *बुद्धि-तत्त्व* के रूप में अपना पुनः विस्तार नहीं कर लेते।

प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः ।
पारतन्त्र्याद्वैसादृष्याद्द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

प्राण—प्राण; आदीनाम्—इत्यादि का; विश्व—ब्रह्माण्ड का; सृजाम्—सृजनकारी तत्त्व; शक्तयः—शक्तियाँ; याः—जो; परस्य—परमात्मा की; ताः—वे; पारतन्त्र्यात्—परतंत्रता के कारण; वैसादृश्यात्—असमानता के कारण; द्वयोः—दोनों (चराचर) की; चेष्टा—क्रियाशीलता; एव—केवल; चेष्टताम्—सक्रिय जीवों की (प्राण इत्यादि की)।

प्राण तथा ब्रह्माण्ड-सृजन के अन्य तत्त्व, जो भी शक्तियाँ प्रदर्शित करते हैं, वे वास्तव में भगवान् की निजी शक्तियाँ हैं, क्योंकि प्राण तथा पदार्थ दोनों ही उनके अधीन तथा उनके आश्रित हैं और एक-दूसरे से भिन्न भी हैं। इस तरह इस भौतिक जगत की प्रत्येक सक्रिय वस्तु भगवान् द्वारा ही गतिशील बनाई जाती है।

तात्पर्य : प्राण सामान्य वायु से, जिसका हम स्पर्श कर सकते हैं, अधिक सूक्ष्म है। चूँकि प्राण इतना सूक्ष्म है—सृष्टि की किसी भी सूक्ष्म वस्तु से महीन, इसलिए इसे कभी कभी प्रत्येक वस्तु का चरम स्रोत माना जाता है। किन्तु प्राण जैसी सूक्ष्म शक्तियाँ भी अपनी कार्य-क्षमता के लिए परम सूक्ष्म परमात्मा पर निर्भर करती है। इस श्लोक में वसुदेव *पारतन्त्र्या* शब्द से यही भाव व्यक्त कर रहे हैं। जिस तरह तीर का वेग तीर छोड़ने वाले तीरन्दाज की शक्ति से प्राप्त होता है, उसी तरह सारी परतंत्र शक्तियाँ परमेश्वर की शक्ति पर निर्भर रहती हैं। यही नहीं, विभिन्न सूक्ष्म कारण कर्म करने की शक्ति प्रदान किये जाने पर भी परमात्मा के समन्वयात्मक निर्देश के बिना तालमेल में कार्य नहीं कर सकते। *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कंध में ब्रह्मा ने अपनी सृष्टि का विवरण दिया है—

यदैतेऽसंगता भावा भूतेन्द्रियमनोगुणाः ।
यदायतननिर्माणे न शेकुर्ब्रह्मवित्तम ॥

तदा संहत्य चान्योन्यं भगवच्छक्तिचोदिता: ।

सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजुर्ह्यद: ॥

"हे योगीश्रेष्ठ नारद! शरीर का स्वरूप तब तक प्रकट नहीं होता जब तक सृजित अंश—यथा तत्त्व, इन्द्रियाँ, मन तथा प्रकृति के गुण—एकत्र नहीं हो जाते। अत: जब भगवान् की शक्ति के वेग से ये सभी एकत्र हो गये तभी यह ब्रह्माण्ड सृष्टि के मूल तथा गौण कारणों को स्वीकार करके प्रकट हुआ।" (*भागवत* २.५.३२-३३)

कान्तिस्तेज: प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम् ।
यत्स्थैर्यं भूभृतां भूमेर्वृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

कान्ति:—आकर्षक चमक; तेज:—चटक; प्रभा—प्रकाश; सत्ता—तथा विशिष्ट अस्तित्व; चन्द्र—चन्द्रमा; अग्नि—आग; अर्क—सूर्य; ऋक्ष—तारे; विद्युताम्—तथा बिजली के; यत्—जो; स्थैर्यम्—स्थायित्व; भू-भृताम्—पर्वतों के; भूमे:—पृथ्वी के; वृत्ति:—धारणशक्ति का गुण; गन्ध:—सुगन्धि; अर्थत:—सचमुच; भवान्—आप।

चन्द्रमा की कान्ति, अग्नि का तेज, सूर्य की चमक, तारों का टिमटिमाना, बिजली की दमक, पर्वतों का स्थायित्व तथा पृथ्वी की सुगंध एवं धारणशक्ति—ये सब वास्तव में आप ही हैं।

तात्पर्य : श्री वसुदेव द्वारा कृष्ण को यह बतलाना कि वे ही सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, बिजली तथा अग्नि के सार हैं, वास्तव में श्रुति तथा स्मृति दोनों ही के मत की पुष्टि मात्र है। उदाहरणार्थ, *श्वेताश्वतर उपनिषद* (६.१) में कहा गया है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं

नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि: ।

तमेव भान्तमनु भाति सर्वं

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

"(आध्यात्मिक आकाश में) वहाँ न तो सूर्य चमकता है न चन्द्रमा, न तारे, न ही बिजली, तो फिर सामान्य अग्नि के बारे में क्या कहा जाय? यह तो आध्यात्मिक आकाश के तेज का प्रतिबिम्ब है कि अन्य सारी वस्तुएँ प्रकाश देती हैं और इस तरह उसकी चमक से सारा ब्रह्माण्ड प्रकाशित होता है।" और *श्रीमद्भगवद्गीता* (१५.१२) में भगवान् कहते हैं—

यद् आदित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विधि मामकम्॥

''सूर्य का तेज, जो कि सारे जगत के अंधकार को दूर करता है, मुझसे उत्पन्न है। तथा चन्द्रमा और अग्नि का तेज भी मुझी से उत्पन्न है।''

तर्पणं प्राणनमपां देव त्वं ताश्च तद्रसः ।
ओजः सहो बलं चेष्टा गतिर्वायोस्तवेश्वर ॥ ८॥

शब्दार्थ

तर्पणम्—संतोष उत्पन्न करने की क्षमता; प्राणनम्—जीवनदान; अपाम्—जल का; देव—हे प्रभु; त्वम्—तुम; ताः—वही (जल); च—तथा; तत्—उस (जल) का; रसः—आस्वाद; ओजः—शारीरिक उष्णता तथा प्राण-वायु के कारण जीवन-शक्ति; सहः—मानसिक शक्ति; बलम्—शारीरिक शक्ति; चेष्टा—प्रयास; गतिः—तथा चाल-फेर; वायोः—वायु का; तव—तुम्हारा; ईश्वर—हे परम नियन्ता।

हे प्रभु, आप जल हैं और इसका आस्वाद तथा प्यास बुझाने एवं जीवन धारण करने की क्षमता भी हैं। आप अपनी शक्तियों का प्रदर्शन वायु के द्वारा शरीर की उष्णता, जीवन-शक्ति, मानसिक शक्ति, शारीरिक शक्ति, प्रयास तथा गति के रूप में करते हैं।

दिशां त्वमवकाशोऽसि दिशः खं स्फोट आश्रयः ।
नादो वर्णस्त्वम्ॐकार आकृतीनां पृथक्कृतिः ॥ ९॥

शब्दार्थ

दिशाम्—दिशाओं के; त्वम्—तुम; अवकाशः—सहनशक्ति; असि—हो; दिशः—दिशाएँ; खम्—आकाश; स्फोटः—ध्वनि; आश्रयः—अपने आधार के रूप (आकाश); नादः—अप्रकट गूँज के रूप में ध्वनि; वर्णः—आदि अक्षर; त्वम्—तुम; ॐ-कारः—ओम्; आकृतीनाम्—विशेष रूपों के; पृथक्-कृतिः—अन्तर का कारण (अर्थात् प्रकट भाषा)।

आप ही दिशाएँ एवं उनकी अनुकूलन-क्षमता, सर्वव्यापक आकाश तथा इसके भीतर वास करने वाली ध्वनि (स्फोट) हैं। आप आदि अप्रकट ध्वनि रूप हैं, आप ही प्रथम अक्षर ॐ हैं और आप ही श्रव्य वाणी हैं, जिसके द्वारा शब्दों के रूप में ध्वनि विशिष्ट प्रसंग बन जाती है।

तात्पर्य : सामान्य सृजन प्रक्रिया के अनुसार वाणी कई अवस्थाओं में से गुजर कर श्रव्य बनती है, जिसमें सूक्ष्म आन्तरिक दोलन से लेकर बाह्य अभिव्यक्ति तक सम्मिलित हैं। *ऋग्वेद* के मंत्र (१.१६.५) में इन अवस्थाओं का उल्लेख हुआ है—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि

तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।

गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति

तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

''विद्वान ब्राह्मण भाषा की चार क्रमिक अवस्थाओं को जानते हैं। इनमें से तीन तो हृदय के भीतर अश्रव्य स्पन्दनों के रूप में छिपी रहती हैं जबकि चौथी अवस्था वह है, जिसे लोग सामान्यतया वाणी के रूप में समझते हैं।''

इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां त्वं देवाश्च तदनुग्रहः ।
अवबोधो भवान्बुद्धेर्जीवस्यानुस्मृतिः सती ॥ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियम्—वस्तुओं को प्रकाशित करने की शक्ति; तु—तथा; इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों के; त्वम्—तुम; देवाः—देवता (जो विविध इन्द्रियों का नियमन करते हैं); च—एवं; तत्—उनका (देवताओं की); अनुग्रहः—कृपा (जिसके द्वारा इन्द्रियाँ कार्य कर सकती हैं); अवबोधः—निर्णय लेने की शक्ति; भवान्—आप; बुद्धेः—बुद्धि की; जीवस्य—जीव की; अनुस्मृतिः—स्मरण रखने की शक्ति; सती—सही सही।

आप वस्तुओं को प्रकट करने की इन्द्रिय-शक्ति, इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता तथा ऐन्द्रिय कार्यों को करने के इन देवताओं द्वारा दिये गये अधिकार हैं। आप निर्णय लेने की बुद्धि-क्षमता तथा जीव द्वारा वस्तुओं को सही सही स्मरण रखने की क्षमता हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इंगित किया है कि जब भी कोई इन्द्रिय अपने विषय में व्यस्त रहती है, तो उस विशेष इन्द्रिय अंग के अधिष्ठाता देवता को अपनी स्वीकृति देनी होती है। आचार्य विश्वनाथ चक्रतर्वी ने इस श्लोक में आये *अनुस्मृति* शब्द का एक उच्च भाव दिया है—नित्य आत्मा के रूप में अपने आपको मान्यता देना।

भूतानामसि भूतादिरिन्द्रियाणां च तैजसः ।
वैकारिको विकल्पानां प्रधानमनुशायिनम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

भूतानाम्—भौतिक तत्त्वों के; असि—हो; भूत-आदिः—उनका स्रोत, तमोगुणी मिथ्या अहंकार; इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों के; च—तथा; तैजसः—रजोगुणी मिथ्या अहंकार; वैकारिकः—सतोगुणी मिथ्या अहंकार; विकल्पानाम्—सृजनकारी देवताओं के; प्रधानम्—अप्रकट सम्पूर्ण भौतिक शक्ति; अनुशायिनम्—आधारभूत।

आप ही तमोगुणी मिथ्या अहंकार हैं, जो भौतिक तत्त्वों का स्रोत है; आप रजोगुणी मिथ्या अहंकार हैं, जो शारीरिक इन्द्रियों का स्रोत है; सतोगुणी मिथ्या अहंकार हैं, जो देवताओं का स्रोत है तथा आप ही अप्रकट सम्पूर्ण भौतिक शक्ति हैं, जो हर वस्तु की मूलाधार है।

नश्वरेष्विह भावेषु तदसि त्वमनश्वरम् ।
यथा द्रव्यविकारेषु द्रव्यमात्रं निरूपितम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

नश्वरेषु—नश्वर; इह—इस संसार में; भावेषु—जीवों में; तत्—वह; असि—हो; त्वम्—तुम; अनश्वरम्—अनश्वर; यथा—जिस तरह; द्रव्य—पदार्थ के; विकारेषु—रूपान्तरों में; द्रव्य-मात्रम्—स्वयंपदार्थ; निरूपितम्—सुनिश्चित किया हुआ।

आप इस जगत की समस्त नश्वर वस्तुओं में से एकमात्र अनश्वर जीव हैं, जिस तरह कोई मूलभूत वस्तु अपरिवर्तित रहती दिखती है, जबकि उससे बनी वस्तुओं में रूपान्तर आ जाता है।

सत्त्वम्रजस्तम इति गुणास्तद्वृत्तयश्च याः ।
त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम् रजः तमः इति—सतो, रजो तथा तमोगुण नामक; गुणाः—प्रकृति के गुण; तत्—उनके; वृत्तयः—कार्य; च—तथा; याः—जो; त्वयि—तुममें; अद्धाः—प्रकट रूप से; ब्रह्मणि—परब्रह्म में; परे—परम; कल्पिताः—नियोजित; योग-मायया—योगमाया (भगवान् की अन्तरंगा शक्ति जो उनकी लीलाओं को सुगम बनाती है) द्वारा।

प्रकृति के गुण—यथा सतो, रजो तथा तमो गुण—अपने सारे कार्यों समेत आप अर्थात् परम सत्य के भीतर आपकी योगमाया की व्यवस्था के द्वारा सीधे प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : वसुदेव के इस वर्णन का कि परमेश्वर किस तरह अपना विस्तार तीनों गुणों के फलों के रूप में करते हैं, संभवतः यह गलत अर्थ लगाया जा सकता है कि भगवान् का गुणों द्वारा स्पर्श होता है या कि उनका भी संहार हो सकता है। इन भ्रान्तियों के निराकरण हेतु वसुदेव कहते हैं कि तीनों गुण तथा उनके फल भगवान् की सृजनात्मक शक्ति योगमाया की व्यवस्था से कार्य करते हैं। यह योगमाया पूरी तरह भगवान् के नियंत्रण में रहती है। इस तरह भगवान् कभी भी किसी भौतिक स्पर्श से लेशमात्र भी कलुषित नहीं होते।

तस्मान्न सन्त्यमी भावा यर्हि त्वयि विकल्पिताः ।
त्वं चामीषु विकारेषु ह्यन्यदाव्यावहारिकः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; न—नहीं; सन्ति—हैं; अमी—ये; भावाः—जीव; यर्हि—जब; त्वयि—तुममें; विकल्पिताः—व्यवस्थित; त्वम्—तुम; च—भी; अमीषु—इनके भीतर; विकारेषु—सृष्टि के फल, विकार; हि—निस्सन्देह; अन्यदा—किसी अन्य समय; अव्यावहारिकः—अ-भौतिक।

इस तरह प्रकृति के विकार स्वरूप ये सृजित जीव तभी विद्यमान रहते हैं, जब भौतिक

प्रकृति उन्हें आपके भीतर प्रकट करती है। उस समय आप भी उनके भीतर प्रकट होते हैं। किन्तु सृजन के ऐसे अवसरों के अतिरिक्त आप दिव्य सत्य की भाँति अकेले रहते हैं।

तात्पर्य : जब सामयिक संहार के समय यह ब्रह्माण्ड समाप्त कर दिया जाता है, तो सारे जड़ पदार्थ तथा जीवों के शरीर जो अभी तक भगवान् की माया द्वारा प्रकट थे अब उनकी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। तब चूँकि भगवान् ब्रह्माण्ड के विलय के समय उनके साथ कोई संसर्ग नहीं रखते, इसलिए वे वस्तुएँ आगे अस्तित्व में नहीं रहती। दूसरे शब्दों में, जब भगवान् भौतिक जगत की सृष्टि तथा उसके पालन की ओर ध्यान फेरते हैं, तभी भौतिक स्वरूपों का असली कार्यात्मक अस्तित्व होता है। भगवान् कभी भी किसी भी भौतिक अर्थ में इन पदार्थों के ''भीतर'' नहीं रहते लेकिन निर्विशेष ब्रह्म के रूप में वे उन सबों में कृपा करके व्याप्त रहते हैं और परमात्मा के रूप में वे अणु अणु में प्रवेश करते हैं और जीवात्माओं के साथ उनके प्रत्येक शरीर में भी रहते हैं। *भगवद्गीता* (९.-५) में भगवान् ने इसी बात का वर्णन अपनी वाणी के द्वारा किया है—

मया ततमिदं सर्वम् जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्वस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

''मेरे अव्यक्त रूप में यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरे द्वारा व्याप्त रहता है। सारे जीव मुझमें हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं रहता। तो भी हर वस्तु जिसका सृजन होता है, वह मुझमें स्थित नहीं रहती। मेरे योग-ऐश्वर्य को तो देखो! यद्यपि मैं सारे जीवों का पालनकर्ता हूँ और यद्यपि मैं सर्वत्र हूँ, तो भी मैं इस विराट जगत का अंश नहीं हूँ, क्योंकि मैं ही सृष्टि का मूल स्रोत हूँ।''

गुणप्रवाह एतस्मिन्नबुधास्त्वखिलात्मनः ।
गतिं सूक्ष्मामबोधेन संसरन्तीह कर्मभिः ॥ १५॥

शब्दार्थ

गुण—गुणों के; प्रवाहे—प्रवाह में; एतस्मिन्—इस; अबुधाः—अज्ञानी; तु—लेकिन; अखिल—हर वस्तु का; आत्मनः—आत्मा का; गतिम्—गन्तव्य; सूक्ष्माम्—दिव्य; अबोधेन—ज्ञान का अभाव होने से; संसरन्ति—जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमते हैं; इह—इस जगत में; कर्मभिः—भौतिक कार्य से बाध्य होकर।

वे सचमुच अज्ञानी हैं, जो इस जगत में भौतिक गुणों के निरन्तर प्रवाह के भीतर बन्दी रहते

हुए आपको अपने चरम सूक्ष्म गन्तव्य परमात्मा स्वरूप जान नहीं पाते। अपने अज्ञान के कारण भौतिक कर्म का बन्धन ऐसे जीवों को जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमने के लिए बाध्य कर देता है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति ईश्वर के दास रूप में अपनी सच्ची पहचान भूल जाता है, वह इस जगत में भौतिक शरीरों की शृंखला में बन्दी बनाये जाने के लिए भेज दिया जाता है। भूल से इन शरीरों के साथ अपनी पहचान करने के कारण ऐसा बद्धजीव कर्मफल के फलस्वरूप उत्पन्न दुख का भोग करता है। दयावान वैष्णव होने के नाते वसुदेव उन बद्धजीवों के कष्ट के प्रति शोक प्रकट करते हैं, जिनके दुख को, जो उनके अज्ञान का परिणाम है भगवान् कृष्ण की भक्ति के नियमों की जानकारी से दूर किया जा सकता है।

**यदृच्छया नृतां प्राप्य सुकल्पामिह दुर्लभाम् ।
स्वार्थे प्रमत्तस्य वयो गतं त्वन्माययेश्वर ॥ १६ ॥**

शब्दार्थ

यदृच्छया—जैसे तैसे; नृताम्—मानव पद; प्राप्य—प्राप्त करके; सु-कल्पाम्—उपयुक्त; इह—इस जीवन में; दुर्लभाम्—प्राप्त करना कठिन; स्व—अपने; अर्थे—कल्याण के विषय में; प्रमत्तस्य—प्रमत्त अर्थात् मूढ़ के; वयः—आयु; गतम्—बीती हुई; त्वत्—तुम्हारी; मायया—माया द्वारा; ईश्वर—हे प्रभु।

सौभाग्य से जीव स्वस्थ मनुष्य-जीवन प्राप्त कर सकता है, जो कि विरले ही प्राप्त होने वाला सुअवसर होता है। किन्तु हे प्रभु, यदि इतने पर भी वह अपने लिए, जो सर्वोत्तम है, उसके विषय में मोहग्रस्त रहता है, तो आपकी माया उसको अपना सारा जीवन नष्ट करने के लिए बाध्य कर सकती है।

**असावहम्ममैवैते देहे चास्यान्वयादिषु ।
स्नेहपाशैर्निबध्नाति भवान्सर्वमिदं जगत् ॥ १७ ॥**

शब्दार्थ

असौ—यह; अहम्—मैं; मम—मेरा; एव—निस्सन्देह; एते—ये; देहे—शरीर में; च—तथा; अस्य—इसका; अन्वय-आदिषु—सन्तान तथा अन्य सम्बद्ध वस्तुओं में; स्नेह—स्नेह को; पाशैः—रस्सियों से; निबध्नाति—बाँधते हैं; भवान्—आप; सर्वम्—समस्त; इदम्—इस; जगत्—संसार को।

आप स्नेह की रस्सियों से इस सारे संसार को बाँधे रहते हैं, अतः जब लोग अपने भौतिक शरीरों पर विचार करते हैं, तो वे सोचते हैं, ''यह मेरा है'' और जब वे अपनी सन्तान तथा अन्य सम्बन्धियों पर विचार करते हैं, तो वे सोचते हैं, ''ये मेरे हैं।''

युवां न नः सुतौ साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरौ ।
भूभारक्षत्रक्षपण अवतीर्णौ तथात्थ ह ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

युवाम्—तुम दोनों; न—नहीं; नः—हमारे; सुतौ—पुत्र; साक्षात्—प्रत्यक्ष; प्रधान-पुरुष—प्रकृति तथा इसके स्रष्टा (महाविष्णु) के; ईश्वरौ—परम नियन्ता; भू—पृथ्वी के; भार—बोझा; क्षत्र—राजा; क्षपणे—विनाश करने के लिए; अवतीर्णौ—अवतरित हुए; तथा—ऐसा; आत्थ—आपने कहा है; ह—निस्सन्देह।

आप दोनों हमारे पुत्र नहीं हैं, अपितु प्रकृति तथा उसके स्रष्टा (महाविष्णु) दोनों ही के स्वामी हैं। जैसा कि आपने स्वयं हमसे कहा है, आप पृथ्वी को उन शासकों से मुक्त करने के लिए अवतरित हुए हैं, जो उस पर अत्यधिक भार बने हुए हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार इस श्लोक में वसुदेव स्वयं तथा अपनी पत्नी को ऐसे उत्तम उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जो भौतिक रूप से भ्रमित हैं। यद्यपि कंस के बंदीगृह में अपने जन्म के समय कृष्ण ने वसुदेव तथा देवकी को बतला दिया था कि उनका मन्तव्य अवांछित क्षत्रियों से पृथ्वी को मुक्त करना है, फिर भी उनके माता-पिता उन्हें अपने असहाय पुत्र के रूप में मानते रहे, जिसे राजा कंस से सुरक्षा की आवश्यकता थी। वास्तव में वसुदेव तथा देवकी दोनों भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के पूर्ण निर्देशन में भगवान् की दिव्य जन्म-लीला में भाग ले रहे थे। वसुदेव आध्यात्मिक दीनतावश इस तरह स्वयं की आलोचना कर रहे हैं।

तत्ते गतोऽस्म्यरणमद्य पदारविन्द-
मापन्नसंसृतिभयापहमार्तबन्धो ।
एतावतालमलमिन्द्रियलालसेन
मर्त्यात्मदृक्त्वयि परे यदपत्यबुद्धिः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; ते—तुम्हारी; गतः—आया हुआ; अस्मि—हूँ; अरणम्—शरण के लिए; अद्य—आज; पाद-अरविन्दम्—चरणकमलों पर; आपन्न—शरणागतों के लिए; संसृति—भौतिक बन्धन का; भय—डर; अपहम्—जो दूर करते हैं; आर्त—दुखियों के; बन्धो—हे मित्र; एतावता—इतना; अलम् अलम्—बस, बस (बहुत हुआ); इन्द्रिय—इन्द्रिय-भोग के लिए; लालसेन—लालसा से; मर्त्य—मरणशील (भौतिक देह) के रूप में; आत्म—स्वयं; दृक्—जिनकी दृष्टि; त्वयि—तुम्हारे प्रति; परे—परम; यत्—जिसके कारण (लालसा); अपत्य—सन्तान; बुद्धिः—मानसिकता।

इसलिए, हे दुखियों के मित्र, अब मैं शरण के लिए आपके चरणकमलों के पास आया हूँ—ये वही चरणकमल हैं, जो शरणागतों के सारे संसारिक भय को दूर करने वाले हैं। बस, इन्द्रिय-भोग की लालसा बहुत हो चुकी, जिसके कारण मैं अपनी पहचान इस मर्त्य शरीर से

करता हूँ और आपको अर्थात् परम पुरुष को अपना पुत्र समझता हूँ।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी का सुझाव है कि वसुदेव यहाँ अपनी भर्त्सना कर रहे हैं कि वे भगवान् के पिता होने के नाते विशेष ऐश्वर्य पाने का विचार कर रहे हैं। इस तरह वसुदेव अपने को व्रजराज नन्द से विपरीत मानते हैं, जो शुद्ध भगवत्प्रेम से तुष्ट थे और जिन्हें और कुछ भी नहीं चाहिए था।

सूतीगृहे ननु जगाद भवानजो नौ
सञ्जज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै ।
नानातनूर्गगनवद्विदधज्जहासि
को वेद भूम्न उरुगाय विभूतिमायाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सूती-गृहे—प्रसूति-गृह में; ननु—निस्सन्देह; जगाद—कहा; भवान्—आप; अजः—अजन्मा भगवान्; नौ—हमको; सञ्जज्ञे—आपने जन्म लिया; इति—इस प्रकार; अनु-युगम्—युग-युग में; निज—अपना; धर्म—धर्म; गुप्त्यै—रक्षा करने के लिए; नाना—विविध; तनूः—दैवी शरीर; गगन-वत्—बादल की तरह; विदधत्—धारण करके; जहासि—छिपा देते हो; कः—कौन; वेद—जान सकता है; भूम्नः—सर्वव्यापी भगवान् का; उरु-गाय—हे अत्यधिक प्रशंसित; विभूति—ऐश्वर्यशाली अंशों के; मायाम्—योगमयी मोहक शक्ति।

निस्सन्देह आपने हमें प्रसूति-गृह में ही बतला दिया था कि आप अजन्मा हैं और इसके पूर्व के युगों में कई बार हमारे पुत्र के रूप में जन्म ले चुके हैं। आपने अपने धर्म की रक्षा करने के लिए इन दिव्य शरीरों को प्रकट करने के बाद उन्हें छिपा लिया, जिस तरह बादल प्रकट होते हैं और लुप्त हो जाते हैं। हे परम महिमामय सर्वव्यापक भगवान्, आपके विभूति अंशों की भ्रान्तिपूर्ण माया को कौन समझ सकता है?

तात्पर्य : पिछले जन्मों में सुतपा तथा पृश्नि के रूप में वसुदेव तथा देवकी के यहाँ भगवान् कृष्ण ने सर्वप्रथम जन्म लिया था। बाद में वे कश्यप तथा अदिति के नाम से उनके माता-पिता बने। अब तीसरी बार वे वसुदेव-देवकी के पुत्र रूप में प्रकट हुए थे।

श्रीशुक उवाच
आकर्ण्येत्थं पितुर्वाक्यं भगवान्सात्वतर्षभः ।
प्रत्याह प्रश्रयानम्रः प्रहसञ्श्लक्ष्णया गिरा ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; आकर्ण्य—सुनकर; इत्थम्—इस तरह से; पितुः—अपने पिता के; वाक्यम्—कथन; भगवान्—भगवान् ने; सात्वत-ऋषभः—यदुओं में श्रेष्ठ; प्रत्याह—उत्तर दिया; प्रश्रय—विनयपूर्वक; आनम्रः—झुकाकर (अपना सिर); प्रहसन्—जोर से हँसते हुए; श्लक्ष्णया—धीमी; गिरा—वाणी से।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अपने पिता के वचनों को सुनने के बाद सात्वतों के नायक भगवान् ने विनयपूर्वक अपना सिर झुकाया और मन्द-मन्द हँसे और फिर मृदुल वाणी में उत्तर दिया।

तात्पर्य : कृष्ण ने अपने पिता द्वारा अपनी प्रशंसा सुनने के बाद जो कुछ सोचा उसका वर्णन श्रील जीव गोस्वामी करते हैं, ''वसुदेव को शाश्वत रूप से मेरा पिता होने का सम्मान प्राप्त हुआ है, जिसकी कामना ब्रह्मा जैसे देवता भी नहीं कर सकते। इसलिए उन्हें चाहिए कि वे मेरे ईश्वरत्व के पक्ष के बारे में इतने निमग्न न हों। साथ ही, उनके प्रति आदर-भाव से मुझे बहुत उलझन हो रही है। इसीलिए मैंने कंस का वध करने के बाद अपने तथा बलराम के प्रति उनके शुद्ध पितृ-प्रेम को प्रबल करने के लिए विशेष प्रयास किया था। किन्तु दुर्भाग्यवश, अब इन मुनियों के कथनों से वसुदेव तथा देवकी में मेरे ईश्वरत्व के प्रति पूर्व की कुछ जानकारी पुनः जागृत की जा रही है।

श्रीभगवानुवाच
वचो वः समवेतार्थं तातैतदुपमन्महे ।
यन्नः पुत्रान्समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः ॥ २२॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; वचः—शब्द; वः—आपके; समवेत—उपयुक्त; अर्थम्—अर्थ वाले; तात—हे पिता; एतत्—ये; उपमन्महे—मैं मानता हूँ; यत्—क्योंकि; नः—हम; पुत्रान्—आपके पुत्रों को; समुद्दिश्य—बतलाकर; तत्त्व—तथ्यों की कोटियों के; ग्रामः—सम्पूर्ण रूप से; उदाहृतः—सामने रखा।

भगवान् ने कहा : हे पिताश्री, मैं आपके वचनों को सर्वथा उपयुक्त मानता हूँ, क्योंकि आपने हमें अर्थात् अपने पुत्रों का सन्दर्भ देते हुए संसार की विविध कोटियों की व्याख्या की है।

तात्पर्य : अपने को वसुदेव के आश्रित पुत्र के रूप में मानते हुए भगवान् कृष्ण अपने पिता द्वारा दिये गये शिक्षाप्रद उपदेशों के लिए कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

अहं यूयमसावार्य इमे च द्वारकाउकसः ।
सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृग्याः सचराचरम् ॥ २३॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; यूयम्—आपको; असौ—वह; आर्यः—मेरे पूज्य भ्राता (बलराम); इमे—ये; च—तथा; द्वारका-ओकसः—द्वारकावासी; सर्वे—सभी; अपि—ही; एवम्—इसी तरह से; यदु-श्रेष्ठ—हे यदुश्रेष्ठ; विमृग्याः—माना जाना चाहिए; स—सहित; चर—चेतन; अचरम्—जड़।

हे यदुश्रेष्ठ, न केवल मुझे, अपितु आपको, मेरे पूज्य भ्राता को तथा ये द्वारकावासी इन सबों को भी इसी दार्शनिक आलोक में देखा जाना चाहिए। दरअसल हमें जड़ तथा चेतन दोनों ही प्रकार के समस्त सृष्टि को इसमें सम्मिलित करना चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण अपने प्रति अपने माता-पिता के घनिष्ठ सम्बन्ध को संरक्षित करने के लिए अपने पिता वसुदेव से इस कथन में समस्त जगत के एकत्व पर बल दे रहे हैं। वसुदेव को अपने पुत्रों की महानता का स्मरण कुरुक्षेत्र में एकत्र हुए मुनियों की बातों को सुनकर हो आया। किन्तु तो भी उनके विस्मय की अनुभूति कृष्ण के साथ उनके घनिष्ठ पितृ-सम्बन्ध को नष्ट कर रही थी इसलिए कृष्ण इस आश्चर्य को दूर करना चाहते थे।

यहाँ भगवान् जिस "एकत्व" की बात कह रहे हैं उसका हमें गलत अर्थ नहीं लगाना चाहिये। उपनिषदों के सूक्ष्म वचन प्राय: निर्विशेषवादियों को यह विश्वास करने के लिए दिग्भ्रमित करते हैं कि सारा जगत एक है, उसमें विविधता है ही नहीं। कुछ उपनिषद मंत्र ईश्वर तथा उनकी सृष्टि के एकत्व पर बल देते हैं जबकि कुछ उनमें अन्तर बताते हैं। उदाहरणार्थ, *तत् त्वम् असि श्वेतकेतो* (हे श्वेतकेतु, तुम वही हो)—यह *अभेदवाक्य* है—ऐसा मंत्र जो इसकी पुष्टि करता है कि सारी वस्तुएँ ईश्वर से एकाकार हैं और वे उनके आश्रित अंश हैं। किन्तु उपनिषदों में ऐसे कई *भेदवाक्य* भी हैं जिनमें ब्रह्म के विभेदक गुणों का वर्णन हुआ है। यथा यह कथन—*क एवान्यात् कः प्राण्याद् यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष एवानन्दयति*—"यदि यह अनन्त ब्रह्म मूल भोक्ता न होता तो सृष्टि को गतिशीलता तथा सारे जीवों को जीवनदान कौन देता? निस्सन्देह, एकमात्र वह ही समस्त आनन्द का स्रोत है।" (*तैत्तिरीय उपनिषद* २.७.१) भगवान् की मोहमयी माया के वश में आकर ईर्ष्यालु निर्विशेषवादी *अभेदवाक्यों* का शाब्दिक अर्थ लगाते हैं और *भेदवाक्यों* का आलंकारिक अर्थ ग्रहण करते हैं। दूसरी ओर अधिकारी वैष्णव टीकाकार वैदिक मीमांसा के विश्लेषणात्मक नियमों के अनुसार तथा वेदान्त के तर्कसंगत स्थापित निर्णयों के अनुसार बाहरी तौर पर दिखने वाले परस्पर विरोधों के साथ समन्वय करके देखते हैं।

आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिर्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः ।
आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते ॥ २ ॥

शब्दार्थ

आत्मा—परमात्मा; हि—निस्सन्देह; एकः—एक; स्वयम्-ज्योतिः—आत्मज्योतित; नित्यः—नित्य; अन्यः—पृथक् (भौतिक शक्ति से); निर्गुणः—भौतिक गुणों से मुक्त; गुणैः—गुणों के द्वारा; आत्म—स्वयं से; सृष्टैः—उत्पन्न; तत्—अपने फलों में; कृतेषु—उत्पादन; भूतेषु—भौतिक जीवों में; बहुधा—कई प्रकार का; ईयते—प्रतीत होता है।

दरअसल परमात्मा एक है। वह आत्मज्योतित तथा नित्य, दिव्य एवं भौतिक गुणों से रहित है। किन्तु इन्हीं गुणों के माध्यम से उसने सृष्टि की है, जिससे एक ही परम सत्य उन गुणों के अंशों में अनेक रूप में प्रकट होता है।

खं वायुर्ज्योतिरापो भूस्तत्कृतेषु यथाशयम् ।
आविस्तिरोऽल्पभूर्येको नानात्वं यात्यसावपि ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

खम्—आकाश; वायुः—वायु; ज्योतिः—अग्नि; आपः—जल; भूः—पृथ्वी; तत्—उनके; कृतेषु—फलों में; यथा-आशयम्—विशेष स्थितियों के अनुसार; आविः—व्यक्त; तिरः—अव्यक्त; अल्प—लघु; भूरि—बृहत्; एकः—एक; नानात्वम्—अनेकरूपता; याति—धारण करता है; असौ—वह; अपि—भी।

आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी—ये तत्त्व विविध वस्तुओं में प्रकट होते समय दृश्य, अदृश्य, लघु या विशाल बन जाते हैं। इसी तरह परमात्मा एक होते हुए भी अनेक प्रतीत होता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने उक्त श्लोक तथा पिछले श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है : एक परमात्मा अपने ही द्वारा उत्पन्न गुणों के प्रभाव से अनेक प्रतीत होता है। ऐसा कैसे है ? यद्यपि परमात्मा स्वयंप्रकाशित, नित्य, हर वस्तु से पृथक्, प्रकृति के गुणों से रहित हैं, किन्तु जब वे अपने स्वरूपों में प्रकट होते हैं, तो वे सर्वथा विपरीत लगते हैं—गुणों से युक्त नाना प्रकार के नश्वर पदार्थ। जिस तरह आकाश इत्यादि तत्त्व घटों में तथा अन्य वस्तुओं में प्रकट होने पर प्रकट तथा अप्रकट होते प्रतीत होते हैं उसी तरह परमात्मा अपने विविध रूपों में प्रकट तथा अप्रकट होते हुये प्रतीत होते हैं।

श्रीशुक उवाच
एवं भगवता राजन्वसुदेव उदाहृतः ।
श्रुत्वा विनष्टनानाधीस्तूष्णीं प्रीतमना अभूत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; भगवता—भगवान् द्वारा; राजन्—हे राजा (परीक्षित); वसुदेवः—वसुदेव; उदाहृतः—कहे गये; श्रुत्वा—सुनकर; विनष्ट—विनष्ट; नाना—द्वैतयुक्त; धीः—बुद्धि; तूष्णीम्—मौन; प्रीत—तुष्ट; मनाः—अपने मन में; अभूत्—था।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, भगवान् द्वारा कहे गये इन उपदेशों को सुनकर वसुदेव समस्त द्वैत-भाव से मुक्त हो गये। हृदय में तुष्ट होकर वे मौन रहे।

अथ तत्र कुरुश्रेष्ठ देवकी सर्वदेवता ।
श्रुत्वानीतं गुरोः पुत्रमात्मजाभ्यां सुविस्मिता ॥ २७॥
कृष्णरामौ समाश्राव्य पुत्रान्कंसविहिंसितान् ।
स्मरन्ती कृपणं प्राह वैक्लव्यादश्रुलोचना ॥ २८॥

शब्दार्थ

अथ—तब; तत्र—उसी स्थान पर; कुरु-श्रेष्ठ—हे कुरुश्रेष्ठ; देवकी—माता देवकी ने; सर्व—सबों की; देवता—पूज्य देवी; श्रुत्वा—सुनकर; नीतम्—वापस लाये हुए; गुरोः—अपने गुरुओं के; पुत्रम्—पुत्र को; आत्मजाभ्याम्—अपने दोनों पुत्रों द्वारा; सु—अत्यधिक; विस्मिता—चकित; कृष्ण-रामौ—कृष्ण तथा बलराम; समाश्राव्य—स्पष्ट रूप से सम्बोधित करके; पुत्रान्—अपने पुत्रों को; कंस-विहिंसितान्—कंस द्वारा मारे गये; स्मरन्ती—स्मरण करती हुई; कृपणम्—दीनतापूर्वक; प्राह—कहा; वैक्लव्यात्—विकलता के कारण; अश्रु—आँसुओं (से पूरित); लोचना—आँखें।.

हे कुरुश्रेष्ठ, उसी समय सर्वत्र पूजनीय देवकी ने अपने दोनों पुत्रों, कृष्ण तथा बलराम को सम्बोधित करने का अवसर पाया। इसके पूर्व उन्होंने अत्यन्त विस्मय के साथ यह सुन रखा था कि उनके ये पुत्र अपने गुरु के पुत्र को मृत्यु से वापस ले आये थे। अब वे कंस द्वारा वध किये गये अपने पुत्रों का चिन्तन करते हुये अत्यन्त दुखी हुईं और अश्रुपूरित नेत्रों से कृष्ण तथा बलराम से दीनतापूर्वक बोलीं।

तात्पर्य : कृष्ण के प्रति वसुदेव का प्रेम विचलित हो गया था, क्योंकि उन्हें अपने पुत्र रूप में देखने और कृष्ण के ऐश्वर्य के प्रति उनकी भिज्ञता के बीच विरोध उत्पन्न हो रहा था। देवकी का प्रेम भी अपने मृत पुत्रों के लिए शोक करने के कारण अन्य रीति से कुछ कुछ विचलित हो रहा था। इसलिए कृष्ण उनके इस भ्रांत विचार को दूर करने की व्यवस्था की कि उनके सिवा कोई और ही उनका असली पुत्र है। चूँकि देवकी समस्त महापुरुषों द्वारा पूजित थीं, अतएव मातृ-स्नेह का प्रदर्शन भगवान् की योगमाया का ही प्रभाव रहा होगा, जो उनकी लीलाओं के आनंद में वृद्धि करती है। इसीलिए श्लोक ५ में देवकी को *मोहिता मायया विष्णोः*—भगवान् विष्णु की अन्तरंगा शक्ति द्वारा मोहग्रस्त—कहा गया है।

श्रीदेवक्युवाच
राम रामाप्रमेयात्मन्कृष्ण योगेश्वरेश्वर ।

वेदाहं वां विश्वसृजामीश्वरावादिपूरुषौ ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-देवकी उवाच—श्री देवकी ने कहा; राम राम—अरे राम, अरे राम; अप्रमेय-आत्मन्—हे अमाप्य परमात्मा; कृष्ण—हे कृष्ण; योग-ईश्वर—योग के स्वामियों के; ईश्वर—हे स्वामी; वेद—जानती हूँ; अहम्—मैं; वाम्—तुम दोनों को; विश्व—ब्रह्माण्ड के; सृजाम्—स्त्रष्टाओं के; ईश्वरौ—स्वामी; आदि—मूल; पूरुषौ—दो पुरुष।

श्री देवकी ने कहा : हे राम, हे राम, हे अप्रमेय परमात्मा, हे कृष्ण, हे सभी योगेश्वरों के स्वामी, मैं जानती हूँ कि तुम दोनों समस्त ब्रह्माण्ड सृष्टिकार्ताओं के परम शासक आदि भगवान् हो।

**कलविध्वस्तसत्त्वानां राज्ञामुच्छास्त्रवर्तिनाम् ।
भूमेर्भारायमाणानामवतीर्णौ किलाद्य मे ॥ ३० ॥**

शब्दार्थ

काल—समय द्वारा; विध्वस्त—विनष्ट; सत्त्वानाम्—अच्छे गुणों वाले; राज्ञाम्—राजाओं (के मारने) के लिए; उत्-शास्त्र—शास्त्रीय नियमों से बाहर; वर्तिनाम्—कार्य करने वाले; भूमेः—पृथ्वी के लिए; भारायमाणानाम्—भार बनते हुए; अवतीर्णौ—(तुम दोनों) अवतरित हुए हो; किल—निस्सन्देह; अद्य—आज; मे—मुझसे।

मुझसे जन्म लेकर तुम इस जगत में उन राजाओं का वध करने के लिए अवतरित हुए हो, जिनके उत्तम गुण वर्तमान युग के द्वारा विनष्ट हो चुके हैं और जो इस प्रकार से शास्त्रों की सत्ता का उल्लंघन करते हैं और पृथ्वी का भार बनते हैं।

**यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः ।
भवन्ति किल विश्वात्मंस्तं त्वाद्याहं गतिं गता ॥ ३१ ॥**

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; अंश—अंश के; अंश—अंश के; अंश—अंश के; भागेन—एक अंश द्वारा; विश्व—ब्रह्माण्ड की; उत्पत्ति—जन्म; लय—विलय; उदयाः—तथा सम्पन्नता; भवन्ति—उदय होते हैं; किल—निस्सन्देह; विश्व-आत्मन्—हे विश्व के आत्मा; तत्—उसके पास; त्वा—तुम; अद्य—आज; अहम्—मैं; गतिम्—शरण के लिए; गता—आई हुई।

हे विश्वात्मा, ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, पालन तथा संहार—ये सभी आपके अंश के अंश के अंश के भी एक अंश द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। हे भगवान्, मैं आज आपकी शरण में आई हूँ।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है : वैकुण्ठपति नारायण श्रीकृष्ण के केवल एक अंश हैं। महाविष्णु जो कि प्रथम स्रष्टा हैं, वे भगवान् नारायण के अंश हैं। सम्पूर्ण भौतिक शक्ति महाविष्णु की चितवन से निकलती है और तीनों गुण इसी सम्पूर्ण भौतिक शक्ति के विभिन्नांश हैं। इस तरह अपने अंशों के माध्यम से काम करने वाले श्रीकृष्ण ही ब्रह्माण्ड का सृजन,

पालन तथा संहार करते हैं।

चिरान्मृतसुतादाने गुरुणा किल चोदितौ ।
आनिन्यथुः पितृस्थानाद्गुरवे गुरुदक्षिणाम् ॥ ३२॥
तथा मे कुरुतं कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ ।
भोजराजहतान्पुत्रान्कामये द्रष्टुमाहृतान् ॥ ३३॥

शब्दार्थ

चिरात्—बहुत समय से; मृत—मरे हुए; सुत—पुत्र; आदाने—वापस लाने के लिए; गुरुणा—अपने गुरु द्वारा; किल—ऐसा सुना गया है; चोदितौ—आज्ञा दिये जाकर; आनिन्यथुः—तुम उसे ले आये; पितृ—पूर्वजों के; स्थानात्—स्थान से; गुरवे—अपने गुरु को; गुरु-दक्षिणाम्—गुरु-दक्षिणा के रूप में; तथा—उसी तरह; मे—मेरी; कुरुतम्—पूरा करो; कामम्—इच्छा; युवाम्—तुम दोनों; योग-ईश्वर—योग के स्वामियों के; ईश्वरौ—हे प्रभुओ; भोज-राज—भोज के राजा (कंस) द्वारा; हतान्—मारे हुए; पुत्रान्—पुत्रों को; कामये—मैं चाहती हूँ; द्रष्टुम्—देखना; आहृतान्—वापस लाये हुए।

ऐसा कहा जाता है कि जब आपके गुरु ने अपने बहुत पहले मर चुके पुत्र को वापस लाने के लिए आपको आदेश दिया, तो आप गुरु-दक्षिणा के प्रतीकस्वरूप उसे पूर्वजों के धाम से वापस ले आये। हे योगेश्वरों के भी ईश्वर, मेरी इच्छा को भी उसी तरह पूरी कीजिये। कृपया भोजराज द्वारा मारे गये मेरे पुत्रों को वापस ला दीजिये, जिससे मैं उन्हें फिर से देख सकूँ।

ऋषिरुवाच
एवं सञ्चोदितौ मात्रा रामः कृष्णश्च भारत ।
सुतलं संविविशतुर्योगमायामुपाश्रितौ ॥ ३॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—ऋषि (श्रीशुकदेव) ने कहा; एवम्—इस तरह; सञ्चोदितौ—याचना किये जाने पर; मात्रा—माता द्वारा; रामः—बलराम; कृष्णः—कृष्ण; च—तथा; भारत—हे भरतवंशी (परीक्षित); सुतलम्—सुतल नामक अधोलोक, जिसमें बलि महाराज शासन करते हैं; संविविशतुः—प्रवेश किया; योग-मायायम्—अपनी योगमाया को; उपाश्रितौ—काम में लाते हुए।

शुकदेव मुनि ने कहा : हे भारत, अपनी माता द्वारा इस प्रकार याचना किये जाने पर कृष्ण तथा बलराम ने अपनी योगमाया शक्ति का प्रयोग करके सुतल लोक में प्रवेश किया।

तस्मिन्प्रविष्टावुपलभ्य दैत्यराड्
विश्वात्मदैवं सुतरां तथात्मनः ।
तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुताशयः
सद्यः समुत्थाय ननाम सान्वयः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—वहाँ; प्रविष्टौ—(दोनों ने) प्रवेश करके; उपलभ्य—देखकर; दैत्य-राट्—दैत्यों के राजा (बलि); विश्व—सारे विश्व के; आत्म—आत्मा; दैवम्—तथा पर-देव; सुतराम्—विशेष रूप से; तथा—भी; आत्मनः—अपना; तत्—उनका; दर्शन—

दर्शन करने के कारण; आह्लाद—प्रसन्नता से; परिप्लुत—विभोर; आशयः—हृदय वाले; सद्यः—तुरन्त; समुत्थाय—खड़े होकर; ननाम—उसने प्रणाम किया; स—सहित; अन्वयः—उनके संगियों (कुटुम्बियों)।

जब दैत्यराज बलि ने दोनों प्रभुओं को आते देखा, तो उसका हृदय प्रसन्नता के मारे फूल उठा, क्योंकि वह उन्हें परमात्मा तथा सम्पूर्ण विश्व के पूज्य देव के रूप में, विशेष रूप से अपने पूज्य देव के रूप में, जानता था। अतः वह तुरन्त उठ खड़ा हुआ और अपने सारे पार्षदों सहित उसने उन्हें झुक कर प्रणाम किया।

तयोः समानीय वरासनं मुदा
निविष्टयोस्तत्र महात्मनोस्तयोः ।
दधार पादाववनिज्य तज्जलं
सवृन्द आब्रह्म पुनद्यदम्बु ह ॥ ३६॥

शब्दार्थ

तयोः—उनके लिए; समानीय—लाकर; वर—उच्च; आसनम्—आसन; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; निविष्टयोः—आसन ग्रहण किये हुए; तत्र—वहाँ; महा-आत्मनोः—महापुरुषों के; तयोः—उनके; दधार—पकड़ लिया; पादौ—पाँव; अवनिज्य—धोकर; तत्—उस; जलम्—जल को; स—सहित; वृन्दः—अपने अनुयायियों; आ-ब्रह्म—ब्रह्मा तक को; पुनत्—पवित्र बनाने वाला; यत्—जो; अम्बु—जल; ह—निस्सन्देह।

बलि ने प्रसन्नतापूर्वक उन्हें उच्च आसन प्रदान किया। जब वे बैठ गये, तो उसने दोनों प्रभुओं के पाँव पखारे। फिर उसने उस जल को, जो ब्रह्मापर्यन्त सारे जगत को पवित्र बनाने वाला है, लेकर अपने तथा अपने अनुयायियों के ऊपर छिड़का।

समर्हयामास स तौ विभूतिभि-
र्महार्हवस्त्राभरणानुलेपनैः ।
ताम्बूलदीपामृतभक्षणादिभिः
स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन च ॥ ३७॥

शब्दार्थ

समर्हयाम् आस—पूजा की; सः—उसने; तौ—उनको; विभूतिभिः—अपनी सम्पत्ति से; महा-अर्ह—अत्यन्त मूल्यवान; वस्त्र—वस्त्रों; आभरण—आभूषणों; अनुलेपनैः—तथा सुगन्धित लेप से; ताम्बूल—पान; दीप—दीपक; अमृत—अमृत तुल्य; भक्षण—भोजन; आदिभिः—इत्यादि से; स्व—अपने; गोत्र—परिवार; वित्त—सम्पत्ति का; आत्म—तथा स्व; समर्पणेन—समर्पण द्वारा; च—तथा।

उसने अपने पास उपलब्ध सारी सम्पदा—बहुमूल्य वस्त्र, गहने, सुगन्धित चन्दन-लेप, पान, दीपक, अमृत तुल्य भोजन इत्यादि—से उन दोनों की पूजा की। इस तरह उसने उन्हें अपने परिवार की सारी धन-सम्पदा तथा स्वयं अपने को भी अर्पित कर दिया।

तात्पर्य : बलि महाराज की भक्तिमयी प्रवृत्ति का यथेष्ठ उदाहरण पूर्ण समर्पण के रूप में विख्यात

है। जब विष्णु भगवान् ब्रह्मचारी वेश में दान लेने उनके पास गये तो बलि ने अपना सर्वस्व दे डाला और जब उनके पास देने को कुछ भी शेष न रहा तो उन्होंने स्वयं को भगवान् के नित्यदास के रूप में अर्पित कर दिया।

भक्ति की नौ मानक विधियाँ हैं जिनमें अन्तिम *आत्म-समर्पण* सारे प्रयत्नों की चरम परिणति है, जैसाकि बलि दैत्यराज ने शिक्षा दी है। यदि कोई व्यक्ति धन, बल, बुद्धि इत्यादि के द्वारा भगवान् पर अपना प्रभाव डालना चाहता है, किन्तु अपने को उनका दास नहीं समझता, तो उसकी तथाकथित भक्ति दिखावा मात्र है।

स इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं
बिभ्रन्मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया ।
उवाच हानन्दजलाकुलेक्षणः
प्रहृष्टरोमा नृप गद्गदाक्षरम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; इन्द्र-सेनः—इन्द्र की सेना को जीतने वाला, बलि; भगवत्—दोनों विभुओं के; पाद-अम्बुजम्—चरणकमलों को; बिभ्रत्—पकड़ते हुए; मुहुः—बारम्बार; प्रेम—प्रेमवश; विभिन्नया—द्रवित हो रहे; धिया—हृदयसे; उवाच ह—कहा; आनन्द—अपने आनन्द से उत्पन्न; जल—जल (अश्रु) से; आकुल—पूरित; ईक्षणः—नेत्रों वाला; प्रहृष्ट—सीधे खड़े होते हुए; रोमा—शरीर के रोएँ; नृप—हे राजा (परीक्षित); गद्गद—रुद्ध; अक्षरम्—जिनके शब्द।

दोनों विभुओं के चरणकमलों को बारम्बार पकड़ते हुए, इन्द्र की सेना के विजेता, गहन प्रेम से द्रवित हृदय वाले बलि ने कहा : हे राजन्, उनकी आँखों में प्रेमाश्रु भरे थे और उनके अंगों के रोएँ खड़े हुए थे। वह लड़खड़ाती वाणी से बोलने लगा।

तात्पर्य : *भगवान् श्रीकृष्ण* में लीला पुरुषोत्तम श्रील प्रभुपाद ने इस दृश्य का वर्णन इस प्रकार किया है : ''राजा बलि को ऐसे दिव्य सुख का अनुभव हो रहा था कि वे बारम्बार भगवान् के चरणकमलों को पकड़ कर अपने वक्षस्थल पर रख लेते थे, तो कभी उन श्रीचरणों को अपने मस्तक पर रख लेते थे। इस प्रकार वे दिव्य आनन्द का अनुभव कर रहे थे। उनके नेत्रों से प्रेमवश अश्रु प्रवाहित होने लगे तथा उन्हें रोमांच हो आया।''

बलिरुवाच
नमोऽनन्ताय बृहते नमः कृष्णाय वेधसे ।
साङ्ख्ययोगवितानाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

बलिः उवाच—बलि ने कहा; नमः—नमस्ते; अनन्ताय—अनन्त को; बृहते—महानतम जीव; नमः—नमस्कार; कृष्णाय—कृष्ण को; वेधसे—स्त्रष्टा; साङ्ख्य—सांख्य विश्लेषण के; योग—तथा योग के; वितानाय—प्रसार करने वाले को; ब्रह्मणे—ब्रह्म को; परम-आत्मने—परमात्मा।

राजा बलि ने कहा : समस्त जीवों में महानतम अनन्त देव को नमस्कार है। ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा भगवान् कृष्ण को नमस्कार है, जो सांख्य तथा योग के सिद्धान्तों का प्रसार करने के लिए निर्विशेष ब्रह्म तथा परमात्मा के रूप में प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती यहाँ पर कथित अनन्त की पहचान बलरामजी के रूप में करते हैं, जिनसे दिव्य सर्प अनन्त शेष का विस्तार होता है। निर्विशेष ब्रह्म सांख्य दार्शनिकों के ग्रंथों के उद्गम हैं, जबकि योग के ग्रंथ भगवान् के साकार रूप परमात्मा से प्रसारित होते हैं।

दर्शनं वां हि भूतानां दुष्प्रापं चाप्यदुर्लभम् ।
रजस्तमःस्वभावानां यन्नः प्राप्तौ यदृच्छया ॥ ०॥

शब्दार्थ

दर्शनम्—दर्शन; वाम्—तुम दोनों का; हि—निस्सन्देह; भूतानाम्—सारे जीवों के लिए; दुष्प्रापम्—विरले ही प्राप्त होने वाला; च अपि—फिर भी; अदुर्लभम्—प्राप्त करना कठिन नहीं; रजः—रजो; तमः—तथा तमो गुण; स्वभावानाम्—स्वभाव वालों के लिए; यत्—जिसमें; नः—हमारे द्वारा; प्राप्तौ—प्राप्त; यदृच्छया—अहैतुक रूप में।

अनेक जीवों के लिए आप दोनों विभुओं के दर्शन दुर्लभ हैं, किन्तु तमोगुण तथा रजोगुण में स्थित हमारे जैसे व्यक्ति भी सुगमता से आपके दर्शन पा सकते हैं, जब आप स्वेच्छा से प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : दैत्यों के कुल में जन्म लेने के कारण निम्न पद पर स्थित बतलाते हुए बलि महाराज ने अपने को सारे गुणों से रहित बताया, अतः कृष्ण तथा बलराम उन्हें क्योंकर दर्शन देते? बलि ने सोचा कि मुझ जैसे दैत्य तो क्या बड़े बड़े ज्ञानी तथा योगी भी भगवान् को प्रसन्न नहीं कर पाते, जब तक वे अपना गर्व तथा ईर्ष्या त्याग नहीं देते।

दैत्यदानवगन्धर्वाः सिद्धविद्याध्रचारणाः ।
यक्षरक्षःपिशाचाश्च भूतप्रमथनायकाः ॥ १॥
विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयि शास्त्रशरीरिणि ।
नित्यं निबद्धवैरास्ते वयं चान्ये च तादृशाः ॥ २॥
केचनोद्बद्धवैरेण भक्त्या केचन कामतः ।

न तथा सत्त्वसंरब्धाः सन्निकृष्टाः सुरादयः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

दैत्य-दानव—दैत्य तथा दानव; गन्धर्वाः—गन्धर्वगण; सिद्ध-विद्याधर-चारणाः—सिद्ध, विद्याधर तथा चारण देवतागण; यक्ष—यक्षगण; रक्षः—राक्षसगण (मनुष्यों को खा जाने वाले भूत-प्रेत); पिशाचाः—मांसाहारी पिशाचगण; च—तथा; भूत—भूत-प्रेत; प्रमथ-नायकाः—प्रमथ तथा नायक नामक भूत-प्रेत; विशुद्ध—नितान्त शुद्ध; सत्त्व—सतोगुण के; धाम्नि—धाम; अद्धा—प्रत्यक्ष; त्वयि—तुम में; शास्त्र—शास्त्रों से युक्त; शरीरिणि—ऐसे शरीर के स्वामी; नित्यम्—सदैव; निबद्ध—स्थिर; वैराः—शत्रुता में; ते—वे; वयम्—हम; च—भी; अन्ये—अन्य; च—तथा; तादृशाः—उन्हीं की तरह; केचन—कुछ; उद्बद्ध—विशेष दुराग्रही, जिद्दी; वैरेण—तिरस्कार से; भक्त्या—भक्ति से; केचन—कोई; कामतः—काम से उत्पन्न; न—नहीं; तथा—उसी तरह; सत्त्व—सतोगुण द्वारा; संरब्धाः—अधीन; सन्निकृष्टाः—आकृष्ट; सुर—देवतागण; आदयः—इत्यादि।

ऐसे अनेक लोग जो आपके प्रति शत्रुता में निरन्तर लीन रहते थे, अंत में आपके प्रति आकृष्ट हो गये, क्योंकि आप शुद्ध सत्त्वगुण के साकार रूप हैं और आपका दिव्य स्वरूप शास्त्रों से युक्त है। इन सुधरे हुए शत्रुओं में दैत्य, दानव, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर, चारण, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत, प्रमथ तथा नायक एवं हम तथा हमारे जैसे अनेक लोग सम्मिलित हैं। हममें से कुछ तो विशेष घृणा के कारण और कुछ काम-वासना पर आधारित भक्तिभाव से आपके प्रति आकृष्ट हुए हैं। किन्तु देवता तथा भौतिक सतोगुण से मुग्ध अन्य लोग आपके प्रति वैसे आकर्षण का अनुभव नहीं कर पाते।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने इन श्लोकों की व्याख्या इस प्रकार की है : जब गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर तथा चारण दैत्यों तथा दानवों का नायकत्व स्वीकार करते हैं, तो वे भगवान् के प्रतिद्वन्द्वी होते हैं। यक्ष, राक्षस, पिशाच इत्यादि इसलिए शत्रुता रखते हैं क्योंकि वे सामान्यतया अज्ञान (तमोगुण) से आच्छादित रहते हैं। कुछ धूर्त शुद्ध तमोगुणी हैं यथा शिशुपाल तथा पौण्ड्रक जो भगवान् को शत्रु के रूप में ध्यान करने में निमग्न रहते हैं और इसी स्थिर चेतना से उन्हें मोक्ष प्राप्त हो सका। अन्य लोग जो रजो तथा तमो गुणों की मिश्रित स्थिति में रहते हैं पद तथा प्रतिष्ठा की इच्छा से भगवान् की संगति करते हैं। महाराज बलि अपने को इसी कोटि का मानते हैं। फिर भी भगवान् विष्णु ने सुतल लोक के भूमिगत क्षेत्र में बलि का द्वारपाल बन कर उन पर कृपा की जिस तरह असुरों को मार कर और गन्धर्वों को अपने यश का गुणगान करने में लगाकर उन्हें मोक्ष प्रदान किया। दूसरी ओर, भगवान् उन देवताओं की इन्द्रिय-तृप्ति कराते हैं, जो सतोगुणी होने पर गर्वित हैं और इस तरह वे मोहग्रस्त होकर भगवान् को भूल जाते हैं।

इदमित्थमिति प्रायस्तव योगेश्वरेश्वर ।
न विदन्त्यपि योगेशा योगमायां कुतो वयम् ॥ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; इत्थम्—इस तरह के लक्षणों से युक्त; इति—ऐसी बातों से; प्रायः—अधिकांशतः; तव—तुम्हारा; योग-ईश्वर—योग के स्वामियों के; ईश्वर—हे परम स्वामी; न विदन्ति—नहीं जानते; अपि—भी; योग-ईशाः—योग के स्वामी; योग-मायाम्—मोहने की अपनी आध्यात्मिक शक्ति को; कुतः—तो क्या; वयम्—हम।

हे पूर्णयोगियों के स्वामी, हम अपने बारे में क्या कहें, बड़े से बड़े योगी भी यह नहीं जानते कि आपकी योगमाया क्या है, अथवा वह कैसे कार्य करती है?

तात्पर्य : किसी भी वस्तु की क्रमबद्ध जानकारी में उसके *स्वरूप* तथा उसके *विशेष* (लक्षण) निहित होते हैं, जिससे अन्य वस्तुओं से उसे पृथक् किया जा सके। माया जो सभी भौतिक सृष्टि की मूल शक्ति है, सामान्य घटनाओं से अधिक सूक्ष्म है, अतएव केवल ईश्वर तथा उनके मुक्त भक्त ही उसके स्वरूप तथा लक्षण को जान सकते हैं।

तन्नः प्रसीद निरपेक्षविमृग्ययुष्मत्-
पादारविन्दधिषणान्यगृहान्धकूपात् ।
निष्क्रम्य विश्वशरणाङ्घ्र्युपलब्धवृत्तिः
शान्तो यथैक उत सर्वसखैश्चरामि ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्—इस तरह से; नः—हम पर; प्रसीद—कृपालु होयें; निरपेक्ष—किसी भौतिक इच्छा से रहित हैं, जो; विमृग्य—खोजे जाकर; युष्मत्—तुम्हारे; पाद—चरण; अरविन्द—कमल; धिषण—आश्रय; अन्य—अन्य; गृह—घर से; अन्ध—अन्धे; कूपात्—कुएँ से; निष्क्रम्य—निकल कर; विश्व—सारे जगत के; शरण—उनके, जो कि सहायक हैं (वृक्ष); अङ्घ्रि—पाँवों पर; उपलब्ध—प्राप्त; वृत्तिः—जिसकी जीविका; शान्तः—शान्त; यथा—जिस तरह; एकः—अकेला; उत—अथवा अन्य कुछ; सर्व—सभी का; सखैः—मित्रों के साथ; चरामि—विचरण कर सकता हूँ।

कृपया मुझ पर दया करें, जिससे मैं गृहस्थ जीवन के अंध कूप से—अपने मिथ्या घर से—बाहर निकल सकूँ और आपके चरणकमलों की सच्ची शरण ग्रहण कर सकूँ, जिसकी खोज निष्काम सदैव साधु करते रहते हैं। तब मैं या तो अकेले या सबों के मित्र स्वरूप महान् सन्तों के साथ मुक्तरूप से विचरण कर सकूँ और विश्व-भर को दान देने वाले वृक्षों के नीचे जीवन की आवश्यकताएँ पूरी कर सकूँ।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि बलि की स्तुति के बदले श्रीकृष्ण ने उनसे वर माँगने को कहा और इस श्लोक में बलि अपना अनुरोध प्रकट कर रहे हैं। बलि भौतिक जीवन के पाश से मुक्त किये जाने के लिए याचना करते हैं, जिससे वे घर छोड़ कर एकान्त में विचरण कर सकें और

भगवान् के चरणकमल ही उनके एकमात्र आश्रय हों। बलि प्रस्ताव करते हैं कि अपने जीवनयापन के लिए वे जंगल के वृक्षों की सहायता लेंगे, जिनके नीचे पत्तों पर आवश्यकता पड़ने पर सोया जा सकता और जिनके फलों को खाया जा सकता है। और यदि भगवान् उन पर विशेष कृपालु हों तो बलि यह आशा करते हैं कि उन्हें अकेले न घूमना पड़े, अपितु भगवान् कृष्ण के भक्तों के साथ विचरण करने दिया जाय।

शाध्यस्मानीशितव्येश निष्पापान्कुरु नः प्रभो ।
पुमान्यच्छ्रद्धयातिष्ठंश्चोदनाया विमुच्यते ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

शाधि—कृपया आदेश दें; अस्मान्—हमको; ईशितव्य—हम अधीनों के; ईश—हे नियन्ता; निष्पापान्—पापरहित; कुरु—करें; नः—हमको; प्रभो—हे प्रभु; पुमान्—व्यक्ति; यत्—जो; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; आतिष्ठन्—सम्पन्न करते हुए; चोदनायाः—शास्त्रीय विधियों के; विमुच्यते—मुक्त हो जाता है।

हे समस्त अधीन प्राणियों के स्वामी, कृपा करके हमें बतायें कि हम क्या करें और इस तरह हमें सारे पापों से मुक्त कर दें। हे प्रभु, जो व्यक्ति आपके आदेश का श्रद्धापूर्वक पालन करता है, उसे सामान्य वैदिक अनुष्ठानों का पालन करना अनिवार्य नहीं है।

तात्पर्य : आचार्यों ने बलि के विचारों को इस प्रकार व्यक्त किया है : यह सोच कर कि उसकी तुरन्त उद्धार की प्रार्थना संभवतः अत्यधिक वाचाल मानी जाय, बलि महाराज विचार करते हैं कि सर्वप्रथम उन्हें पर्याप्त शुद्ध होना पड़ेगा। जो भी हो, भगवान् कृष्ण तथा बलराम अवश्य ही किसी विशेष उद्देश्य से उनके पास आये होंगे, अतः यदि वे उनका आदेश पाकर उसका पालन करें, तो शुद्धि के लिए यह अनुपम अवसर होगा। निस्सन्देह जैसाकि बलि कहते हैं, भगवान् के आदेश के अनुसार कार्य करने वाले भक्त को शास्त्रों के आदेशों तथा वेदों के निषेधों को पालन करने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

श्रीभगवानुवाच
आसन्मरीचेः षट्पुत्रा ऊर्णायां प्रथमेऽन्तरे ।
देवाः कं जहसुर्वीक्ष्य सुतं यभितुमुद्यतम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; आसन्—थे; मरीचे:—मरीचि के; षट्—छ:; पुत्रा:—पुत्र; ऊर्णायाम्—ऊर्णा (मरीचि की पत्नी) से; प्रथमे—प्रथम; अन्तरे—मनु के राज्य में; देवा:—देवतागण; कम्—ब्रह्मा पर; जहसु:—हँस दिया; वीक्ष्य—देखकर; सुताम्—अपनी पुत्री (सरस्वती) के साथ; यभितुम्—संभोग करने के लिए; उद्यतम्—उद्यत।

भगवान् ने कहा : प्रथम मनु के युग में मरीचि ऋषि की पत्नी ऊर्णा से छः पुत्र उत्पन्न हुए। वे सभी उच्च देवता थे, किन्तु एक बार, जब उन्होंने ब्रह्मा को अपनी ही पुत्री के साथ संभोग करने के लिए उद्यत देखा, तो उन्हें हँसी आ गई।

तेनासुरीमगन्योनिमधुनावद्यकर्मणा ।
हिरण्यकशिपोर्जाता नीतास्ते योगमायया ॥ ८ ॥
देवक्या उदरे जाता राजन्कंसविहिंसिता: ।
सा ताञ्शोचत्यात्मजान्स्वांस्त इमेऽध्यासतेऽन्तिके ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तेन—उससे; आसुरीम्—असुरों की; अगन्—प्रविष्ट हुए; योनिम्—गर्भ में; अधुना—तुरन्त; अवद्य—अनुचित; कर्मणा—कर्म द्वारा; हिरण्यकशिपो:—हिरण्यकशिपु के यहाँ; जाता:—उत्पन्न; नीता:—लाया गया; ते—वे; योग-मायया—भगवान् की दैवी मोहिनी शक्ति द्वारा; देवक्या:—देवकी के; उदरे—गर्भ से; जाता:—उत्पन्न; राजन्—हे राजा (बलि); कंस—कंस द्वारा; विहिंसिता:—हत्या की गई; सा—वह; तान्—उन; शोचति—शोक करती है; आत्म-जान्—पुत्रों के लिए; स्वान्—अपने; ते—वे; इमे—वे ही; अध्यासते—जीवित हैं; अन्तिके—पास ही।

उस अनुचित कार्य के लिए, वे तुरन्त आसुरी योनि में प्रविष्ट हुए और इस तरह उन्होंने हिरण्यकशिपु के पुत्रों के रूप में जन्म लिया। देवी योगमाया ने इन सबों को हिरण्यकशिपु से छीन लिया और वे पुनः देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुए। इसके बाद हे राजा, कंस ने उन सबका वध कर दिया। देवकी आज भी उन अपने पुत्रों का स्मरण कर-करके शोक करती हैं। मरीचि के वे ही पुत्र अब आपके साथ यहाँ रह रहे हैं।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती दोनों ही आचार्य बतलाते हैं कि भगवान् कृष्ण की योगमाया ने हिरण्यकशिपु से मरीचि के छहों पुत्रों को लेकर एक बार उन्हें फिर से महान् दैत्य कालनेमि के पुत्रों के रूप में जन्म दिलाया और अन्त में उन्हें देवकी के गर्भ में स्थानान्तरित किया।

इत एतान्प्रणेष्यामो मातृशोकापनुत्तये ।
तत: शापाद्विनिर्मुक्ता लोकं यास्यन्ति विज्वरा: ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

इत:—यहाँ से; एतान्—उन्हें; प्रणेष्याम:—हम ले जाना चाहते हैं; मातृ—उनकी माता का; शोक—शोक; अपनुत्तये—दूर करने के लिए; तत:—तब; शापात्—अपने शाप से; विनिर्मुक्ता:—मुक्त; लोकम्—अपने (देवताओं के) लोक; यास्यन्ति—जायेंगे; विज्वरा:—ज्वर से मुक्त।

हम उन्हें इनकी माता का शोक दूर करने के लिए इस स्थान से ले जाना चाहते हैं। तब अपने शाप से विमुक्त होकर तथा समस्त कष्टों से छूट कर, वे स्वर्ग में अपने घर लौट जायेंगे।

तात्पर्य : इस स्कंध के अध्याय दो के श्लोक ५ तथा ८ के तात्पर्यों में श्रील प्रभुपाद ने इंगित किया है कि मरीचि के पुत्रों को ब्रह्मा के प्रति किये गये अपराध के कारण अपमानित किया गया। यही नहीं, हिरण्यकशिपु ने एक बार श्राप दिया था कि भावी जीवन में उन्हें अपने पिता के द्वारा मारा जायेगा। इस शाप की पूर्ति तब हुई जब वसुदेव ने एक-एक करके अपने पुत्रों का वध कंस द्वारा होने दिया।

स्मरोद्गीथः परिष्वङ्गः पतङ्गः क्षुद्रभृद्धृणी ।
षडिमे मत्प्रसादेन पुनर्यास्यन्ति सद्गतिम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

स्मर-उद्गीथः परिष्वङ्गः—स्मर, उद्गीथ तथा परिष्वंग; पतङ्गः क्षुद्रभृत् घृणी—पतंग, क्षुद्रभृत तथा घृणी; षट्—छः; इमे—ये; मत्—मेरी; प्रसादेन—कृपा से; पुनः—फिर से; यास्यन्ति—जायेंगे; सत्—अच्छे पुरुषों के; गतिम्—गन्तव्य को।

मेरी कृपा से स्मर, उद्गीथ, परिष्वंग, पतंग, क्षुद्रभृत तथा घृणी—ये छहों शुद्ध सन्तों के धाम वापस जायेंगे।

तात्पर्य : ये उन छह बालकों के नाम है जब वे मरीचि के पुत्र रूप में थे। इनमें सबसे बड़ा स्मर जब पुनः वसुदेव के यहाँ उत्पन्न हुआ तो कीर्तिमान कहलाया जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (.१.५७) में अंकित है—

कीर्तिमन्तं प्रथमजं कंसायानकदुन्दुभिः ।

अर्पयामास कृच्छ्रेण सोऽनृतादतिविह्वलः ॥

''वसुदेव भयभीत थे कि वचन-भंग होने से वे झूठे बन जायेंगे। इसलिए बहुत ही पीड़ा के साथ उन्होंने अपने प्रथमजात पुत्र कीर्तिमान को कंस के हाथों में सौंप दिया।''

इत्युक्त्वा तान्समादाय इन्द्रसेनेन पूजितौ ।
पुनर्द्वारवतीमेत्य मातुः पुत्रानयच्छताम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; तान्—उनको; समादाय—लेकर; इन्द्रसेनेन—बलि महाराज द्वारा; पूजितौ—दोनों सम्मानित हुए; पुनः—फिर से; द्वारवतीम्—द्वारका तक; एत्य—जाकर; मातुः—अपनी माता के; पुत्रान्—पुत्रों को; अयच्छताम्—सौंप दिया।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : यह कहकर भगवान् कृष्ण तथा बलराम बलि महाराज द्वारा भलीभाँति पूजित होकर छहों पुत्रों को लेकर द्वारका लौट आये, जहाँ पर उन्हें उनकी माता को सौंप दिया।

तान्दृष्ट्वा बालकान्देवी पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी ।
परिष्वज्याङ्कमारोप्य मूर्ध्न्यजिघ्रदभीक्ष्णशः ॥५३॥

शब्दार्थ

तान्—उन; दृष्ट्वा—देखकर; बालकान्—बालकों को; देवी—देवी (देवकी); पुत्र—अपने पुत्रों के लिए; स्नेह—स्नेह के कारण; स्नुत—बहते हुए; स्तनी—स्तनों वाली; परिष्वज्य—आलिंगन करके; अङ्कम्—अपनी गोद में; आरोप्य—रख कर; मूर्ध्नि—उनके सिरों को; अजिघ्रत्—सूँघा; अभीक्ष्णशः—बारम्बार।

जब देवी देवकी ने अपने खोये हुए बालकों को देखा, तो उनके प्रति उन्हें इतना स्नेह उमड़ा कि उनके स्तनों से दूध बह चला। उन्होंने उनका आलिंगन किया और अपनी गोद में बैठाकर बारम्बार उनका सिर सूँघा।

अपाययत्स्तनं प्रीता सुतस्पर्शपरिस्नुतम् ।
मोहिता मायया विष्णोर्यया सृष्टिः प्रवर्तते ॥५॥

शब्दार्थ

अपाययत्—पीने दिया; स्तनम्—स्तनों को; प्रीता—प्रेमपूर्वक; सुत—अपने पुत्रों का; स्पर्श—स्पर्श करने से; परिस्नुतम्—सराबोर (भीगी हुई); मोहिता—मोहग्रस्त; मायया—माया द्वारा; विष्णोः—भगवान् विष्णु की; यया—जिसके द्वारा; सृष्टिः—सृष्टि; प्रवर्तते—उत्पन्न हुई।

उन्होंने अपने पुत्रों को बड़े ही प्रेम से स्तन-पान करने दिया और उनके स्पर्श से उनके स्तन दूध से भीग गये। वे उसी विष्णु-माया से मोहित हो गईं, जो इस ब्रह्माण्ड का सृजन करती है।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के मतानुसार यहाँ पर आये *सृष्टि* शब्द से वह सृजन विधि भी सूचित होती है, जिससे विष्णु की योगमाया उनकी लीलाओं की पृष्ठभूमि तैयार करती है। माया के भौतिक पक्ष द्वारा माता देवकी के प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

पीत्वामृतं पयस्तस्याः पीतशेषं गदाभृतः ।
नारायणाङ्गसंस्पर्शप्रतिलब्धात्मदर्शनाः ॥५५॥

ते नमस्कृत्य गोविन्दं देवकीं पितरं बलम् ।
मिषतां सर्वभूतानां ययुर्धाम दिवौकसाम् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

पीत्वा—पीकर; अमृतम्—अमृत तुल्य; पयः—दूध; तस्याः—उनका; पीत—पिया हुआ; शेषम्—बचा हुआ; गदा-भृतः—गदा चलाने वाले कृष्ण का; नारायण—नारायण (कृष्ण) के; अङ्ग—शरीर के; संस्पर्श—स्पर्श से; प्रतिलब्ध—फिर से पा लिया; आत्म—(देवताओं के रूप में) अपने मूल स्वरूपों के; दर्शनाः—अनुभूति; ते—वे; नमस्कृत्य—नमस्कार करके; गोविन्दम्—भगवान् कृष्ण को; देवकीम्—देवकी को; पितरम्—अपने पिता को; बलम्—तथा बलराम को; मिषताम्—देखते-देखते; सर्व—समस्त; भूतानाम्—लोगों के; ययुः—चले गये; धाम—स्थान; दिव-ओकसाम्—देवताओं के।

कृष्ण ने इससे पूर्व पीकर जो कुछ बाकी छोड़ा था, उस अमृत तुल्य दूध को पीकर छहों पुत्रों ने नारायण के दिव्य शरीर का स्पर्श किया और इस स्पर्श से उनकी मूल पहचान उनमें जाग गईं। उन्होंने गोविन्द, देवकी, अपने पिता तथा बलराम को नमस्कार किया और फिर हर एक के देखते-देखते, वे देवताओं के धाम के लिए रवाना हो गये।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण देवकी तथा वसुदेव के पास शिशु के रूप में अत्यल्प समय तक ही रहे। पहले तो भगवान् उनके समक्ष चतुर्भुजी रूप में प्रकट हुए और उनकी स्तुतियाँ सुनने के बाद उनको आनन्दित करने के लिए सामान्य शिशु में परिणत हो गये। किन्तु कृष्ण को अपने भाइयों की तरह दुर्भाग्य-पूर्ण दुख उठाने से बचाने के लिए वसुदेव तुरन्त ही उन्हें कंस के कारागार से बाहर ले गये। वसुदेव द्वारा ले जाने के तुरन्त पूर्व माता देवकी ने कृष्ण को एक बार स्तन-पान कराया जिससे वे नन्द-व्रज की लम्बी यात्रा के दौरान प्यासे न हों। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका में यह लिखा हुआ है।

तं दृष्ट्वा देवकी देवी मृतागमननिर्गमम् ।
मेने सुविस्मिता मायां कृष्णस्य रचितां नृप ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

तम्—यह; दृष्ट्वा—देखकर; देवकी—देवकी; देवी—देवी; मृत—मरे हुए (पुत्रों) के; आगमन—वापस आना; निर्गमम्—तथा विदाई; मेने—उसने सोचा; सु—अत्यधिक; विस्मिता—चकित; मायाम्—जादू को; कृष्णस्य—कृष्ण के; रचिताम्—उत्पन्न; नृप—हे राजा परीक्षित।

हे राजन्, अपने पुत्रों को मृत्यु से वापस आते और फिर विदा होते देखकर सन्त स्वभाव वाली देवकी को आश्चर्य हुआ। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि यह कृष्ण द्वारा उत्पन्न माया मात्र थी।

एवंविधान्यद्भुतानि कृष्णस्य परमात्मनः ।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि भारत ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

एवम्-विधानि—इस तरह; अद्भुतानि—अद्‌भुत; कृष्णस्य—कृष्ण की; परम-आत्मनः—परमात्मा; वीर्याणि—लीलाएँ; अनन्त—असीम; वीर्यस्य—जिसका पराक्रम; सन्ति—हैं; अनन्तानि—अपार; भारत—हे भरतवंशी।

हे भारत, असीम पराक्रम वाले प्रभु, परमात्मा श्रीकृष्ण ने इस तरह की आश्चर्यजनक असंख्य लीलाएँ सम्पन्न कीं।

श्रीसूत उवाच

य इदमनुशृणोति श्रावयेद्वा मुरारे-
श्चरितममृतकीर्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः ।
जगदघभिदलं तद्भक्तसत्कर्णपूरं
भगवति कृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

श्री-सूतः उवाच—श्री सूत ने (उन मुनियों से, जो नैमिषारण्य में एकत्र हुए, उनसे) कहा; यः—जो भी; इदम्—इसे; अनुशृणोति—ठीक से सुनता है; श्रावयेत्—अन्यों को सुनाता है; वा—अथवा; मुरारेः—मुर नामक असुर को मारने वाले, कृष्ण की; चरितम्—लीला को; अमृत—अमर; कीर्तेः—जिसकी कीर्ति; वर्णितम्—वर्णित; व्यास-पुत्रैः—व्यासदेव के पुत्र द्वारा; जगत्—ब्रह्माण्ड के; अघ—पापों को; भित्—जो (लीला) विनष्ट करती है; अलम्—पूरी तरह; तत्—उसके; भक्त—भक्तों के लिए; सत्—दिव्य; कर्ण-पूरम्—कान का आभूषण; भगवति—भगवान् में; कृत—स्थित करते हुए; चित्तः—अपना मन; याति—वह जाता है; तत्—उसके; क्षेम—शुभ; धाम—निजी आवास।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : नित्य कीर्ति वाले भगवान् मुरारी द्वारा की गई यह लीला ब्रह्माण्ड के सारे पापों को पूरी तरह नष्ट करती है और भक्तों के कानों के लिए दिव्य आभूषण जैसा काम करती है। जो भी व्यासदेव के पूज्य पुत्र द्वारा सुनाई गई इस कथा को ध्यानपूर्वक सुनता या सुनाता है, वह भगवान् के ध्यान में अपने मन को स्थिर कर सकेगा और ईश्वर के सर्वमंगलमय धाम को प्राप्त करेगा।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार भगवान् कृष्ण के जीवन की अद्‌भुत घटनाओं का श्रवण करना पापों का नाश इस विधि से करता है, जो पूर्ण (*अलम्*) है, क्योंकि यह आसान है। कोई भी इस श्रवण में भाग ले सकता है और जो लोग कृष्ण के भक्त बन जाते हैं, वे उनसे सम्बद्ध कथाओं रूपी आभूषणों को अपने कानों में धारण करने का आनंद लेते हैं। इन घटनाओं के अवसर पर जो लोग उपस्थित थे, न केवल वे ही अपितु शुकदेव गोस्वामी, सूत गोस्वामी समेत सभी लोग, जिन्होंने सुना है या आगे जो भी सुनेंगे, वे कृष्ण की दिव्य कीर्ति के सतत वाचन द्वारा आशीष के भागी होंगे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''कृष्ण द्वारा वसुदेव को उपदेश दिया जाना तथा देवकी-पुत्रों की वापसी'' नामक पिचासिवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छियासी

अर्जुन द्वारा सुभद्रा-हरण तथा कृष्ण द्वारा अपने भक्तों को आशीर्वाद दिया जाना

इस अध्याय में यह वर्णन हुआ है कि अर्जुन ने किस तरह सुभद्रा का हरण किया और किस तरह भगवान् कृष्ण बहुलाश्व तथा श्रुतदेव नामक भक्तों को आशीर्वाद देने मिथिला गये।

जब राजा परीक्षित ने अपनी दादी सुभद्रादेवी के विवाह के विषय में जानने की इच्छा व्यक्त की, तो शुकदेव गोस्वामी ने बतलाया, ''अर्जुन ने अपनी तीर्थयात्रा के दौरान यह सुना कि बलदेव अपनी बहन सुभद्रा का पाणिग्रहण दुर्योधन से करना चाहते हैं। सुभद्रा को हरण करके उसके साथ स्वयं विवाह करने की इच्छा से अर्जुन ने एक संन्यासी का वेश बनाया और द्वारका गये। उनका वेश ऐसा प्रभावशाली था कि न तो बलराम, न ही द्वारका का कोई अन्य वासी उन्हें पहचान पाया, प्रत्युत उन सबों ने एक वैष्णव संन्यासी के योग्य उन्हें आदर दिया। इस तरह वर्षा ऋतु के चार मास बीत गये। एक दिन अर्जुन को बलराम के घर पर भोजन करने का निमंत्रण मिला। वहाँ उन्होंने सुभद्रा को देखा और वे तुरन्त ही उसे प्राप्त करने की इच्छा से अभिभूत हो गये। सुभद्रा भी अर्जुन को पति रूप में पाने के लिये इच्छा करने लगी, अतएव उसने लजाई हुई दृष्टि से उन्हें देखा। कुछ दिन बाद सुभद्रा रथ-उत्सव में भाग लेने महल से बाहर आई। इस अवसर का लाभ उठाकर, अर्जुन सुभद्रा को हर ले गये और जिन यादवों ने उन्हें रोकना चाहा, उन्हें परास्त कर दिया। यह सुन कर पहले तो बलराम अत्यधिक क्रुद्ध हुए, किन्तु जब कृष्ण तथा अन्य परिवार वालों ने उन्हें शान्त कराया, तो वे प्रसन्न हो उठे और वर तथा वधू को पर्याप्त दहेज के साथ विदा किया।''

श्रुतदेव नामक एक ब्राह्मण श्रीकृष्ण का भक्त था, जो मिथिला नगरी में रहता था। दैववश वह अपने तथा अपने परिवार के पेट-पालन भर के लिए ही कमा पाता था। फिर भी वह सदैव तुष्ट रहता

था और अपना सारा समय धार्मिक कार्यों में बिताता था। राजा बहुलाश्व एक दूसरा भागवत था, जो मिथिला में ही रहता था। वह राजा जनक का वंशज था और पूरे विदेह पर शासन करता था, फिर भी वह श्रुतदेव की ही तरह भौतिक सम्पत्ति से विरक्त रहता था। इन दोनों महात्माओं की भक्ति-प्रवृत्ति से प्रसन्न होकर, भगवान् कृष्ण इन्हें मिलने के लिए रथ पर चढ़ कर मिथिला गये। अपने साथ वे नारद तथा अन्य कई विद्वान ऋषियों को भी लेते गये। मिथिलावासियों ने भगवान् तथा उनकी सन्त टोली का बड़े हर्ष से स्वागत किया। वे कृष्ण के लिए विविध भेंटें लेकर आये और उन्होंने उन्हें तथा सन्तों को नमस्कार किया।

बहुलाश्व तथा श्रुतदेव दोनों ने आगे बढ़कर श्रीकृष्ण से आदरपूर्वक अनुरोध किया कि वे उनके घरों में पधारें। उन दोनों को तुष्ट करने के लिए भगवान् ने अपना विस्तार किया और एक ही समय उन दोनों के घरों में पहुँचे। उनमें से हर एक ने उनकी समुचित पूजा की, उनकी स्तुति की, उनके पाँव पखारे और इस पाद-प्रक्षालित जल को अपने तथा अपने परिवार वालों के ऊपर छिड़का। तब भगवान् कृष्ण ने अपने साथ आये ऋषियों की प्रशंसा की और सामान्य रूप से सभी ब्राह्मणों की महिमा कह सुनाई। उन्होंने अपने आतिथेयों को भी भक्ति-विषयक उपदेश दिया। इन उपदेशों को समझते हुए श्रुतदेव तथा बहुलाश्व दोनों ने ही ऋषियों तथा भगवान् श्रीकृष्ण को एकचित्त-भक्ति से आदर दिया। इसके बाद कृष्ण द्वारका लौट गये।

श्रीराजोवाच
ब्रह्मन्वेदितुमिच्छामः स्वसारां रामकृष्णयोः ।
यथोपयेमे विजयो या ममासीत्पितामही ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा (परीक्षित) ने कहा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण (शुकदेव); वेदितुम्—जानना; इच्छामः—चाहते हैं; स्वसारम्—बहन को; राम-कृष्णयोः—बलराम तथा कृष्ण की; यथा—कैसे; उपयेमे—विवाह किया; विजयः—अर्जुन; या—जो; मम—मेरी; आसीत्—थी; पितामही—दादी।

राजा परीक्षित ने कहा : हे ब्राह्मण, हम जानना चाहेंगे कि किस तरह अर्जुन ने बलराम तथा कृष्ण की बहन से विवाह किया, जो मेरी दादी थीं।

तात्पर्य : अब परीक्षित महाराज भगवान् की बहन सुभद्रा के विवाह की कथा की ओर ध्यान ले जाते हैं। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार यहाँ पर राजा परीक्षित का प्रश्न पिछली कथा से निकलता है,

क्योंकि अर्जुन द्वारा सुभद्रा के साथ पाणिग्रहण करना उतनी ही कठिन करामात थी, जितनी कि कृष्ण द्वारा देवकी के पुत्रों को मृत्युलोक से वापस ले आना, क्योंकि अर्जुन के साथ सुभद्रा के विवाह का स्वयं बलराम विरोध कर रहे थे।

श्रीशुक उवाच
अर्जुनस्तीर्थयात्रायां पर्यटन्नवनीं प्रभुः ।
गतः प्रभासमशृणोन्मातुलेयीं स आत्मनः ॥ २ ॥
दुर्योधनाय रामस्तां दास्यतीति न चापरे ।
तल्लिप्सुः स यतिर्भूत्वा त्रिदण्डी द्वारकामगात् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अर्जुनः—अर्जुन; तीर्थ—पवित्र स्थानों की; यात्रायाम्—यात्रा करते समय; पर्यटन्—भ्रमण करते हुए; अवनीम्—पृथ्वी; प्रभुः—स्वामी; गतः—गये हुए; प्रभासम्—प्रभास को; अशृणोत्—सुना; मातुलेयीम्—मामा की कन्या; सः—उसने; आत्मनः—अपने; दुर्योधनाय—दुर्योधन को; रामः—बलराम; ताम्—उसको; दास्यति—देना चाहता है; इति—इस प्रकार; न—नहीं; च—तथा; अपरे—अन्य कोई; तत्—उसके; लिप्सुः—प्राप्त करने की इच्छुक; सः—वह, अर्जुन; यतिः—संन्यासी; भूत्वा—बन कर; त्रि-दण्डी—दण्ड धारण किये; द्वारकाम्—द्वारका; अगात्—गया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : दूर दूर तक यात्रा करते हुए और विविध तीर्थस्थानों का दर्शन करके अर्जुन प्रभास आये। वहाँ उन्होंने सुना कि बलराम अपने मामा की लड़की का विवाह दुर्योधन के साथ करना चाहते हैं और कोई भी उनकी इस योजना का समर्थन नहीं करता। अर्जुन स्वयं उसके साथ विवाह करना चाहते थे, अतः उन्होंने त्रिदंड से सज्जित होकर सन्यासी का वेश बना लिया और द्वारका गये।

तात्पर्य : भले ही सुभद्रा को पत्नी रूप में पाने की अर्जुन की योजना प्रथा के विरुद्ध प्रतीत हुई हो, किन्तु वे प्रोत्साहनवश ही ऐसा करने जा रहे थे। दरअसल भगवान् कृष्ण ही उनके मुख्य सह-षडयंत्रकर्ता थे। द्वारका में राजवंश के अधिकांश सदस्य, विशेष रूप से वसुदेव अपनी प्यारी पुत्री दुर्योधन को देने के प्रस्ताव के कारण दुखी थे।

तत्र वै वार्षितान्मासानवात्सीत्स्वार्थसाधकः ।
पौरैः सभाजितोऽभीक्ष्णं रामेणाजानता च सः ॥ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; वै—निस्सन्देह; वार्षिकान्—वर्षाऋतु के; मासान्—मासों; अवात्सीत्—रहता रहा; स्व—अपने; अर्थ—प्रयोजन; साधकः—प्राप्त करने का प्रयत्न करते हुए; पौरैः—नगर के लोगों के द्वारा; सभाजितः—सम्मानित; अभीक्ष्णम्—निरन्तर; रामेण—बलराम द्वारा; अजानता—अनभिज्ञ; च—तथा; सः—वह।

अपने प्रयोजन की पूर्ति के लिए, वे वर्षाऋतु-भर वहीं रहते रहे। बलराम तथा नगर के अन्य वासियों ने उन्हें न पहचानते हुए, उनका सभी तरह से सम्मान तथा सत्कार किया।

एकदा गृहमानीय आतिथ्येन निमन्त्र्य तम् ।
श्रद्धयोपहृतं भैक्ष्यं बलेन बुभुजे किल ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; गृहम्—अपने (बलराम के) घर पर; आनीय—लाकर; आतिथ्येन—अतिथि के रूप में; निमन्त्र्य—निमंत्रित करके; तम्—उस (अर्जुन) को; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; उपहृतम्—भेंट किया; भैक्ष्यम्—भोजन; बलेन—बलराम द्वारा; बुभुजे—खाया; किल—निस्सन्देह।

एक दिन बलराम, उन्हें अपने घर आमंत्रित अतिथि के रूप में ले आये और अर्जुन ने बलराम द्वारा आदरपूर्वक अर्पित भोजन ग्रहण किया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती द्वारा प्रस्तुत व्याख्या से यह पता चलता है कि संन्यासी की भूमिका में अर्जुन ने वर्षाऋतु के चातुर्मास व्रत को पूरा किया और उसके बाद अब वे गृहस्थों के सामान्य आमंत्रण फिर स्वीकार कर सकते थे। अतएव उस समय बलराम के घर जाने के पीछे असामान्य मन्तव्य के प्रति किसी को शंका नहीं हुई।

सोऽपश्यत्तत्र महतीं कन्यां वीरमनोहराम् ।
प्रीत्युत्फुल्लेक्षणस्तस्यां भावक्षुब्धं मनो दधे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; अपश्यत्—देखा; तत्र—वहाँ; महतीम्—अद्भुत; कन्याम्—लड़की को; वीर—वीरों को; मनः-हराम्—मुग्ध करते हुए; प्रीति—सुखपूर्वक; उत्फुल्ल—प्रफुल्लित; ईक्षनः—उसकी आँखें; तस्याम्—उस पर; भाव—भाव द्वारा; क्षुब्धम्—विचलित; मनः—मन; दधे—रखा, लगाया।

वहाँ उन्होंने अद्भुत कुमारी सुभद्रा को देखा, जो वीरों को मोहने वाली थी। उनकी आँखे हर्ष से खुली की खुली रह गईं, उनका मन विचलित हो उठा और उसी के विचारों में लीन हो गया।

सापि तं चकमे वीक्ष्य नारीणां हृदयंगमम् ।
हसन्ती व्रीडितापङ्गी तन्न्यस्तहृदयेक्षणा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; अपि—भी; तम्—उसको; चकमे—चाहने लगी; वीक्ष्य—देखकर; नारीणाम्—स्त्रियों के; हृदयम्-गमम्—हृदयों को चुराने वाली; हसन्ती—हँसती हुई; व्रीडिता—लज्जा से युक्त; अपाङ्गी—तिरछी दृष्टि डालती; तत्—उस पर; न्यस्त—स्थिर; हृदय—हृदय; ईक्षणा—तथा आँखें।

अर्जुन स्त्रियों के लिए अतीव आकर्षक थे, अतः ज्योंही सुभद्रा ने उन्हें देखा, वे उन्हें पति रूप में पाने की इच्छा करने लगीं। लजीली हँसी से तथा तिरछी चितवनों से उसने अपना हृदय तथा अपनी आँखें उन्हीं पर गड़ा दीं।

तात्पर्य : देखते ही सुभद्रा जान गई कि अर्जुन कोई संन्यासी नहीं अपितु उसके होने वाले प्रियतम हैं। *भगवान् श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद इसका विस्तार से वर्णन करते हैं, "महाराज परीक्षित के पितामह अर्जुन स्वयं असाधारण रूप से सुन्दर थे और उनका शारीरिक गठन सुभद्रा के लिए अत्यन्त आकर्षक था। सुभद्रा ने भी मन ही मन निश्चय कर लिया कि वह केवल अर्जुन को ही अपने पति रूप में स्वीकार करेगी। सामान्य लड़की की तरह वह अर्जुन को देखकर बड़े हर्ष से मुसकरा रही थी।"

तां परं समनुध्यायन्नन्तरं प्रेप्सुरर्जुनः ।
न लेभे शं भ्रमच्चित्तः कामेनातिबलीयसा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस पर; परम्—एकमात्र; समनुध्यायन्—ध्यान करती; अन्तरम्—उचित अवसर; प्रेप्सुः—प्राप्त करने की प्रतीक्षा हुए; अर्जुनः—अर्जुन; न लेभे—अनुभव नहीं कर सका; शम्—शान्ति; भ्रमत्—विचलित; चित्तः—हृदय; कामेन—काम द्वारा; अति-बलीयसा—अत्यन्त प्रबल।

उसी का ध्यान करते तथा उसे उठा ले जाने के अवसर की प्रतीक्षा करते हुए अर्जुन को चैन नहीं मिल पा रहा था। उनका हृदय कामेच्छा से धकधका रहा था।

तात्पर्य : बलराम द्वारा सम्मानित किये जाने पर भी अर्जुन उनके शिष्ट आतिथ्य की सराहना नहीं कर सका, क्योंकि वह अत्यधिक विचलित था। अर्जुन का विचलित होना तथा बलराम द्वारा वेश बदले अर्जुन को न पहचाना जाना—ये दोनों भगवान् द्वारा अपनी दिव्य लीलाओं का आनन्द लेने की योजनाएँ थीं।

महत्यां देवयात्रायां रथस्थां दुर्गनिर्गतां ।
जहारानुमतः पित्रोः कृष्णस्य च महारथः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

महत्याम्—महत्त्वपूर्ण; देव—भगवान् के लिए; यात्रायाम्—उत्सव के मध्य; रथ—रथ पर; स्थाम्—आरूढ़; दुर्ग—किले से; निर्गताम्—बाहर आई हुई; जहार—उसे पकड़ लिया; अनुमतः—अनुमति से; पित्रोः—अपने माता-पिता की; कृष्णस्य—कृष्ण की; च—तथा; महा-रथः—अन्य बलशाली रथी योद्धा।

एक बार भगवान् के सम्मान में विशाल मन्दिर-उत्सव के अवसर पर, सुभद्रा रथ पर आरूढ़ होकर दुर्ग जैसे महल से बाहर आई। उस समय महारथी अर्जुन को उसका हरण करने का अवसर प्राप्त हुआ। सुभद्रा के माता-पिता तथा कृष्ण ने इसकी स्वीकृति दे दी थी।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इस उत्सव को भगवान् विष्णु की वार्षिक रथ-यात्रा मानते हैं, जब भगवान् चातुर्मास्य की समाप्ति पर योगनिद्रा से उठते हैं। सुभद्रा के माता-पिता वसुदेव तथा देवकी हैं।

रथस्थो धनुरादाय शूरांश्चारुन्धतो भटान् ।
विद्राव्य क्रोशतां स्वानां स्वभागं मृगराडिव ॥ ॥

शब्दार्थ

रथ—रथ पर; स्थः—खड़े; धनुः—अपना धनुष; आदाय—लेकर; शूरान्—वीरों को; च—तथा; अरुन्धतः—उसे रोकने का प्रयत्न करते हुए; भटान्—तथा रक्षकों को; विद्राव्य—भगाकर; क्रोशताम्—क्रोध से चिल्लाते; स्वानाम्—उसके सम्बन्धियों के; स्व—अपना; भागम्—उचित अंश; मृग-राट्—पशुओं का राजा, सिंह; इव—सदृश।

अपने रथ पर खड़े होकर अर्जुन ने अपना धनुष धारण किया और उन बहादुर योद्धाओं तथा महल के रक्षकों को मार भगाया, जो उसका रास्ता रोकना चाह रहे थे। जब सुभद्रा के सम्बन्धी क्रोध से शोर मचाने लगे, तो उसने सुभद्रा को उसी तरह उठा लिया, जिस तरह सिंह छोटे-छोटे पशुओं के बीच से अपना शिकार ले जाता है।

तच्छ्रुत्वा क्षुभितो रामः पर्वणीव महार्णवः ।
गृहीतपादः कृष्णेन सुहृद्भिश्चानुसान्त्वितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तत्—यह; श्रुत्वा—सुनकर; क्षुभितः—विचलित; रामः—बलराम; पर्वणि—मास की सन्धि आने पर; इव—मानो; महा-अर्णवः—सागर; गृहीत—पकड़ने पर; पादः—पाँव; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; सुहृद्भिः—अपने पारिवारिक सदस्यों द्वारा; च—तथा; अनुसान्त्वितः—सावधानी से सान्त्वना दिये गये।

जब बलराम ने सुभद्रा के अपहरण के विषय में सुना, तो वे उसी तरह विचलित हो उठे, जिस तरह पूर्णिमा के अवसर पर सागर क्षुब्ध होता है। किन्तु भगवान् कृष्ण ने अपने परिवार के अन्य सदस्यों सहित आदरपूर्वक उनके पैर पकड़ लिये और सारा मामला समझाकर उन्हें शान्त किया।

प्राहिणोत्पारिबर्हाणि वरवध्वोर्मुदा बलः ।
महाधनोपस्करेभरथाश्वनरयोषितः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

प्राहिणोत्—भेजा; पारिबर्हाणि—दहेज के रूप में; वर-वध्वोः—दूल्हे तथा दुलहिन के लिए; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; बलः—बलराम ने; महा-धन—अत्यन्त मूल्यवान; उपस्कर—भेंटें; इभ—हाथी; रथ—रथ; अस्व—घोड़े; नर—पुरुष; योषितः—तथा स्त्रियाँ।

तब बलराम ने खुशी खुशी वर-वधू के पास अत्यन्त मूल्यवान दहेज की वस्तुएँ भेजीं, जिनमें हाथी, रथ, घोड़े तथा दास और दासियाँ सम्मिलित थे।

श्रीशुक उवाच
कृष्णस्यासीद् द्विजश्रेष्ठः श्रुतदेव इति श्रुतः ।
कृष्णैकभक्त्या पूर्णार्थः शान्तः कविरलम्पतः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव ने कहा; कृष्णस्य—भगवान् कृष्ण का; आसीत्—था; द्विज—ब्राह्मणों में; श्रेष्ठः—उत्तम; श्रुतदेवः—श्रुतदेव; इति—इस प्रकार; श्रुतः—प्रसिद्ध; कृष्ण—कृष्ण को; एक—एकमात्र; भक्त्या—भक्ति द्वारा; पूर्ण—पूर्ण; अर्थः—इच्छा के समस्त लक्ष्यों में; शान्तः—शान्त; कविः—विद्वान तथा विवेकशील; अलम्पटः—इन्द्रिय-तृप्ति के लिए अनिच्छुक।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : श्रुतदेव नामक कृष्ण का एक भक्त था, जो उच्च कोटि का ब्राह्मण था। भगवान् कृष्ण की अनन्य भक्ति करने से पूर्णतया तुष्ट होने के कारण, वह शान्त एवं विद्वान था तथा इन्द्रिय-तृप्ति से सर्वथा मुक्त था।

स उवास विदेहेषु मिथिलायां गृहाश्रमी ।
अनीहयागताहार्यनिर्वर्तितनिजक्रियः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; उवास—रहता था; विदेहेषु—विदेह के राज्य में; मिथिलायाम्—मिथिला नामक नगरी में; गृह-आश्रमी—गृहस्थ के रूप में; अनीहया—बिना प्रयास के; आगत—उसके पास आया; आहार्य—भोजन तथा अन्य उदर-पोषण के साधनों द्वारा; निर्वर्तित—पूरा करता था; निज—अपने; क्रियः—करणीय कार्य।

विदेह के राज्य में मिथिला नामक नगरी में धार्मिक गृहस्थ के रूप में रहते हुए, वह अपने कर्तव्यों को पूरा करता था और जो कुछ उसे आसानी से मिल जाता था, उसी से अपना निर्वाह करता था।

यात्रामात्रं त्वहरहर्दैवादुपनमत्युत ।

नाधिकं तावता तुष्टः क्रिया चक्रे यथोचिताः ॥ १५॥

शब्दार्थ

यात्रा-मात्रम्—मात्र उदर-भरण; तु—तथा; अहः अहः—दिन प्रतिदिन; दैवात्—अपने भाग्य से; उपनमति—उसको मिल जाता था; उत—निस्सन्देह; न अधिकम्—अधिक नहीं; तावता—उसी से; तुष्टः—सन्तुष्ट; क्रियाः—कर्तव्य; चक्रे—वह करता था; यथा—जैसा; उचिताः—उपयुक्त।

विधाता की इच्छा से उसे प्रतिदिन अपने उदर-भरण के लिए उतना मिल जाता, जितने की उसे आवश्यकता होती—उससे अधिक नहीं। इतने से ही तुष्ट हुआ, वह अपने धार्मिक कार्यों को उचित रीति से सम्पन्न करता था।

तात्पर्य : एक आदर्श वैष्णव ब्राह्मण को पारिवारिक जीवन के बन्धनों से बोझिल होते हुए भी अपने कर्तव्यों को पूरा करने के लिए उतना ही कठिन श्रम करना चाहिए, जितना कि आवश्यक हो। भौतिक उन्नति के लिए व्यर्थ ही क्षुब्ध हुए बिना उसे अपने समय तथा सम्पत्ति के सर्वश्रेष्ठ भाग को भगवान् की सेवा में उच्चतर कार्यों में लगाना चाहिए। यदि इस पतित युग की अनिवार्य परेशानियों के बावजूद कोई गृहस्थ इस कार्यक्रम में सफल होता है, तो वह भगवान् कृष्ण का निजी सान्निध्य प्राप्त करने की आशा कर सकता है, जैसाकि मिथिला के सिद्ध ब्राह्मण श्रुतदेव के प्रसंग में देखा जायेगा।

तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग बहुलाश्व इति श्रुतः ।
मैथिलो निरहम्मान उभावप्यच्युतप्रियौ ॥ १६॥

शब्दार्थ

तथा—भी (कृष्ण-भक्त); तत्—उस; राष्ट्र—राज्य का; पालः—शासक; अङ्ग—हे प्रिय (परीक्षित); बहुलाश्वः इति श्रुतः—बहुलाश्व नाम से विख्यात; मैथिलः—राजा मिथिल (जनक) के राजवंश के; निरहम्-मानः—मिथ्या अहंकार से रहित; उभौ—दोनों; अपि—निस्सन्देह; अच्युत-प्रियौ—भगवान् अच्युत को प्रिय।

हे परीक्षित, इसी तरह से उस राज्य का मिथिलवंशी शासक, जिसका नाम बहुलाश्व था, मिथ्या अहंकार से रहित था। ये दोनों ही भक्त भगवान् अच्युत को अत्यन्त प्रिय थे।

तयोः प्रसन्नो भगवान्दारुकेणाहृतं रथम् ।
आरुह्य साकं मुनिभिर्विदेहान्प्रययौ प्रभुः ॥ १७॥

शब्दार्थ

तयोः—उन दोनों से; प्रसन्नः—प्रसन्न; भगवान्—भगवान्; दारुकेण—दारुक द्वारा; आहृतम्—लाये गये; रथम्—अपने रथ पर; आरुह्य—चढ़ कर; साकम्—साथ; मुनिभिः—मुनियों के; विदेहान्—विदेह राज्य में; प्रययौ—गये; प्रभुः—स्वामी।

इन दोनों से प्रसन्न होकर, दारुक द्वारा लाये गये अपने रथ पर चढ़ कर, भगवान् ने मुनियों की टोली समेत विदेह की यात्रा की।

तात्पर्य : इस श्लोक की टीका करते हुए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि श्रुतदेव तथा बहुलाश्व दोनों ही कृष्ण का दर्शन करने के लिए द्वारका जाने में असमर्थ थे, क्योंकि दोनों ने अपने घर पर अपने निजी अर्चाविग्रह की नियमित पूजा करने का व्रत ले रखा था। श्रीकृष्ण इन दोनों को दर्शन देने के लिए अपने नियम का अपवाद करने में परम प्रसन्न थे और जब वे द्वारका से चलने लगे, तो उन्होंने मुनियों से कहा कि जो लोग उनके साथ चलना चाहें वे उनके रथ पर सवार हो सकते हैं, अन्यथा पैदल चलने से वे थक जायेंगे। विख्यात मुनि सामान्यतया ऐसे ऐश्वर्यशाली वाहन में यात्रा करने की बात को सोच भी नहीं सकते, किन्तु भगवान् का आदेश पाने पर उन्होंने अपनी स्वाभाविक अरुचि छोड़ दी और उनके साथ रथ पर हो लिए।

नारदो वामदेवोऽत्रिः कृष्णो रामोऽसितोऽरुणिः ।
अहं बृहस्पतिः कण्वो मैत्रेयश्च्यवनादयः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

नारदः वामदेवः अत्रिः—नारद, वामदेव तथा अत्रि मुनि; कृष्णः—कृष्णद्वैपायन व्यास; रामः—परशुराम; असितः अरुणिः—असित तथा अरुणि; अहम्—मैं (शुकदेव); बृहस्पतिः कण्वः—बृहस्पति तथा कण्व; मैत्रेयः—मैत्रेय; च्यवन—च्यवन; आदयः—इत्यादि।

इन मुनियों में नारद, वामदेव, अत्रि, कृष्णद्वैपायन व्यास, परशुराम, असित, अरुणि, स्वयं मैं, बृहस्पति, कण्व, मैत्रेय तथा च्यवन सम्मिलित थे।

तत्र तत्र तमायान्तं पौरा जानपदा नृप ।
उपतस्थुः सार्घ्यहस्ता ग्रहैः सूर्यमिवोदितम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—प्रत्येक स्थान में; तम्—उसको; आयान्तम्—आया हुआ; पौराः—नगर निवासी; जानपदाः—तथा ग्रामवासी; नृप—हे राजा (परीक्षित); उपतस्थुः—स्वागत करने आये; स—सहित; अर्घ्य—आदरसूचक जल की भेंट; हस्ताः—अपने हाथों में; ग्रहैः—ग्रहों से; सूर्यम्—सूर्य; इव—सदृश; उदितम्—उदित।

हे राजन्, भगवान् जिस जिस नगर तथा ग्राम से होकर गुजरे, वहाँ के निवासी अपने अपने हाथों में अर्घ्य की भेंट लेकर उनकी पूजा करने हेतु आगे आये, मानो वे ग्रहों से घिरे हुए सूर्य की पूजा करने आये हों।

तात्पर्य : यहाँ पर कृष्ण के साथ रथ पर यात्रा कर रहे मुनियों की उपमा सूर्य के चारों ओर के ग्रहों से दी गई है।

आनर्तधन्वकुरुजाङ्गलकङ्कमत्स्य-
पाञ्चालकुन्तिमधुकेकयकोशलार्णाः ।
अन्ये च तन्मुखसरोजमुदारहास-
स्निग्धेक्षणं नृप पपुर्दृशिभिर्नृनार्यः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

आनर्त—आनर्त (वह प्रदेश जिसमें द्वारका स्थित है) के लोग; धन्व—मरुथल (गुजरात या राजस्थान का); कुरु-जाङ्गल—कुरु जंगलों का प्रदेश (जिसमें थानेश्वर तथा कुरुक्षेत्र के जिले आते हैं); कङ्क—कंक; मत्स्य—मत्स्य (जयपुर तथा अलवर के राज्य); पाञ्चाल—गंगा नदी के दोनों किनारों वाले जिले; कुन्ति—मालव; मधु—मथुरा; केकय—उत्तर पूर्व पंजाब में, शतद्रु तथा विपाशा नदियों के बीच का प्रदेश; कोशल—भगवान् रामचन्द्र का प्राचीन राज्य जो काशी के उत्तरी छोर से हिमालय तक विस्तृत था; अर्णाः—तथा पूर्व में मिथिला से लगा राज्य; अन्ये—अन्य; च—भी; तत्—उसके; मुख—मुँह; सरोजम्—कमल को; उदार—उदार; हास—हँसी से युक्त; स्निग्ध—तथा स्नेहिल; ईक्षणम्—चितवन; नृप—हे राजा; पपुः—पिया; दृशिभिः—अपनी आँखों से; नृ-नार्यः—पुरुषों तथा स्त्रियों ने।

आनर्त, धन्व, कुरु-जांगल, कंक, मत्स्य, पाञ्चाल, कुन्ति, मधु, केकय, कोशल, अर्ण तथा अन्य कई राज्यों के पुरुषों तथा स्त्रियों ने भगवान् कृष्ण के कमल सदृश मुख की अमृतमयी सुन्दरता का अपने नेत्रों से पान किया, जो उदार हँसी तथा स्नेहिल चितवन से सुशोभित था।

तेभ्यः स्ववीक्षणविनष्टतमिस्रदृग्भ्यः
क्षेमं त्रिलोकगुरुरर्थदृशं च यच्छन् ।
शृण्वन्दिगन्तधवलं स्वयशोऽशुभघ्नं
गीतं सुरैर्नृभिरगाच्छनकैर्विदेहान् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—उनको; स्व—अपनी; वीक्षण—चितवन से; विनष्ट—नष्ट किया हुआ; तमिस्र—अँधेरा; दृग्भ्यः—जिसकी आँखों का; क्षेमम्—निर्भीकता; त्रि—तीनों; लोक—जगतों के; गुरुः—गुरु; अर्थ-दृशम्—आध्यात्मिक दृष्टि; च—तथा; यच्छन्—प्रदान करते हुए; शृण्वन्—सुनते हुए; दिक्—दिशाओं के; अन्त—छोर; धवलम्—शुद्ध करने वाले; स्व—अपना; यशः—यश; अशुभ—अशुभ; घ्नम्—विनष्ट करने वाले; गीतम्—गाये हुए; सुरैः—देवताओं द्वारा; नृभिः—तथा मनुष्यों द्वारा; अगात्—आये; शनकैः—धीरे धीरे; विदेहान्—विदेह के राज्य में।

तीनों लोकों के गुरु भगवान् कृष्ण ने उन सबों पर, जो उनको देखने आये थे, मात्र अपनी दृष्टि डालते हुए, उन्हें भौतिकतावाद के अंधकार से उबार लिया। इस तरह उन्हें निर्भीकता तथा दिव्य दृष्टि देते हुए भगवान् ने देवताओं तथा मनुष्यों को उन्हीं का यश गाते सुना, जो सारे ब्रह्माण्ड को शुद्ध करने वाला है और सारे दुर्भाग्य को विनष्ट करता है। धीरे धीरे वे विदेह पहुँच गये।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी यह तार्किक प्रश्न उठाते हैं कि रास्ते के किनारे खड़े सामान्य पुरुषों ने भला भगवान् को कैसे देखा होगा क्योंकि उनकी आँखें अज्ञान से आच्छादित तो थी हीं और भगवान्

का रथ हवा से बढ़कर तेज गति से जा रहा था? इसका उत्तर प्रस्तुत करते हुए श्रील जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि कृष्ण की विशेष कृपादृष्टि से उन्हें वह आध्यात्मिक पवित्रता मिल सकी, जो कृष्ण की संगति पाने के लिए आवश्यक होती है। अन्यथा, वे उनकी दृष्टि से ओझल रह जाते, जैसाकि उन्होंने उद्धव को दिये गये अपने उपदेशों में कहा है : *भक्त्याहमेकया ग्राह्यः*—मुझे केवल भक्ति से अनुभव किया जा सकता है (*भागवत* ११.१.२१)। समास बनाने की *एक-शेष* विधि के अनुसार *स्व-वीक्षण-विनष्ट-तमिस्र-दृग्भ्यः* यद्यपि मूल अर्थ में पुल्लिंग संज्ञा है, किन्तु इससे पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों का बोध हो सकता है।

तेऽच्युतं प्राप्तमाकर्ण्य पौरा जानपदा नृप ।
अभीयुर्मुदितास्तस्मै गृहीतार्हणपाणयः ॥ २२॥

शब्दार्थ

ते—वे; अच्युतम्—भगवान् कृष्ण को; प्राप्तम्—आया हुआ; आकर्ण्य—सुन कर; पौराः—नगरवासी; जानपदाः—तथा ग्रामवासी; नृप—हे राजा; अभीयुः—आगे आये; मुदिताः—प्रसन्न मुख; तस्मै—उसको; गृहीत—पकड़े हुए; अर्हण—उन्हें अर्पित करने के लिए भेंटें; पाणयः—अपने हाथों में।

हे राजा, यह सुनकर कि भगवान् अच्युत आ चुके हैं, विदेह के नगर तथा ग्रामनिवासी हर्षपूर्वक अपने अपने हाथों में भेंटें लेकर, उनका स्वागत करने आये।

दृष्ट्वा त उत्तमःश्लोकं प्रीत्युत्फुलाननाशयाः ।
कैर्धृताञ्जलिभिर्नेमुः श्रुतपूर्वांस्तथा मुनीन् ॥ २३॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देख कर; ते—वे; उत्तमः-श्लोकम्—उत्तम श्लोकों से प्रशंसित भगवान् कृष्ण को; प्रीति—प्रेमपूर्वक; उत्फुल्ल—प्रफुल्लित; आनन—उनके मुखड़े; आशयाः—तथा उनके हृदय; कैः—अपने सिरों पर; धृत—धारण किये; अञ्जलिभिः—अंजुलियों से; नेमुः—प्रणाम किया; श्रुत—सुना गया; पूर्वान्—पहले; तथा—भी; मुनीन्—मुनियों को।

ज्योंही लोगों ने उत्तमश्लोक भगवान् को देखा, उनके मुखड़े तथा हृदय स्नेह से प्रफुल्लित हो उठे। अपने सिरों के ऊपर अंजुली बाँध कर, उन्होंने भगवान् को तथा उनके साथ आये मुनियों को प्रणाम किया, जिनके विषय में उन्होंने पहले केवल सुन रखा था।

स्वानुग्रहाय सम्प्राप्तं मन्वानौ तं जगद्गुरुम् ।
मैथिलः श्रुतदेवश्च पादयोः पेततुः प्रभोः ॥ २॥

शब्दार्थ

स्त—अपने को; अनुग्रहाय—अनुग्रह करने के लिए; सम्प्राप्तम्—अब; मन्वानौ—दोनों सोचते हुए; तम्—उस; जगत्—ब्रह्माण्ड के; गुरुम्—गुरु को; मैथिलः—मिथिला का राजा; श्रुतदेवः—श्रुतदेव; च—तथा; पादयोः—चरणों पर; पेततुः—गिर पड़े; प्रभोः—प्रभु के।

मिथिला का राजा तथा श्रुतदेव दोनों ही प्रभु के चरणों पर गिर पड़े और उनमें से हर एक यही सोच रहा था कि ब्रह्माण्ड के गुरु उन पर अनुग्रह करने आये हैं।

न्यमन्त्रयेतां दाशार्हमातिथ्येन सह द्विजैः ।
मैथिलः श्रुतदेवश्च युगपत्संहताञ्जली ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

न्यमन्त्रयेताम्—दोनों ने निमंत्रित किया; दाशार्हम्—दशार्ह वंशज कृष्ण को; आतिथ्येन—अपना अतिथि बनने के लिए; सह—साथ; द्विजैः—ब्राह्मणों के; मैथिलः—बहुलाश्व; श्रुतदेवः—श्रुतदेव; च—तथा; युगपत्—एकसाथ; संहत—दृढ़ता से पकड़े हुए; अञ्जली—दोनों हथेलियाँ।

एक ही समय पर मैथिलराज तथा श्रुतदेव हाथ जोड़े हुए आगे आये और दशार्हों के स्वामी को ब्राह्मण मुनियों समेत अपने अतिथि बनने के लिए आमंत्रित किया।

भगवांस्तदभिप्रेत्य द्वयोः प्रियचिकीर्षया ।
उभयोराविशद्गेहमुभाभ्यां तदलक्षितः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् ने; तत्—इसे; अभिप्रेत्य—स्वीकार करके; द्वयोः—उन दोनों के; प्रिय—अच्छा लगने वाला; चिकीर्षया—करने की इच्छा से; उभयोः—दोनों के; आविशत्—प्रवेश किया; गेहम्—घरों में; उभाभ्याम्—दोनों; तत्—उस (दूसरे के घर में प्रवेश करने) में; अलक्षितः—अनदेखा।

दोनों ही को प्रसन्न करने की इच्छा से भगवान् ने दोनों का निमंत्रण स्वीकार कर लिया। इस तरह एक ही समय वे दोनों के घरों में गये और उनमें से कोई भी उन्हें दूसरे के घर में प्रवेश करते नहीं देख सका।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार कृष्ण एक ही समय दो रूपों में प्रकट होकर मुनियों के साथ श्रुतदेव तथा बहुलाश्व के यहाँ गये। इस तरह बहुलाश्व ने सोचा कि भगवान् कृष्ण केवल उसी के घर आये हैं और श्रुतदेव को निराश घर लौटा दिया है, जबकि श्रुतदेव ने इसके ठीक विपरीत सोचा। *श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद कहते हैं, "यद्यपि ब्राह्मण तथा राजा यह सोच रहे थे कि भगवान् केवल उसके ही घर पर उपस्थित हैं, किन्तु भगवान् तथा उनके संगी दोनों ही घरों में उपस्थित थे। यह भगवान् का एक अन्य ऐश्वर्य है। शास्त्रों में इस ऐश्वर्य का वर्णन *वैभव प्रकाश* के रूप में किया जाता है। इसी तरह जब भगवान् कृष्ण ने सोलह हजार रानियों से विवाह किया था तब उन्होंने सोलह हजार

रूपों में अपना विस्तार (प्रकाश) किया था और उनमें से प्रत्येक स्वयं उनके ही समान शक्तिशाली था। इसी तरह, जब ब्रह्मा ने वृन्दावन में कृष्ण की गौवें, बछड़े तथा ग्वालबालों को चुरा लिया था, तब श्रीकृष्ण ने अनेक नवीन गौवों, बछड़ों तथा ग्वालबालों के रूप में अपना विस्तार किया था।''

श्रान्तानप्यथ तान्दूराज्जनकः स्वगृहागतान् ।
आनीतेष्वासनाछ्येषु सुखासीनान्महामनाः ॥ २७॥
प्रवृद्धभक्त्या उद्धर्षहृदयास्राविलेक्षणः ।
नत्वा तदङ्घ्रीन्प्रक्षाल्य तदपो लोकपावनीः ॥ २८॥
सकुटुम्बो वहन्मूर्ध्ना पूजयां चक्र ईश्वरान् ।
गन्धमाल्याम्बराकल्पधूपदीपार्घ्यगोवृषैः ॥ २९॥

शब्दार्थ

श्रान्तान्—थके हुए; अपि—निस्सन्देह; अथ—तब; तान्—उन्हें; दूरात्—दूर से; जनकः—जनक का वंशज, राजा बहुलाश्व; स्व—अपने; गृह—घर; आगतान्—आये हुए; आनीतेषु—जो लाये गये; आसन—आसनों पर; अछ्येषु—उत्तम; सुख—सुखपूर्वक; आसीनान्—बैठे हुए; महा-मनाः—अत्यन्त बुद्धिमान; प्रवृद्ध—गहन; भक्त्या—भक्ति के साथ; उत्-धर्ष—आह्लादित; हृदय—हृदय वाले; अस्र—आँसुओं से; आविल—धूमिल; ईक्षणः—आँखों वाले; नत्वा—नमन करके; तत्—उनके; अङ्घ्रीन्—पाँवों को; प्रक्षाल्य—धोकर; तत्—उस; अपः—जल से; लोक—सारे जगत को; पावनीः—शुद्ध करने में समर्थ; स—सहित; कुटुम्बः—अपने परिवार; वहन्—लेकर; मूर्ध्ना—अपने सिर पर; पूजयाम् चक्रे—पूजा की; ईश्वरान्—ईश्वरों की; गन्ध—सुगन्धित (चन्दन के) लेप से; माल्य—फूल की मालाओं; अम्बर—वस्त्र; आकल्प—आभूषण; धूप—अगुरु; दीप—दीपक; अर्घ्य—अर्घ्य जल; गो—गौवों; वृषैः—तथा साँढड़ों से।

जब जनकवंशी बहुलाश्व ने दूर से भगवान् कृष्ण को मुनियों समेत, जो यात्रा से कुछ कुछ थके थे, अपने घर की ओर आते देखा, तो उसने तुरन्त उनके लिए सम्मानित आसन लाये जाने की व्यवस्था की। जब वे सब सुखपूर्वक बैठ गये, तो बुद्धिमान राजा ने, जिसका हृदय प्रसन्नता से आप्लावित हो रहा था और जिसके नेत्र अश्रुओं से धूमिल हो रहे थे, उन सबों को नमन किया और गहन भक्ति के साथ उनके चरण पखारे। फिर इस प्रक्षालन-जल को, जो सारे संसार को शुद्ध कर सकता था, उन्होंने अपने सिर पर तथा अपने परिवार के सदस्यों के सिरों पर छिड़का। तत्पश्चात् उसने सुगंधित चन्दन-लेप, फूल की मालाओं, सुन्दर वस्त्र तथा आभूषणों, अगुरु, दीपक, अर्घ्य तथा गौवों और साँड़ों की भेंट देते हुए, उन महानुभावों की पूजा की।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद टीका करते हैं, ''विदेहराज बहुलाश्व अत्यन्त बुद्धिमान तथा पूर्णतया भद्र पुरुष था। श्रीभगवान् सहित इतने महापुरुषों को अपने घर में प्रत्यक्ष उपस्थित देखकर वह चकित था। उसे भलीभाँति ज्ञात था कि बद्धात्माएँ, विशेष रूप से सांसारिक कार्यों में संलग्न व्यक्ति शत प्रतिशत

शुद्ध नहीं हो सकते, जबकि भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्त सांसारिक कल्मष से परे होते हैं। अतएव जब उसने देखा कि भगवान् कृष्ण तथा समस्त महान् ऋषिगण उसके घर पर हैं, तो वह चकित हुआ और वह भगवान् कृष्ण को उनकी इस अहैतुकी कृपा के लिए धन्यवाद देने लगा।''

इस श्लोक में *ईश्वर* शब्द न केवल भगवान् का अपितु उनके साथ आए महामुनियों का भी द्योतक है। आचार्य श्रीधर स्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती द्वारा इसकी पुष्टि की गई है।

वाचा मधुरया प्रीणन्निदमाहान्नतर्पितान् ।
पादावङ्कगतौ विष्णोः संस्पृशञ्छनकैर्मुदा ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

वाचा—वाणी से; मधुरया—मधुर, धीमी; प्रीणन्—प्रसन्न करने का प्रयास करते हुए; इदम्—यह; आह—कहा; अन्न—भोजन से; तर्पितान्—कृतकृत्य किये गये; पादौ—पाँवों को; अङ्क—अपनी गोद में; गतौ—स्थित; विष्णोः—भगवान् कृष्ण के; संस्पृशन्—दबाते हुए; शनकैः—धीरे धीरे; मुदा—सुखपूर्वक।

जब वे जी-भरकर भोजन कर चुके, तो उनको और प्रसन्न करने के लिए भगवान् विष्णु के चरणों को अपनी गोद में रखकर और उन्हें सुखपूर्वक दबाते हुए राजा धीरे धीरे तथा मृदुल वाणी में बोला।

श्रीबहुलाश्व उवाच
भवान्हि सर्वभूतानामात्मा साक्षी स्वदृग्विभो ।
अथ नस्त्वत्पदाम्भोजं स्मरतां दर्शनं गतः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-बहुलाश्वः उवाच—श्री बहुलाश्व ने कहा; भवान्—आप; हि—निस्सन्देह; सर्व—समस्त; भूतानाम्—जीवों के; आत्मा—परमात्मा; साक्षी—गवाह; स्व-दृक्—आत्म-प्रकाशित; विभो—हे सर्वशक्तिमान; अथ—इस प्रकार; नः—हमको; त्वत्—तुम्हारे; पद-अम्भोजम्—चरणकमलों को; स्मरताम्—स्मरण करने वालों को; दर्शनम् गतः—दिख रहे हैं।

श्री बहुलाश्व ने कहा : हे सर्वशक्तिमान प्रभु, आप समस्त जीवों के आत्मा एवं उनके स्व-प्रकाशित साक्षी हैं और अब आप हम सबों को, जो निरन्तर आपके चरणकमलों का ध्यान करते हैं, अपना दर्शन दे रहे हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बहुलाश्व के आन्तरिक भावों को इस प्रकार प्रकट करते हैं: बहुलाश्व भगवान् कृष्ण का यशोगान समस्त जीवों के प्रेरक आत्मा तथा चेतना के रूप में यह सोच कर करता है कि उस जैसे जड़ में भी उनकी कृपा से भक्ति जागृत हो सकी है। वह समस्त शुभ तथा अशुभ कार्यों के साक्षी रूप में भगवान् की प्रशंसा करता है और विश्वास करता है कि उसने जो भी किंचित

भक्ति की है, वह भगवान् को अवश्य ही स्मरण होगी। वह उन्हें स्व-प्रकाशित, किसी बाह्य साधन से कभी भी प्रकाशित या सूचित होने की आवश्यकता न रखने वाले तथा बहुलाश्व द्वारा उनका दर्शन पाने की चिर गुप्त अभिलाषा से अवगत बतलाता है।

स्ववचस्तदृतं कर्तुमस्मद्दृग्गोचरो भवान् ।
यदात्थैकान्तभक्तान्मे नानन्तः श्रीरजः प्रियः ॥ ३२॥

शब्दार्थ

स्व—अपना; वचः—कथन; तत्—उस; ऋतम्—सत्य; कर्तुम्—बनाने के लिए; अस्मत्—हमारी; दृक्—आँखों को; गोचरः—दिखने वाला; भवान्—आप; यत्—जो; आत्थ—कहा; एक-अन्त—एक ही उद्देश्य से; भक्तात्—भक्त की अपेक्षा; मे—मेरा; न—नहीं; अनन्तः—भगवान् अनन्त; श्रीः—श्री देवी; अजः—अजन्मा ब्रह्मा; प्रियः—प्रिय।

आपने कहा है, "मुझे अपने अनन्य भक्त की तुलना में न तो अनन्त, देवी श्री या न ही अजन्मा ब्रह्मा अधिक प्रिय हैं।" अपने ही शब्दों को सत्य सिद्ध करने के लिए, अब आपने हमारे नेत्रों के समक्ष अपने को प्रकट किया है।

को नु त्वच्चरणाम्भोजमेवंविद्विसृजेत्पुमान् ।
निष्किञ्चनानां शान्तानां मुनीनां यस्त्वमात्मदः ॥ ३३॥

शब्दार्थ

कः—कौन; नु—तनिक भी; त्वत्—तुम्हारे; चरण-अम्भोजम्—चरणकमलों को; एवम्—इस तरह; वित्—जानते हुए; विसृजेत्—त्याग देंगे; पुमान्—व्यक्ति को; निष्किञ्चनानाम्—निष्काम व्यक्तियों के लिए; शान्तानाम्—शान्त; मुनीनाम्—मुनियों के लिए; यः—जो; त्वम्—तुम; आत्म—स्वयं को; दः—देने वाले।

ऐसा कौन पुरुष है, जो इस सत्य को जानते हुए कभी आपके चरणकमलों का परित्याग करेगा, जब आप उन शान्त मुनियों को अपने आप तक को दे डालने के लिए उद्यत रहते हैं, जो किसी भी वस्तु को अपनी नहीं कहते?

योऽवतीर्य यदोर्वंशे नृणां संसरतामिह ।
यशो वितेने तच्छान्त्यै त्रैलोक्यवृजिनापहम् ॥ ३॥

शब्दार्थ

यः—जो; अवतीर्य—अवतरित होकर; यदोः—यदु के; वंशे—वंश में; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; संसरताम्—जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसे हुए; इह—इस संसार में; यशः—आपका यश; वितेने—प्रसार कर चुका है; तत्—उस (जगत) के; शान्त्यै—शमन के लिए; त्रै-लोक्य—तीनों लोकों के; वृजिन—पाप; अपहम्—दूर करने वाला।

आपने यदुवंश में प्रकट होकर तीनों लोकों के समस्त पापों को दूर कर सकने में समर्थ अपने यश का विस्तार, जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँसे हुओं का उद्धार करने के लिए ही किया है।

नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
नारायणाय ऋषये सुशान्तं तप ईयुषे ॥ ३५॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; तुभ्यम्—तुमको; भगवते—भगवान्; कृष्णाय—कृष्ण को; अकुण्ठ—विस्तृत; मेधसे—बुद्धि वाले; नारायणाय ऋषये—ऋषि नर-नारायण को; सु-शान्तम्—पूर्णतया शान्त; तपः—तपस्या में; ईयुषे—संलग्न।

हे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण, आपको नमस्कार है, जिनकी बुद्धि सदैव ही असीम है। ऋषि नर-नारायण को नमस्कार है, जो पूर्ण शान्ति में रह कर सदैव तपस्या करते रहते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका है कि राजा ने भगवान् कृष्ण की स्तुति इसलिए की, जिससे वे कुछ दिन उसके घर पर रह जायें। राजा ने सोचा, "चूँकि भगवान् के संसर्ग से भ्रान्ति तथा सन्देह दूर हो सकते हैं, अतः मेरे घर पर कृष्ण की उपस्थिति से मेरी बुद्धि सुदृढ़ होगी जिससे मैं भौतिक इच्छाओं के घात-प्रतिघात सह सकूँगा। नर-नारायण ऋषि के अपने अंशरूप में भगवान् भारतभूमि के मंगल हेतु सदैव बदरिकाश्रम में निवास करते हैं, अतएव वे कुछ दिनों तक मिथिला में रह कर इस भूमि के लिए भी सौभाग्य उत्पन्न कर सकेंगे। चूँकि कृष्ण का झुकाव शान्ति तथा सादगी के प्रति है, अतएव उन्हें द्वारका के अत्यधिक ऐश्वर्य की अपेक्षा मेरा सादा घर अवश्य पसन्द आयेगा।"

दिनानि कतिचिद्भूमन्गृहान्नो निवस द्विजैः ।
समेतः पादरजसा पुनीहीदं निमेः कुलम् ॥ ३६॥

शब्दार्थ

दिनानि—दिन; कतिचित्—कुछ; भूमन्—हे सर्वव्यापी; गृहान्—घर में; नः—हमारे; निवस—कृपया निवास करें; द्विजैः—ब्राह्मणों द्वारा; समेतः—सम्मिलित; पाद—अपने चरणों की; रजसा—धूल से; पुनीहि—पवित्र करें; इदम्—इस; निमेः—राजा निमि के; कुलम्—वंश को।

हे सर्वव्यापी, कृपया इन ब्राह्मणों समेत मेरे घर में कुछ दिन ठहरें और अपने चरणों की धूलि से इस निमिवंश को पवित्र बनायें।

इत्युपामन्त्रितो राज्ञा भगवाँल्लोकभावनः ।
उवास कुर्वन्कल्याणं मिथिलानरयोषिताम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उपामन्त्रितः—आमंत्रित; रज्ञा—राजा द्वारा; भगवान्—भगवान् ने; लोक—पूरे संसार के; भावनः—पालनकर्ता; उवास—निवास किया; कुर्वन्—उत्पन्न करते हुए; कल्याणम्—सौभाग्य; मिथिला—मिथिला नगरी के; नर—मनुष्यों; योषिताम्—तथा स्त्रियों के।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा]: राजा द्वारा इस तरह आमंत्रित किये जाने पर जगत के पालनकर्ता भगवान् ने मिथिला के नर-नारियों को सौभाग्य प्रदान करने हेतु कुछ समय तक ठहरने की सहमति दे दी।

श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं स्वगृहाञ्जनको यथा ।
नत्वा मुनीन्सुसंहृष्टो धुन्वन्वासो ननर्त ह ॥ ३८॥

शब्दार्थ

श्रुतदेवः—श्रुतदेव; अच्युतम्—भगवान् कृष्ण को; प्राप्तम्—पाया हुआ; स्व-गृहान्—अपने घर में; जनकः—बहुलाश्व ने; यथा—जिस तरह; नत्वा—नमस्कार करके; मुनीन्—मुनियों को; सु—अत्यधिक; संहृष्टः—प्रसन्न; धुन्वन्—हिलाते हुए; वासः—अपना वस्त्र; ननर्त ह—नाचने लगा।

श्रुतदेव ने अपने घर में भगवान् अच्युत का उतने ही उत्साह के साथ स्वागत किया, जैसा कि राजा बहुलाश्व ने प्रदर्शित किया था। भगवान् तथा मुनियों को नमस्कार करके श्रुतदेव अपना दुशाला हिला-हिला कर परम हर्ष से नाचने लगा।

तृणपीठबृषीष्वेतानानीतेषूपवेश्य सः ।
स्वागतेनाभिनन्द्याङ्घ्रीन्सभार्योऽवनिजे मुदा ॥ ३९॥

शब्दार्थ

तृण—घास के; पीठ—आसनों पर; बृषीषु—तथा दर्भ की बनी चटाइयों पर; एतान्—उन्हें; आनीतेषु—लाये गये; उपवेश्य—बैठाकर; सः—वह; स्व-आगतेन—स्वागत के शब्दों से; अभिनन्द्य—अभिनन्दन करके; अङ्घ्रीन्—चरणों को; स-भार्यः—अपनी पत्नी सहित; अवनिजे—धोया; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक।

घास तथा दर्भ तृण से बनी चटाइयाँ लाकर तथा अपने अतिथियों को उन पर बैठाकर, उसने स्वागत के शब्दों द्वारा उनका सत्कार किया। तब उसने तथा उसकी पत्नी ने बड़ी ही प्रसन्नता के साथ उनके चरण पखारे।

तात्पर्य : इस सामान्य स्वागत के लिए भी श्रुतदेव को अपने पड़ोस में जाकर अतिरिक्त चटाइयाँ उधार लानी पड़ीं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने यह भीतरी बात बतलाई है।

तदम्भसा महाभाग आत्मानं सगृहान्वयम् ।
स्नापयां चक्र उद्धर्षो लब्धसर्वमनोरथः ॥ ०॥

शब्दार्थ

तत्—उस; अम्भसा—जल से; महा-भागः—अत्यन्त पवित्र; आत्मानम्—स्वयं को; स—सहित; गृह—अपने घर; अन्वयम्—तथा अपने परिवार; स्नापयाम् चक्रे—स्नान किया; उद्धर्षः—अत्यधिक हर्षित; लब्ध—प्राप्त की हुई; सर्व—समस्त; मनः-रथः—इच्छाएँ।

उस चरणोदक को महाभाग श्रुतदेव ने अपने, अपने घर तथा अपने परिवार वालों पर जी भर कर छिड़का। अति हर्षित होकर उसने अनुभव किया कि अब उसकी सारी इच्छाएँ पूरी हो गई हैं।

फलार्हणोशीरशिवामृताम्बुभि-
मृदा सुरभ्या तुलसीकुशाम्बुयैः ।
आराधयामास यथोपपन्नया
सपर्यया सत्त्वविवर्धनान्धसा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

फल—फलों की; अर्हण—भेंट से; उशीर—खस से; शिव—शुद्ध; अमृत—अमृत जैसे मीठे; अम्बुभिः—तथा जल से; मृदा—मिट्टी; सुरभ्या—सुगंधित; तुलसी—तुलसी दलों; कुश—कुश घास; अम्बुजैः—तथा कमल के फूलों से; आराधयाम् आस—उसने उनकी पूजा की; यथा—जिस तरह; उपपन्नया—प्राप्त किया जा सके; सपर्यया—पूजा सामग्री सहित; सत्त्व—सतोगुण; विवर्धन—वृद्धि; अन्धसा—भोजन से।

उसने सहज उपलब्ध होने वाली शुभ सामग्री यथा फल, उशीर, शुद्ध अमृत तुल्य जल, सुगंधित मिट्टी, तुलसी दल, कुश तृण तथा कमल के फूल अर्पित करते हुए उनकी पूजा की। तब उसने उन्हें वह भोजन परोसा, जो सतोगुण को बढ़ाता है।

स तर्कयामास कुतो ममान्वभूत्
गृहान्धकूपे पतितस्य सङ्गमः ।
यः सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिः
कृष्णेन चास्यात्मनिकेतभूसुरैः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; तर्कयाम् आस—समझने की कोशिश की; कुतः—किस कारण से; मम—मेरे; अनु—निस्सन्देह; अभूत्—हुआ है; गृह—घर रूपी; अन्ध—अंधे; कूपे—कुएँ में; पतितस्य—गिरे हुए; सङ्गमः—संगति; यः—जो; सर्व—सभी; तीर्थ—तीर्थस्थानों के; आस्पद—शरण स्वरूप; पाद—जिसके पाँवों की; रेणुभिः—धूलि से; कृष्णेन—कृष्ण से; च—भी; अस्य—इसके; आत्म—स्वयं का; निकेत—घर स्वरूप; भू-सुरैः—ब्राह्मणों से।

वह आश्चर्य करने लगा कि गृहस्थ जीवन के अंध कूप में गिरा हुआ, मैं भगवान् कृष्ण से भेंट करने में कैसे समर्थ हो सका? और मुझे कैसे इन महान् ब्राह्मणों से मिलने दिया गया, जो अपने हृदयों में सदैव भगवान् को धारण किये रहते हैं? निस्सन्देह उनके चरणों की धूलि समस्त तीर्थस्थानों के आश्रय रूप है।

सूपविष्टान्कृतातिथ्यान्श्रुतदेव उपस्थितः ।
सभार्यस्वजनापत्य उवाचाङ्‌घ्र्यभिमर्शनः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सु-उपविष्टान्—सुखपूर्वक बैठे हुए; कृत—की गई; आतिथ्यान्—मेहमानगिरी, सत्कार; श्रुतदेवः—श्रुतदेव; उपस्थितः—उनके पास बैठा हुआ; स-भार्य—अपनी पत्नी के साथ; स्व-जन—सम्बन्धीजन; अपत्यः—तथा सन्तानें; उवाच—बोला; अङ्घ्रि—(भगवान् कृष्ण के) पाँव; अभिमर्शनः—दबाते हुए।

जब उसके अतिथि समुचित सम्मान प्राप्त करके सुखपूर्वक बैठ गये, तो श्रुतदेव उनके निकट गया और अपनी पत्नी, बच्चों तथा अन्य आश्रितों समेत उनके समीप बैठ गया। तत्पश्चात् भगवान् के चरणों को दबाते हुए, उसने कृष्ण तथा मुनियों को सम्बोधित किया।

श्रुतदेव उवाच
नाद्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपूरुषः ।
यर्हीदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टो ह्यात्मसत्तया ॥ ॥

शब्दार्थ

श्रुतदेवः उवाच—श्रुतदेव ने कहा; न—नहीं; अद्य—आज; नः—हमारे द्वारा; दर्शनम्—दर्शन; प्राप्तः—प्राप्त किया हुआ; परम्—एकमात्र; परम—सर्वोच्च; पूरुषः—पुरुष; यर्हि—जब; इदम्—यह (ब्रह्माण्ड); शक्तिभिः—अपनी शक्तियों सहित; सृष्ट्वा—उत्पन्न करके; प्रविष्टः—प्रविष्ट; हि—निस्सन्देह; आत्म—अपनी; सत्तया—सत्ता से।

श्रुतदेव ने कहा : ऐसा नहीं है कि हमने केवल आज ही परम पुरुष का दर्शन किया है, क्योंकि जब से उन्होंने अपनी शक्तियों से इस ब्रह्माण्ड की रचना की है और अपने दिव्य रूप से उसमें प्रविष्ट हुए हैं, तब से हम उनका सान्निध्य प्राप्त करते रहे हैं।

यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया ।
सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नमनुविश्यावभासते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; शयानः—सोते हुए; पुरुषः—व्यक्ति; मनसा—मस्तिष्क से; एव—केवल; आत्म—अपना; मायया—कल्पना से; सृष्ट्वा—सृजन करके; लोकम्—जगत; परम्—पृथक्; स्वाप्नम्—स्वप्न; अनुविश्य—प्रवेश करके; अवभासते—प्रकट होता है।

भगवान् उस सोये हुए व्यक्ति की तरह हैं, जो अपनी कल्पना में पृथक् जगत का निर्माण करता है और तब अपने ही स्वप्न में प्रवेश करता है तथा उसके भीतर अपने को देखता है।

तात्पर्य : सोया हुआ व्यक्ति अपने स्वप्न के मोह में एक काल्पनिक जगत की सृष्टि करता है, जिसमें उसकी कल्पनाओं से जनित तमाम बसे हुए शहर होते है। कुछ इसी तरह से भगवान् विराट

ब्रह्माण्ड को प्रकट करते हैं। निस्सन्देह, भगवान् के लिए यह सृष्टि मायामयी (भ्रामक) नहीं है, किन्तु उनके लिए है, जो उनकी मायाशक्ति के अधीन होते हैं। भगवान् की सेवा के रूप में माया बद्धजीवों को अपने असार नश्वर स्वरूप को असली मानने को भ्रमित करती है।

शृण्वतां गदतां शश्वदर्चतां त्वाभिवन्दताम् ।
णृणां संवदतामन्तर्हृदि भास्यमलात्मनाम् ॥ ६॥

शब्दार्थ

शृण्वताम्—सुनने वालों के लिए; गदताम्—बोलते हुए; शश्वत्—निरन्तर; अर्चताम्—पूजा करते हुए; त्वा—तुम; अभिवन्दताम्—प्रशंसा करते हुए; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; संवदताम्—बातें करते हुए; अन्तः—भीतर; हृदि—हृदय में; भासि—तुम प्रकट होते हो; अमल—निर्मल; आत्मनाम्—मन वालों के लिए।

आप उन शुद्ध चेतना वाले मनुष्यों के हृदयों के भीतर अपने को प्रकट करते हैं, जो निरन्तर आपके विषय में सुनते हैं, आपका कीर्तन करते हैं, आपकी पूजा करते हैं, आपका गुणगान करते हैं और आपके ही विषय में एक-दूसरे से चर्चायें करते हैं।

हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः कर्मविक्षिप्तचेतसाम् ।
आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यन्त्युपेतगुणात्मनाम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

हृदि—हृदय में; स्थः—स्थित; अपि—यद्यपि; अति—अत्यन्त; दूर-स्थः—बहुत दूर; कर्म—भौतिक कार्यों द्वारा; विक्षिप्त—विचलित; चेतसाम्—मन वालों के लिए; आत्म—अपनी; शक्तिभिः—शक्तियों से; अग्राह्यः—ग्रहण न किया जा सकने वाला; अपि—यद्यपि; अन्ति—निकट; उपेत—अनुभूति किया हुआ; गुण—आपके गुण; आत्मनाम्—हृदय वालों द्वारा।

किन्तु हृदय के भीतर वास करते हुए भी आप उनसे बहुत दूर रहते हैं, जिनके मन भौतिक कार्यों में उलझने से विचलित रहते हैं। दरअसल कोई भी आपको भौतिक शक्तियों द्वारा पकड़ नहीं सकता, क्योंकि आप केवल उन लोगों के हृदयों में प्रकट होते हैं, जिन्होंने आपके दिव्य गुणों की प्रशंसा करनी सीख ली है।

तात्पर्य : सर्व-दयालु भगवान् जन-जन के हृदय में हैं। किन्तु उन्हें हृदयों में देख पाना तभी सम्भव है, जब किसी का हृदय पूर्णतया शुद्ध हो। भौतिकतावादी यह माँग पेश कर सकते हैं कि उनकी अनुभवसिद्ध खोजों के फलस्वरूप ईश्वर उनके समक्ष दिखकर अपने अस्तित्व को सिद्ध करे, किन्तु ईश्वर को ऐसी धृष्टता का उत्तर देने की आवश्यकता नहीं है। जैसाकि भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.२५) में कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

''मैं कभी भी मूर्ख तथा अज्ञानी के समक्ष प्रकट नहीं होता। उनके लिए मैं अपनी अन्तरंगा शक्ति से ढका रहता हूँ, इसलिए वे यह नहीं जान पाते कि मैं अजन्मा तथा अव्यय हूँ।''

नमोऽस्तु तेऽध्यात्मविदां परात्मने
अनात्मने स्वात्मविभक्तमृत्यवे ।
सकारणाकारणलिङ्गमीयुषे
स्वमाययासंवृतरुद्धदृष्टये ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; अस्तु—हो; ते—तुमको; अध्यात्म—परम सत्य; विदाम्—जानने वालों के लिए; पर-आत्मने—परमात्मा को; अनात्मने—बद्ध जीवात्मा को; स्व-आत्म—(काल रूप में) आपसे; विभक्त—देने वाला; मृत्यवे—मृत्यु को; स-कारण—कारणयुक्त; अकारण—कारणरहित; लिङ्गम्—स्वरूप (ब्रह्माण्ड तथा आपके आदि स्वरूप); ईयुषे—धारण करने वाले; स्व-मायया—अपनी योगशक्ति से; असंवृत—खुला; रुद्ध—तथा रुकी; दृष्टये—दृष्टि।

मैं आपको नमस्कार करता हूँ। परम सत्य को जानने वालों द्वारा आप परमात्मा के रूप में अनुभव किये जाते हैं, जबकि काल रूप में आप विस्मरणशील जीवों के लिए मृत्यु स्वरूप हैं। आप अपने अहैतुक आध्यात्मिक रूप में तथा इस ब्रह्माण्ड के सृजित रूप में प्रकट होते हैं। इस तरह आप एक ही समय अपने भक्तों की आँखें खोलते हैं और अभक्तों की दृष्टि को बाधित करते हैं।

तात्पर्य : जब भगवान् अपने नित्य आध्यात्मिक रूप में अपने भक्तों के समक्ष प्रकट होते हैं, तो उनकी आँखें ''खुल'' जाती हैं—अर्थात् उनका सारा भ्रम जाता रहता है और वे परम सत्य भगवान् के सुन्दर दृश्य का पान करते हैं। दूसरी ओर, अभक्तों के लिए भगवान् भौतिक प्रकृति अर्थात् अपने विराट रूप में ''प्रकट'' होते हैं और इस तरह वे उनकी दृष्टि पर पर्दा डाल देते हैं, जिससे उनका आध्यात्मिक साकार रूप उनसे ओझल हो जाता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक की अन्य व्याख्या दी है, जो *अनात्मा* शब्द के रूप *अनात्मने* शब्द के वैकल्पिक अर्थ पर आधारित है। ''विभिन्न श्रेणियों के लोग परम सत्य को विभिन्न प्रकारों से जानते हैं। शान्त रस में स्थित भक्तगण ब्रह्म का ध्यान दैवी साकार रूप (*आत्मा* या *श्रीविग्रह*) में करते हैं, जो भौतिक मोह के सारे पक्षों को लाँघ जाता है। निर्विशेषवादी ज्ञानीजन उन्हें निराकार (*अनात्मा*)

रूप में मानते हैं और ईर्ष्यालु असुर उन्हें मृत्यु रूप में देखते हैं।''

स त्वं शाधि स्वभृत्यान्नः किं देव करवाम हे ।
एतदन्तो नृणां क्लेशो यद्भवानक्षिगोचरः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; त्वम्—तुम; शाधि—आज्ञा दें; स्व—अपने; भृत्यान्—दासों को; नः—हम; किम्—क्या; देव—हे प्रभु; करवाम—हमें करना चाहिए; हे—ओह; एतत्—यह; अन्तः—इसके अन्त के रूप में; नृणाम्—मनुष्यों के; क्लेशः—क्लेश; यत्—जो; भवान्—आपकी; अक्षि—आँखों को; गो-चरः—दृश्य।

हे प्रभु, आप ही वह परमात्मा हैं और हम आपके दास हैं। हम आपकी किस तरह सेवा करें? हे प्रभु, आपके दर्शन मात्र से मनुष्य-जीवन के सारे क्लेशों का अन्त हो जाता है।

श्रीशुक उवाच
तदुक्तमित्युपाकर्ण्य भगवान्प्रणतार्तिहा ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रहसंस्तमुवाच ह ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; तत्—उस (श्रुतदेव) के द्वारा; उक्तम्—कहा गया; इति—इस प्रकार; उपाकर्ण्य—सुन कर; भगवान्—भगवान्; प्रणत—शरणागत के; आर्ति—कष्ट का; हा—विनाश करने वाला; गृहीत्वा—पकड़ कर; पाणिना—अपने हाथ से; पाणिम्—उसका हाथ; प्रहसन्—खिलखिलाकर हँसते हुए; तम्—उससे; उवाच ह—कहा।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : श्रुतदेव को ये शब्द कहते सुन कर, शरणागतों के कष्ट को दूर करने वाले भगवान् ने श्रुतदेव के हाथ को अपने हाथ में ले लिया और हँसते हुए, उससे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : आचार्य विश्वनाथ की टीका है कि भगवान् मैत्री के संकेत रूप में श्रुतदेव का हाथ पकड़ कर इसलिए हँसे, क्योंकि वे उसे बतलाना चाहते थे कि ''ठीक, तुम मेरे विषय में सही सही जानते हो और मैं भी तुम्हारे विषय में सबकुछ जानता हूँ। अतएव अब मैं तुमसे कुछ विशेष बात कहूँगा।''

श्रीभगवानुवाच
ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थाय सम्प्राप्तान्विद्ध्यमून्मुनीन् ।
सञ्चरन्ति मया लोकान्पुनन्तः पादरेणुभिः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; ते—तुम्हारा; अनुग्रह—आशीर्वाद देने के; अर्थाय—हेतु; सम्प्राप्तान्—आये हुए; विद्धि—जानो; अमून्—इन; मुनीन्—मुनियों को; सञ्चरन्ति—भ्रमण करते हैं; मया—मेरे साथ साथ; लोकान्—सारे जगतों को; पुनन्तः—शुद्ध करते हुए; पाद—अपने पैरों की; रेणुभिः—धूल से।

भगवान् ने कहा : हे ब्राह्मण, तुम यह जान लो कि ये महान् ऋषिगण यहाँ तुम्हें आशीर्वाद

देने ही आये हैं। ये मेरे साथ साथ सारे जगतों में भ्रमण करते हैं और अपने चरणों की धूल से, उन्हें पवित्र करते हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि भगवान् कृष्ण ने सोचा कि श्रुतदेव ने मेरा तो बहुत आदर किया, किन्तु इन मुनियों का उतना आदर नहीं किया, इसलिए उन्होंने ब्राह्मण का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया।

देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः ।
शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

देवाः—**मन्दिर के अर्चाविग्रह**; क्षेत्राणि—**तीर्थस्थल**; तीर्थानि—**तथा पवित्र नदियाँ**; दर्शन—**दर्शन करने से**; स्पर्शन—**स्पर्श से**; अर्चनैः—**तथा पूजा करने से**; शनैः—**धीरे धीरे**; पुनन्ति—**पवित्र करते हैं**; कालेन—**समय से**; तत् अपि—**वे ही**; अर्हत्-तम—**सर्वाधिक पूज्यों (ब्राह्मणों) की**; ईक्षया—**चितवन से**।

मनुष्य मन्दिर के अर्चाविग्रहों, तीर्थस्थलों तथा पवित्र नदियों के दर्शन, स्पर्श तथा पूजन से धीरे धीरे शुद्ध बन सकता है। किन्तु महान् मुनियों की कृपादृष्टि प्राप्त करने मात्र से, उसे तत्काल वही फल प्राप्त हो सकता है।

तात्पर्य : उच्च कोटि के वैष्णव ब्राह्मण एकान्तवास करने तथा अपनी सिद्धि में ही एकाग्र रहने की अपेक्षा भगवान् की भक्ति का आशीर्वाद बाँटने में अपना जीवन अर्पित कर देते हैं। राजा प्राचीनबर्हि के पुत्रों के शब्दों में—

तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया।
भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः॥

"हे प्रभु! आपके निजी संगी अर्थात् आपके भक्त सारे विश्व में पावन तीर्थस्थानों तक को पवित्र करने के लिए भ्रमण करते रहते हैं। क्या जो लोग भवसागर से भयभीत हैं उन्हें ऐसा कार्य रुचिकर नहीं है? (*भागवत* .३०.३७) तथा प्रह्लाद महाराज कहते हैं—

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणम् भ्रमतोऽनुपश्ये॥

"हे नृसिंह देव! मैं देखता हूँ कि दरअसल सन्त-पुरुष तो अनेक हैं, किन्तु वे अपने ही मोक्ष में रुचि रखते हैं। वे बड़े बड़े नगरों की परवाह न करके हिमालय या किसी जंगल में मौन व्रत के साथ ध्यान करने के लिए जाते हैं। वे अन्यों का उद्धार करने में तनिक भी रुचि नहीं रखते। किन्तु, जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं इन बेचारे मूर्खों तथा मूढ़ों को छोड़ कर अकेले मोक्ष नहीं चाहता। मैं जानता हूँ कि कृष्ण-भावना के बिना, आपके चरणकमलों की शरण लिए बिना कोई सुखी नहीं रह सकता। अतएव मैं उन सबों को आपके चरणकमलों की शरण में वापस लाना चाहता हूँ।" (*भागवत* ७.९.)

ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान्सर्वेषाम्प्राणिनामिह ।
तपसा विद्यया तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः—ब्राह्मण; जन्मना—जन्म से; श्रेयान्—सर्वोत्तम; सर्वेषाम्—सभी; प्राणिनाम्—जीवों में; इह—इस जगत में; तपसा—अपनी तपस्या से; विद्यया—अपनी विद्या से; तुष्ट्या—तथा अपने संतोष से; किम् उ—तब और क्या; मत्—मुझ पर; कलया—प्रेमपूर्ण ध्यान से; युतः—युक्त।

ब्राह्मण अपने जन्म से ही इस जगत में समस्त जीवों में श्रेष्ठ है, किन्तु वह तब और भी उच्चस्थ बन जाता है, जब वह तपस्या, विद्या तथा आत्म-संतोष से युक्त होता है। यदि मेरे प्रति उसकी भक्ति हो, तो फिर कहना ही क्या है।

न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम् ।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ब्राह्मणात्—ब्राह्मण की अपेक्षा; मे—मुझको; दयितम्—अधिक प्रिय; रूपम्—स्वरूप; एतत्—यह; चतुः-भुजम्—चार भुजाओं वाला; सर्व—समस्त; वेद—वेदों से; मयः—युक्त; विप्रः—विद्वान ब्राह्मण; सर्व—समस्त; देव—देवताओं से; मयः—युक्त; हि—निस्सन्देह; अहम्—मैं।

यहाँ तक कि मुझे *ब्राह्मणों* की तुलना में अपना चतुर्भुजी रूप अधिक प्रिय नहीं है। एक विद्वान *ब्राह्मण* में सारे *वेद* उसी तरह रहते हैं, जिस तरह मेरे भीतर सारे देवता रहते हैं।

तात्पर्य : *न्यायशास्त्र* से पता चलता है कि किसी वस्तु का ज्ञान (*प्रमेय*) उसे जानने के वैध साधनों (*प्रमाण*) पर निर्भर करता है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को केवल वेदों के द्वारा जाना जा सकता है, इसलिए भगवान् को स्वयं को प्रकट करने के लिए उन ब्राह्मण मुनियों पर निर्भर रहना होता है, जो साक्षात् वेदस्वरूप हैं। यद्यपि भगवान् कृष्ण समस्त देवताओं तथा नारायण के विष्णु-तत्त्व अंशों से

समन्वित हैं, तो भी वे अपने को ब्राह्मणों का कृतज्ञ मानते हैं।

दुष्प्रज्ञा अविदित्वैवमवजानन्त्यसूयवः ।
गुरुं मां विप्रमात्मानमर्चादाविज्यदृष्टयः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

दुष्प्रज्ञाः—विकृत बुद्धि वाले; अविदित्वा—न समझ कर; एवम्—इस प्रकार; अवजानन्ति—उपेक्षा करते हैं; असूयवः—तथा ईर्ष्यापूर्ण व्यवहार करते हैं; गुरुम्—अपने गुरु के प्रति; माम्—तथा मुझको; विप्रम्—विद्वान ब्राह्मण को; आत्मानम्—अपने आपको; अर्चा-आदऊ—भगवान् के अर्चाविग्रह में; इज्य—पूज्य के रूप में; दृष्टयः—जिनकी दृष्टि।

इस सत्य से अनजान मूर्ख लोग उस विद्वान ब्राह्मण की उपेक्षा करते हैं और ईर्ष्यावश अपमान करते हैं, जो मुझसे अभिन्न होने के कारण, उनका आत्मा तथा गुरु होता है। वे मेरे अर्चाविग्रह स्वरूप जैसे स्पष्ट दैवी प्राकटयों को ही, एकमात्र पूज्य स्वरूप मानते हैं।

चराचरमिदं विश्वं भावा ये चास्य हेतवः ।
मद्रूपाणीति चेतस्याधत्ते विप्रो मदीक्षया ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

चर—चेतन; अचरम्—तथा जड़; इदम्—इस; विश्वम्—जगत को; भावाः—तात्विक कोटियाँ; ये—जो; च—तथा; अस्य—इसका; हेतवः—स्रोत; मत्—मेरे; रूपाणि—स्वरूप; इति—ऐसा विचार; चेतसि—मन के भीतर; आधत्ते—रखता है; विप्रः—ब्राह्मण; मत्—मेरा; ईक्षया—अपनी अनुभूति द्वारा।

मेरा साक्षात्कार प्राप्त किये होने से, ब्राह्मण इस ज्ञान में सुस्थिर रहता है कि इस ब्रह्माण्ड की सारी जड़ तथा चेतन वस्तुएँ एवं इसकी सृष्टि के मूल तत्त्व भी, मुझसे ही विस्तारित हुए प्रकट-रूप हैं।

तस्माद्ब्रह्मऋषीनेतान्ब्रह्मन्मच्छ्रद्धयार्चय ।
एवं चेदर्चितोऽस्म्यद्धा नान्यथा भूरिभूतिभिः ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; ब्रह्म-ऋषीन्—ब्रह्मर्षियों को; एतान्—इन; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण (श्रुतदेव); मत्—(जैसाकि तुम रखते हो) मेरे लिए; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; अर्चय—पूजा करो; एवम्—इस प्रकार; चेत्—यदि (तुम करोगे); अर्चितः—पूजित; अस्मि—होऊँगा; अद्धा—प्रत्यक्ष; न—नहीं; अन्यथा—अन्यथा; भूरि—विस्तृत; भूतिभिः—धन से।

अतः हे ब्राह्मण, तुम्हें चाहिए कि इन ब्रह्मर्षियों की पूजा उसी श्रद्धा से करो, जो तुम्हें मुझमें है। यदि तुम ऐसा करते हो, तो तुम मेरी प्रत्यक्ष पूजा करोगे, जिसे तुम प्रचुर धन अर्पित करके करके भी नहीं कर सकते।

श्रीशुक उवाच

स इत्थं प्रभुनादिष्टः सहकृष्णान् द्विजोत्तमान् ।
आराध्यैकात्मभावेन मैथिलश्चाप सद्गतिम् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह (श्रुतदेव); इत्थम्—इस प्रकार से; प्रभुना—अपने स्वामी द्वारा; आदिष्टः—आदेश दिया जाकर; सह—साथ में; कृष्णान्—भगवान् कृष्ण को; द्विज—ब्राह्मणों को; उत्तमान्—श्रेष्ठ; आराध्य—पूजा द्वारा; एक-आत्म—एकान्त मन से; भावेन—भक्ति से; मैथिलः—मिथिला का राजा; च—भी; आप—प्राप्त किया; सत्—दिव्य; गतिम्—चरम गन्तव्य।

श्रीशुकदेव ने कहा : अपने प्रभु से इस तरह आदेश पाकर श्रुतदेव ने एकात्म भाव से श्रीकृष्ण की तथा उनके साथ आये सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणों की पूजा की। राजा बहुलाश्व ने भी ऐसा ही किया। इस तरह श्रुतदेव तथा राजा दोनों ही को चरम दिव्य गन्तव्य प्राप्त हुआ।

एवं स्वभक्तयो राजन्भगवान्भक्तभक्तिमान् ।
उषित्वादिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; स्व—अपने; भक्तयोः—दो भक्तों से; राजन्—हे राजा (परीक्षित); भगवान्—भगवान्; भक्त—अपने भक्तों के प्रति; भक्ति-मन्—भक्ति में लगा; उषित्वा—ठहर कर; आदिश्य—शिक्षा देकर; सत्—शुद्ध सन्तों के; मार्गम्—पथ पर; पुनः—फिर; द्वारवतीम्—द्वारका; अगात्—चले गए।

हे राजन्, इस तरह अपने भक्तों के प्रति अनुरक्त भगवान् अपने दो महान् भक्तों, श्रुतदेव तथा बहुलाश्व के साथ कुछ समय तक उन्हें पूर्ण सन्तों के आचरण की शिक्षा देते हुए वही रहते रहे। तब भगवान् द्वारका लौट गये।

तात्पर्य : *भगवान् श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद इस लीला का वर्णन करते हुए इस तरह समापन करते हैं: ''हम इस घटना से यह शिक्षा पाते हैं कि भगवान् ने राजा बहुलाश्व तथा ब्राह्मण श्रुतदेव का एक ही स्तर पर स्वागत किया, क्योंकि दोनों ही विशुद्ध भक्त थे। भगवान् द्वारा पहचाने जाने के लिए यही वास्तविक योग्यता है। क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण परिवार में जन्म लेकर झूठा गर्व करना आज के युग का प्रचलन बन गया है। अतएव हम पाते हैं कि जन्म के अतिरिक्त अन्य किसी योग्यता के न होते हुए लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य होने का दावा करते हैं, किन्तु जैसाकि शास्त्रों में कहा गया है *कलौ शूद्रसम्भवः*—इस कलियुग में प्रत्येक व्यक्ति शूद्र पैदा होता है। इसका कारण संस्कार नामक शुद्धिकरण की विधियों का निष्पादन नहीं होना है, जिनका शुभारम्भ माता के गर्भधारण से होता है तथा जो व्यक्ति के मृत्युपर्यन्त चलते रहते हैं। किसी भी व्यक्ति को जन्मजात अधिकार के आधार पर किसी विशेष

वर्ण, विशेष रूप से उच्च वर्ण जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य वर्ण के सदस्य के रूप में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता है। यदि गर्भाधान संस्कार द्वारा किसी का शुद्धिकरण नहीं किया जाता, तो उसे तत्काल ही शूद्रों में वर्गीकृत किया जाता है, क्योंकि केवल शूद्र ही यह शुद्धिकरण नहीं करते। कृष्णभावनामृत की शुद्धिकरण प्रक्रिया से रहित ऐन्द्रिय मैथुनिक जीवन शूद्रों अथवा पशुओं की गर्भाधान प्रक्रिया मात्र है। किन्तु कृष्णभावनामृत सर्वोच्च सिद्धि है, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति वैष्णव पद को पा सकता है। इसमें समस्त ब्राह्मणोचित योग्यताओं से युक्त होना भी सम्मिलित है। वैष्णवों को ऐसी शिक्षा दी जाती है, जिससे वे चारों प्रकार के पापकर्मों से मुक्त हो सकें। ये चार पापकर्म हैं— अवैध यौन, मादक पदार्थों का सेवन, जुआ खेलना तथा मांसाहार। इन प्रारम्भिक योग्यताओं के बिना कोई भी ब्राह्मणत्व के स्तर पर नहीं रह सकता तथा योग्य ब्राह्मण बने बिना, वह शुद्ध भक्त नहीं बन सकता।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''अर्जुन द्वारा सुभद्रा-हरण तथा कृष्ण द्वारा अपने भक्तों को आशीर्वाद दिया जाना'' नामक छियासिवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सत्तासी

साक्षात् वेदों द्वारा स्तुति

इस अध्याय में भगवान् नारायण के साकार तथा निर्विशेष पक्षों की महिमा गाने वाली, साक्षात् वेदों द्वारा स्तुतियाँ प्रस्तुत की गई हैं।

राजा परीक्षित ने श्रील शुकदेव गोस्वामी से पूछा कि वेद किस तरह परब्रह्म का प्रत्यक्ष रूप से उल्लेख कर सकते हैं, जबकि वेदों में तीन गुणों द्वारा नियंत्रित भौतिक जगत का वर्णन है और ब्रह्म इन तीनों गुणों से सर्वथा परे हैं। इसके उत्तर में शुकदेव गोस्वामी ने बदरिकाश्रम में श्री नारायण ऋषि तथा नारद मुनि के बीच हुई एक प्राचीन आकस्मिक भेंट का वर्णन किया। विचरण करते हुए उस पवित्र कुटिया में पहुँच कर नारद ने देखा कि भगवान् कलाप नामक निकटवर्ती ग्राम के उच्च स्तर के वासियों से घिरे हुए हैं। नारायण ऋषि तथा उनके संगियों को नमस्कार करके नारद ने उनसे यही प्रश्न पूछा।

उत्तर में नारायण ऋषि ने इसका वर्णन किया कि किस तरह बहुत पहले जनलोक में रह रहे महर्षियों के बीच इसी प्रश्न पर वाद-विवाद हुआ था। एक बार परम सत्य के स्वभाव को जानने के इच्छुक, इन ऋषियों ने सनन्दन कुमार को इस विषय पर बोलने के लिए चुना था। सनन्दन ने उन्हें बतलाया कि किस तरह सृष्टि के पूर्व अनेक देहधारी वेदों ने, भगवान् नारायण के श्वास लेने से उत्पन्न प्रथम उद्भवों के रूप में, उनकी महिमा विषयक स्तुतियाँ कीं। तब सनन्दन ने ये विस्तृत स्तुतियाँ सुनाईं।

जनलोक के निवासी सनन्दन से देहधारी वेदों की स्तुतियाँ सुनकर परम प्रसन्न हुए। इन स्तुतियों ने परब्रह्म के असली स्वभाव के बारे में प्रकाश डाला। तब उन्होंने सनन्दन का आदर किया और उनकी पूजा की। नारद मुनि श्री नारायण ऋषि के मुख से यह वृत्तान्त सुनकर अतीव प्रसन्न हुए। इस तरह नारद ने भगवान् को नमस्कार किया और फिर अपने शिष्य वेदव्यास को देखने गये, जिनको उन्होंने सुनी हुई सारी बातें बतला दीं।

श्रीपरीक्षिदुवाच
ब्रह्मन्ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः ।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात्सदसतः परे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-परीक्षित् उवाच—श्री परीक्षित ने कहा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण (शुकदेव); ब्रह्मणि—परब्रह्म में; अनिर्देश्ये—जिसका शब्दों में वर्णन करना कठिन हो; निर्गुणे—गुणरहित; गुण—प्रकृति के गुण; वृत्तयः—जिसका कार्यक्षेत्र; कथम्—कैसे; चरन्ति—कार्य करते हैं; श्रुतयः—वेद; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; सत्—भौतिक वस्तु को; असतः—तथा इसके सूक्ष्म कारण; परे—उसमें, जो दिव्य है।

श्री परीक्षित ने कहा : हे ब्राह्मण, भला वेद उस परम सत्य का प्रत्यक्ष वर्णन कैसे कर सकते हैं, जिसे शब्दों द्वारा बतलाया नहीं जा सकता? वेद भौतिक प्रकृति के गुणों के वर्णन तक ही सीमित हैं, किन्तु ब्रह्म समस्त भौतिक स्वरूपों तथा उनके कारणों को लाँघ जाने के कारण इन गुणों से रहित है।

तात्पर्य : इस अध्याय की टीका आरम्भ करने के पूर्व श्रील श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि।

यस्यास्ते हृदये संवित् तं नृसिंहमहंभजे॥

"मैं नृसिंह भगवान् की पूजा करता हूँ, जिनके मुख के भीतर वाणी के महान् स्वामी निवास करते हैं, जिनके वक्षस्थल पर लक्ष्मी वास करती है और जिनके हृदय में चेतना की दैवीशक्ति निवास करती

है।''

सम्प्रदाय विशुद्ध्यर्थं स्वीयनिर्बन्धयन्त्रित: ।

श्रुतिस्तुतिमितव्याख्यां करिष्यामि यथामति ॥

''अपने सम्प्रदाय को विशुद्ध बनाने की इच्छा से तथा कर्तव्य से बँधा होने के कारण मैं अपनी बुद्धि के अनुसार साक्षात् वेदों की स्तुतियों के विषय में संक्षिप्त टीका करूँगा।''

श्रीमद्‌भागवतं पूर्वै सारत: सन्निषेवितम् ।

मया तु तदुपस्पृष्टम् उच्छिष्टमुपचीयते ॥

''चूँकि मेरे पूर्ववर्तियों की व्याख्या से *श्रीमद्‌भागवत* पहले ही पूर्णतया आदरित है, अतएव मैं उनके द्वारा किये गये आदर का जूठन ही संग्रह कर सकता हूँ।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती अपनी ओर से ईश वन्दना प्रस्तुत करते हैं—

मम रत्नवणिग्भावं रत्नान्यपरिचिन्वत: ।

हसन्तु सन्तो जिह्रेमि न स्वस्वान्तविनोदकृत् ॥

''सन्त-भक्त मुझ पर रत्न का व्यापारी होने के लिए हँस सकते हैं, यद्यपि मैं बहुमूल्य रत्नों के विषय में कुछ नहीं जानता। किन्तु मुझे कोई लाज नहीं लगती, क्योंकि कम-से-कम मैं उनका मनोरंजन तो कर ही सकता हूँ।''

न मे ऽस्ति वैदुष्यपि नापि भक्ति-

र्विरक्तिरक्तिर्न तथापि लौल्यात् ।

सुदुर्गमादेव भवामि वेद-

स्तुत्यर्थचिन्तामणिराशिगृध्नु: ॥

''यद्यपि मुझ में विद्या, भक्ति या विरक्ति नहीं है, तो भी मैं उस दुर्ग से वेदों की स्तुति रूपी चिन्तामणि को ग्रहण करने के लिए ललचाया रहता हूँ, जिसमें यह रखा हुआ है।''

मां नीचतायामविवेकवायु:

प्रवर्तते पातयितुं बलाच्चेत् ।

लिखाम्यत: स्वामिसनातनश्री-

कृष्णाङ्घ्रिभास्तम्भकृतावलम्बः ॥

''यदि मेरी अविवेक रूपी वायु—मेरी निम्न स्थिति को स्वीकार करने की अक्षमता—मुझे गिरा देने के लिए धमकाती है, तो इस टीका को लिखते हुए मुझे श्रीधर स्वामी, सनातन गोस्वामी तथा भगवान् श्रीकृष्ण के चरण रूपी तेजस्वी ख भों को पकड़ना होगा।''

प्रणम्य श्रीगुरुं भूयः श्रीकृष्णं करुणार्णवम्।

लोकनाथं जगच्चक्षुः श्रीशुकं तं उपाश्रये॥

''बारम्बार अपने आध्यात्मिक गुरु को तथा कृपा के सागर भगवान् श्रीकृष्ण को शीश झुकाकर मैं श्रीशुकदेव गोस्वामी की शरण ग्रहण करता हूँ, जो संसार के रक्षक तथा जगत भर के नेत्र हैं।''

पिछले अध्याय के अन्त में शुकदेव गोस्वामी ने परीक्षित महाराज को बतलाया था—

एवं स्व भक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान्।

उषित्वादिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात्॥

''हे राजन्! इस तरह अपने भक्तों के भक्त भगवान् अपने दो महान् भक्तों, श्रुतदेव तथा बहुलाश्व के साथ कुछ समय तक उन्हें सिद्ध सन्तों के आचरण की शिक्षा देते हुए रहते रहे। तब भगवान् द्वारका लौट गये।'' इस श्लोक के *सन्मार्ग* शब्द को कम-से-कम तीन प्रकार से समझा जा सकता है। पहले प्रकार में *सत्* का अर्थ ''भगवान् का भक्त'' लिया जाता है और इस तरह *सन्मार्ग* का अर्थ ''भक्तियोग का मार्ग'' होता है। दूसरे प्रकार में *सत्* का अर्थ ''दिव्य ज्ञान की खोज करने वाला'' है, अतः *सन्मार्ग* का अर्थ होगा ''ज्ञान का दार्शनिक मार्ग'' जिसका मुख्य लक्ष्य निर्विशेष ब्रह्म होता है। तीसरे प्रकार में *सत्* का अर्थ ''वेदों की दिव्य ध्वनि'' लें, तो *सन्मार्ग* का अर्थ होगा ''वैदिक आदेशों के पालन की प्रक्रिया।'' इनमें से सन्मार्ग के द्वितीय तथा तृतीय अर्थों से यह प्रश्न उठता है कि वेद किस तरह परम सत्य का वर्णन कर सकते हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी ने इस समस्या का परम्परागत संस्कृत काव्य शास्त्र की दृष्टि से विस्तृत विश्लेषण किया है। हमें मानना चाहिए कि शब्दों में तीन प्रकार की अभिव्यक्ति-शक्तियाँ होती हैं, जिन्हें *शब्द वृत्तियाँ* कहा जाता है। ये वे विविध प्रकार हैं, जिनसे किसी शब्द के अर्थ निकलते हैं। ये हैं—*मुख्य वृत्ति, लक्षणा वृत्ति* तथा *गौण वृत्ति। मुख्य वृत्ति* शब्द के मूल शाब्दिक अर्थ को बतलाती

है—इसे *अभिधा* शक्ति भी कहते हैं अर्थात् मुख्यार्थ अथवा शब्दकोषार्थ। *मुख्य वृत्ति* के दो उपविभाग हैं *रूढि* तथा *योग।* मूल अर्थ जब परम्परागत प्रयोग पर आधारित होता है, तो वह *रूढि* कहलाता है, जब किसी अन्य शब्द के अर्थ से व्युत्पत्तिविषयक नियमों से अर्थ निकले तो उसे *योग* कहते हैं। उदाहरणार्थ, *गो* शब्द *रूढि* का उदाहरण है, क्योंकि इसके शाब्दिक अर्थ से इसका सम्बन्ध परम्परागत है। इसके विपरीत *पाचक* शब्द *योग वृत्ति* है, जो *पच्* धातु में *क* प्रत्यय जोड़कर बना है।

मुख्यवृत्ति के अतिरिक्त कोई शब्द गौण, अलंकारिक रूप में भी प्रयुक्त हो सकता है। यह प्रयोग *लक्षणा* कहलाता है। नियम यह है कि यदि मुख्यवृत्ति से किसी शब्द का अर्थ उस प्रसंग में लग जाता है, तो फिर अलंकारिक अर्थ ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती। मुख्यवृत्ति के द्वारा किसी शब्द के अर्थ बताने में असफल होने पर ही *लक्षणा वृत्ति* का सहारा लिया जाता है। काव्य शास्त्र में *लक्षणा* के कार्य की विवेचना मिलती है। यह है : विस्तृत संदर्भ जो शाब्दिक अर्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाले किसी शब्द की ओर संकेत करता है। इस प्रकार *गंगायां घोष:* पद का शाब्दिक अर्थ होगा "गंगा में ग्वालों का गाँव" किन्तु ऐसा भाव निरर्थक होगा अत: *गंगायाम्* का अर्थ लक्षणा द्वारा "गंगा नदी के किनारे" निकाला जाता है, क्योंकि किनारा नदी से सम्बद्ध है। *गौण वृत्ति* लक्षणा का विशिष्ट प्रकार है, जिसमें अर्थ को समान भाव तक विस्तार दिया जाता है। उदाहरणार्थ, *सिंहो देवदत्त:* (देवदत्त सिंह है) में वीर देवदत्त को अलंकार के माध्यम से सिंह कहा गया है क्योंकि उसमें सिंह जैसे गुण हैं। इसके विपरीत सामान्य लक्षणा में, यथा *गंगायाम् घोष:* में स्थान का सम्बन्ध तो रहता है, समानता का नहीं।

सत्तासीवें अध्याय के इस प्रथम श्लोक में परीक्षित महाराज यह संदेह व्यक्त करते हैं कि वेदों के शब्द किस तरह *शब्द वृत्ति* के किसी भी मान्य प्रकार से परम सत्य के द्योतक हो सकते हैं। वे पूछते हैं *कथं साक्षात् चरन्ति*—वेद किस तरह *रूढ मुख्यवत्ति* के अनुसार ब्रह्म का वर्णन कर सकते हैं? ब्रह्म तो *अनिर्देश्य* है अर्थात् उनका अता-पता नहीं है। और किस तरह वेद *गौण वृत्ति* द्वारा ब्रह्म का वर्णन कर सकते हैं? वेद तो *गुणवृत्तय:* हैं अर्थात् गुणों के विवरणों से ओत-प्रोत हैं, किन्तु ब्रह्म तो *निर्गुण* है अर्थात् गुणों से रहित है। स्पष्ट है कि कोई भी अलंकार जो समान गुणों पर आधारित हो बिना गुणों वाली वस्तु पर लागू नहीं हो सकता। यही नहीं, परीक्षित महाराज इंगित करते हैं कि ब्रह्म तो *सदसत: परम्*—कार्यकारण से परे हैं। सूक्ष्म या स्थूल जगत से किसी तरह सम्बन्धित न होने से ब्रह्म न तो *योग*

वृत्ति द्वारा न ही *लक्षणा* द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, क्योंकि इन दोनों में ब्रह्म के साथ अन्य जीवों का कोई न कोई सम्बन्ध होना चाहिए।

अत: राजा परीक्षित इस दुविधा में हैं कि वेदों के शब्द किस तरह ब्रह्म का प्रत्यक्ष वर्णन कर सकते हैं।

श्रीशुक उवाच
बुद्धीन्द्रियमन:प्राणान्जनानामसृजत्प्रभुः ।
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; बुद्धि—बुद्धि; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः—मन; प्राणान्—तथा प्राण; जनाणाम्—जीवों के; असृजत्—उत्पन्न किया; प्रभुः—भगवान् ने; मात्र—इन्द्रिय-तृप्ति के; अर्थम्—हेतु; च—तथा; भव—जन्म (तथा उसके बाद के कार्यों) के; अर्थम्—हेतु; च—तथा; आत्मने—आत्मा (तथा अगले जीवन में उसके सुख की प्राप्ति) के लिए; अकल्पनाय—भौतिक उद्देश्यों के परित्याग के लिए; च—तथा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् ने जीवों की भौतिक बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन तथा प्राण को प्रकट किया, जिससे वे अपनी इच्छाओं को इन्द्रिय-तृप्ति में लगा सकें, सकाम कर्म में संलग्न होने के लिए बारम्बार जन्म ले सकें, अगले जन्म में ऊपर उठ सकें तथा अन्तत: मोक्ष प्राप्त कर सकें।

तात्पर्य : सृष्टि के उदयकाल में जब बद्धजीव भगवान् विष्णु के दिव्य शरीर के भीतर सुप्त पड़े थे, तो जीवों के लाभ हेतु भगवान् ने बुद्धि, मन आदि आवरणों को भेज कर सृष्टि प्रक्रम आरंभ किया। जैसाकि यहाँ कहा गया है, विष्णु स्वतंत्र स्वामी हैं (प्रभु) और सारे जीव उनके *जन* अर्थात् अधीन हैं। अत: हमें समझना चाहिए कि प्रभु ने जीवों के लिए ही इस विराट जगत की सृष्टि की। इसमें उनका एकमात्र उद्देश्य *दया* था।

भगवान् जीवों को स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर प्रदान करके उन्हें इन्द्रिय-तृप्ति में और मनुष्य योनि में धर्म, अर्थ तथा मोक्ष में लगाते हैं। बद्धजीव प्रत्येक शरीर में अपनी इन्द्रियों का उपयोग भोग करने के काम में लगाता है और जब उसे मनुष्य का शरीर मिलता है, तो उसे जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में विविध नियत कार्य भी करने होते हैं। यदि वह श्रद्धापूर्वक इन कर्तव्यों को निभाता है, तो भविष्य में उसे और अधिक उत्तम सुख मिलता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो वह पतित हो जाता है। जब जीव

भौतिक जीवन से मुक्त होने के लिए लालायित होता है, तो मुक्ति का मार्ग उसे सदा उपलब्ध रहता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका है कि इस श्लोक में *च* शब्द का बारम्बार आना इसका सूचक है कि भगवान् जो कुछ भी प्रदान करते हैं—न केवल मुक्ति का मार्ग अपितु धार्मिक जीवन में क्रमश: उन्नति तथा समुचित इन्द्रियतृप्ति—उसका महत्त्व है।

इन सारे प्रयासों में जीव अपनी सफलता के लिए भगवत्कृपा पर निर्भर करते हैं। बुद्धि, इन्द्रिय, मन तथा प्राण के बिना जीव कुछ भी उपलब्ध नहीं कर सकते—न तो स्वर्ग की प्राप्ति, न ज्ञान द्वारा शुद्धि, न योग में ध्यान की आठ सिद्धियाँ, न भक्तियोग द्वारा प्राप्त की जाने वाली शुद्ध भक्ति जो भगवान् के नामों के श्रवण और कीर्तन से प्रारम्भ होती है।

यदि परमेश्वर बद्धजीवों के कल्याण हेतु ये सारी सुविधाएँ जुटाता है, तो फिर वह निर्विशेष कैसे हो सकता है? उपनिषद् परम सत्य को निर्विशेष के रूप में प्रस्तुत न करके उस के साकार गुणों के विषय में विस्तार से बतलाते हैं। उपनिषदों द्वारा वर्णित ब्रह्म समस्त निम्न भौतिक गुणों से मुक्त हैं, तो भी वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सबों का स्वामी तथा नियन्ता, ब्रह्माण्ड-भर में पूज्य, हर एक के कर्म का फल देने वाला तथा सच्चिदानन्द रूप हैं। *मुण्डक उपनिषद्* (१.१.९) में कहा गया है—*य: सर्वज्ञ: स सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तप:* जो सर्वज्ञ हैं और जिनसे समस्त ज्ञान की शक्ति प्राप्त होती है वे सबसे अधिक बुद्धिमान हैं। *बृहदारण्यक उपनिषद्* के शब्दों में (..२२; ३.७.३. तथा १.२.) *सर्वस्य वशी सर्वस्येशान:*—वे हर एक के स्वामी तथा नियंत्रक हैं। *य: पृथिव्यां तिष्टन् पृथिव्या आन्तर:*—वे जो पृथ्वी के भीतर वास करते हैं तथा उसमें व्याप्त हैं। *सोऽकामयत बहु स्याम्*—उन्होंने इच्छा की कि मैं अनेक हो जाऊँ। इसी प्रकार *ऐतरेय उपनिषद्* (३.११) में कहा गया है *स ऐक्षत तत् तेजोऽसृजत*—उन्होंने अपनी शक्ति के ऊपर दृष्टि फेरी, जिसके बाद उन्होंने सृष्टि प्रकट की। *तैत्तिरीय उपनिषद्* (२.१.१) की घोषणा है—*सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म*—ब्रह्म असीम सत्य तथा ज्ञान है।

तत् त्वम् असि वाक्यांश (*छान्दोग्य उपनिषद* ६.८.७) को प्राय: निर्विशेषवादी सान्त जीवात्मा तथा उसके स्रष्टा में तादात्म्य की पुष्टि के लिए उद्धृत करते हैं। शंकराचार्य तथा उनके अनुयायीगण इन शब्दों को उन कुछ *महावाक्यों* का रूप देते हैं, जिनसे वेदान्त का सार व्यक्त होता है। किन्तु वेदान्त के आदर्श वैष्णव मतानुयायी इस व्याख्या का डट कर विरोध करते हैं। आचार्य रामानुज, मध्व, बलदेव

विद्याभूषण इत्यादि ने उपनिषदों तथा अन्य श्रुतियों के क्रमबद्ध अध्ययन के आधार पर कई वैकल्पिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं।

यहाँ पर महाराज परीक्षित द्वारा पूछे गये इस प्रश्न का कि ''वेद किस तरह प्रत्यक्ष रूप से परम सत्य का द्योतन कर सकते हैं?'' शुकदेव गोस्वामी ने इस प्रकार उत्तर दिया है, ''भगवान् ने बद्धजीवों के लिए बुद्धि तथा अन्य तत्त्वों की रचना की।'' संशयवादी आपत्ति कर सकता है कि यह उत्तर अप्रासंगिक है। किन्तु शुकदेव गोस्वामी का उत्तर वास्तव में अप्रासंगिक नहीं है, जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती व्याख्या करते हैं। सूक्ष्म प्रश्नों के उत्तर प्राय: अप्रत्यक्ष रीति से दिये जाते हैं। जैसाकि स्वयं भगवान् ने उद्धव को दिये गये अपने उपदेशों में (*भागवत* ११.२१.३५) कहा है—*परोक्षवादा ऋषय: परोक्षं मम च प्रियम्*—वैदिक भविष्य द्रष्टा तथा मंत्र गुह्य शब्दावली का प्रयोग करते हैं और मैं भी ऐसे ही गोपनीय वर्णनों से प्रसन्न रहता हूँ। इस वर्तमान प्रसंग में वे निर्विशेषवादी, जिनकी ओर से परीक्षित महाराज ने यह प्रश्न पूछा है, प्रत्यक्ष उत्तर को नहीं समझ सकते, इसीलिए शुकदेव गोस्वामी यह परोक्ष उत्तर देते हैं, ''तुम कहते हो कि ब्रह्म का वर्णन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि भगवान् ने बुद्धि, मन तथा इन्द्रियाँ न बनाई होतीं तो ध्वनि आदि अनुभव की जाने वाली वस्तुएँ तुम्हारे ब्रह्म की ही तरह अवर्णनीय रह जातीं। तब तो तुम जन्म से अंधे तथा बहरे रहते और भौतिक स्वरूपों तथा ध्वनियों के बारे में कुछ भी न जानते, ब्रह्म की बात तो कोसों दूर रहती। अत: जिस तरह दयालु ईश्वर ने हमें अनुभव करने की अनुभूति तथा दृष्टि, ध्वनि आदि की अनुभूति का अन्यों को वर्णन करने के साधन प्रदान किये हैं उसी तरह वही ईश्वर किसी न किसी को ब्रह्म की अनुभूति करने की ग्रहणशील क्षमता प्रदान कर सकता है। यदि वह चाहे तो शब्दों से किसी असाधारण विधि से काम करा सकता है—भौतिक पदार्थों, गुणों, श्रेणियों तथा कार्यों की ओर सामान्य संदर्भ बताने के अलावा—जिससे वे ब्रह्म को व्यक्त कर सकें। अन्तत: वह सर्वशक्तिमान स्वामी (*प्रभु*) है और अवर्णनीय को वर्णनीय बना सकता है।''

मत्स्यराज राजा सत्यव्रत को विश्वास दिलाते हैं कि ब्रह्म को वेदों के शब्दों से जाना जा सकता है—

मदीयं महिमानं च परं ब्रह्मेति शब्दितम्।

वेत्सस्यनुग्रहीतं मे सम्प्रश्नैर्विवृतं हृदि ॥

''मैं तुम्हें ठीक से सलाह दूँगा और तुम पर दया करूँगा और चूँकि तुमने प्रश्न किया है, इसलिए मेरी महिमा से सम्बन्धित हर बात, जो कि परब्रह्म के नाम से विख्यात है तुम्हारे हृदय में प्रकट हो जायेगी। इस तरह तुम मेरे विषय में सब कुछ जान सकोगे।'' (*भागवत* ८.२.३८)

जिस भाग्यशाली जीव को भगवान् ने दैवी उत्सुकता प्रदान की है, वह ब्रह्म के स्वभाव के बारे में प्रश्न करेगा और महान् ऋषियों द्वारा दिये गये उत्तरों को सुनकर, जो वेदों में उद्धृत है, वह भगवान् को यथारूप में जान सकेगा। अतएव परम पुरुष की विशेष कृपा से ही ब्रह्म *शब्दितम्* (शब्दों द्वारा निरूपित) बनता है। अन्यथा वेदों के शब्द भगवान् की विशेष कृपा के बिना परम ब्रह्म को प्रकट नहीं कर सकते।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती का सुझाव है कि इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी द्वारा कहा गया *बुद्धि* शब्द *महत् तत्त्व* को सूचित करने वाला हो सकता है, जिससे आकाश के विभिन्न अंश (यथा ध्वनि) निकलते हैं, जिन्हें यहाँ पर *इन्द्रिय* कहा गया है। तब *मात्रार्थम्* का अर्थ होगा ''ब्रह्म का वर्णन करने के लिए दिव्य ध्वनि का प्रयोग करने के हेतु'' क्योंकि इसी निश्चित कार्य के लिए भगवान् ने प्रकृति को आकाश तथा ध्वनि उत्पन्न करने के लिए प्रेरित किया।

सृष्टि के प्रयोजन को आगे समझाने के लिए *भवार्थम्* तथा *आत्मने कल्पनाय* (*अकल्पनाय* के स्थान पर *कल्पनाय* लेने पर) शब्दों का प्रयोग हुआ है। *भवार्थम्* का अर्थ है ''जीवों के कल्याण हेतु।'' परमात्मा (*आत्मने*) की पूजा (*कल्पनम्*) ही वह साधन है, जिससे सारे जीव उस दैवी प्रयोजन को पूरा कर सकते हैं, जिसके लिए वे जीवित हैं। बुद्धि, मन तथा इन्द्रियाँ भगवान् की पूजा करने के ही निमित्त प्रयुक्त होनी चाहिए, चाहे जीव उन्हें आध्यात्मिक शुद्धता के स्तर पर लाया हो या नहीं।

किस तरह शुद्ध तथा अशुद्ध भक्त अपनी बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों का उपयोग भगवान् की पूजा करने में लगायें इसका वर्णन *गोपालतापनी उपनिषद्* में (*पूर्व* १२) में मिलता है—

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्।

द्विभुजं मौनमुद्राध्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥

''द्विभुजी रूप में प्रकट होने वाले भगवान् के दिव्य नेत्र कमल जैसे, वर्ण बादलों के रंग का तथा वस्त्र बिजली की चमक जैसे थे। वे जंगली फूलों की माला पहने थे तथा उनका सौन्दर्य उनकी मौन मुद्रा के कारण बढ़ गया था।'' चूँकि भगवान् के पूर्ण भक्तों की दिव्य बुद्धि तथा इन्द्रियाँ भगवान् के शुद्ध आध्यात्मिक सौन्दर्य को ठीक से देखती हैं और उनकी अनुभूतियों की प्रतिध्वनि *गोपालतापनी श्रुति* के वर्णन में प्रतिध्वनित होती हैं, जिसमें भगवान् कृष्ण के नेत्रों, शरीर तथा वस्त्र की उपमा कमल, बादल तथा बिजली से दी गई है। दूसरी ओर, साधन भक्ति के स्तर पर भक्तों को जो शुद्ध होने की प्रक्रिया से गुजर रहे होते हैं भगवान् के असीम दिव्य सौन्दर्य का कुछ कुछ ही अनुभव रहता है। फिर भी *गोपालतापनी उपनिषद्* जैसे शास्त्रों से इस जैसे उद्धरणों को सुनकर वे अपनी बुद्धि के अनुसार भगवान् के ध्यान में लग जाते हैं। यद्यपि नवदीक्षित भक्त भगवान् की पूर्ण अनुभूति प्राप्त करना या स्थिर होकर उनके शरीर को घेरने वाले ऐश्वर्य पर ध्यान करना पूरी तरह नहीं सीख पाते, फिर भी वे यह कल्पना करने में आनन्द पाते हैं कि ''हम अपने प्रभु का ध्यान कर रहे हैं।'' और भगवान् अपनी अपार कृपा की तरंगों में बह कर स्वयं सोचते हैं, ''ये भक्तगण मेरा ध्यान कर रहे हैं।'' जब उनकी भक्ति परिपक्व हो जाती है, तो वे उन्हें अपने चरणों की घनिष्ठ सेवा करने की ओर खींच लेते हैं। इस तरह यह निष्कर्ष निकला कि ब्रह्म की कृपा से ही वेद ब्रह्म के साकार स्वरूप तक पहुँच सकते हैं।

सैषा ह्युपनिषद्ब्राह्मी पूर्वेशां पूर्वजैर्धृता ।
श्रद्धया धारयेद्यस्तां क्षेमं गच्छेदकिञ्चनः ॥ ३॥

शब्दार्थ

सा एषा—वही; **हि**—निस्सन्देह; **उपनिषत्**—उपनिषद्; **ब्राह्मी**—ब्रह्म से सम्बन्धित; **पूर्वेषाम्**—हमारे पूर्वजों (यथा नारद) के; **पूर्व-जैः**—पूर्वजों द्वारा (यथा सनक); **धृत**—ध्यान किया गया; **श्रद्धया**—श्रद्धा के साथ; **धारयेत्**—ध्यान करता है; **यः**—जो भी; **ताम्**—उस पर; **क्षेमम्**—चरम सफलता; **गच्छेत्**—प्राप्त करेगा; **अकिञ्चनः**—भौतिक सम्बन्ध से रहित।

हमारे प्राचीन पूर्वजों से भी पूर्व, जो लोग हो चुके हैं, उन्होंने भी परम सत्य के इसी गुह्य ज्ञान का ही ध्यान किया है। निस्सन्देह, जो भी श्रद्धापूर्वक इस ज्ञान में एकाग्र होता है, वह भौतिक आसक्ति से छूट जायेगा और जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा।

तात्पर्य : ब्रह्म विषयक गुह्य ज्ञान के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह अनन्त काल से विद्वान मुनियों की प्रामाणिक श्रेणी द्वारा हमें प्राप्त हुआ है। जो कोई सकाम अनुष्ठानों और मानसिक अनुमानों की विभ्रान्तियों को त्याग कर आदरपूर्वक ब्रह्म-ज्ञान का अनुशीलन करता है, वह भौतिक देह

तथा सांसारिक समाज की झूठी उपाधियों को त्यागना सीख जायेगा और सिद्धि प्राप्ति के योग्य बन सकेगा।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार इस अध्याय के प्रथम दो श्लोक ब्रह्म के विषय में उपनिषद् माने जा सकते हैं। शुकदेव गोस्वामी अपने को इसका लेखक नहीं बताते, क्योंकि यह उपनिषद् इसके पूर्व नारद ने कही, जिसे उन्होंने सनककुमार से सुना था।

अत्र ते वर्णयिष्यामि गाथां नारायणान्विताम् ।
नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च ॥ ॥

शब्दार्थ

अत्र—इस सम्बन्ध में; ते—तुमसे; वर्णयिष्यामि—वर्णन करूँगा; गाथाम्—विवरण; नारायण-अन्विताम्—भगवान् नारायण से सम्बन्धित; नारदस्य—नारद की; च—तथा; संवादम्—वार्ता; ऋषेः नारायणस्य—श्री नारायण ऋषि की; च—तथा।

इस सम्बन्ध में मैं तुम से भगवान् नारायण विषयक एक गाथा कहूँगा। यह उस वार्ता के विषय में है, जो श्री नारायण ऋषि तथा नारद मुनि के मध्य हुई थी।

तात्पर्य : भगवान् नारायण निम्नलिखित गाथा से दो प्रकार से जुड़े हैं—उसके वक्ता तथा उसके विषय के रूप में।

एकदा नारदो लोकान्पर्यटन्भगवत्प्रियः ।
सनातनमृषिं द्रष्टुं ययौ नारायणाश्रमम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; नारदः—नारद मुनि; लोकान्—लोकों में; पर्यटन्—भ्रमण करते हुए; भगवत्—भगवान् के; प्रियः—प्रिय; सनातनम्—आदि; ऋषिम्—ऋषि को; द्रष्टुम्—देखने के लिए; ययौ—गये; नारायण-आश्रमम्—नारायण ऋषि की कुटिया में।

एक बार ब्रह्माण्ड के विविध लोकों का भ्रमण करते हुए, भगवान् के प्रिय भक्त नारद आदि ऋषि नारायण से मिलने, उनके आश्रम में गये।

यो वै भारतवर्षेऽस्मिन्क्षेमाय स्वस्तये नृणाम् ।
धर्मज्ञानशमोपेतमाकल्पादास्थितस्तपः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; वै—निस्सन्देह; भारत-वर्षे—भारत की पवित्र भूमि पर; अस्मिन्—इस; क्षेमाय—इस जीवन में कल्याण के लिए; स्वस्तये—तथा अगले जीवन में कल्याण के लिए; नृणाम्—मनुष्यों के; धर्म—धर्म; ज्ञान—आध्यात्मिक ज्ञान; शम—तथा आत्म-संयम से; उपेतम्—समृद्ध; आ-कल्पात्—कल्प (ब्रह्मा के दिन) के प्रारम्भ से; आस्थितः—करते हुए; तपः—तपस्या।

कल्प के शुभारम्भ से ही नारायण ऋषि इस भारत-भूमि में धार्मिक कर्तव्यों को पूरी तरह सम्पन्न करते हुए एवं मनुष्यों के इस लोक तथा अगले लोक में लाभ के लिए आध्यात्मिक ज्ञान तथा आत्म-संयम को आदर्श रूप प्रदान करते हुए तपस्या कर रहे थे।

तत्रोपविष्टमृषिभिः कलापग्रामवासिभिः ।
परीतं प्रणतोऽपृच्छदिदमेव कुरूद्वह ॥ ७॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; उपविष्टम्—बैठे हुए; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; कलाप-ग्राम—कलाप नामक ग्राम में (जो बदरिकाश्रम के निकट है); वासिभिः—वास कर रहे; परीतम्—घिरे हुए; प्रणतः—झुक कर; अपृच्छत्—पूछा; इदम् एव—यही (प्रश्न); कुरु-उद्वह—हे कुरुश्रेष्ठ।

वहाँ नारद भगवान् नारायण ऋषि के पास पहुँचे, जो कलाप ग्राम के मुनियों के बीच में बैठे हुए थे। हे कुरुवीर, भगवान् को नमस्कार करने के बाद नारद ने उनसे यही प्रश्न पूछा, जो तुमने मुझसे पूछा है।

तस्मै ह्यवोचद्भगवानृषीणां शृण्वतामिदम् ।
यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां जनलोकनिवासिनाम् ॥ ८॥

शब्दार्थ

तस्मै—उससे; हि—निस्सन्देह; अवोचत्—बोले; भगवान्—भगवान्; ऋषीणाम्—मुनियों के; शृण्वताम्—सुन रहे; इदम्—यह; यः—जो; ब्रह्म—ब्रह्म के विषय में; वादः—चर्चा; पूर्वेषाम्—प्राचीन; जन-लोक-निवासिनाम्—जनलोक के निवासियों के बीच।

ऋषियों के सुनते-सुनते नारायण ऋषि ने नारद को परम ब्रह्म विषयक, वह प्राचीन चर्चा सुनाई, जो जनलोक के वासियों के बीच हुई थी।

श्रीभगवानुवाच
स्वायम्भुव ब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत्पुरा ।
तत्रस्थानां मानसानां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥ ९॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; स्वायम्भुव—हे स्व-जन्मा ब्रह्मा के पुत्र; ब्रह्म—दिव्य ध्वनि के उच्चारण से सम्पन्न; सत्रम्—यज्ञ; जन-लोके—जनलोक में; अभवत्—हुआ; पुरा—भूतकाल में; तत्र—वहाँ; स्थानाम्—वहाँ रहने वालों के; मानसानाम्—मन से उत्पन्न (ब्रह्मा) के; मुनीनाम्—मुनियों के मध्य; ऊर्ध्व—ऊपर की ओर (गति करने वाले); रेतसाम्—वीर्य वाले।

भगवान् ने कहा : हे स्वजन्मा ब्रह्मा के पुत्र, एक बार बहुत समय पहले, जनलोक में रहने वाले विद्वान मुनियों ने दिव्य ध्वनि का उच्चारण करते हुए एक महान् ब्रह्म यज्ञ सम्पन्न किया। ये

सारे मुनि, जो ब्रह्मा के मानस पुत्र थे, पूर्ण ब्रह्मचारी थे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की व्याख्या है कि यहाँ पर *सत्रम्* शब्द वैदिक यज्ञ का द्योतक है, जिसमें भाग लेने वाले सारे लोग पुरोहित की तरह कार्य करने के लिए समान रूप से पात्र होते हैं। यहाँ पर, जनलोक का प्रत्येक ऋषि ब्रह्म के विषय में अच्छी तरह बोल सकता था।

श्वेतद्वीपं गतवति त्वयि द्रष्टुं तदीश्वरम् ।
ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते ।
तत्र हायमभूत्प्रश्नस्त्वं मां यमनुपृच्छसि ॥ ॥

शब्दार्थ

श्वेतद्वीपम्—श्वेतद्वीप में; गतवति—जाकर; त्वयि—तुम (नारद); द्रष्टुम्—देखने के लिए; तत्—इसका; ईश्वरम्—स्वामी (अनिरुद्ध); ब्रह्म—ब्रह्म विषयक; वादः—गोष्ठी; सु—उत्साहपूर्वक; संवृत्तः—प्रारम्भ हुई; श्रुतयः—वेद; यत्र—जिसमें (अनिरुद्ध जोकि क्षीरोदकशायी विष्णु भी कहलाते हैं); शेरते—शयन करने लगे; तत्र—उसके विषय में; ह—निस्सन्देह; अयम्—यह; अभूत्—उठा; प्रश्नः—प्रश्न; त्वम्—तुम; माम्—मुझसे; यम्—जो; अनुपृच्छसि—फिर से पूछ रहे हो।

उस समय तुम श्वेतद्वीप में भगवान् का दर्शन करने गये हुए थे—जिनके भीतर ब्रह्माण्ड के संहार काल के समय सारे वेद विश्राम करते हैं। जनलोक में परब्रह्म के स्वभाव के विषय में ऋषियों के मध्य जीवन्त वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ। निस्सन्देह, तब यही प्रश्न उठा था, जिसे तुम अब मुझ से पूछ रहे हो।

तुल्यश्रुततपःशीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमाः ।
अपि चक्रुः प्रवचनमेकं शुश्रूषवोऽपरे ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तुल्य—समान; श्रुत—वेदों से सुनने में; तपः—तथा तपस्या; शीलाः—जिनके चरित्र; तुल्य—समान; स्वीय—मित्रों का; अरि—शत्रु; मध्यमाः—तथा उदासीन या निष्पक्ष; अपि—यद्यपि; चक्रुः—बनाया; प्रवचनम्—वक्ता को; एकम्—उनमें से एक; शुश्रूषवः—उत्सुक श्रोतागण; अपरे—अन्य।

यद्यपि वेदाध्ययन तथा तपस्या के मामले में ये ऋषि समान रूप से योग्य थे और मित्रों, शत्रुओं तथा निष्पक्षों को समान दृष्टि से देखते थे, फिर भी उन्होंने अपने में से एक को वक्ता बनाया और शेष जन उत्सुक श्रोता बन गये।

श्रीसनन्दन उवाच

स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः ।
तदन्ते बोधयां चक्रुस्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम् ॥ १२ ॥

यथा शयानं संराजं वन्दिनस्तत्पराक्रमैः ।
प्रत्यूषेऽभेत्य सुश्लोकैर्बोधयन्त्यनुजीविनः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

श्री-सनन्दनः—श्री सनन्दन (ब्रह्मा का मानस पुत्र, जिसे ऋषियों के प्रश्न का उत्तर देने के लिए चुना गया) ने; उवाच—कहा; स्व—अपने से; सृष्टम्—उत्पन्न; इदम्—यह (ब्रह्माण्ड); आपीय—समेट कर के; शयानम्—सोया हुआ; सह—साथ; शक्तिभिः—अपनी शक्तियों के; तत्—उस (प्रलयकाल) के; अन्ते—अन्त में; बोधयाम् चक्रुः—उसे जगाया; तत्—उसके; लिङ्गैः—गुणों (के वर्णन) से; श्रुतयः—वेद; परम्—ब्रह्म; यथा—जिस तरह; शयानम्—सोया हुआ; संराजम्—राजा को; वन्दिनः—उसके दरबारी कवि; तत्—उसके; पराक्रमैः—वीरतापूर्ण कार्यों (के वर्णन) से; प्रत्यूषे—प्रातःकाल; अभेत्य—पास पहुँच कर; सुश्लोकैः—कवित्वमय; बोधयन्ति—जगाते हैं; अनुजीविनः—उसके सेवक।

श्री सनन्दन ने उत्तर दिया : जब भगवान् ने अपने द्वारा पूर्व-निर्मित ब्रह्माण्ड को समेट लिया, तो वे कुछ काल तक ऐसे लेटे रहे, मानो सोये हुए हैं और उनकी सारी शक्तियाँ उनमें सुप्त पड़ी रहीं। जब अगली सृष्टि करने का समय आया, तो साक्षात् वेदों ने उनकी महिमाओं का गायन करते हुए उन्हें जगाया, जिस तरह राजा की सेवा में लगे कविगण प्रातःकाल उसके पास जाकर उसके वीरतापूर्ण कार्यों को सुनाकर, उसे जगाते हैं।

तात्पर्य : सृष्टि के समय महाविष्णु की श्वास से सर्वप्रथम वेद प्रकट होते हैं और वे साकार रूप में उन्हें योगनिद्रा से जगाकर उनकी सेवा करते हैं। सनन्दन के इस कथन से यह अर्थ निकलता है कि सनक तथा अन्य ऋषियों ने उनसे वही प्रश्न पूछा था, जो नारद ने नारायण ऋषि से तथा महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा था। सनन्दन फिर से इस प्रश्न का सन्दर्भ साक्षात् वेदों द्वारा महाविष्णु से पूछे गये प्रश्न से जोड़ते हैं। यद्यपि वेद जानते थे कि सर्वज्ञ होने के कारण भगवान् को उनकी महिमा बताने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु उन्होंने इस अवसर का लाभ उत्साहपूर्वक उनकी प्रशंसा करने के लिए उठाया।

श्रीश्रुतय ऊचुः
जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः ।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते
क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-श्रुतयः ऊचुः—वेदों ने कहा; जयजय—आपकी जय हो, जय हो; जहि—परास्त करें; अजाम्—माया को; अजित—हे अजित; दोष—दोष उत्पन्न करने के लिए; गृभीत—धारण किये हुए; गुणाम्—पदार्थ के गुण; त्वम्—तुम; असि—हो; यत्—क्योंकि; आत्मना—अपनी मूल स्थिति मे; समवरुद्ध—पूर्ण; समस्त—समस्त; भगः—ऐश्वर्य में; अग—अचर; जगत्—तथा चर; ओकसाम्—भौतिक शरीर वालों के; अखिल—समस्त; शक्ति—शक्तियाँ; अवबोधक—हे जागृत करने वाले; ते—तुम;

क्वचित्—कभी कभी; अजया—अपनी भौतिक शक्ति से; आत्मना—तथा अपनी अन्तरंगा आध्यात्मिक शक्ति से; च—भी; चरतः—व्यस्त रखते हुए; अनुचरेत्—समझ सकता है; निगमः—वेद।

श्रुतियों ने कहा : हे अजित, आपकी जय हो, जय हो, अपने स्वभाव से आप समस्त ऐश्वर्य से परिपूर्ण हैं, अतएव आप माया की शाश्वत शक्ति को परास्त करें, जो बद्धजीवों के लिए कठिनाइयाँ उत्पन्न करने के लिए तीनों गुणों को अपने वश में कर लेती है। चर तथा अचर देहधारियों की समस्त शक्ति को जागृत करने वाले, कभी कभी जब आप अपनी भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के साथ क्रीड़ा करते हैं, तो वेद आपको पहचान लेते हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार साक्षात् वेदों की स्तुतियों के २८ श्लोक (श्लोक १ से १ तक) अट्ठाइस प्रमुख श्रुतियों के मतों को प्रस्तुत करने वाले हैं। ये मुख्य उपनिषद् तथा अन्य श्रुतियाँ ब्रह्म के विविध पक्षों से सम्बद्ध हैं और इनमें से वे श्रुतियाँ सर्वश्रेष्ठ हैं, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शुद्ध अनन्य भक्ति पर बल देती हैं। उपनिषद् उसका निषेध करते हैं, जो सर्वप्रथम भगवान् से पृथक् है और तब उनके कुछ मुख्य गुणों का वर्णन करके हमारा ध्यान भगवान् की ओर आकृष्ट करते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस स्तुति में सर्वप्रथम आए *जय जय* शब्दों की व्याख्या ''कृपया अपनी सर्वोच्चता प्रकट कीजिये'' के रूप में की है। *जय* शब्द की पुनरुक्ति आदर या हर्षवश हुई है।

भगवान् पूछ सकते हैं, ''मैं अपनी सर्वोच्चता किस तरह प्रकट करूँ?''

श्रुतियाँ इसका उत्तर भगवान् से यह प्रार्थना करते हुए देती हैं कि वे सारे जीवों पर कृपा करके उनके अज्ञान को नष्ट कर दें और उन्हें अपने चरणकमलों की ओर आकृष्ट करें।

भगवान् कहते हैं, ''लेकिन जीवों पर अज्ञान लादने वाली माया उत्तम गुणों से युक्त है (*गृभीत गुणान्*)। तो मैं उसका विरोध क्यों करूँ?''

वेद उत्तर देते हैं, ''ठीक है, लेकिन उसने बद्धजीवों को मोहित करने के लिए तथा झूठे ही भौतिक शरीरों से अपनी पहचान करने के लिए तीनों गुणों को धारण कर रखा है। उसके तीनों गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण—दोषयुक्त (*दोष-गृभीत*) हैं, क्योंकि आप उनकी उपस्थिति में प्रकट नहीं होते।''

श्रुतियाँ भगवान् को *अजित* कहती हैं जिसका अर्थ है कि ''केवल आप ही ऐसे हैं, जो माया द्वारा

जीते नहीं जाते, जबकि ब्रह्मा जैसे अन्य लोग अपनी ही त्रुटियों द्वारा परास्त कर दिये जाते हैं।''

भगवान् उत्तर देते हैं, ''लेकिन तुम्हारे पास इसका कौन-सा प्रमाण है कि वह मुझे नहीं जीत पाती?''

''इसका प्रमाण इस तथ्य में निहित है कि आपने अपनी मूल स्थिति में समस्त ऐश्वर्य की सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हैं।''

इस बात पर भगवान् को यह आपत्ति हो सकती है कि जीवों का अज्ञान नष्ट कर देने से ही वे मेरे चरणकमलों में नहीं चले आयेंगे, क्योंकि अज्ञान दूर किये जाने पर भी जीवात्मा भक्ति किये बिना भगवान् को प्राप्त नहीं कर सकता। स्वयं भगवान् का कथन है (*भागवत* ११.१.२१)—*भक्त्याहमेकया ग्राह्य:*—केवल भक्ति द्वारा मुझे प्राप्त किया जा सकता है।

इस आपत्ति का उत्तर श्रुतियाँ देती हैं, ''हे समस्त शक्तियों को जगाने वाले प्रभु! आप जीवों में बुद्धि तथा इन्द्रियाँ उत्पन्न करके उन्हें कठिन श्रम करने तथा अपने श्रम का फल भोगने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। इसके अतिरिक्त ज्ञान, योग तथा भक्ति के उन्नतिशील मार्गों का अनुसरण करने के लिए उनकी क्षमता को जागृत करते हुए आप उन्हें क्रमश: अपने ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् तीनों पक्षों की ओर अग्रसर होने देते हैं। जब ज्ञान, योग तथा भक्ति प्रौढ़ होते हैं, तो आप जीवों को अपने तीनों पक्षों का साक्षात्कार करने देते हैं।''

यदि भगवान् साक्षात् वेदों के इस कथन का समर्थन करने वाला प्रामाणिक साक्ष्य माँगते तो वेद विनयपूर्वक उत्तर देते, ''हम स्वयं साक्ष्य हैं। कुछ अवसरों पर—जैसे कि अब, सृष्टि के समय—आप अपनी बहिरंगा शक्ति माया के साथ क्रीड़ा करते हैं, जबकि आपकी अन्तरंगा शक्ति सदैव आपके साथ रहती है। वर्तमान के ही जैसे समयों पर जब आपकी सक्रियता बाह्य रूप से प्रकट होती है कि हम वेद आपको आपकी क्रीड़ा में पहचान लेते हैं।''

इस तरह भगवान् के साथ अपने निजी संसर्ग से प्राप्त अधिकार से श्रुतियाँ कर्म, ज्ञान योग तथा भक्ति को विविध साधनों के रूप में प्रयुक्त करती हैं, जिससे बद्धजीव ब्रह्म की खोज में अपनी बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन तथा प्राण का प्रयोग कर सकें।

कई स्थानों पर वेद ब्रह्म के दिव्य साकार गुणों की प्रशंसा करते हैं। निम्नलिखित श्लोक *श्वेताश्वतर*

उपनिषद् (६.११), *गोपालतापनी उपनिषद्* (उत्तर ९७) तथा *ब्रह्म उपनिषद्* (.१) में आया है—

एको देव: सर्वभूतेषु गूढ:

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

कर्माध्यक्ष: सर्वभूताधिवास:

साक्षी: चेता: केवलो निर्गुणश्च॥

''एक ही भगवान् उत्पन्न की गई सारी वस्तुओं के भीतर छिपा हुआ है। वह समस्त पदार्थ में व्याप्त है और सारे जीवों के हृदयों के भीतर स्थित है। वह अन्त:वासी परमात्मा के रूप में उनकी भौतिक गतिविधियों का निरीक्षण करता है। इस तरह स्वयं निर्गुण होते हुए वह अद्वितीय साक्षी एवं चेतना देने वाला है।''

ब्रह्म के साकार गुणों का अधिक वर्णन उपनिषदों के निम्नलिखित उद्धरणों में पाया जाता है—*य: सर्वज्ञ स सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तप:* जो सब जानने वाला है, जिससे समस्त ज्ञान की शक्ति आती है—वह सबों में से अधिक ज्ञानी है (*मुण्डक उपनिषद् १.१.९*)। *सर्वस्य वशी सर्वस्येशान:*—वह हर एक का स्वामी तथा नियन्ता है (*बृहदारण्यक उपनिषद् ..२२*); तथा *य: पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या आन्तरो यं पृथिवी न वेद*—वह जो पृथ्वी के भीतर रहता है और उसमें व्याप्त है और जिसे पृथ्वी नहीं जानती (*बृहदारण्यकउपनिषद्* ३.७.३)।

सृष्टि करने में भगवान् की भूमिका का उल्लेख अनेक श्रुति-कथनों में हुआ है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* (१.२.) का कथन है— *सोऽकामयत बहु स्याम्*—उसने इच्छा की कि मैं अनेक हो जाऊँ। *सोऽकामयत* (उसने इच्छा की) का यहाँ यह अर्थ है कि भगवान् का व्यक्तित्व शाश्वत हैं, क्योंकि सृष्टि के भी पूर्व ब्रह्म को इच्छा हुई और इच्छा तो व्यक्तियों का अद्वितीय लक्षण है। *ऐतरेय उपनिषद्* (३.११) में भी इसी तरह का कथन आया है—*स ऐक्षत तत्तेजोऽसृजत*—उसने देखा और उसकी शक्ति ने सृष्टि कर दी। यहाँ पर *तत्तेज:* शब्द भगवान् के अंशरूप महाविष्णु का द्योतक है, जो माया पर दृष्टि डालता है, जिससे भौतिक सृष्टि प्रकट होती है। अथवा *तत्तेज:* से भगवान् के निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप का, उनकी सर्वव्यापक शक्ति, शाश्वत उपस्थिति का द्योतन हो सकता है। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.०) में वर्णन हुआ है—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-

कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।

तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जो महान् शक्ति से सम्पन्न हैं। उनके दिव्य स्वरूप का प्रकाशमान तेज निर्विशेष ब्रह्म है, जो परम, पूर्ण तथा अनन्त है और जो कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों में असंख्य लोकों (ग्रहों) को उनके पृथक् पृथक् ऐश्वर्यों के समेत प्रदर्शित करता है।"

इस श्लोक का सार-समाहार करते हुए श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

जय जयाजित जह्यगजंगमा-

वृतिमजामुपनीतमृषागुणाम् ।

न हि भवन्तमृते प्रभवन्त्यामी

निगमगीतगुणार्णवता तव॥

"हे अजित! आपकी जय हो, जय हो। कृपा करके अपनी नित्य माया के प्रभाव को परास्त करें, जो समस्त चराचर प्राणियों को आच्छादित करती है और मोह के गुणों पर शासन चलाती है। आपके प्रभाव के बिना ये सारे वैदिक-मंत्र आपका गुणगान दिव्य गुणों के सागर के रूप में करने में असमर्थ रहेंगे।"

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात् ।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

बृहत्—ब्रह्म के रूप में; उपलब्धम्—अनुभूत; एतत्—यह (जगत); अवयन्ति—वे मानते हैं; अवशेषतया—जगत की सर्वव्यापी नींव के रूप में; यतः—चूँकि; उदय—उत्पत्ति; अस्तम्-अयौ—तथा विलय; विकृतेः—विकार का; मृदि—मिट्टी का; वा—मानो; अविकृतात्—विकार रहित (ब्रह्म); अतः—इसलिए; ऋषयः—ऋषियों ने (जिन्होंने वैदिक मंत्रों का संगलन किया); दधुः—स्थापित किया, रखा; त्वयि—तुम में; मनः—अपने मन; वचन—शब्द; आचरितम्—तथा कर्म; कथम्—कैसे; अयथा—जिस रूप में हैं, उस रूप में नहीं; भवन्ति—हो जाते हैं; भुवि—भूमि पर; दत्त—रखे हुए; पदानि—पग; नृणाम्—मनुष्यों के।

इस दृश्य जगत की पहचान ब्रह्म से की जाती है, क्योंकि परब्रह्म समस्त जगत की अनन्तिम

नींव है। यद्यपि समस्त उत्पन्न वस्तुएँ उनसे उद्भूत होती हैं और अन्त में उसी में लीन होती हैं, तो भी ब्रह्म अपरिवर्तित रहता है, जिस तरह कि मिट्टी जिससे अनेक वस्तुएँ बनाई जाती हैं और वे वस्तुएँ फिर उसी में लीन हो जाती हैं, वह अपरिवर्तित रहती है। इसीलिए सारे वैदिक ऋषि अपने विचारों, अपने शब्दों तथा अपने कर्मों को आपको ही अर्पित करते हैं। भला ऐसा कैसे हो सकता है कि जिस पृथ्वी पर मनुष्य रहते हैं, उसे उनके पैर स्पर्श न कर सकें?

तात्पर्य : इसमें सन्देह हो सकता है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पहचान करते समय सारे वैदिक मंत्र एकमत हैं। आखिर, कुछ मंत्र कहते हैं *इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा*—इन्द्र ही सारे चर-अचर प्राणियों का राजा है (ऋग्वेद १.३२.१५)। और कुछ मंत्र यह कहते हैं *अग्निर्मूर्धा दिवः*—अग्नि ही स्वर्ग का प्रमुख है। तिस पर भी अन्य मंत्र विभिन्न देवताओं को ब्रह्म बतलाते हैं। तो ऐसा प्रतीत होगा कि वेद एक बहु-आस्तिकतावादी सांसारिक दृश्य प्रस्तुत करते हैं।

स्वयं वेद इस संदेह का उत्तर देते हुए इस श्लोक में बतलाते हैं कि ब्रह्माण्ड की सृष्टि का एक ही स्रोत हो सकता है, जिसे ब्रह्म या *बृहत्* कहते हैं, जो सम्पूर्ण जगत में व्याप्त एवं निहित एकमात्र सत्य है। कोई भी एक देवता यथा इन्द्र या अग्नि इस अद्वितीय भूमिका को पूरा नहीं कर सकता, न ही श्रुतियाँ इतनी अज्ञानी हैं कि ऐसा विचार प्रस्तावित करेंगी। जैसाकि यहाँ *त्वयि* शब्द से सूचित होता है :एकमात्र विष्णु ही परम सत्य हैं। इन्द्र तथा अन्य देवताओं की महिमा का वर्णन भले ही विविध प्रकारों से किया जाता है, किन्तु उनमें वही शक्तियाँ पाई जाती हैं, जो श्री विष्णु ने उन्हें प्रदान की हैं।

वैदिक ऋषि समझते हैं कि यह समस्त जगत—जिसमें इन्द्र, अग्नि तथा आँखों, कानों इत्यादि इन्द्रियों से जो भी अनुभवगम्य है सभी सम्मिलित हैं—एक परम ब्रह्म या भगवान् से एकरूप है, जो *बृहत्* कहलाता है, क्योंकि वही *अवशेष* है अर्थात् "चरम वस्तु जो बची रहती है।" सृष्टि के समय भगवान् से ही प्रत्येक वस्तु का विस्तार होता है और प्रलय के समय सारी वस्तुएँ उन्हीं में विलीन हो जाती हैं। भौतिक जगत के पूर्व तथा पश्चात् केवल वे ही स्थिर आधार के रूप में विद्यमान रहते हैं, जिन्हें दार्शनिक जन *उपादान* (अवयव कारण) कहते हैं। यद्यपि भगवान् में से असंख्य रूप उद्भूत होते हैं, किन्तु वे सदा अपरिवर्तित रहते हैं—इसी विचार को श्रुतियों ने यहाँ *अविकृतात्* शब्द से द्योतित किया है।

मृदि वा शब्दों में (जैसा मिट्टी के उदाहरण में) एक प्रसिद्ध रूपक निहित है, जिसे उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से *छान्दोग्य उपनिषद्* (६..१) में कहा था *वाचारंभनं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्*—भौतिक जगत की वस्तुएँ केवल नाम के रूप में—जिसे भाषा के आधार पर विकार कहते हैं—विद्यमान रहती हैं, जबकि मुख्य अवयव कारण (उपादान) यथा मिट्टी जिससे बर्तन बनाये जाते हैं असली सत्य है। मिट्टी का लोंदा विभिन्न बर्तनों, मूर्तियों इत्यादि का उपादान है, किन्तु मिट्टी ही अपरिवर्तित सार है। अन्ततोगत्वा बर्तन तथा अन्य वस्तुएँ नष्ट होकर उसी मिट्टी में मिल जायेंगी जिससे वे बनी थीं। इसी प्रकार भगवान् सम्पूर्ण अवयव कारण हैं फिर भी वे विकार से सदैव अस्पृश्य रहते हैं। यही सार है इस कथन का *सर्वं खल्विदं ब्रह्म* (छान्दोग्य उपनिषद् ३.१.१)। इस रहस्य पर आश्चर्य प्रकट करते हुए महान् भक्त गजेन्द्र ने प्रार्थना की थी—

नमो नमस्तेऽखिलकारणाय

निष्कारणायाद्भुतकारणाय ॥

"समस्त सृष्टि के उद्गम, आपको बारम्बार नमस्कार है। आप समस्त कारणों के अचिन्त्य कारण हैं और आपका कोई अन्य कारण नहीं है।" (*भागवत* ८.३.१५)

भौतिक प्रकृति को पाश्चात्य विज्ञान में तथा वेदों में भी प्राय: सृष्टि का उपादान—अवयव कारण—माना जाता है। किन्तु इससे भगवान् के अन्तिम कारण होने के तथ्य का विरोध नहीं होता, क्योंकि प्रकृति उनकी शक्ति है और स्वयं परिवर्तनशील है। *श्रीमद्भागवत* (११.२.१९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

प्रकृतिर्यस्योपादानम् आधार: पुरुष: पर: ।

सतोऽभिव्यञ्जक: कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम् ॥

"भौतिक ब्रह्माण्ड सत्य है, जिसका मूल अवयव तथा अन्तिम स्थिति प्रकृति है। महाविष्णु प्रकृति के आधार हैं, जो कालशक्ति द्वारा प्रकट होती है। इस तरह प्रकृति, सर्वशक्तिमान विष्णु तथा काल—ये मुझ परम सत्य से पृथक् नहीं हैं।" यद्यपि प्रकृति में विकार आता है, किन्तु परम पुरुष भगवान् में नहीं आता। प्रकृति भगवान् की बहिरंगा शक्ति है, किन्तु भगवान् के एक दूसरी शक्ति—अन्तरंगा शक्ति—है, जो *स्वरूपभूता* है अर्थात् उनसे सर्वथा अभिन्न है। भगवान् की अन्तरंगा शक्ति उन्हीं की तरह

अपरिवर्तनशील है।

इसीलिए वेदों के मंत्र तथा वे ऋषि जिन्होंने इन मंत्रों को ध्यान में प्राप्त किया है और मानव कल्याण के लिए जिनका प्रसार किया है, अपना ध्यान मूलत: भगवान् की ओर देते हैं। वैदिक ऋषि अपने मन तथा वचनों के कार्यकलापों को—अर्थात् अपने वचनों के आन्तरिक एवं शाब्दिक अर्थों (अभिद्या-वृत्ति) को—सर्वप्रथम भगवान् को ही अर्पित करते हैं और गौण रूप में ही प्रकृति के भिन्न विकारों यथा इन्द्र आदि देवताओं को अर्पित करते हैं।

जिस तरह मनुष्य के पग चाहे वे कीचड़, पत्थर या ईंट पर पड़ें, पृथ्वी को छुए बिना नहीं रहते, उसी तरह वेद जो भी भौतिक सृष्टि के विषय में चर्चा करते हैं उसका सम्बन्ध परम सत्य से होता है। संसारी साहित्य सीमित घटनाओं का ही वर्णन करता है और इसके विषयों का संपूर्ण वास्तविकता से सम्बन्ध की उपेक्षा करता है, जबकि वेदों की दृष्टि सदैव ब्रह्म पर रहती है। *छान्दोग्य उपनिषद्* से इसकी पुष्टि होती है—*मृत्तिकेत्येव सत्यम्* तथा *सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—वास्तविकता की पूरी पहचान तभी होती है, जब प्रत्येक वस्तु को अस्तित्व के लिए ब्रह्म पर आश्रित देखा जाता है। एकमात्र ब्रह्म सत्य है—इसलिए नहीं कि इस जगत में हम जो कुछ देखते हैं वह सत्य नहीं हैं, अपितु ब्रह्म प्रत्येक वस्तु का चरम अन्तिम कारण है। इस तरह *मृत्तिकेत्येव सत्यम्* में आये शब्द *सत्यम्* की परिभाषा एक अन्य प्रसंग में स्वयं भगवान् कृष्ण ने ''उपादान'' के रूप में की है—

यद् उपादाय पूर्वस्तु भावो विकुरुते परम्।
आदिरन्तो यदा यस्य तत् सत्यमभिधीयते॥

''एक आवश्यक अवयव से बनी हुई भौतिक वस्तु एक अन्य भौतिक वस्तु को विकार के माध्यम से जन्म देती है। इस तरह एक सृजित वस्तु दूसरी सृजित वस्तु का कारण तथा आधार बनती है। कोई वस्तु इसलिए असली (सत्य) कही जा सकती है, क्योंकि इसमें उस वस्तु का मूलभूत स्वभाव होता है, जो इसका कारणस्वरूप होता है।'' (*भागवत* ११.२.१८)

श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* में *ब्रह्म* शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है, ''ब्रह्म शब्द सबसे महान् तथा प्रत्येक जीव के पालनकर्ता का सूचक है। निर्विशेषवादी आकाश की महानता की ओर आकृष्ट होते हैं किन्तु अपनी अल्पज्ञता के कारण ही वे श्रीकृष्ण की महानता की ओर आकृष्ट नहीं हो

पाते। हम अपने व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति विशेष की महानता द्वारा आकृष्ट होते हैं, किन्तु किसी पर्वत की महानता द्वारा नहीं। वस्तुतः ब्रह्म शब्द का प्रयोग केवल श्रीकृष्ण के लिए ही किया जा सकता है। अतएव *भगवद्गीता* में अर्जुन ने स्वीकार किया है कि श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं अर्थात् वे प्रत्येक वस्तु के परम आश्रय हैं।

अपने अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्तियों, अनन्त बल, अनन्त प्रभाव, अनन्त सौन्दर्य तथा अनन्त त्याग के कारण ही श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। अतएव ब्रह्म शब्द केवल श्रीकृष्ण के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है। अर्जुन इस तथ्य की पुष्टि करता है कि श्रीकृष्ण के दिव्य शरीर से उद्भूत किरणों के रूप में तेज ही निराकार ब्रह्म है, अतएव श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। प्रत्येक वस्तु ब्रह्म पर आश्रित है किन्तु ब्रह्म श्रीकृष्ण पर आश्रित है। अतएव श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। भौतिक तत्त्वों को श्रीकृष्ण की निम्न (कनिष्ठ) शक्तियों के रूप में माना जाता है, क्योंकि उनकी अन्योन्य क्रिया से सृष्टि का निर्माण होता है, कृष्ण पर टिकी रहती है तथा प्रलय के बाद श्रीकृष्ण की सूक्ष्म शक्ति के रूप में उनके शरीर में पुनः प्रवेश करती है। अतएव सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रलय दोनों के कारण श्रीकृष्ण हैं।''

सारांश रूप में श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

द्रुहिणवह्निरवीन्द्रमुखामरा

जगदिदं न भवेत् पृथगुत्थितम्।

बहुमुखैरपि मन्त्रगणैरज-

स्त्वमुरुमूर्तिरतो विनिगद्यसे॥

''शिव, अग्नि, सूर्य, इन्द्र इत्यादि देवता तथा ब्रह्माण्ड के सारे जीव आपसे स्वतंत्र रहकर उत्पन्न नहीं होते। यद्यपि वेद मंत्र विविध दृष्टियों से बोलते हैं किन्तु वे सभी विविध रूपों में प्रकट होने वाले अजन्मा आप ही के बारे में कहते हैं।''

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल-
क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः ।
किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः
परम भजन्ति ये पदमजस्त्रसुखानुभवम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; तव—तुम्हारा; सूरयः—ज्ञानी सन्त; त्रि—तीन (लोकों के); अधिपते—हे स्वामी; अखिल—समस्त; लोक—लोकों का; मल—दूषण; क्षपण—उन्मूल करने वाले; कथा—चर्चा के; अमृत—अमृत; अब्धिम्—समुद्र में; अवगाह्य—डुबकी लगाकर; तपांसि—अपने कष्टों को; जहुः—त्याग दिया है; किम् उत—क्या कहा जा सकता है; पुनः—और भी; स्व—अपनी; धाम—शक्ति से; विधुत—दूर किया हुआ; आशय—मनों के; काल—तथा समय के; गुणाः—(अवांछित) गुण; परम—हे सर्वश्रेष्ठ; भजन्ति—पूजा करते हैं; ये—जो; पदम्—आपके असली स्वभाव को; अजस्त्र—निर्बाध; सुख—सुख का; अनुभवम्—अनुभव।

अतएव हे त्रिलोकपति, बुद्धिमान लोग आपकी कथाओं के अमृतमय सागर में गहरी डुबकी लगाकर समस्त क्लेशों से छुटकारा पा लेते हैं, क्योंकि आपकी कथाएँ ब्रह्माण्ड के सारे दूषण को धो डालती हैं। तो फिर उन लोगों के बारे में क्या कहा जाय, जिन्होंने आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा अपने मनों को बुरी आदतों से और स्वयं को काल से मुक्त कर लिया है और, हे परम पुरुष, आपके असली स्वभाव की, जिसके भीतर निर्बाध आनन्द भरा है, पूजा करने में समर्थ हैं?

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार पिछले श्लोक में उन श्रुतियाँ ने जिनके ब्रह्म-विषयक वर्णन निर्विशेष लगे हों अपने असली प्रयोजन को स्पष्ट कर दिया। अब इस श्लोक में वे श्रुतियाँ जो अपना ध्यान दिव्य भगवान् पर ही केन्द्रित करती हैं और उन्हीं की दिव्य लीलाओं का वर्णन करती हैं उनकी प्रशंसा कर रही हैं।

चूँकि सारे वेद भगवान् की श्रेष्ठता *सर्वकारण कारणं* के रूप में घोषित करते हैं, अतएव विवेकशील व्यक्तियों को चाहिए कि उन भगवान् की पूजा करना स्वीकार करें। उनके महिमाओं रूपी समुद्र में गोता लगाकर बुद्धिमान भक्त समस्त जीवों के कष्टों को भगाने में सहायता करते हैं और भौतिक जीवन के प्रति अपनी आसक्ति को शिथिल बनाते हैं। ये प्रगतिशील भक्त धीरे धीरे सारी भौतिक आसक्तियाँ त्याग देते हैं और कर्म, ज्ञान तथा योग की कष्टप्रद तपस्या के प्रति, जो किसी समय उनकी रुचि थी, उसे समाप्त कर देते हैं।

इन भक्तों से भी परे श्रुतियाँ हैं, जो दिव्य सत्य की पारखी हैं और भगवान् के यश रूपी अमृतमय समुद्र में गोता लगाकर इसका सम्मान करती हैं। भगवान् के ये परिपक्व भक्त आशातीत सिद्धि प्राप्त करते हैं। भगवान् इनके निष्ठावान् प्रयासों से आदान-प्रदान करके इन्हें शक्ति प्रदान करते हैं कि ये उनके साकार रूप की अनुभूति कर सकें। प्रसन्नतापूर्वक भगवान् की अन्तरंगा लीलाओं तथा वातावरण का स्मरण करके ये मानसिक दूषण के अन्तिम सूक्ष्म चिह्नों से तथा रोग एवं बुढ़ापे की दुर्निवार पीड़ा के

प्रति संवेदनशीलता से सर्वथा स्वत: मुक्त हो जाते हैं।

भक्ति की शुद्धि करने की शक्ति का उल्लेख करते हुए श्रुतियाँ कहती हैं *तद् यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवम् एवंविधि पापं कर्म न श्लिष्यते*—जिस तरह कमल के पत्ते पर जल नहीं ठहरता उसी तरह पापपूर्ण कर्म उस पर नहीं ठहरते, जो सत्य को इस तरह से जानता है। *शतपथ ब्राह्मण* (१.७.२८), *तैत्तिरीय ब्राह्मण* (३.१२.९.८), *बृहदारण्यक उपनिषद्* (..२८) तथा *बौधायन-धर्म-शास्त्र* (२.६.११.३०) सभी एकमत हैं कि *न कर्मणा लिप्यते पापकेन*—इस तरह पापपूर्ण कर्म द्वारा दूषित होने से बचा जा सकता है।

ऋग्वेद (१.१५.१) में भगवान् की लीलाओं का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—*विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं य: पार्थिवानि विममे रजांसि*—जो कोई संसार-भर के सभी धूल-कणों को गिन सकता है केवल वही भगवान् विष्णु के वीरतापूर्ण कार्यों को पूरी तरह प्रतिपादित कर सकता है। अनेक श्रुति मंत्रों में भगवद्भक्ति की प्रशंसा की गई है। यथा—*एको वशी सर्वगो येऽनुभजन्ति धीरास्। तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्*—वे ही एक सर्वव्यापक प्रभु तथा नियन्ता हैं, केवल वे चतुर आत्माएँ, जो उनकी पूजा करती हैं शाश्वत सुखपाती हैं, अन्य आत्माएँ नहीं।

इस प्रसंग में श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

सकलवेदगणेरितसद्गुणस्त्वम्

इति सर्वमनीषिजना रता:।

त्वयि सुभद्रगुणश्रवणादिभिस्तव

पदस्मरणेन गतक्लमा:॥

"चूँकि सारे वेद आपके दिव्य गुणों का वर्णन करते हैं इसलिए सारे विचारशील व्यक्ति आपके सर्वमंगलकारी गुणों के सुनने और उनका कीर्तन करने की ओर आकर्षित होते हैं। इस तरह आपके चरणकमलों का स्मरण करके वे भौतिक दुख से मुक्त हो जाते हैं।"

दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा
महदहमादयोऽण्डमसृजन्यदनुग्रहत: ।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु य:

सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

दृतयः—धौंकनी; इव—सदृश; श्वसन्ति—श्वास लेते हैं; असु-भृतः—जीवित; यदि—यदि; ते—तुम्हारे; अनुविधाः—स्वामि-भक्त अनुयायी; महत्—सम्पूर्ण भौतिक शक्ति; अहम्—मिथ्या अहंकार; आदयः—तथा सृष्टि के अन्य तत्त्व; अण्डम्—ब्रह्माण्ड को; असृजन्—उत्पन्न किया; यत्—जिसकी; अनुग्रहतः—कृपा से; पुरुष—जीविका; विधः—विशिष्ट स्वरूपों के अनुसार; अन्वयः—जिनका प्रवेश; अत्र—इनमें से; चरमः—चरम; अन्न-मय-आदिषु—अन्नमय नामक अभिव्यक्तियों में; यः—जो; सत्-असतः—स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थ से; परम्—पृथक्; त्वम्—तुम; अथ—और भी आगे; यत्—जो; एषु—इनमें से; अवशेषम्—निहित; ऋतम्—वास्तविकता।

यदि वे आपके श्रद्धालु अनुयायी बन जाते हैं, तभी वे साँस लेते हुए वास्तव में जीवित हैं, अन्यथा उनका साँस लेना धौंकनी जैसा है। यह तो आपकी एकमात्र कृपा ही है कि महत् तत्त्व तथा मिथ्या अहंकार से प्रारम्भ होने वाले तत्त्वों ने इस ब्रह्माण्ड रूपी अंडे को जन्म दिया। अन्नमय इत्यादि स्वरूपों में आप ही चरम हैं, जो जीव के साथ भौतिक आवरणों में प्रवेश करके उसके ही जैसे स्वरूप ग्रहण करते हैं। स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक स्वरूपों से भिन्न, आप उन सबों में निहित वास्तविकता हैं।

तात्पर्य : उसके लिए जीवन प्रयोजनरहित है, जो अपने अत्यन्त हितैषी के प्रति अज्ञानी बना रहता है और उसकी पूजा नहीं करता। ऐसे व्यक्ति का श्वास लेना लुहार की धौंकनी के साँस लेने जैसा है। बद्धजीव के लिए मानव-जीवन की भेंट एक सुअवसर है, लेकिन अपने स्वामी से मुख मोड़ कर जीव आध्यात्मिक आत्महत्या कर लेता है। *श्री ईशोपनिषद* (३) के शब्दों में—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

"आत्मा का हन्ता, चाहे वह जो कोई भी हो, उसे श्रद्धाविहीन अंधकार तथा अज्ञान से पूर्ण लोकों के नाम से अभिहित लोकों में प्रवेश करना होगा।" *असूर्याः* का अर्थ है "दानवों द्वारा प्राप्त किया जाना" और दानव ऐसे व्यक्ति हैं, जिनमें भगवान् विष्णु के प्रति कोई भक्ति नहीं होती। *अग्नि पुराण* में यह परिभाषा दी गई है—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।

विष्णुभक्तिपरो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः ॥

"इस संसार में दो प्रकार की उत्पन्न प्राणी हैं दैवी तथा दानवी। जो भगवान् विष्णु की भक्ति में लगे रहते हैं, वे दैवी हैं और जो ऐसी सेवा के विरोधी हैं, वे दानवी हैं।"

इसी तरह बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है न चेद् अवेदीन् महती विनष्टि:... ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुखम् एवोपयन्ति—यदि कोई व्यक्ति ब्रह्म को नहीं जानता तो उसको सर्वनाश देखना पड़ता है...जो ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं, वे अमर हो जाते हैं, किन्तु अन्य लोगों को अवश्य ही दुख भोगना पड़ता है। अज्ञान से जनित कष्ट से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को अपनी कृष्णचेतना को जागृत करना चाहिए, किन्तु जिस विधि से इसे किया जाता है उसका कठिन होना आवश्यक नहीं है, जैसाकि भगवान् कृष्ण हमें *भगवद्गीता* (९.३) में आश्वासन देते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवम् आत्मानं मत्परायण:॥

"अपने मन को सदैव मेरा चिन्तन करने में लगाओ, मेरे भक्त बनो, मुझे ही नमस्कार करो तथा मेरी पूजा करो। पूरी तरह से मुझमें लीन होने पर तुम अवश्य ही मेरे पास आओगे।" अयोग्यताओं तथा दुर्बलताओं के बावजूद मनुष्य को स्वेच्छा से *अनुविध* अर्थात् भगवान् का विश्वासपात्र तथा विश्वासी दास बन जाना चाहिए। *कठ उपनिषद्* की घोषणा है (२.२.१३)

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्

एको बहूनां यो विदधाति कामान्।

तं पीठगं येऽनुपश्यन्ति धीरास्

तेषां शान्ति: शाश्वती नेतरेषाम्॥

"समस्त नित्य एवं चेतन जीवों में एक ऐसा है, जो हर एक की आवश्यकताएँ पूरी करता है। जो बुद्धिमान आत्माएँ उनके धाम में उनकी पूजा करती हैं, उन्हें शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है। अन्य को नहीं।"

क्या जीवित है और क्या मृत है? भौतिकतावादी अभक्तों के शरीर तथा मन जीवन के लक्षण तो प्रदर्शित करते हैं, लेकिन यह स्वरूप भ्रामक है। वस्तुत: बद्धजीव का अपने शारीरिक अस्तित्व पर कोई नियंत्रण नहीं रहता। अपनी इच्छा के विरुद्ध वह मल त्यागता है, समय समय पर बीमार पड़ता है और वृद्ध होकर अन्त में मर जाता है। वह अपने मन में अनिच्छित ही क्रोध, लालसा तथा शोक का भोग करता है। भगवान् कृष्ण इस स्थिति को *यन्त्रारूढानि मायया* (*भगवद्गीता* १८.६१) कहते हैं अर्थात्

यात्री–यंत्र में असहाय–सा आरूढ़ होना। आत्मा तो निस्सन्देह जीवित रहता है और इसका जीना अटल है, लेकिन अपने अज्ञान के कारण आन्तरिक जीवन प्रच्छन्न तथा विस्मृत रहता है। इसके स्थान पर बाह्य मन तथा शरीर प्रकृति के गुणों के आदेश पालन करते हैं, जिससे मनुष्य आत्मा की सुप्त आवश्यकताओं से असम्बद्ध होकर कर्म करता है। *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (२.५) माया के इन भुलक्कड़ बन्दियों को पुकार पुकार कर कहती है—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्त पुत्रा

आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।

''हे अमरता के पुत्रो, जो कभी दैवी लोक में वास करते थे, सुनो!''

अतएव एक ओर सामान्यतया जिसे सजीव माना जाता है यह भौतिक शरीर वास्तव में मृत यंत्र है, जो प्रकृति के गुणों द्वारा संचालित है। दूसरी ओर भौतिकतावादी जिसे शोषण के लिए जड़ पदार्थ मानता है, वह अज्ञात अनिवार्यता से सजीव बुद्धि से सम्बन्धित होता है, जो उसकी अपनी बुद्धि से अधिक शक्तिशाली है। प्रकृति के पीछे जो बुद्धि कार्य करती है, उसे वैदिक सभ्यता उन देवताओं से सम्बन्धित मानती है, जो विविध तत्त्वों के अधिष्ठाता हैं और अन्त में इसे स्वयं भगवान् से सम्बन्धित मानती है। वस्तुतः पदार्थ किसी सजीव शक्ति की प्रेरणा तथा निर्देशन के बिना ठीक से कार्य नहीं कर सकता। जैसाकि कृष्ण ने *भगवद्गीता* (९.) में कहा है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते॥

''हे कुन्ती–पुत्र! यह भौतिक प्रकृति, जो कि मेरी एक शक्ति है मेरी अध्यक्षता में कार्य कर रही है और समस्त जड़ तथा चेतन प्राणियों को उत्पन्न करती है। उसके शासन के अन्तर्गत ही यह जगत बारम्बार उत्पन्न होता है और नष्ट होता है।''

सृष्टि के प्रारम्भ में महाविष्णु ने सुप्त प्रकृति पर दृष्टि डाली। अतः जागकर सूक्ष्म प्रकृति अधिक संहत स्वरूपों को जन्म देने लगी पहले पहल *महत्* बना, फिर प्रकृति के तीनों गुणों के संयोग से *अहं* और तब धीरे धीरे विभिन्न तत्त्व यथा बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ तथा पाँच भौतिक तत्त्व और उनके अधिष्ठाता देवता बने। किन्तु पृथक् रूप पा चुकने के बाद भी ये देवता जो विविध तत्त्वों के अधिष्ठाता हैं, तब

तक दृश्य जगत का निर्माण नहीं कर पाये, जब तक भगवान् विष्णु ने अपनी विशेष कृपा प्रदान करके एक बार फिर अन्तराक्षेप नहीं किया। इसका वर्णन *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कंध (३.५.३८-३९) में मिलता है—

एते देवा: कला विष्णो: कालमायांशलिंगिन:।

नानात्वात् स्वक्रियानीशा: प्रोचु: प्राञ्जलयो विभुम्॥

देवा ऊचु:

ननाम ते देव पदारविन्दं प्रपन्नतापोपशमातपत्रम्।

यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरुसंसारदु:खं बहिरुत्क्षिपन्ति॥

''इन भौतिक तत्त्वों के अधिष्ठाता देव भगवान् विष्णु के शक्त्याविष्ट अंश हैं। वे बहिरंगा शक्ति के अधीन शाश्वत काल द्वारा देह पाते हैं और वे उनके विभिन्नांश हैं। जब उन्हें विश्व के विविध कार्य सौंप दिये गये और वे उन्हें नहीं कर पाये, तो उन्होंने भगवान् की सम्मोहक स्तुति की। देवताओं ने कहा, ''हे प्रभु! आपके चरणकमल शरणागतों के लिए छाते के समान हैं, जो समस्त भौतिक क्लेशों से उनकी रक्षा करते हैं। सारे ऋषि-मुनि उसी की छाया में समस्त भौतिक क्लेशों से छूट जाते हैं। अतएव हम आपके चरणकमलों को सादर नमस्कार करते हैं।''

एकत्र हुए उन तत्त्वों के देवों की प्रार्थना सुनकर भगवान् ने उन पर कृपा प्रदर्शित की (*भागवत* ३.६.१-३)

इति तासां स्वशक्तीनां सतीनाम् असमेत्य स:।

प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वर:॥

कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिम् उरुक्रम:।

त्रयोविंशति तत्त्वानां गणं युगपद् आविशत्॥

सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम्।

भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म प्रबोधयन्॥

''इस तरह भगवान् ने अपनी शक्तियों यथा *महत् तत्त्व* के संयोग न होने से ब्रह्माण्ड के सृजन-कार्य को ठप होते सुना। तब परम शक्तिमान भगवान् अपनी बहिरंगा शक्ति देवी काली सहित तेईसों

तत्त्वों के भीतर एक ही समय प्रविष्ट हुए। यह काली देवी ही समस्त तत्त्वों को एक में मिलाने वाली है। इस तरह जब भगवान् अपनी शक्ति के द्वारा तत्त्वों में प्रविष्ट हो गये, तो सारे जीव जागकर विभिन्न कर्मों में लग गये, जिस तरह कोई व्यक्ति निद्रा से जाग कर अपना कार्य करने लगे।''

श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* में आत्मा को आच्छादित करने वाले अहंकार के पाँच कोशों की व्याख्या की है, ''शरीर के भीतर जीवन के पाँच विभिन्न विभाग हैं, जो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय नाम से जाने जाते हैं। [इनका उल्लेख *तैत्तिरीय उपनिषद्* के *ब्रह्मानन्द वल्ली* में हुआ है]। जीवन के प्रारम्भ में प्रत्येक प्राणी भोजन के प्रति सचेष्ट रहता है। बालक अथवा पशु केवल उत्तम भोजन पा कर ही सन्तुष्ट होते हैं। चेतना का यह स्तर, जिसमें भर-पेट भोजन ही ध्येय होता है, *अन्नमय* कहा जाता है। अन्न का अर्थ है भोजन। इसके बाद जीवित रहने की चेतना आती है। यदि बिना किसी आक्रमण या संहार के व्यक्ति अपना जीवन बिता सकता है, तो वह स्वयं को सुखी मानता है। इस स्थिति को *प्राणमय* अर्थात् अपने अस्तित्व के प्रति चेतना कहते हैं। इसके पश्चात् जब व्यक्ति मानसिक स्तर पर जीवित रहता है, तो उस चेतना को *मनोमय* कहते हैं। भौतिक सभ्यता मूलत: अन्नमय, प्राणमय तथा मनोमय—इन्हीं तीन कोशों पर आधारित है। सभ्य व्यक्तियों की प्रथम चिन्ता आर्थिक विकास, द्वितीय चिन्ता विनाश से सुरक्षा और इसके बाद मानसिक विचार की चेतना होती है, जो कि जीवन मूल्यों के प्रति दार्शनिक पक्ष है।

यदि दार्शनिक जीवन की विकास-प्रक्रिया द्वारा वह बौद्धिक जीवन के स्तर पर पहुँच जाता है और यह समझ पाता है कि वह यह भौतिक शरीर नहीं अपितु आत्मा है, तो वह *विज्ञानमय* अवस्था को प्राप्त होता है। तब आध्यात्मिक जीवन के विकास द्वारा वह भगवान् या परमात्मा को समझ पाता है। जब व्यक्ति भगवान् से अपना सम्बन्ध विकसित कर लेता है और भक्ति करता है, तो जीवन की वह अवस्था कृष्णभावनामृत अथवा *आनन्दमय* अवस्था कहलाती है। *आनन्दमय* ज्ञान तथा शाश्वतता का आनन्दपूर्ण जीवन है। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* में कहा गया है—*आनन्दमयोऽभ्यासात्।* परब्रह्म तथा ब्रह्म अथवा भगवान् तथा जीव दोनों ही स्वभाव से आनन्दमय हैं। जब तक जीव अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय नामक चार निम्न कोशों में रहते हैं, तब तक उन्हें जीवन की भौतिक अवस्था में स्थित माना जाता है। किन्तु जैसे ही वह आनन्दमय स्थिति को प्राप्त कर लेता है, वह मुक्तात्मा बन जाता है।

भगवद्गीता में इस आनन्दमय स्थिति को *ब्रह्मभूत* स्थिति कहा गया है। इस स्थिति में कोई उद्वेग अथवा कोई तृष्णा नहीं रह जाती। इस स्थिति का प्रारम्भ तब होता है, जब व्यक्ति समस्त जीवों पर समभाव रखने लगता है। इसके बाद इसका विस्तार कृष्णभावनामृत स्थिति में होता है, जिसमें व्यक्ति सदैव भगवत्सेवा के लिए लालायित रहता है। भक्ति में आगे बढ़ने की यह लालसा भौतिक जगत में इन्द्रियतृप्ति की लालसा जैसी नहीं होती। दूसरे शब्दों में, आध्यात्मिक जीवन में भी लालसा रहती है, किन्तु वह निर्मल हो जाती है। जब हमारी इन्द्रियाँ निर्मल हो जाती हैं, तो वे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय समस्त भौतिक स्थितियों से मुक्त हो जाती हैं और वे कृष्णभावनामृत के आनन्दमय जीवन में अर्थात् आनन्दमय नामक सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त होती हैं।

मायावादी दार्शनिक आनन्दमय स्थिति को परब्रह्म में लीन होने की स्थिति कहते हैं। उनके लिए आनन्दमय का अर्थ है : परमात्मा तथा जीवात्मा का तादात्म्य। किन्तु वास्तविक तथ्य यह है कि एकात्म हो जाने का अर्थ परब्रह्म में समा जाना और अपना व्यक्तिगत अस्तित्व खोना नहीं है। आध्यात्मिक अस्तित्व में लीन होने का अर्थ है कि जीव अपनी गुणात्मक एकता परमेश्वर के सत्–चित् गुणों के साथ समझ लेता है। वह समझ जाता है कि शाश्वतता तथा ज्ञान जैसे परमेश्वर के गुण उसमें भी हैं। वास्तविक आनन्दमय स्थिति तभी प्राप्त होती है, जब व्यक्ति भक्ति में संलग्न होता है। इस तथ्य की पुष्टि *भगवद्गीता* में की गई है। *मद्भक्तिं लभते पराम्*—ब्रह्मभूत आनन्दमय स्थिति तभी पूर्ण होती है, जब परमात्मा तथा अधीनस्थ जीवात्माओं के मध्य प्रेम का आदान–प्रदान होता है। जब तक व्यक्ति जीवन के इस आनन्दमय स्तर को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उसका श्वास लेना लुहार की धौंकनी के श्वास लेने के समान है। उसकी आयु वृक्ष की आयु की तरह है और वह निम्नतर पशुओं जैसे ऊँट, शूकर तथा कुत्तों से किसी भाँति श्रेष्ठ नहीं है।"

माया के कोशों के भीतर जीव के साथ रहते हुए भी परमात्मा जीव की तरह कर्म के पाश से बँधा नहीं रहता। इन कोशों के साथ परमात्मा का सम्बन्ध वैसे ही रहता है, जैसे चन्द्रमा और वृक्ष की कुछ शाखाओं के बीच, जिनमें से चन्द्रमा दिखता है, होता है। परमात्मा *सदसत: परम्* अर्थात् अन्नमय आदि के सूक्ष्म तथा स्थूल रूपों से परे है, यद्यपि वह उनके भीतर समस्त कर्मों के साक्षी रूप में प्रवेश करता है। अन्तिम कारण के रूप में एक तरह से परमात्मा सृष्टि के व्यक्त पदार्थों से अभिन्न है, किन्तु उसकी

आदि पहचान (*स्वरूप*) पृथक् रहती है। इस दूसरे अर्थ में वह एकमात्र आनन्दमय है, जो कि पाँच कोशों में अन्तिम है। इसीलिए श्रुतियाँ उसे यहाँ पर *अवशेषम्* कहकर पुकारती हैं। *तैत्तिरीय उपनिषद्* में भी (२.७) यही बात कही गई है *रसो वै सः।* परमेश्वर अपने भीतर *रस* का आनन्द लेते हैं, जो कि भक्ति-रस के विनिमय स्वरूप है। रसों का कार्य अभिन्न अंगस्वरूप सिद्धजीवों का उसमें सम्मिलित होना है। *रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति*—वह साक्षात् रस है और जीव, जो इस रस की अनुभूति करता है पूर्णतया आनन्दमय हो जाता है। अर्थात् साक्षात् वेदों द्वारा इस श्लोक में कहे गये शब्दों के रूप में परमात्मा *ऋतम्* है, जिसकी व्याख्या श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने ''महर्षियों द्वारा अनुभूत'' के रूप में की है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के मतानुसार समस्त प्रामाणिक शास्त्रों का अन्तिम शब्द (*सर्वान्तिम श्रुति*) यह नीतिवाक्य—*रसो वै सः*—है, जो भगवान् श्रीकृष्ण के प्रसंग में दिव्य आनंद के अनंत प्रसारण के रूप में प्रदर्शित होता है (*सर्ववृहत्तमानन्द*)। *गोपालतापनी उपनिषद्* (*उत्तर* ९६) में कहा गया है—*योऽसौ जाग्रत-स्वप्न सुषुप्तिम् अतीत्य तुर्यातीतो गोपालः*—गोप कृष्ण न केवल जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति की भौतिक चेतना को लाँघने वाला है अपितु शुद्ध आध्यात्मिक चेतना के चौथे क्षेत्र को भी लाँघ जाता है। आनन्दमय परमात्मा आदि गोविन्द का एक पक्ष है, जैसाकि उन्होंने स्वयं कहा है *विष्टभ्याहम् इदं कृत्स्नम् एकांशेन स्थितो जगत्*—मैं अपने एक अंश मात्र से इस समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त हूँ और इसका पालन करता हूँ (*भगवद्गीता* .२)।

इस प्रकार श्रुतियाँ बड़ी ही विद्वतता से कहती हैं कि ईश्वर के अनेक साकार रूपों में भी कृष्ण सर्वोच्च हैं। यह समझते हुए नारद मुनि आगे चलकर भगवान् कृष्ण की स्तुति *नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्तये* (श्लोक ६) शब्दों द्वारा करते हैं, यद्यपि वे भगवान् नारायण ऋषि के समक्ष खड़े हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी इस श्लोक की टीका निम्नलिखित स्तुति के साथ समाप्त करते हैं—

नरवपुः प्रतिपाद्य यदि त्वयि

श्रवणवर्णनसंस्मरणादिभिः।

नरहरे न भजन्ति नृणाम् इदं

दृतिवद् उच्छ्वसितं विफलं तत: ॥

''हे नरहरि! जिन लोगों ने यह मनुष्य-जीवन प्राप्त किया है, यदि वे आपका श्रवण, कीर्तन, स्मरण तथा अन्य भक्ति-कार्य करके आपकी पूजा करने से चूक जाते है, तो वे व्यर्थ ही जीवित हैं और धौंकनी के समान ही श्वास लेते रहते हैं।''

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् ।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत्समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

उदरम्—पेट; उपासते—पूजते हैं; ये—जो; ऋषि—ऋषियों की; वर्त्मसु—मानक विधियों के अनुसार; कूर्प—स्थूल; दृशः—उनकी दृष्टि; परिसर—जिससे सारी प्राणिक शाखाएँ (नाड़ियाँ) फूटती हैं; पद्धतिम्—शिरोविन्दु; हृदयम्—हृदय; आरुणयः—आरुणि ऋषिगण; दहरम्—सूक्ष्म; ततः—तब से; उदगात्—(आत्मा) ऊपर उठता है; अनन्त—हे अनन्त; तव—तुम्हारा; धाम—प्रकट होने का स्थान; शिरः—सिर; परमम्—सर्वोच्च गन्तव्य; पुनः—फिर; इह—इस जगत में; यत्—जो; समेत्य—पहुँच कर; न पतन्ति—नीचे नहीं गिरते हैं; कृत-अन्त—मृत्यु के; मुखे—मुख में।

बड़े बड़े ऋषियों द्वारा निर्दिष्ट विधियों के अनुयायियों में से, जिनकी दृष्टि कुछ कम परिष्कृत होती है, वे ब्रह्म को उदर क्षेत्र में उपस्थित मानकर पूजा करते हैं, किन्तु आरुणिगण उसे हृदय में उपस्थित मानकर पूजा करते हैं, जो सूक्ष्म केन्द्र है जहाँ से सारी प्राणिक शाखाएँ (नाड़ियाँ) निकलती हैं। हे अनन्त, ये पूजक अपनी चेतना को वहाँ से ऊपर उठाकर सिर की चोटी तक ले जाते हैं, जहाँ वे आपको प्रत्यक्ष देख सकते हैं। तत्पश्चात् सिर की चोटी से चरम गन्तव्य की ओर बढ़ते हुए वे उस स्थान पर पहुँच जाते हैं, जहाँ से वे पुनः इस जगत में, जो मृत्यु के मुख स्वरूप हैं, नहीं गिरेंगे।

तात्पर्य : यहाँ पर ध्यानमय योग की शिक्षा देने वाली श्रुतियाँ भगवान् की महिमा का गान करती हैं। योग की विविध-विधियाँ अधिकतर धीमी हैं तथा विपथ कराने की आशंकाओ से भरे हैं। फिर भी योग की प्रामाणिक विधियाँ उस परमात्मा के ध्यान को अपना लक्ष्य बनाती हैं, जो जीवात्मा के साथ साथ हृदय-क्षेत्र में निवास करता है। हृदय में परमात्मा की अभिव्यक्ति अत्यन्त सूक्ष्म तथा अनुभव करने में कठिन (*दहरम्*) है, अतएव बढ़े-चढ़े योगी ही उसका साक्षात्कार कर सकते हैं।

प्राय: नवदीक्षित ध्यान करने वाले लोग जीवती शक्ति के किसी निम्न केन्द्र में परमात्मा की गौण

उपस्थिति पर ध्यान केन्द्रित करने का अभ्यास करते हैं यथा मूलाधार चक्र (रीढ़ की हड्डी के तले), स्वाधिष्ठान चक्र (गुदा-क्षेत्र में), मणिपूर चक्र (पेट में)। भगवान् कृष्ण मणिपूर चक्र में परमात्मा-रूप में अपने अंश का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमास्थितः।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

''मैं समस्त जीवों के शरीरों में पाचन-अग्नि हूँ और मैं बाहर जाने वाली तथा भीतर आने वाली प्राण-वायु के साथ मिलकर चार प्रकार का भोजन पचाता हूँ।'' (*भगवद्गीता* १५.१) वैश्वानर देवता पाचन का अधिष्ठाता है और वह पशुओं, मनुष्यों तथा देवताओं को चलने-फिरने की क्षमता प्रदान करता है। इस श्लोक में बोल रही श्रुतियों के निर्णय के अनुसार जो लोग अपने ध्यान को भगवान् के इसी रूप तक सीमित रखते हैं, वे अल्पज्ञ हैं—*कूर्पदृशः* हैं जिसका शाब्दिक अर्थ है ''धूल से धूमिल आँखों वाला।''

दूसरी ओर आरुणि नाम से विख्यात उच्च योगी ब्रह्म के उस रूप को पूजते हैं, जो जीव के संगी के रूप में हृदय के भीतर रहता है, जो अपने अधीनस्थ जीव को ज्ञान-शक्ति देता है और व्यावहारिक बुद्धि द्वारा उसे प्रेरित करता है। जिस तरह भौतिक हृदय रक्तसंचार का केन्द्र होता है, उसी तरह सूक्ष्म हृदय चक्र प्राण की असंख्य शाखाओं का, जिन्हें नाड़ी कहते हैं, मिलनस्थल है। ये नाड़ियाँ बाहर की ओर शरीर के सारे भागों को जाती हैं। जब ये नाड़ियाँ काफी शुद्ध कर दी जाती हैं, तो आरुणि योगीजन हृदय क्षेत्र को छोड़कर मस्तिष्क के तालु पर स्थित चक्र की ओर बढ़ते हैं। जो योगी इस *ब्रह्मरन्ध्र चक्र* से होकर अपना शरीर त्याग करते हैं, वे सीधे भगवद्धाम जाते हैं, जहाँ से लौटकर फिर से जन्म लेने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस तरह ध्यानमय योग की अनिश्चित विधि भी ठीक से पालन किये जाने पर शुद्ध भक्ति का फल दे सकती है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ऐसे कई श्रुति मंत्र उद्धृत करते हैं, जो इस श्लोक के शब्दों को प्रतिध्वनित करते हैं: *उदरं ब्रह्मेति शार्कराक्षा उपासते हृदयं ब्रह्मेत्यारुणयो ब्रह्मा है वैता इत ऊर्ध्वं त्वेवोदसर्पत् तच्छिरोऽश्रयते*—जिनकी दृष्टि पर परदा पड़ा रहता है वे ब्रह्म की पहचान उदर से करते हैं, जबकि आरुणिजन ब्रह्म की पूजा हृदय में करते हैं। जिसने सचमुच ही ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया

है, वह हृदय से ऊपर उठता हुआ सिर की चोटी पर भगवान् की शरण लेने पहुँचता है, जहाँ वे प्रकट होते हैं।''

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-

स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।

तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विश्व-

न्न अन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥

''हृदय से निकलने वाली १ सूक्ष्म   नाड़ियाँ हैं। इनमें से एक—सुषुम्ना—सिर की चोटी तक जाती है। इस नाड़ी से ऊपर की ओर होते हुए मनुष्य मृत्यु को पार कर जाता है। अन्य नाड़ियाँ समस्त दिशाओं में जाती हैं, जो विविध प्रकार के पुनर्जन्म तुल्य हैं।'' (*छान्दोग्य उपनिषद्* ८.६.६)

उपनिषदों में अन्तर्यामी परमात्मा का बारम्बार उल्लेख मिलता है। *श्री श्वेताश्वतर उपनिषद्* (३.१२-१३) में परमात्मा का वर्णन निम्नवत् है—

महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः।

सुनिर्मलां इमां प्राप्तिम् ईशानो ज्योतिरव्ययः॥

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽअन्तरात्मा

सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।

हृदा मनीषा मनसाभिक्लप्तो

य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

''इस ब्रह्माण्ड का विस्तार करने के लिए पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् पुरुष बनते हैं। वे योगियों के शुद्ध पूर्ण गन्तव्य हैं, जो तेजवान तथा अच्युत परम नियन्ता हैं। एक अँगूठे की माप वाले ये पुरुष समस्त जीवों के हृदयों में परमात्मा रूप में सदैव उपस्थित रहते हैं। बुद्धि का उचित प्रयोग करके मनुष्य उनका साक्षात्कार हृदय के भीतर कर सकता है। जो यह विधि सीख लेते हैं उन्हें अमरता प्राप्त होती है।''

अन्त में श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

उदरादिषु यः पुंसां चिन्तितो मुनिवर्त्मभिः।

हन्ति मृत्युभयं देवो हृद्गतं तमुपास्महे ॥

''आओ, हम उन भगवान् की पूजा करें, जो हृदय में वास करते हैं। जब मर्त्य प्राणी महर्षियों द्वारा स्थापित मानक विधियों से उदर में तथा शरीर के अन्य भागों में उनके अंशों के रूप में उनका ध्यान करते हैं, तो भगवान् मृत्यु के भय को विनष्ट करते हुए प्रत्युत्तर देते हैं।''

स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया
तरतमतश्चकास्स्यनलवत्स्वकृतानुकृतिः ।
अथ वितथास्वमूष्ववितथां तव धाम समं
विरजधियोऽनुयन्त्यभिविपण्यव एकरसम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

स्व—अपने द्वारा; कृत—बनाया हुआ; विचित्र—विविध; योनिषु—योनियों में; विशन्—प्रवेश करते हुए; इव—सदृश; हेतुतया—कारणस्वरूप; तरतमतः—कोटियों के अनुसार; चकास्सि—दृश्य बनते हो; अनल-वत्—आग की तरह; स्व—अपनी; कृत—सृष्टि; अनुकृतिः—अनुकरण करते हुए; अथ—इसलिए; वितथासु—नकली; अमूषु—इन (योनियों) में से; अवितथम्—नकली नहीं; तव—तुम्हारा; धाम—प्राकट्य; समम्—अभिन्न; विरज—निर्मल; धियः—जिनके मन; अनुयन्ति—समझते हैं; अभिविपण्यवः—सारे भौतिक बन्धों (पण) से मुक्त हैं, जो; एक-रसम्—अपरिवर्तित।

आपने जीवों की जो विविध योनियाँ उत्पन्न की हैं, उनमें प्रवेश करके, उनकी उच्च तथा निम्न अवस्थाओं के अनुसार आप अपने को प्रकट करते हैं और उन्हें कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं, जिस प्रकार अग्नि अपने द्वारा जलाई जाने वाली वस्तु के अनुसार अपने को विविध रूपों में प्रकट करती है। अतएव जो लोग भौतिक आसक्तियों से सर्वथा मुक्त हैं, ऐसे निर्मल बुद्धि वाले लोग आपके अभिन्न तथा अपरिवर्तनशील आत्मा को इन तमाम अस्थायी योनियों में स्थायी सत्य के रूप में साक्षात्कार करते हैं।

तात्पर्य : साक्षात् वेदों की इन स्तुतियों को, जिनमें श्रुतियाँ परमात्मा को असंख्य प्रकार के भौतिक शरीरों में प्रविष्ट करते हुए बताती हैं, सुनकर आलोचक यह प्रश्न उठा सकता है कि ब्रह्म सीमित हुए बिना ऐसा कैसे कर सकता है? निस्सन्देह अद्वैत दर्शन का समर्थक परमात्मा तथा उनकी सृष्टि में कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं देखता। निर्विशेष विचारधारा के अनुसार ब्रह्म माया के जाल में बुरी तरह फँस कर पहले साकार ईश्वर बना और तब वह देवता, मनुष्य, पशु, पौधे और अन्त में पदार्थ बना। शंकराचार्य तथा उनके अनुयायी इस सिद्धान्त के समर्थन में कि ब्रह्म पर माया कैसे थोपी जाती है वैदिक प्रमाण जुटाने में काफी श्रम करते हैं। किन्तु वेद स्वयं यहाँ पर अपने विषय में उठाये जाने वाले

आक्षेप का उत्तर देते हैं और मायावादी निर्विशेषवाद का समर्थन नहीं करते।

सृजन की प्रक्रिया पारिभाषिक दृष्टि से *सृष्टि* (''बाहर निकालना'') कहलाती है। भगवान् अपनी विविध शक्तियों को बाहर निकालते हैं और ये शक्तियाँ उनसे पृथक् रहकर उनकी प्रकृति में भाग लेती हैं। यह तथ्य *अचिन्त्यभेदाभेद* के असली वैदिक दर्शन में व्यक्त हुआ है। इस तरह यद्यपि असंख्य व्यष्टि जीवों में हर एक की पृथक् पहचान (सत्ता) है, किन्तु हर जीव उसी आध्यात्मिक वस्तु से बना होता है, जिससे ब्रह्म बना है। चूँकि सारे जीव भगवान् के आध्यात्मिक सार में सम्मिलित हैं, अतएव वे अजन्मा तथा नित्य हैं, जिस तरह ब्रह्म है। भगवान् कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन से कहते हुए इसकी पुष्टि की है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

''ऐसा कोई काल नहीं था जब मैं नहीं था या तुम नहीं थे अथवा ये सारे राजा नहीं थे। न ही भविष्य में हममें से कोई भी नहीं रहेगा।'' (भगवद्गीता २.१२) भौतिक सृष्टि उन जीवों के लिए विशेष आयोजन है, जो भगवान् की सेवा से अपने को पृथक् करना चाहते हैं। इस तरह सृष्टि का अर्थ है एक नकली जगत की उत्पत्ति जहाँ ऐसे जीव अपने को स्वतंत्र मान सकें।

भौतिक जीवन की नाना योनियाँ उत्पन्न करने के बाद भगवान् प्रत्येक जीव को बुद्धि तथा प्रेरणा, जिसकी उसे अपने दैनिक जीवन में आवश्यकता पड़ती है, प्रदान करने के लिए, अपनी ही सृष्टि में परमात्मा के रूप में विस्तरित होते हैं। जैसाकि *तैत्तिरीय उपनिषद्* (२.६.२) में कहा गया है—*तत् सृष्ट्वा तद् एवानुप्राविशत्*—इस जगत को उत्पन्न करने के बाद वे इसमें प्रविष्ट हो गये। किन्तु भगवान् इस भौतिक जगत में इससे किसी प्रकार का सम्बन्ध रखे बिना प्रवेश करते हैं—इसे ही श्रुतियाँ यहाँ पर *विशन्निव* पद (केवल प्रविष्ट प्रतीत होते हुए) द्वारा घोषित करती हैं। *तरतमश्चकास्सि* का अर्थ है कि परमात्मा महान् देवता ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र कीटाणु तक हर जीव के शरीर में प्रवेश करते हैं और प्रत्येक जीव के प्रबुद्ध होने की क्षमता के अनुसार विभिन्न मात्राओं में अपनी शक्ति दर्शाते हैं। *अनलवत् स्वकृतानुकृतिः*—जिस तरह से विभिन्न वस्तुओं में लगाई गई अग्नि उन वस्तुओं के आकार के अनुसार जलती है, उसी तरह परमात्मा सभी जीवों के शरीरों में प्रवेश करके उसकी क्षमता के अनुसार ही

प्रत्येक बद्धजीव को प्रकाश प्रदान करता है।

सृष्टि तथा संहार के बीच भी समस्त जीवों का स्वामी नित्य अपरिवर्तित है, जैसाकि *एकरसम्* शब्द से द्योतन हुआ है। दूसरे शब्दों में, भगवान् अपने अपरिमेय, शुद्ध दिव्य आनन्द वाले साकार स्वरूप को सदैव बनाये रखता है। वे विरले जीव जो भौतिक व्यापारों से अर्थात् *पण* (इस तरह *अभिविपण्यव:* बनकर) अपने को पूर्णतया विलग (*अभितस्*) रखते हैं, वे ही परमेश्वर को यथार्थ रूप में जान पाते हैं। हर बुद्धिमान व्यक्ति को इन्हीं महात्माओं का अनुसरण करना चाहिए और उनसे यह याचना करनी चाहिए कि उन्हें भी भगवद्भक्ति में लगा दें।

श्रुतियों द्वारा की गई इस स्तुति का भाव *श्वेताश्वतर उपनिषद्* के निम्नलिखित मंत्र (६.११) से साम्य रखता है—

एको देव: सर्वभूतेषु गूढ:
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्ष: सर्वभूताधिवास:
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

"एक परमेश्वर समस्त सृजित वस्तुओं के भीतर छिपा रहता है। वह समस्त पदार्थ में व्याप्त है और सारे जीवों के हृदयों के भीतर स्थित रहता है। अन्त:वासी परमात्मा के रूप में वह उनके कार्यकलापों का निरीक्षण करता है। इस तरह स्वयं निर्गुण होते हुए भी वह अद्वितीय साक्षी है तथा चेतना देने वाला है।"

श्रील श्रीधर स्वामी अपनी प्रार्थना प्रस्तुत करते हैं :

स्वनिर्मितेषु कार्येषु तारतम्यविवर्जितम्।
सर्वानुस्यूतसन्मात्रं भगवन्तं भजामहे॥

"हम उन परमेश्वर की पूजा करें, जो अपनी ही सृष्टि के पदार्थों में प्रवेश करते हैं, फिर भी उनकी उत्तम तथा निम्न भौतिक कोटियों से वे पृथक् रहते हैं। वे शुद्ध, विभेदरहित अस्तित्ववाले है और सर्वव्यापी हैं।"

स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोऽंशकृतम् ।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवम्भुवि विश्वसिताः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

स्व—**अपने द्वारा**; कृत—**उत्पन्न**; पुरेषु—**शरीरों में**; अमीषु—**इन**; अबहिः—**बाहरी रूप से नहीं**; अन्तर—**अथवा आन्तरिक रूप से**; संवरणम्—**जिसका वास्तविक विकास**; तव—**तुम्हारा**; पुरुषम्—**जीव**; वदन्ति—**वेद कहते हैं**; अखिल—**समस्त**; शक्ति—**शक्तियों के**; धृतः—**स्वामी के**; अंश—**अंशरूप**; कृतम्—**प्रकट**; इति—**इस प्रकार**; नृ—**जीव का**; गतिम्—**पद**; विविच्य—**निश्चित करके**; कवयः—**विद्वान मुनिजन**; निगम—**वेदों के**; आवपनम्—**खेत, जिसमें सारी भेंटें बोई जाती हैं**; भवतः—**आपके**; उपासते—**पूजा करते हैं**; अङ्घ्रिम्—**पैरों की**; अभवम्—**जो संसार का संहार करने वाले हैं**; भुवि—**पृथ्वी पर**; विश्वसिताः—**विश्वास रखने वाले।**

प्रत्येक जीव अपने कर्म द्वारा सृजित भौतिक शरीरों में निवास करते हुए, वास्तव में, स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ से आच्छादित हुए बिना रहता है। जैसा कि वेदों में वर्णन हुआ है, ऐसा इसलिए है, क्योंकि वह समस्त शक्तियों के स्वामी, आपका ही भिन्नांश है। जीव की ऐसी स्थिति को निश्चित करके ही, विद्वान मुनिजन श्रद्धा से पूरित होकर, आपके उन चरणकमलों की पूजा करते हैं, जो मुक्ति के स्रोत हैं और जिन पर इस संसार की सारी वैदिक भेंटें अर्पित की जाती हैं।

तात्पर्य : बद्धजीवों के शरीरों के भीतर निवास करते समय न केवल भगवान् पूर्णतया अदूषित रहते हैं, अपितु सूक्ष्म जीवात्माएँ भी जन्म-मृत्यु के चक्र में से बारम्बार गुजरते समय अर्जित अज्ञान तथा काम के आवरणों से कभी छुई तक नहीं जातीं। इस प्रकार *तैत्तिरीय उपनिषद्* (३..५)

इस स्तुति में साक्षात् वेद भौतिक शरीरों के निश्चित भोक्ता (जीवात्मा) को समस्त शक्तियों के दिव्य आगार, परमेश्वर, के अंशरूप में बतलाते हैं। इस सन्दर्भ भें *अंशकृतम्* अर्थात् उसके अंश जैसा बनाया हुआ को सही सही समझना होगा। *जीव* का न तो कभी सृजन होता है, न ही वह *विष्णुतत्त्व* अंश जैसा अंश है। परमात्मा सबों के द्वारा पूज्य है और अधीन जीव परमात्मा का पूजक होने के लिए है। परमेश्वर अपने व्यक्तित्व के असंख्य रूप प्रदर्शित करके अपनी लीलाएँ करता है, जबकि जीव को अपने संचित कर्मों के आदेशों के अनुसार अपना शरीर बदलने को बाध्य होना पड़ता है। *श्री नारद पञ्चरात्र* के अनुसार

यत् तटस्थं तु चिद्रूपं स्वसंवेद्याद् विनिर्गतम्।
रञ्जितं गुणरागेण सजीव इति कथ्यते॥

''तटस्था शक्ति जो स्वभावत: आध्यात्मिक है, स्व-सचेत संवित् शक्ति से उत्पन्न होती है और

भौतिक गुणों के प्रति आसक्त होने से कलुषित हो जाती है, *जीव* कहलाती है।''

यद्यपि जीवात्मा भी भगवान् कृष्ण का अंश है, किन्तु वह कृष्ण के स्वतंत्र अंश विष्णु से इस बात में भिन्न है कि वह वैधानिक स्थिति से आत्मा तथा पदार्थ के बीच तटस्थ है। *महावराह पुराण* में बतलाया गया है—

स्वांशश्चाथ विभिन्नांश इति द्विधा श इष्यते।

अंशिनो यत्तु सामर्थ्यं यत्स्वरूपं यथा स्थितिः॥

तदेव नाणुमात्रोऽपि भेदं स्वांशांशिनोः क्वचित्।

विभिन्नांशोऽल्पशक्तिः स्यात् किञ्चित् सामर्थ्यमात्रयुक्॥

''भगवान् दो प्रकार से जाना जाता है अपने स्वांश रूपों में तथा अपने भिन्नांशों के रूप में। स्वांशों तथा उनके स्रोत के मध्य कभी भी न तो सामर्थ्यों में, न रूपों या स्थितियों में कोई अनिवार्य भेद पाया जाता है। दूसरी ओर विभिन्नांशों में केवल अल्प शक्ति होती है, क्योंकि भगवान् की शक्ति का अल्प अंश ही इन्हें प्रदत्त किया जाता है।''

इस जगत में बद्धजीव इस तरह प्रकट होता है, मानो भीतर तथा बाहर से पदार्थ द्वारा आच्छादित हो। बाह्य रूप से स्थूल पदार्थ उसके शरीर तथा परिवेश के रूप में आच्छादित किये रहता है, जबकि भीतर से इच्छा तथा द्वेष उसकी चेतना को कोंचते रहते हैं। किन्तु स्वरूपसिद्ध मुनियों की दिव्य दृष्टि में ये दोनों प्रकार के आवरण निरर्थक हैं। तर्क द्वारा सारी भौतिक पहचानों का, जो आत्मा के स्थूल तथा सूक्ष्म आवरणों पर आधारित भ्रांत धारणाएँ हैं, निषेध कर देने पर विचारवान व्यक्ति यह पायेगा कि आत्मा तनिक भी भौतिक नहीं है, प्रत्युत यह दैवी आत्मा का स्फुलिंग है और भगवान् का दास है। यह समझ कर मनुष्य को भगवान् के चरणकमलों की पूजा करनी चाहिए। ऐसी पूजा वैदिक अनुष्ठान रूपी वृक्ष का पूर्ण विकसित पुष्प है। भगवान् के चरणकमलों के वैभव की अनुभूति होने पर जो धीरे धीरे वैदिक यज्ञों के करने से पनपती है, संसार से मोक्ष का फल अपने आप मिल जाता है और भगवान् की कृपा में अटूट श्रद्धा उत्पन्न होती है। इस जगत में रहते हुए भी यह सब प्राप्त किया जा सकता है। भगवान् कृष्ण ने *गोपालतापनी उपनिषद्* (उत्तर ७) में कहा है—

मथुरामण्डले यस्तु जम्बूद्वीपे स्थितोऽथ वा।

योऽर्चयेत् प्रतिमां प्रति स मे प्रियतरो भुवि॥

''जो व्यक्ति मथुरा जनपद में या जम्बूद्वीप में कहीं भी रहकर मेरे अर्चाविग्रह के रूप में मेरी पूजा करता है, वह इस जगत में मेरा सर्वाधिक प्रिय बन जाता है।''

श्रील श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

त्वदंशस्य ममेशान त्वन्मायाकृतबन्धनम्।

त्वदंघ्रिसेवामादिश्य परानन्द निवर्तय॥

''हे प्रभु! मैं आपका भिन्नांश हूँ, मुझे अपनी माया द्वारा बनाये हुए बन्धन से मुक्त कीजिये। हे परमानन्द के धाम! आप मुझे अपने चरणों की सेवा में लगाकर ऐसा कीजिये।''

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोश्
चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

दुरवगम—समझ पाना कठिन; आत्म—आत्मा का; तत्त्व—सत्य; निगमाय—प्रसार करने हेतु; तव—तुम्हारा; आत्त—धारण करने वाले; तनोः—आपके स्वरूप; चरित—लीलाओं के; महा—विस्तीर्ण; अमृत—अमृत के; अब्धि—सागर में; परिवर्त—गोता लगाकर; परिश्रमणाः—थकान से उबारे हुए; न परिलषन्ति—इच्छा नहीं करते; केचित्—कुछ ही व्यक्ति; अपवर्गम्—मोक्ष की; अपि—भी; ईश्वर—हे प्रभु; ते—तुम्हारे; चरण—चरणों पर; सरोज—कमल रूपी; हंस—हंसों के; कुल—समुदाय; सङ्ग—साथ; विसृष्ट—परित्यक्त; गृहाः—जिनके घर।

हे प्रभु, कुछ भाग्यशाली आत्माओं ने आपकी उन लीलाओं के विस्तृत अमृत सागर में गोता लगाकर भौतिक जीवन की थकान से मुक्ति पा ली है, जिन लीलाओं को आप अगाध आत्म-तत्त्व का प्रचार करने के लिए साकार रूप धारण करके सम्पन्न करते हैं। ये विरली आत्माएँ, मुक्ति की भी परवाह न करके घर-बार के सुख का परित्याग कर देती हैं, क्योंकि उन्हें आपके चरणकमलों का आनन्द लूटने वाले हंसों के समूह सदृश भक्तों की संगति प्राप्त हो जाती है।

तात्पर्य : आनुष्ठानिक ब्राह्मण (स्मार्त) तथा मायावादी लोग भक्तियोग की प्रक्रिया को तुच्छ ठहराते हैं। उनका कथन है कि भगवद्भक्ति तो भावुक व्यक्तियों की वस्तु है, जिनमें कठोर विधि-विधानों को पालन करने या ज्ञान का कड़ा अनुशीलन करने की परिपक्वता का अभाव होता है।

किन्तु इस श्लोक में साक्षात् वेद भक्ति की सर्वश्रेष्ठता की घोषणा कर रहे हैं और इसकी पहचान

स्पष्टया *आत्मतत्त्व* के रूप में करते हैं, जिसे मायावादी बड़े गर्व से अपना क्षेत्र बतलाते हैं। श्रील जीव गोस्वामी इस *आत्मतत्त्व* की परिभाषा भगवान् के साकार रूपों, गुणों तथा लीलाओं के गुह्य रहस्य के रूप में देते हैं। वे *आत्मतनो:* का दूसरा अर्थ भी देते हैं, जो "विभिन्न शरीर धारण करने वाला" की बजाय "जो अपने दिव्य शरीर की ओर प्रत्येक को आकृष्ट करे" है।

भगवान् कृष्ण तथा उनके विविध अंशों और अवतारों की लीलाएँ आनन्द के अथाह सागर हैं। जब मनुष्य अपने भौतिक कार्यकलापों से पूरी तरह ऊब जाता है, चाहे वह भौतिक सफलता की तलाश में लगा हो, अथवा आध्यात्मिक संहार के निर्विशेष भाव में, तो वह इस अमृत में डुबकी लगाकर राहत प्राप्त कर सकता है। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने भक्तियोग के विज्ञान सम्बन्धी अपनी पुस्तक *भक्तिरसामृतसिन्धु* में कहा है कि जो कोई इस विस्तृत सागर की एक बूँद का भी आस्वादन कर लेता है, उसे किसी भी वस्तु की कोई इच्छा नहीं रह जाती।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती *परिश्रमणा:* शब्द की दूसरी व्याख्या करते हुए टीका करते हैं कि यद्यपि भक्तगण भगवान् की आनन्द-लीलाओं के सागर की अनंत लहरों तथा अन्तर्धाराओं में बारम्बार गोता लगाकर थक जाते हैं, किन्तु ये भक्तगण भगवान् की सेवा के अतिरिक्त कोई अन्य सुख नहीं चाहते, यहाँ तक कि मोक्ष-सुख भी नहीं। प्रत्युत उनकी थकान ही उनके लिए आनन्द बन जाती है, जिस तरह संभोग से उत्पन्न थकान यौन की लत वाले व्यक्ति को सुखद लगती है। भगवान् के शुद्ध भक्त भगवान् की लीलाओं की मनोहर कथाएँ सुनकर अनुप्राणित होते हैं और नाचने, गाने, जोर से चिल्लाने, अपनी एड़ियों को पटकने, मूर्छित होने, सिसकने तथा उन्मत्तों की तरह इधर-उधर दौड़ने के लिए उत्प्रेरित हो जाते हैं। इस तरह वे शारीरिक थकान का अनुभव किये बिना आनन्द-विभोर रहते हैं।

शुद्ध वैष्णवों को तो मोक्ष भी नहीं चाहिए, अन्य ऐच्छिक लक्ष्यों जैसे स्वर्ग का शासक पद की तो बात ही नहीं उठती। इतना समर्पण-भाव इस जगत में निश्चित रूप से दुर्लभ है, जैसाकि इस श्लोक में श्रुतियों द्वारा प्रयुक्त *केचित्* शब्द से प्रकट होता है। शुद्ध भक्त न केवल भावी लाभ की लालसा का परित्याग कर देते हैं, अपितु सम्प्रति उनके पास जो कुछ यथा घर तथा पारिवारिक जीवन की सारी सामान्य सुख-सुविधाएँ होती हैं, उसके प्रति भी उनका आकर्षण जाता रहता है। उनके लिए सन्त वैष्णवों परम्परागत गुरुओं, शिष्यों तथा प्रशिष्यों—की संगति ही उनका असली परिवार बन जाता है,

जिसमें श्री शुकदेव गोस्वामी जैसे हंस रूपी महापुरुष होते हैं। ये महापुरुष भगवान् के चरणकमलों की सेवा का मधुर अमृत नित्य ही पान करते हैं।

उपनिषदों तथा अन्य श्रुतियों के अनेक मंत्र मोक्ष की अपेक्षा भक्ति को खुले तौर पर श्रेष्ठ घोषित करने वाले हैं। *नृसिंह पूर्व तापनी उपनिषद्* के शब्दों के अनुसार—*यं सर्वे वेदा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च*—सारे वेद, सारे मुमुक्ष तथा ब्रह्म के जिज्ञासु व्यक्ति उन्हें ही नमस्कार करते हैं। इस मंत्र की टीका करते हुए श्री शंकराचार्य यह स्वीकार करते हैं—*मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भजन्ति*—मुक्तात्माएँ भी भगवान् का अर्चाविग्रह स्थापित करके उनकी पूजा करने में हर्ष अनुभव करते हैं। इस प्रसंग में आचार्य शंकर के महान् प्रतिद्वन्द्वी श्रील मध्वाचार्य आनन्दतीर्थ अपने प्रिय श्रुति-मंत्र उद्धृत करते हैं जैसे—*मुक्ता ह्येतम् उपासते मुक्तानामपि भक्तिर्हि परमानन्दरूपिणी*—"मुक्त लोग भी उनकी पूजा करते हैं और उनके लिए भी भक्ति परम आनन्द रूपिणी है।" तथा *अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानं। चरणं नो लोके सुधितां दधातु। ॐ तत्सत्*—जिनके चरणों से अमृत की धारा बहती है वे चरण हम इस जगत के निवासियों को ज्ञान प्रदान करें।

संक्षेप में, श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

त्वत् कथामृत पाथोधौ विहरन्तो महामुदः।

कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम्॥

"वे विरले भाग्यशाली व्यक्ति जो आपकी कथाओं के अमृत सागर में क्रीड़ा करके परम आनन्द प्राप्त करते हैं, वे जीवन के महान् चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) को *तृणवत्* समझते हैं।"

त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियवच्
चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च ।
न बत रमन्त्यहो असदुपासनयात्महनो
यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

त्वत्—तुम; अनुपथम्—सेवा के लिए उपयोगी; कुलायम्—शरीर; इदम्—यह; आत्म—स्वयं; सुहृत्—मित्र; प्रिय—तथा प्रिय; वत्—सदृश; चरति—कार्य करता है; तथा—तो भी; उन्मुखे—उन्मुख; त्वयि—तुममें; हिते—सहायक; प्रिये—प्रिय; आत्मनि—आत्मा; च—तथा; न—नहीं; बत—हाय; रमन्ति—आनन्द लूटते हैं; अहो—ओह; असत्—असत्य की; उपासनया—पूजा द्वारा; आत्म—स्वयं को; हनः—मारना; यत्—जिस (असत्य की पूजा) में; अनुशयाः—जिनकी निरन्तर इच्छा है; भ्रमन्ति—घूमते रहते हैं; उरु—अत्यधिक; भये—भयावह (जगत) में; कु—निम्न; शरीर—शरीर; भृतः—धारण किये।

जब यह मानवीय शरीर आपकी पूजा के निमित्त काम में लाया जाता है, तो यह आत्मा, मित्र तथा प्रेमी की तरह कार्य करता है। किन्तु दुर्भाग्यवश, यद्यपि आप बद्धजीवों के प्रति सदैव कृपा प्रदर्शित करते हैं और हर तरह से स्नेहपूर्वक सहायता करते हैं और यद्यपि आप उनके असली आत्मा हैं, किन्तु सामान्य लोग आप में आनन्द नहीं लेते। उल्टे वे माया की पूजा करके आध्यात्मिक आत्महत्या करते हैं। हाय! असत्य के प्रति भक्ति करके, वे निरन्तर सफलता की आशा करते हैं, किन्तु वे विविध निम्न शरीर धारण करके इस अत्यन्त भयावह जगत में निरन्तर इधर-उधर भटकते रहते हैं।

तात्पर्य : जो लोग सर्वदयामय भगवान् की सेवा न करके माया में रहते रहना चाहते हैं, उनके लिए वेद बड़े ही कटु शब्दों का प्रयोग करते हैं। *बृहदारण्यक उपनिषद्* का कथन है (.३.१५)— *आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन। न तम् विदाथ य इमा जनानान्यद्युष्माकम् अन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति*—''हर व्यक्ति उस स्थान को देख सकता है, जहाँ अपने आनन्द हेतु इस जगत में भगवान् ने अपने आपको प्रकट किया, तो भी कोई उन्हें नहीं देख पाता। जिन्होंने इन समस्त जीवों को उत्पन्न किया, उन्हें आप में से कोई नहीं जानता। अतएव तुम्हारी तथा भगवान् की दृष्टि में बहुत बड़ा अन्तर है। माया के कुहासे से आवृत तुम वैदिक अनुष्ठानकर्ता व्यर्थ की बातों में लगे रहते हो और अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए ही जीते हो।''

भगवान् इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं, जैसाकि वे *भगवद्गीता* (९.) में कहते हैं *मया ततं इदं सर्वं जगत्।* इस जगत की कोई भी वस्तु, यहाँ तक कि मिट्टी का अत्यन्त तुच्छ पात्र या वस्त्र का टुकड़ा भी उनकी उपस्थिति से रहित नहीं है। चूँकि वे अपने को ईर्ष्यालु आँखों से अदृश्य (*अव्यक्तमूर्तिना*) रखते हैं, अतएव भौतिकतावादी उनकी भौतिक शक्ति से गुमराह होकर यह सोचते हैं कि भौतिक सृष्टि का स्रोत परमाणुओं तथा भौतिक शक्तियों का मिश्रण है।

ऐसे मूर्ख भौतिकतावादियों पर अनुग्रह प्रदर्शित करते हुए साक्षात् वेद इस स्तुति में उन्हें जीवन के असली उद्देश्य को स्मरण रखने की सलाह देते हैं यह उद्देश्य है अपने सबसे बड़े हितैषी प्रभु की प्रेमाभक्ति द्वारा सेवा करना। मनुष्य-शरीर आध्यात्मिक चेतना को जागृत करने के लिए आदर्श सुविधा है इसके अंग—कान, जीभ, आँखें इत्यादि—भगवान् के विषय में श्रवण करने, उनके यश का कीर्तन

करने, उनकी पूजा करने तथा अन्य सभी आवश्यक भक्ति–कार्य करने के लिए अतीव उपयुक्त हैं।

मनुष्य का भौतिक शरीर कुछ ही समय तक ठीक–ठाक रहने वाला है अतएव इसे *कुलायम्* कहा गया है—पृथ्वी में विलीन होते हुए (*कौलीयते*)। तो भी यदि इसे उचित ढंग से उपयोग में लाया जाय, तो यह मनुष्य का श्रेष्ठ मित्र हो सकता है। किन्तु जब मनुष्य भौतिक चेतना में निमग्न रहता है, तो शरीर झूठा मित्र बन जाता है और मोहग्रस्त जीव को अपने असली स्वार्थ से हटा देता है। जो लोग अपने अपने पतियों अथवा पत्नियों, अपनी सन्तानों, पालतू पशुओं इत्यादि के शरीरों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं, वे अपनी भक्ति को माया अर्थात् *असद् उपासना* की ओर निर्देशित करते हैं। इस तरह से ऐसे लोग आध्यात्मिक आत्महत्या करते हैं, जैसाकि श्रुतियों ने यहाँ पर कहा है। इससे वे मानवीय जीवन के उच्चतर कर्तव्यों का पालन न करने के लिए भावी दण्ड के भागी होते हैं। *ईशोपनिषद्* (३) में घोषणा की गई है—

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

"आत्मा को मारने वाला चाहे जो भी हो उसे श्रद्धाविहीन (असूर्या) नामक लोक में जाना होगा, जो अंधकार तथा अज्ञान से पूर्ण है।"

जो लोग इन्द्रिय–तृप्ति के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं या जो लोग झूठे भौतिकतावादी शास्त्रों तथा दर्शनों के रूप में अस्थायी की पूजा करते हैं, वे उन इच्छाओं को बनाये रखते हैं, जो उन्हें क्रमशः निम्न से निम्नतर शरीरों में ले जाती हैं। चूँकि वे सदा के लिए संसार–चक्र में फँसे रहते हैं, अतः उनके उद्धार की एकमात्र आशा यही है कि भगवद्‌भक्तों के द्वारा दी गई दयापूर्ण शिक्षाओं को सुनने का अवसर पा सकें।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

त्वय्यात्मनि जगन्नाथे मन्मनो रमतामिह।

कदा ममेदृशं जन्म मानुषं सम्भविष्यति॥

"मुझे कब वह मनुष्य–जन्म प्राप्त होगा, जिसमें मेरा मन परमात्मा एवं जगत के ईश्वर आपमें आनन्द ले सकेगा?"

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन्
मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् ।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

निभृत—वशीभूत; मरुत्—श्वास लेते हुए; मनः—मन; अक्ष—तथा इन्द्रियों समेत; दृढ-योग—स्थिर योग में; युजः—लगा हुआ; हृदि—हृदय में; यत्—जो; मुनयः—मुनिगण; उपासते—पूजा करते हैं; तत्—वह; अरयः—शत्रुगण; अपि—भी; ययुः—प्राप्त किया; स्मरणात्—स्मरण करने से; स्त्रियः—स्त्रियाँ; उरग-इन्द्र—राजसी सर्प के; भोग—शरीर (सदृश); भुज—बाँहें; दण्ड—डंडे जैसी; विषक्त—आसक्त; धियः—जिनके मन; वयम्—हम; अपि—भी; ते—तुमको; समाः—समान; सम—समान; दृशः—जिनकी दृष्टि; अङ्घ्रि—चरणों के; सरोज—कमलवत्; सुधाः—अमृत (का पान करते हुए)।

भगवान् के शत्रुओं ने भी, निरन्तर मात्र उनका चिन्तन करते रहने से, उसी परम सत्य को प्राप्त किया, जिसे योगीजन अपने श्वास, अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में करके योग-पूजा में स्थिर कर लेते हैं। इसी तरह हम श्रुतियाँ, जो सामान्यतः आपको सर्वव्यापी देखती हैं, आपके चरणकमलों से वही अमृत प्राप्त कर सकेंगी, जिसका आनन्द आपकी प्रियतमाएँ, आपकी विशाल सर्प सदृश बाहुओं के प्रति अपने प्रेमाकर्षण के कारण लूटती हैं, क्योंकि आप हमें तथा अपनी प्रियतमाओं को एक ही तरह से देखते हैं।

तात्पर्य : आचार्य श्री जीव गोस्वामी के अनुसार कुछ श्रुतियाँ, जैसे कि *गोपालतापनी उपनिषद्* जो गोप कृष्ण एवं उच्चतम परब्रह्म को एक मानती हैं अभी तक बोलने के लिए धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करती रहीं। किन्तु अन्य श्रुतियों को खुलकर भगवान् की प्रशंसा करते सुन कर ये घनिष्ठ श्रुतियाँ अधिक समय तक धैर्य धारण नहीं रख सकीं, अतएव अपनी बारी आये बिना ही इस श्लोक में बोल पड़ीं।

योगमाया के मार्ग के अनुयायी श्वास रोक कर तथा कठिन तपस्या द्वारा अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश में करते हैं। यदि वे इस प्रकार से अपने को पूरी तरह शुद्ध बना पाते हैं, तो वे अन्त में अपने हृदय में ब्रह्म के साकार रूप परमात्मा का साक्षात्कार करने लगते हैं। और यदि वे दीर्घकाल तक बिना किसी अवरोध के यह ध्यान चालू रखते हैं, तो अन्त में उन्हें असली ईश-चेतना प्राप्त हो सकती है। किन्तु इस कठिन एवं अनिश्चित विधि से जो लक्ष्य प्राप्त होता है, उसी को उन असुरों ने भी प्राप्त किया, जिन्हें भगवान् कृष्ण ने इस धरा पर अपनी लीलाओं के दौरान मारा था। कंस तथा शिशुपाल जैसे असुरों ने जो कृष्ण के प्रति ईर्ष्या से भरे हुए थे भगवान् द्वारा मात्र वध किये जाने पर शीघ्र मोक्ष प्राप्त

किया।

किन्तु साक्षात् वेद अपनी बात बतलाते हुए यहाँ कहते हैं कि वे भगवान् कृष्ण के विश्वस्त भक्तों विशेष रूप से व्रज की युवा गोपियों से भगवान् कृष्ण के प्रति समर्पण का अनुकरण करके भगवत्प्रेम उत्पन्न करना श्रेयस्कर समझेंगे। यद्यपि ये गोपियाँ भगवान् के शारीरिक सौन्दर्य एवं बल से आकृष्ट सामान्य स्त्रियाँ प्रतीत होती थीं, किन्तु ये व्रज की देवियाँ ध्यान की सर्वोच्च पूर्णता प्रदर्शित कर सकीं। श्रुतियाँ उन्हीं की तरह बनना चाहती हैं।

इस सन्दर्भ में ब्रह्माजी निम्नलिखित ऐतिहासिक विवरण सुनाते हैं, जो *बृहद्वामन पुराण* के पूरक में है—

ब्रह्मानन्दमयो लोको व्यापी वैकुण्ठसंज्ञित: ।

तल्लोकवासी तत्रस्थै स्तुतो वेदै परात्पर: ॥

''आध्यात्मिक आनन्द का अनन्त जगत वैकुण्ठ कहलाता है। वहाँ पर परम सत्य साक्षात् वेदों द्वारा प्रशंसित होकर रहते हैं और वहीं वेद भी रहते हैं।''

चिरं स्तुत्वा ततस्तुष्ट: परोक्षं प्राह तान् गिरा।

तुष्टोऽस्मि ब्रूता भो प्राज्ञा वरं यं मनसेप्सितम् ॥

''जब वेद उनकी खूब प्रशंसा कर चुके, तो एक बार भगवान् अपने आप में विशेष रूप से तुष्ट अनुभव करने लगे और उनसे ऐसी वाणी में बोले, जिसका स्रोत अदृश्य बना रहा: ''हे मुनियो! मैं तुम सबों से अतीव प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे कोई वर माँगो, जिसे तुम गुप्त रीति से चाहते हो।''

श्रुतय ऊचु:

यथा तल्लोकवासिन्य: कामतत्त्वेन गोपिका: ।

भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाजनि नस्तथा ॥

''श्रुतियों ने उत्तर दिया: हममें मर्त्यलोक की गोपियों जैसा बनने की इच्छा जागृत हुई है, जो काम से प्रोत्साहित होकर प्रेमी के भाव में आपकी पूजा करती हैं।''

श्रीभगवान् उवाच

दुर्लभो दुर्घटश्चैव युष्माकं स मनोरथः।

मयानुमोदितः सम्यक् सत्यो भवितुमर्हति॥

''तब भगवान् ने कहा: ''तुम लोगों की इस इच्छा को पूरा कर पाना कठिन है। प्राय: असम्भव है। लेकिन क्योंकि मैं वर दे रहा हूँ, इसलिए तुम लोगों की यह इच्छा अवश्य पूरी होगी।''

आगामिनि विरिञ्चौ तु जाते सृष्ट्यार्थमुदिते।

कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ॥

''जब अगला ब्रह्मा सृजन-कर्म के अपने कर्तव्य को निष्ठापूर्वक पूरा करने के लिए जन्म लेगा और जब उसके जीवन का दिन—सारस्वत कल्प—आयेगा तो तुम लोग व्रज में गोपियों के रूप में उत्पन्न होंगी।''

पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले॥

वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान् वो रासमण्डले॥

''पृथ्वी पर भारतभूमि में अपने ही जनपद मथुरा में, वृन्दावन जंगल में, मैं रास-नृत्य के मण्डल में तुम्हारा प्रिय बनूँगा।''

जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोऽधिकम्।

मयि सम्प्राप्य सर्वेऽपि कृतकृत्या भविष्यथ॥

''इस तरह तुम मुझे अपने परपति (जार) के रूप में पाकर पुन: मेरा सर्वोच्च एवं दृढ़ विशुद्ध प्रेम प्राप्त कर सकोगी और इस तरह तुम अपनी सारी कामनाएँ पूरी कर सकोगी।''

ब्रह्मोवाच

श्रुत्वैतच्चिन्तयन्त्यस्ता रूपं भगवतश्चिरम्।

उक्तकालं समासाद्य गोप्यो भूत्वा हरिं गताः॥

''ब्रह्मा ने कहा: इन शब्दों को सुनकर श्रुतियाँ दीर्घकाल तक भगवान् के सौन्दर्य का ध्यान करती रहीं। जब अन्ततः नियत समय आया, तो वे सब गोपियाँ बन गईं और उन्होंने कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त

किया।''

पद्म पुराण के *सृष्टि खण्ड* में भी ऐसा ही विवरण मिलता है, जिसमें बतलाया गया है कि गायत्री मंत्र भी गोपी बन गया।

भक्ति के विकास के सम्बन्ध में भगवान् कृष्ण गोपालतापनी उपनिषद् (उत्तर) में इसके आगे कहते हैं—अपूतः पूतो भवति यं मां स्मृत्वा, अव्रती व्रती भवति यं मां स्मृत्वा, निष्कामः सकामो भवति यं मां स्मृत्वा, अश्रोत्री श्रोत्री भवति यं मां स्मृत्वा—''मेरा स्मरण करने से अशुद्ध भी शुद्ध बन जाता है। मेरा स्मरण करने से कोई भी व्रत न लेने वाला व्रतधारी बन जाता है। मेरा स्मरण करने से जो निष्काम है, वह [मेरी सेवा करने की] इच्छा से युक्त (सकाम) हो जाता है। मेरा स्मरण करने से वैदिक मंत्रों का अध्ययन न करने वाला वेदों का निपुण ज्ञाता बन जाता है।''

बृहदारण्यक उपनिषद् (.५.६) में कृष्णभावनाभावित होने के क्रमिक पदों का वर्णन हुआ है—*आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः*—आत्मा का ही प्रेक्षण, श्रवण, चिंतन तथा स्थिर चित्त से ध्यान किया जाना चाहिए। भाव यह है कि मनुष्य को चाहिए कि परमात्मा को निम्नलिखित विधियों से अपने पूर्ण व्यक्तित्व में सीधे दृश्य मान कर साक्षात् करे: सर्वप्रथम परमात्मा के किसी योग्य प्रतिनिधि से उपदेश सुने और ऐसे गुरु की विनम्र सेवा करते हुए तथा सभी प्रकार से उसे प्रसन्न करने का प्रयास करते हुए उसके वचनों को हृदयंगम करे। फिर अपने संशयों तथा भ्रान्तियों को दूर करने के उद्देश्य से गुरु के दिव्य संदेश पर निरन्तर मनन करे। तभी वह पूरे संकल्प एवं दृढ़ विश्वास के साथ भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करना प्रारम्भ कर सकता है।

तथाकथित ज्ञानी यह सोच सकते हैं कि उपनिषदों में ब्रह्म की *निर्विशेष* अनुभूति को *सविशेष* पूजा से अधिक पूर्ण तथा अन्तिम मान कर प्रशंसा की गई है। किन्तु सारे निष्ठावान वैष्णव परमेश्वर की भक्ति में लगे रहते हैं और उनके अत्यन्त अद्भुत विविध गुणों का आनन्दपूर्वक ध्यान करते हैं। श्रुति मंत्रों के अनुसार—*यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्*—परमात्मा जिस व्यक्ति को चुनता है, उसे वह उपलब्ध हो जाता है। उसे ही परमात्मा अपना साकार रूप प्रकट करता है। (*कठ उपनिषद्* १.२.२३ *तथा मुण्डक उपनिषद्* ३.२.३)

श्रील श्रीधर स्वामी निम्नलिखित स्तुति से टीका समाप्त करते हैं—

चरणस्मरणं प्रेम्णा तव देव सुदुर्लभम्।

यथा कथञ्चिद् नृहरे मम भूयाद् अहर्निशम्॥

"हे प्रभु! आपके चरणकमलों का प्रेमपूर्ण स्मरण बड़ी मुश्किल से हो पाता है। हे नरहरि! आप ऐसा करें कि रात-दिन मैं उनका स्मरण कर सकूँ।"

क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं
यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये ।
तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजवः
किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा ॥ २॥

शब्दार्थ

कः—कौन; इह—इस संसार में; नु—निस्सन्देह; वेद—जानता है; बत—ओह; अवर—अर्वाचीन; जन्म—जिसका जन्म; लयः—तथा संहार; अग्र-सरम्—पहले आया हुआ; यतः—जिससे; उदगात्—उत्पन्न हुआ; ऋषिः—ऋषि, ब्रह्मा; यम् अनु—जिसके (ब्रह्मा के) पीछे पीछे; देव-गणाः—देवताओं का समूह; उभये—दोनों (जो इन्द्रियों को वश में रखते हैं और जो स्वर्गलोक के भी ऊपर वाले क्षेत्रों में रहते हैं); तर्हि—उस समय; न—नहीं; सत्—स्थूल पदार्थ; न—नहीं; च—भी; असत्—सूक्ष्म पदार्थ; उभयम्—जो दोनों से युक्त है (अर्थात् भौतिक शरीर); न च—न तो; काल—समय का; जवः—प्रवाह; किम् अपि न—किसी भी तरह से नहीं; तत्र—वहाँ; शास्त्रम्—शास्त्र को; अवकृष्य—निकाल कर के; शयीत—(भगवान्) सो जाता है; यदा—जब।

इस जगत का हर व्यक्ति हाल ही में उत्पन्न हुआ है और शीघ्र ही मर जायेगा। अतएव यहाँ का कोई भी व्यक्ति, उसे कैसे जान सकता है, जो हर वस्तु के पूर्व से विद्यमान है और जिसने प्रथम विद्वान ऋषि ब्रह्मा को और उसके बाद के छोटे तथा बड़े देवताओं को जन्म दिया है? जब वह लेट जाता है और हर वस्तु को अपने भीतर समेट लेता है, तो कुछ भी नहीं बचता—न तो स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ, न ही इनसे बने शरीर, न ही काल की शक्ति और न शास्त्र।

तात्पर्य : यहाँ पर श्रुतियाँ परम पुरुष को जानने की कठिनाई बतलाती हैं। साक्षात् वेदों द्वारा इन श्लोकों में भक्तियोग का जैसा वर्णन हुआ है, वह भगवान् को जानने तथा मोक्ष पाने का सबसे सुगम तथा निश्चित मार्ग है। इसकी तुलना में ज्ञानयोग अत्यन्त कठिन है, यद्यपि यह भौतिक जीवन से ऊबे हुओं को, जो अब भी भगवान् की शरण में नहीं जाना चाहते, प्रिय है। जब तक जीव भगवान् की सर्वश्रेष्ठता से ईर्ष्या रखता है, तब तक भगवान् उसे दर्शन नहीं देते। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२५) में भगवान् ने कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

''मैं मूर्ख तथा अज्ञानी के सामने कभी प्रकट नहीं होता। उनके लिए मैं अपनी अन्तरंगा शक्ति से ढका रहता हूँ, इसलिए वे यह नहीं जानते कि मैं अजन्मा तथा अच्युत हूँ।'' ब्रह्मा के शब्दों में (*ब्रह्मसंहिता* ५.३)—

पन्थास्तु कोटिशतवत्सरसम्प्रगम्यो

वायोरथापि मनसो मुनिपुंगवानाम्।

सोऽप्यस्ति यत्प्रपदसिम्न्यविचिन्त्यतत्त्वे

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जिनके चरणकमलों के अँगूठे के छोर तक ही वे योगीजन पहुँच पाते हैं, जो ब्रह्म की कामना करते हैं और श्वास खींचकर प्राणायाम करते हैं या वे ज्ञानीजन जो करोड़ों वर्षों तक संसार का निषेध करके विभेद रहित ब्रह्म की खोज में लगे रहते हैं।''

इस ब्रह्माण्ड के प्रथम जन्मा जीव ब्रह्मा प्रथम ऋषि भी हैं। उनका जन्म नारायण से हुआ है और उनसे उत्पन्न हैं तमाम देवता, जिनमें पृथ्वी के कार्यों के नियन्ता तथा स्वर्ग के शासक भी सम्मिलित हैं। ये सारे शक्तिमान तथा बुद्धिमान जीव भगवान् की सर्जक शक्ति के अर्वाचीन उत्पाद हैं। ब्रह्मा ही वेदों के पहले वक्ता हैं, अतएव उन्हें वेदों का तात्पर्य जानना चाहिए, कम-से-कम इतना जितना और कोई अधिकारी जानता है, किन्तु वे भी भगवान् को थोड़ा ही समझते हैं। *श्रीमद्भागवत* (१.३.३५) में कहा गया है—*वेद गुह्यानि हृत्पतेः*—हृदय का स्वामी वैदिक ध्वनि की गुप्त कन्दराओं की गहराई में अपने को छिपा लेता है। यदि ब्रह्मा तथा उनसे उत्पन्न देवता उन परमेश्वर को आसानी से नहीं जान पाते, तो भला मर्त्य प्राणी किस तरह उनके स्वतंत्र ज्ञान की खोज में सफल होने की आशा कर सकते हैं?

जब तक यह सृष्टि चलती है जीवों को ज्ञान के मार्ग में अनेक बाधाएँ आती हैं। चूँकि वे अपने को शरीर, मन तथा अहंकार से निर्मित भौतिक आवरण मान बैठते हैं, इसलिए उनमें नाना प्रकार के पूर्वाग्रह तथा भ्रान्तियाँ जन्म लेती हैं। चाहे शास्त्र ही उनका मार्गदर्शन क्यों न करें और कर्म, ज्ञान तथा योग की संस्तुत विधियों को अपनाने का उन्हें अवसर क्यों न दिया जाय, बद्धजीवों में ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त कर सकने की तनिक भी क्षमता नहीं होती। जब प्रलय का समय आता है, तो वैदिक शास्त्र तथा उनके

विधि–विधान सब लुप्त हो जाते हैं और निष्क्रिय जीव नितान्त अंधकार में रह जाता है। इसलिए भक्ति से रहित ज्ञान के लिए व्यर्थ प्रयास करना छोड़ कर हमें ब्रह्मा का उपदेश मानकर अपने को भगवान् की कृपा पर छोड़ देना चाहिए।

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव

जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।

स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिः

ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥

''जो लोग अपने प्रतिष्ठित सामाजिक पदों पर बने रहते हुए भी अनुमानित ज्ञान की विधि का बहिष्कार कर देते हैं और मनसा वाचा कर्मणा आपके तथा आपके कार्यों के विवरणों का आदर करते हैं और इन कथाओं में जो कि आपके द्वारा तथा आपके शुद्ध भक्तों द्वारा उच्चारित होती हैं अपना जीवन समर्पित कर देते हैं, वे अवश्य ही आपको जीत लेते हैं, यद्यपि आप तीनों लोकों में किसी के द्वारा जीते नहीं जा सकते (*भागवत* .१.३)।

इस सन्दर्भ में *तैत्तिरीय उपनिषद्* का ब्रह्म विषयक उल्लेख (२..१) है— *यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह*—जहाँ शब्द नहीं रहते तथा जहाँ मन नहीं पहुँचता। *ईशोपनिषद्* () का कथन है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो

नैतद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्।

तद्धावतोऽन्यान् अत्येति तिष्ठत्

तस्मिन् अपो मातरिष्वा दधाति॥

''अपने धाम में स्थिर रहने पर भी भगवान् मन से भी अधिक तेज हैं और अन्य सारे धावकों को पछाड़ सकते हैं। शक्तिशाली देवता उनके पास फटक नहीं सकते। एक स्थान पर रहते हुए भी वे वर्षा तथा वायु की पूर्ति करने वालों को नियंत्रित करते हैं। वे श्रेष्ठता में सबसे बढ़कर हैं।'' ऋग्वेद (३.५.५) में यह मंत्र आता है—

कोऽद्धा वेद क इह प्रवोचत्

कुत आयाता: कुत इयं विसृष्टि: ।

अर्वाग् देवा विसर्जनेना-

था को वेद यत आ बभूव॥

''इस जगत में ऐसा कौन है, जो वास्तव में जानता है और यह बतला सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से आई? सारे देवता सृष्टि से छोटे हैं। तब कौन बतला सकता है कि यह जगत कहाँ से आया?''

श्रील श्रीधर स्वामी इस प्रकार प्रार्थना करते हैं—

क्वाहं बुद्ध्यादिसंरुद्ध: क्व च भूमन्महस्तव।

दीनबन्धो दयासिन्धो भक्तिं मे नृहरे दिश॥

''मैं क्या हूँ—सांसारिक बुद्धि इत्यादि के भौतिक आवरणों से बँधा-जीव? हे सर्वशक्तिमान! आपकी महिमा से इसकी क्या तुलना है? हे पतितों के मित्र, हे दया के सागर! भगवान् नरहरि! आप मुझे अपनी भक्ति का वर दें।''

जनिमसत: सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितै: ।
त्रिगुणमय: पुमानिति भिदा यदबोधकृता
त्वयि न तत: परत्र स भवेदवबोधरसे ॥ २५॥

शब्दार्थ

जनिम्—सृष्टि; असत:—(अणुओं से बने) दृश्य जगत के; सत:—शाश्वत; मृतिम्—संहार; उत—भी; आत्मनि—आत्मा में; ये—जो; च—तथा; भिदाम्—द्वैत; विपणम्—सांसारिक व्यापार; ऋतम्—असली; स्मरन्ति—घोषित करते हैं; उपदिशन्ति—शिक्षा देते हैं; ते—वे; आरुपितै:—सत्य पर चढ़ाया गया मोह; त्रि—तीन; गुण—गुणों से; मय:—निर्मित; पुमान्—जीव; इति—इस प्रकार; भिदा—द्वैत की धारणा; यत्—जो; अबोध—अज्ञान से; कृता—उत्पन्न; त्वयि—तुममें; न—नहीं; तत:—उससे; परत्र—परे; स:—वह (अज्ञान); भवेत्—रह सकता है; अवबोध—पूर्ण चेतना; रसे—संरचना में।

माने हुए विद्वान जो यह घोषित करते हैं कि पदार्थ ही जगत का उद्गम है, कि आत्मा के स्थायी गुणों को नष्ट किया जा सकता है, कि आत्मा तथा पदार्थ के पृथक् पक्षों से मिलकर आत्मा बना है या कि भौतिक व्यापारों से सच्चाई बनी हुई है—ऐसे विद्वान उन भ्रान्त विचारों पर अपनी शिक्षाओं को आधारित करते हैं, जो सत्य को छिपाते हैं। यह द्वैत धारणा कि जीव प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न है, अज्ञानजन्य मात्र है। ऐसी धारणा का आपमें कोई आधार नहीं है, क्योंकि आप समस्त भ्रम (मोह) से परे हैं और पूर्ण चेतना का भोग करने वाले हैं।

तात्पर्य : परम पुरुष की वास्तविक स्थिति अत्यन्त रहस्यमय है और उसी तरह जीवात्मा की अधीनावस्था भी। अधिकांश विचारक इन सच्चाइयों के विषय में किसी न किसी हद तक भ्रमित हैं, क्योंकि आत्मा को आच्छादित करने वाली अनेक मिथ्या उपाधियाँ हैं, जो भ्रम उत्पन्न कर सकती हैं। मूर्ख बद्धजीव इन भ्रमों को तो स्वीकार करते ही हैं, लेकिन बड़े बड़े दार्शनिकों तथा योगियों तक की बुद्धि को माया की भ्रामक शक्ति उलट सकती है। इसलिए सत्य के मूल सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाले अनेक परस्पर विरोधी सिद्धान्त हैं।

परम्परागत भारतीय दर्शन में वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग तथा मीमांसा दर्शनों के अनुयायी अपने–अपने भ्रान्तिमूलक विचार रखते हैं, जिसकी ओर साक्षात् वेद इस स्तुति में इंगित कर रहे हैं। वैशेषिकजन कहते हैं कि इस दृश्य ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति परमाणुओं की मूलराशि से हुई (*जनिम् असत:*)। जैसाकि कणाद ऋषि के *वैशेषिक सूत्रों* (७.१.२०) में कहा गया है *नित्यं परिमण्डलम्प* परमाणु जो सबसे लघु आकार का है, नित्य है। कणाद तथा उनके अनुयायी अन्य अ–परमाणुक जीवों के लिए, जिनमें वे आत्माएँ सम्मिलित हैं, जो देहधारी बन जाती हैं, यहाँ तक कि परमात्मा तक के लिए नित्यता की कल्पना करते हैं। लेकिन वैशेषिक दर्शन में आत्माएँ तथा परमात्मा ब्रह्माण्ड की परमाणु रचना में प्रतीकात्मक भूमिका निभाते हैं। श्रील कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने इस मत की आलोचना अपने *वेदान्त सूत्र* (२.२.१२) में की है *उभयथापि न कर्मातस्तदभाव: ।* इस सूत्र के अनुसार कोई यह दावा नहीं कर सकता कि सृष्टि के समय परमाणु पहले परस्पर संयोग करते हैं, क्योंकि वे उन्हीं में संलग्न किसी कर्म स्पन्दन से प्रेरित होते हैं। किन्तु संयोग करने के पूर्व परमाणुओं की आदि अवस्था में कोई ऐसा नैतिक उत्तरदायित्व नहीं होता, जिससे वे पाप तथा पुण्य अर्जित कर सकें। न ही परमाणुओं के आदि संयोग की विवेचना जीवों के शेष कर्म के प्रतिफल के रूप में की जा सकती है, क्योंकि ये प्रतिफल जीव के अपने होते हैं और वे एक जीव से दूसरे में स्थानान्तरित नहीं हो सकते, तो फिर निष्क्रिय परमाणुओं का तो कहना ही क्या।

विकल्प के रूप में *जनिम् असत:* से पतञ्जलि ऋषि के योगदर्शन का भाव लिया जा सकता है, क्योंकि उनके योगसूत्र में शिक्षा दी गई है कि किस तरह कोई आसन तथा ध्यान की यांत्रिक विधि से ब्रह्मत्व प्राप्त कर सकता है। पतञ्जलि की योग विधि को यहाँ *असत्* कहा गया है क्योंकि इसमें भक्ति

के अनिवार्य पक्ष—परम पुरुष के प्रति आत्मसमर्पण—की अवहेलना की गई है। जैसाकि भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (१७.२८) में कहा है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह॥

''हे पृथा-पुत्र! यज्ञ, दान या तप के रूप में श्रद्धा के बिना की गई कोई भी वस्तु अस्थायी है। वह असत् कहलाती है और इस जीवन में तथा अगले जीवन दोनों के लिए व्यर्थ होती है।''

योगसूत्र प्रकारान्तर से भगवान् को केवल सहायक के रूप में स्वीकार करता है, जिसका उपयोग बढ़े-चढ़े योगी कर सकते हैं। *ईश्वरप्रणिधानाद् वा*—ईश्वर का भक्तिमय-ध्यान एकाग्रता पाने का एक अन्य साधन है। (*योगसूत्र* १.२३) इसके विपरीत बादरायण वेदव्यास के वेदान्त दर्शन में भक्ति को न केवल मोक्ष का मूल साधन माना गया है, अपितु मोक्ष से अभिन्न माना गया है। *आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्*—भगवान् की पूजा मोक्ष प्राप्त होने तक चलती रहती है और जैसाकि वेद बतलाते हैं मुक्तावस्था में भी चालू रहती है। (*वेदान्त सूत्र* .१.१२)

गौतम ऋषि ने *न्यायसूत्र* में प्रस्तावित किया है कि मोह तथा दुख का निषेध करके मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है—*दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम् उत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावाद् अपवर्गः*—मिथ्या धारणा, बुरा चरित्र, बन्धनकारी कर्म, पुनर्जन्म तथा दुख को क्रमशः दूर करने से ही अन्तिम मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है (*न्यायसूत्र* १.१.२)। क्योंकि एक के मिट जाने से दूसरा मिटने लगता है, लेकिन न्याय दर्शनवेत्ताओं का विश्वास है कि चेतना आत्मा का अनिवार्य गुण नहीं है इसलिए वे शिक्षा देते हैं कि मुक्तात्मा में कोई चेतना नहीं रहती। इस तरह मुक्ति का न्याय विचार आत्मा को मृत पत्थर की अवस्था में रखता है। न्याय दर्शनवेत्ताओं द्वारा आत्मा की आन्तरिक चेतना को मारने के प्रयास को ही यहाँ पर साक्षात् वेदों द्वारा *सतो मृतिम्* कहा गया है। लेकिन *वेदान्त सूत्र* (२.३.१७) एकस्वर से कहता है *ज्ञोऽत एव*—जीवात्मा सदैव ज्ञाता है।

यद्यपि आत्मा चेतन तथा सक्रिय दोनों है, किन्तु सांख्य दर्शन के समर्थक जीवनी शक्ति के इन दोनों कार्यों को गलती से पृथक् करते हैं (*आत्मनि ये च भिदाम्*) और चेतना को आत्मा (*पुरुष*) से तथा सक्रियता को *प्रकृति* से जोड़ते हैं। *सांख्य कारिका* के अनुसार (१९-२०)—

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वं पुरुषस्य।

कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वम् अकर्तृभावश्च॥

''इस प्रकार पुरुषों के मध्य जो अन्तर है, वह ऊपरी है (प्रकृति के गुणों द्वारा आवृत होने से), पुरुष की असली स्थिति साक्षी की है, जो पृथकत्व, अन्यमनस्कता, साक्षी होने के पद तथा उसकी निष्क्रियता से लक्षित है।''

तस्मात् तत्संयोगाद् अचेतनं चेतनावद् इव लिंगम्।

गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥

''इस तरह आत्मा के संसर्ग से अचेतन सूक्ष्मजीव चेतन जान पड़ता है। जबकि आत्मा कर्ता प्रतीत होता है, यद्यपि वह प्रकृति के गुणों की सक्रियता से पृथक् है।''

श्रील व्यासदेव ने *वेदान्त सूत्र* (२.३.३१-३९) के एक अनुभाग में जो *कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्* से प्रारम्भ होता है, इस विचार का खण्डन किया है ''जीवात्मा को कर्मों का कर्ता होना चाहिए, क्योंकि शास्त्रों के आदेशों का कुछ प्रयोजन होता है।'' आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने *गोविन्दभाष्य* में बतलाया है कि ''जीव कर्ता है न कि प्रकृति के गुण। क्यों? क्योंकि शास्त्रों के आदेशों का कुछ प्रयोजन होना चाहिए (*शास्त्रार्थवत्त्वात्*)। उदाहरणार्थ ऐसा शास्त्रीय आदेश कि *स्वर्गकामो यजेत* (स्वर्ग की कामना रखने वाले को यज्ञ करना चाहिए) तथा *आत्मानम् एव लोकम् उपासीत* (बृहदारण्यक उपनिषद् १..१५) (वैकुण्ठ प्राप्ति के उद्देश्य से पूजा करनी चाहिए) तभी सार्थक हैं, जब किसी चेतन कर्ता का अस्तित्व हो। यदि प्रकृति के गुण कर्ता हों, तो ऐसे कथनों से कोई काम नहीं सरेगा। शास्त्रीय आदेश जीव को नियत कर्मों को करने में इसीलिए लगाते हैं, जिससे उसे कुछ भोगने योग्य फल मिलें। अचेतन गुण में ऐसी प्रवृत्ति को जागृत नहीं किया जा सकता।''

जैमिनि ऋषि ने *पूर्वमीमांसा सूत्र* में भौतिक कर्म तथा उसके फल को सत्य रूप में (*विपणम् ऋतम्*) प्रस्तुत किया है। वे तथा कर्म मीमांसा के अनेक धुरंधर यह शिक्षा देते हैं कि यह जगत असीम है और कोई मुक्ति नहीं है। उनके लिए कर्म चक्र शाश्वत है और अधिक से अधिक यह लक्ष्य बनाया जा सकता है कि देवताओं के बीच जन्म हो। अतएव वे यही कहते हैं कि वेदों का सारा उद्देश्य मनुष्यों को सद्कर्म उत्पन्न करने के लिए विधि-विधानों में लगाना है। इस तरह परिपक्व आत्मा का

मुख्य कर्तव्य वेदों के यज्ञ विषयक आदेशों के सही अर्थ को समझना और उन्हें सम्पन्न करना है। *चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः*—कर्तव्य वह है, जो वेदों के आदेशों द्वारा सूचित होता है। (*पूर्वमीमांसा सूत्र* १.१.२)

किन्तु *वेदान्त सूत्र* के चतुर्थ अध्याय में, जिसमें जीवन के चरम लक्ष्य का वर्णन हुआ है, जन्म तथा मृत्यु से मोक्ष प्राप्त करने की आत्मा की क्षमता का विस्तृत वर्णन मिलता है, जिसमें यज्ञ के विधि-विधानों को आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता में सहायता देने के अधीन माना गया है। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* (.१.१६) में कहा गया है *अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद् दर्शनात्* अग्निहोत्र तथा अन्य वैदिक यज्ञ ज्ञान उत्पन्न करने के निमित्त हैं, जैसाकि वेदों के कथन से दर्शित होता है। *वेदान्त सूत्र* (..२२) के अन्तिम शब्दों में भी यही घोषणा है कि *अनावृत्तिः शब्दात्*—जैसाकि शास्त्र वचन देते हैं, मुक्तात्मा कभी इस जगत में वापस नहीं आता।

इस तरह अनुमान पर आधारित ज्ञानियों के भ्रमकारी निष्कर्ष सिद्ध करते हैं कि बड़े-बड़े विद्वान तथा मुनिजन भी प्रायः अपनी ईश्वरप्रदत्त बुद्धि के दुष्प्रयोग से मोहग्रस्त हो जाते हैं। *कठ उपनिषद्* का कथन है (१.२.५)—

अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

"अज्ञान के चंगुल में पड़ कर तथाकथित विशिष्टजन अपने आपको विद्वान मान लेते हैं। वे इस संसार में मूर्ख बनकर उसी तरह घूमते हैं, जैसे कि किसी एक अन्धे के द्वारा ले जाया जाने वाला अन्य अंधा।"

सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त इन छः परंपरागत वैदिक दर्शनों में से केवल बादरायण व्यास कृत वेदान्त ही त्रुटिरहित है और वह भी जब उसकी व्याख्या प्रामाणिक वैष्णव आचार्यों द्वारा हुई हो। तो भी इन छहों मतों में से हर एक का वैदिक शिक्षा के विषय में कुछ न कुछ योगदान है। नास्तिक सांख्य प्राकृतिक तत्त्वों का विकास सूक्ष्म तत्त्वों से स्थूल की ओर बतलाता है,

पतञ्जलि का योग ध्यान की आठ विधियों का वर्णन करता है, न्याय तर्क की विधियाँ प्रस्तुत करता है, वैशेषिक सत्य की मूलभूत आध्यात्मिक कोटियों पर विचार करता है और मीमांसा शास्त्रों की व्याख्या के मानक उपकरण जुटाता है। इस छहों के अतिरिक्त भी बौद्ध, जैन तथा चार्वाक दर्शन हैं, जिनके शून्यवाद तथा भौतिकतावाद नित्य आत्मा की आध्यात्मिकता से इनकार करते हैं।

अन्ततोगत्वा केवल ईश्वर ही ज्ञान के विश्वसनीय स्रोत बचते हैं। भगवान् *अवबोध-रस*—अबाध दृष्टि के असीम आगार हैं। जो दृढ़ संकल्प के साथ उन पर निर्भर रहते हैं, उन्हें वे ज्ञान का दिव्य चक्षु प्रदान करते हैं। अन्य लोग जो अपने अपने सिद्धान्तों में लगे रहते हैं, उन्हें माया के धुंधले पर्दे से होकर सत्य को खोजना पड़ता है।

श्रील श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

मिथ्या तर्क सुकर्कशेरितमहा वादान्धकारान्तर-
भ्राम्यन्मन्दमतेरमन्दमहिमंस्त्वद्ज्ञानवर्त्मास्फुटम् ।
श्रीमन्माधव वामन त्रिनयन श्रीशंकर श्रीपते
गोविन्देति मुदा वदन् मधुपते मुक्तः कदा स्यामहम् ॥

"मिथ्या तर्क की कटु विधियों द्वारा पल्लवित उन उच्च दर्शनों के अंधकार में घूमने वाली मोहग्रस्त आत्मा के लिए, हे दिव्य यश के स्वामी! आपका असली ज्ञान अलक्षित रहता है। हे मधुपति, लक्ष्मीपति! मैं माधव, वामन, त्रिनयन, श्रीशंकर, श्रीपति तथा गोविन्द आदि आपके नामों का प्रसन्नतापूर्वक उच्चारण करते हुए कब मुक्ति प्राप्त करूँगा?

सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयात्मविदः ।
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सत्—सत्य; इव—मानो; मनः—मन (तथा इसके प्राकट्य); त्रि-वृत्—तीन (प्रकृति के गुण); त्वयि—तुममें; विभाति—प्रकट होता है; असत्—असत्य; आ-मनुजात्—मनुष्यों तक; सत्—सत्य स्वरूप; अभिमृशन्ति—वे मानते हैं; अशेषम्—सम्पूर्ण; इदम्—इस (जगत) को; आत्मतया—आत्मा से अभिन्न रूप में; आत्म-विदः—आत्मा को जानने वाले; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; विकृतिम्—विकारों को; त्यजन्ति—परित्याग कर देते हैं; कनकस्य—स्वर्ण का; तत्-आत्मतया—जितना कि वे इससे अभिन्न हैं; स्व—अपने द्वारा; कृतम्—उत्पन्न; अनुप्रविष्टम्—तथा प्रविष्ट हुए; इदम्—इस; आत्मतया—अपने से अभिन्न; अवसितम्—सुनिश्चित।

इस जगत में सारी वस्तुएँ—सरलतम घटना से लेकर जटिल मानव-शरीर तक—प्रकृति के तीन गुणों से बनी हैं। यद्यपि ये घटनाएँ सत्य प्रतीत होती हैं, किन्तु वे आध्यात्मिक सत्य की मिथ्या प्रतिबिम्ब होती हैं, वे आप पर मन के अध्यारोपण हैं। फिर भी जो लोग परमात्मा को जानते हैं, वे सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि को सत्य तथा साथ ही साथ आपसे अभिन्न मानते हैं। जिस तरह स्वर्ण की बनी वस्तुओं को, इसलिए अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे असली सोने की बनी हैं, उसी तरह यह जगत उन भगवान् से अभिन्न है, जिसने इसे बनाया और फिर वे उसमें प्रविष्ट हो गये।

तात्पर्य : एक दृष्टि से दृश्य जगत सत्य (*सत्*) है और दूसरे वह नहीं (*असत्*) भी है। इस ब्रह्माण्ड का सार-तत्त्व यथार्थ है, क्योंकि वह भगवान् की बहिरंगा शक्ति है, किन्तु माया इस वस्तु को जो-जो स्वरूप धारण कराती है केवल वे नश्वर हैं। चूँकि ये स्वभौतिक स्वरूप क्षणिक (नाशवान्) हैं अतएव जो उन्हें स्थायी मानते हैं, वे भ्रम में हैं। किन्तु निर्विशेषवादी पंडित *सत्* तथा *असत्* के विभाजन की गलत व्याख्या करते हैं, वे सामान्य सच्चाई की अवहेलना करते हुए यह घोषित करते हैं कि न केवल भौतिक स्वरूप अपितु भौतिक वस्तु भी असत्य है और वे अपनी आत्मा को परम पूर्ण होने की गलती कर बैठते हैं। पिछली स्तुति में साक्षात् वेदों द्वारा कहे गये इन शब्दों *त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा* को मायावादी दार्शनिक परमात्मा तथा जीवात्मा का अन्तर नहीं मानते। वे यह कहेंगे कि जीव का भौतिक स्वरूप तीन गुणों का क्षणिक प्रदर्शन है, अतएव जब ज्ञान द्वारा जीव का अज्ञान नष्ट हो जाता है, तो वह परमात्मा बन जाता है। बन्धन, मुक्ति तथा दृश्य जगत अज्ञान की ही असत्य सृष्टियाँ हैं। ऐसे विचारों के उत्तर स्वरूप वेद यहाँ पर सत् तथा असत् के वास्तविक सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं।

श्रुतियों में हमें यह कथन मिलता है *असतोऽधिमनोऽसृज्यत, मनः प्रजापतिम् असृजत्, प्रजापतिः प्रजा असृजत्, तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितं यदिदं किं च* प्रारम्भ में परम मन की सृष्टि असत् से हुई। इस मन से प्रजापति की और प्रजापति से सारे जीवों की सृष्टि हुई। इस तरह इस जगत में विद्यमान सारी वस्तुओं की चरम नींव एकमात्र मन है। यद्यपि निर्विशेषवादी इसका यह अर्थ लगा सकते हैं कि सारा दृश्य जगत मोह की असत्यता (असत्) पर आधारित है, जबकि यहाँ पर असत् शब्द का वास्तविक अर्थ मूल कारण, परमेश्वर है, क्योंकि वे भौतिक जगत से परे (सत्) हैं। वेदान्त सूत्र का

तर्क (२.१.१७) इस व्याख्या की पुष्टि करता है और निर्विशेषवादियों की गलत व्याख्या को नहीं मानता *असद् व्यपदेशान् नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्यदि* किसी को यह आपत्ति है कि यह भौतिक जगत तथा इसका स्रोत एक ही वस्तु नहीं हो सकते, क्योंकि जगत को *असत्* कहा गया है, तो हमारा उत्तर होगा, ''नहीं! क्योंकि यह कथन कि ब्रह्म *असत्* है, उनके गुण सृष्टि से भिन्न होने के कारण सार्थक है।'' इस प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् (२.७.१) में कहा गया है *असद् वा इदमग्र आसीत्* इस सृष्टि के प्रारम्भ में केवल असत् विद्यमान था।

श्रील जीव गोस्वामी के मतानुसार उपर्युक्त अंश में आया हुआ *अधिमनः* शब्द ब्रह्माण्ड के संयुक्त मन के शासक, भगवान् अनिरुद्ध का द्योतक है, जो श्री नारायण के स्वांश रूप में तब प्रकट होता है, जब वे सृष्टि करना चाहते हैं। प्रजापति तो ब्रह्मा हैं और अन्य सभी उत्पन्न जीवों के पिता हैं। इसका वर्णन *महानारायण उपनिषद्* (१.) में मिलता है *अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यं कामं मनसा ध्यायेत। तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललनात् स्वेदोऽपतत्। ता इमा प्रतताप तासु तेजो हिरण्मयम् अण्डं तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत*। ''तब नारायण ने अपनी दूसरी इच्छा का ध्यान किया और जब वे सोच रहे थे, तो उनके मस्तक से पसीने की एक बूँद गिरी। इसी बूँद के खमीर बनने से समस्त भौतिक सृष्टि का विकास हुआ। उसमें से अग्नि तुल्य ब्रह्माण्ड का सुनहरी अण्डा निकला और उसके भीतर चतुर्मुख ब्रह्मा ने जन्म लिया।''

जब कोई वस्तु बनाई जाती है, तो वह उसके अवयव कारण के विकार रूप में प्रकट होती है, जैसे कि सोने से बने आभूषण। जिस व्यक्ति को स्वर्ण की इच्छा होगी वह सोने के कुण्डलों या हार को ठुकरायेगा नहीं, क्योंकि ये वस्तुएँ भी स्वर्ण हैं, यद्यपि ये परिवर्धित हैं। इस सांसारिक उदाहरण में सच्चे ज्ञानी लोग पुरुष तथा उनके भौतिक और दिव्य दोनों प्रकार के अंशों में भेदाभेद साम्य देखते हैं। इस तरह यह दिव्य ज्ञान उन्हें मोह के बंधन से मुक्त कराता है, क्योंकि तब वे भगवान् की समूची सृष्टि में भगवान् का दर्शन पा सकते हैं।

श्री श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

यत् सत्त्वतः सदा भाति जगदेतद् असत् स्वतः।

सदाभासमसत्यस्मिन् भगवन्तं भजाम तम्॥

''हम उन भगवान् की पूजा करें, जिनके भौतिक अस्तित्व से यह सृष्ट जगत शाश्वत रूप से विद्यमान प्रतीत होता है, यद्यपि यह *असत्* है। परमात्मा रूप में वे इस *असत्* के भीतर *सत्* का प्रतिनिधित्व करते हैं।''

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया
त उत पदाक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निरृतेः ।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तांस्
त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः ॥ २७॥

शब्दार्थ

तव—तुम्हारी; परि ये चरन्ति—जो पूजा करते हैं; अखिल—सबों के; सत्त्व—उत्पन्न जीव; निकेततया—आश्रय के रूप में; ते—वे; उत—केवल; पदा—अपने पैरों से; आक्रमन्ति—रखते हैं; अविगणय्य—अवहेलना करके; शिरः—सिर पर; निरृतेः—मृत्यु के; परिवयसे—तुम बाँध देते हो; पशून् इव—पशुओं की तरह; गिरा—आपके (वेद के) शब्दों से; विबुधान्—चतुर; अपि—भी; तान्—उनके; त्वयि—जिसको; कृत—बनाने वाले; सौहृदाः—मैत्री; खलु—निस्सन्देह; पुनन्ति—पवित्र करते हैं; न—नहीं; ये—जो; विमुखाः—शत्रुतापूर्ण।

जो भक्त आपको समस्त जीवों के आश्रय रूप में पूजते हैं, वे मृत्यु की परवाह नहीं करते और उनके सिर पर आप अपना चरण रखते हैं, लेकिन आप वेदों के शब्दों से अभक्तों को पशुओं की तरह बाँध लेते हैं, भले ही वे प्रकाण्ड विद्वान क्यों न हों। आपके स्नेहिल भक्तगण ही अपने को तथा अन्यों को शुद्ध कर सकते हैं, आपके प्रति शत्रु-भाव रखने वाले नहीं।

तात्पर्य : अब साक्षात् वेद अनेक विरोधी मतों के त्रुटिपूर्ण दर्शनों को एक तरफ रख देते हैं वैशेषिकों का *असद् उत्पत्तिवाद,* जो सृष्टि का स्रोत भौतिक मानते हैं, नैयायिकों का *सद्विनाशवाद,* जो मुक्तात्मा को चेतनारहित बताते हैं, सांख्यों का *सगुणत्वभेदवाद,* जो आत्मा को उसके ऊपरी गुणों से पृथक् कर देते हैं, मीमांसकों का *विपणवाद,* जो कर्म-व्यापार में आत्मा के नित्य संलग्न रहने की भर्त्सना करते हैं तथा मायावादियों का *विवर्तवाद* जो इस जगत में आत्मा के असली जीवन को मायाजाल (भ्रम) तक नीचे ला देते हैं। साक्षात् वेद इन सारे वादों को नकार कर अब भक्ति का दर्शन, *परिचर्यावाद* प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस दर्शन को मानने वाले वैष्णव यह शिक्षा देते हैं कि जीवात्मा उस आध्यात्मिक पुरुष का एक परमाणु-कण है, जिसमें सूक्ष्म ज्ञान होता है, जो स्वतंत्र नहीं होता तथा जिसमें भौतिक गुण नहीं होते। सूक्ष्म होने से वह भौतिक शक्ति के वशीभूत हो सकता है, जहाँ वह भौतिक जीवन के कष्ट सहता है।

वह भगवान् की भक्ति करके ही अपने कष्टों को दूर कर सकता है तथा भगवान् की दिव्य अन्तरंगा शक्ति की शरण फिर से पा सकता है न कि सकाम कर्म, कल्पित ज्ञान या अन्य किसी विधि से।

भगवान् कृष्ण अपने ही शब्दों में (*भागवत* ११.१.२१) कहते हैं—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्।

भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकान् अपि सम्भवात्॥

''पूर्ण श्रद्धा के साथ मेरी अनन्य भक्ति करके ही मनुष्य मुझ भगवान् को प्राप्त कर सकता है। मैं स्वभावतः अपने भक्तों को प्रिय हूँ, जो मुझे अपनी प्रेमपूर्ण सेवा का एकमात्र लक्ष्य समझते हैं। ऐसी शुद्ध भक्ति में लगने से चाण्डाल भी अपने अधम जन्म के कल्मष को धो डालते हैं।''

भगवान् के भक्त उनकी पूजा प्रत्येक विद्यमान वस्तु (अखिल सत्त्व) के आश्रय (*निकेत*) के रूप में करते हैं। ये वैष्णव भक्त *अखिल-सत्त्व-निकेत* कहे जा सकते हैं, क्योंकि इनका धाम तथा आश्रय भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही जगतों की सत्यता (*सत्त्वम्*) का दार्शनिक सत्य होता है। इसीलिए श्रीपाद मध्वाचार्य ने अपने *वेदान्त सूत्र भाष्य* में यह श्रुतिमंत्र उद्धृत किया है *सत्यं ह्येवेदं विश्वमसृजत* उसने इस जगत की सत्य रूप में रचना की। *श्रीमद्भागवत* के सप्तम स्कंध (७.१.११) में *प्रधान पुम्भ्यां नरदेव सत्यकृत* अर्थात् परमेश्वर को पदार्थ तथा जीवों के असली ब्रह्माण्ड का स्रष्टा कहा है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *अखिल-सत्त्व-निकेत* का एक अन्य ही गुह्य अर्थ सुझाया है कि भगवान् के निजी धाम किसी तरह भी *खिल* अर्थात् अपूर्ण नहीं हैं, अतएव वैकुण्ठ अर्थात् चिन्ता तथा सीमा से मुक्त प्रदेश कहलाते हैं। भगवान् ने कृपा करके जिन वैष्णवों की भक्ति स्वीकार कर ली है वे भगवान् द्वारा अपनी सुरक्षा के प्रति इतने निश्चिन्त रहते हैं कि वे मृत्यु से डरते नहीं। मृत्यु उनके लिए अपने नित्य धाम वापस जाने की सहज सीढ़ी बन जाती है।

किन्तु क्या मृत्यु-भय से मुक्ति के हेतु भगवद्भक्त ही योग्य होते हैं? अन्य सभी योगी और विद्वान क्यों अयोग्य हैं? यहाँ पर श्रुतियाँ उत्तर देती हैं''जो भी विमुख है, अर्थात् जिसने उनकी कृपा पाने के लिए उनकी ओर अपना मुख भी नहीं फेरा वह वेदों के उन्हीं शब्दों के द्वारा मोहबद्ध हो जाता है, जो शरणागत भक्तों को प्रकाशित करते हैं।'' वेद स्वयं चेतावनी देते हैं *तस्य वाक्तन्तिर्नामानि दामानि। तस्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दामभिः सर्वं सितम्* ''इस दिव्य ध्वनि के धागों से पवित्र नामों की डोरी

बनती है, किन्तु इन्हीं से बाँधने की रस्सियाँ भी। सारे वेद अपने आदेशों की रस्सी से सम्पूर्ण संसार को बाँध देते हैं, जिससे सारे जीव मिथ्या उपाधि से जकड़ जाते हैं।''

आत्मा तथा परमात्मा की सत्यता *अपरोक्ष -बोधगम्य* है, किन्तु केवल उसके लिए जिसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हो। अशुद्ध हृदय वाले दार्शनिकजन भूलवश मान बैठते हैं कि यह सत्य *परोक्ष* है अर्थात् इसका चिन्तन तो किया जा सकता है, प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया जा सकता। ऐसे विचारकों का ज्ञान सत्य के छोटे-छोटे पक्षों के विषय में उनके संन्देहों और भ्रांतियों को दूर करने में सहायता कर सकता है, किन्तु भौतिक मोह को लाँघने तथा ब्रह्म के निकट पहुँचने के लिए यह व्यर्थ है। समान्यतया केवल वे भक्त *अपरोक्ष ज्ञान* के रूप में उनकी महानता और अद्भुत दया का सीधा साक्षात्कार प्राप्त करते रहते हैं, जो पूर्ण शुद्धि पाने तक भगवान् की प्रेमाभक्ति करते रहते हैं। हाँ, भगवान् चाहें तो अयोग्य पर भी कृपा प्रदान कर सकते हैं, जैसाकि वे आक्रमणकारी असुरों का वध करते समय करते हैं, किन्तु वे मायावादियों तथा अन्य नास्तिक दार्शनिकों को आशीर्वाद नहीं देना चाहते।

किन्तु यह नहीं सोचना चाहिए कि विष्णु के भक्त अज्ञानी हैं, क्योंकि वे दार्शनिक विश्लेषण तथा तर्क में दक्ष नहीं भी हो सकते। आत्मा का पूर्ण साक्षात्कार केवल अपने प्रयासों से मानसिक चिंतन के द्वारा नहीं, अपितु भगवान् की दया प्राप्त करके किया जा सकता है। यह बात हमें वैदिक प्रमाण में (*कठ उपनिषद्* २.२.२३ *तथा मुण्डक उपनिषद्* ३.२.३) सुनाई पड़ती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो

न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य

स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

''इस परमात्मा तक न तो तर्क द्वारा, न ही स्वतंत्र मस्तिष्क-शक्ति लगाकर, न अनेक शास्त्रों का अध्ययन करके पहुँचा जा सकता है। प्रत्युत वह व्यक्ति ही उसे पा सकता है, जिसको वह स्वयं कृपा करने के लिए चुन ले। उस व्यक्ति को आत्मा अपना असली साकार स्वरूप प्रकट कर देता है।''

श्रुति में अन्यत्र भक्त की सफलता का वर्णन मिलता है—*देहान्ते देव: परमं ब्रह्म तारकं व्यचष्टे* इस शरीर का अन्त होने पर पवित्र आत्मा परमेश्वर को उतना ही स्पष्ट देखता है, जितना आकाश के तारे

दिखते हैं। *श्वेताश्वतर उपनिषद्* के अन्तिम कथन में (६.२३) कामना करने वाले वैष्णवों को यह प्रोत्साहन दिया गया है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

''जिन महात्माओं को भगवान् तथा गुरु में अटूट श्रद्धा होती है उन्हें ही वैदिक ज्ञान के सारे भावार्थ स्वतः प्रकट होते हैं।''

इस सम्बन्ध में श्रील जीव गोस्वामी *श्वेताश्वतर उपनिषद्* के अन्य श्लोक (.७-८ तथा .१३) उद्धृत करते हैं—

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्

अस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

ऋचोऽक्षरे परे व्योमन् यस्मिन्

देवा अधि विश्वे निषेदुः।

यस्तं वेद किम् ऋचा करिष्यति

य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥

''परमेश्वर वह है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद के मंत्रों में होता है, जो सर्वोच्च नित्य आकाश में रहता है तथा जो अपने सन्त-भक्तों को उसी पद की साझेदारी करने के लिए ऊँचे उठाता है। जिसने उसके प्रति शुद्ध प्रेम उत्पन्न कर लिया है और जो उनकी अद्वितीयता को समझता है, वह तब उनके यश की प्रशंसा करता है तथा दुख से मुक्त हो जाता है। जो व्यक्ति उस परमेश्वर को जानता है भला उसका ऋग्वेद के मंत्र और कौन-सा कल्याण कर सकते हैं? जो कोई भी उन्हें जान लेता है परमगति को प्राप्त होता है।

यो वेदानां अधिपो यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः।

य ईशोऽस्य द्विपदश्चतुष्पदस्तस्मै देवाय हविषा विधेम्॥

''जो सारे वेदों के स्वामी हैं, जिनमें सारे लोक टिके हैं, जो समस्त ज्ञात जीवों, दो पैर वालों तथा चौपायों के स्वामी हैं, हम उन्हीं भगवान् की पूजा घी की आहुतियों से करते हैं।''

श्रील श्रीधर स्वामी मुमुक्षुओं का उल्लेख करते हुए प्रार्थना करते हैं—

तपन्तु तापै प्रपतन्तु पर्वताद् अटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमान्।

यजन्तु यागैर्विवदन्तु वादैर्हरिम् विना नैव मृतिम् तरन्ति॥

"भले ही वे तपस्या करें, अपने को पर्वत की चोटियों से गिरायें, तीर्थस्थलों की यात्रा करें, शास्त्र पढ़ें, अग्नि यज्ञों से पूजा करें और अनेक दर्शनों के विषय में तर्क करें, किन्तु हरि के बिना वे मृत्यु से आगे तैर नहीं सकते।"

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधरस्
तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः ।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; अकरणः—भौतिक इन्द्रियों से विहीन; स्व-राट्—आत्म तेजोमय; अखिल—समस्त; कारक—एन्द्रिय कार्यों की; शक्ति—शक्तियों के; धरः—धारण करने वाले; तव—तुम्हारी; बलिम्—भेंट; उद्वहन्ति—ले जाते हैं; समदन्ति—हिस्सा बँटाते हैं; अजया—प्रकृति के साथ; अनिमिषाः—देवतागण; वर्ष—राज्य के जनपदों के; भुजः—शासक; अखिल—समस्त; क्षिति—पृथ्वी के; पतेः—स्वामी के; इव—सदृश; विश्व—ब्रह्माण्ड के; सृजः—स्रष्टा; विदधति—सम्पन्न करते हैं; यत्र—जिसमें; ये—वे; तु—निस्सन्देह; अधिकृता—नियत; भवतः—आपका; चकिताः—भयभीत।

यद्यपि आपकी भौतिक इन्द्रियाँ नहीं हैं, किन्तु आप हर एक की इन्द्रिय-शक्ति के आत्म-तेजवान धारणकर्ता हैं। देवता तथा प्रकृति स्वयं आपकी पूजा करते हैं, जबकि अपने पूजा करने वालों द्वारा अर्पित भेंट का भोग भी करते हैं, जिस तरह किसी राज्य के विविध जनपदों के अधीन शासक अपने स्वामी को, जो कि पृथ्वी का चरम स्वामी होता है, भेंटें प्रदान करते हैं और साथ ही स्वयं अपनी प्रजा द्वारा प्रदत्त भेंट का भोग भी करते हैं। इस तरह आपके भय से ब्रह्माण्ड के स्रष्टा अपने अपने नियत कार्यों को श्रद्धापूर्वक सम्पन्न करते हैं।

तात्पर्य : सारे बुद्धिमान जीवों को भगवान् की सर्वसत्ता स्वीकार करनी चाहिए और स्वेच्छा से उनकी भक्ति में संलग्न होना चाहिए। साक्षात् वेदों का यही एकमत है। किन्तु इन स्तुतियों को सुनते समय नारायण ने ठीक ही पूछा होगा, "चूँकि इन्द्रियों तथा अंगों से युक्त मेरा भी शारीरिक रूप है, तो फिर क्या मैं दूसरा कर्ता तथा भोक्ता नहीं हूँ? विशेषरूप से तब जबकि मैं परमात्मा रूप में प्रत्येक जीव के हृदय में रहकर असंख्य अंगों-प्रत्यंगों का निरीक्षण करता हूँ, तो यह कैसे हो सकता है कि मैं सबों

की समूची इन्द्रिय-तृप्ति में न गिना जाऊँ?'' समवेत श्रुतियाँ यहाँ मिलकर कहती हैं, ''नहीं। आपके भौतिक इन्द्रियाँ नहीं हैं, तो भी आप सबों के परम नियन्ता हैं।'' जैसाकि *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (३.१८) में व्यक्त हुआ है—

अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥

''उसके पैर या हाथ नहीं हैं, फिर भी वह सबसे तेज दौड़ने वाला है और किसी भी वस्तु को पकड़ सकता है। यद्यपि वह आँखों या कानों से रहित है, तो भी वह देखता-सुनता है। उसे कोई नहीं जानता फिर भी वह ज्ञाता तथा ज्ञेय है। मुनिगण उसे परम आदि भगवान् के रूप में बतलाते हैं।''

परम पुरुष के हाथ, पाँव, आँखें तथा कान सामान्य बद्ध आत्मा जैसे नहीं होते, जो मिथ्या अहंकार से एवं भौतिक पदार्थ होते हैं। प्रत्युत भगवान् का दिव्य सुन्दर स्वरूप उनकी अन्तरंगा प्रकृति की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार बद्धजीवों के आत्मा तथा शरीर से भिन्न भगवान् तथा उनका स्वरूप सभी प्रकार से एकरूप हैं। साथ ही, उनके कमल-हाथ, कमल-चरण, कमल-नेत्र तथा अन्य अंग अपने कार्यों तक सीमित नहीं होते। भगवान् द्वारा उत्पन्न प्रथम जीव ब्रह्मा ने इसीलिए उनका यशोगान किया है—

अंगानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति

पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति।

आनन्दचिन्मयसदुज्ज्वलविग्रहस्य

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जिनका दिव्य रूप आनन्द, सत्य तथा सार से पूर्ण है और जिससे अत्यन्त तेजपूर्ण प्रकाश निकलता है। उस दिव्य शरीर का प्रत्येक अंग सारे अंगों के सारे कार्यकलापों से युक्त होता है और आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही अनन्त ब्रह्माण्डों को नित्य देखता, पालन करता और प्रकट करता है।'' (*ब्रह्म-संहिता* ५.३२)

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने *अखिल शक्तिधर* का दूसरा अर्थ भी दिया है भगवान् जिस शक्ति को अपने भीतर धारण करते हैं वह *अखिल* है अर्थात् *खिल* या निम्न तथा तुच्छ के प्रतिबन्धों से मुक्त है।

वह जीव की इन्द्रियों को शक्ति प्रदान करता है, जैसाकि *केन उपनिषदथ* (१.२) में कहा गया है *श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचम्व* ''वह कान का कान, मन का मन और वाणी की वाणी शक्ति है।'' और *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में भी (६.८) घोषणा है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते

न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

''उन्हें कोई कार्य नहीं करना पड़ता, न ही उनके कोई भौतिक इन्द्रियाँ होती हैं, जिनसे यह कार्य किया जाय। न तो कोई उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर है। वेदों से हम सुनते हैं कि भगवान् की नाना प्रकार की शक्तियाँ हैं यथा ज्ञान, बल तथा क्रिया की शक्तियाँ जिनमें से हर एक स्वतंत्र रूप से कार्य करती है।''

मर्त्य जीवों पर शासन करने वाले इन्द्र तथा अन्य देवता तो स्वयं भगवान् के दास हैं। वैसे ही इनसे भी श्रेष्ठ ब्रह्मा तथा उनके पुत्र भी दास हैं। ये सारे महान् देवता तथा ऋषिगण ब्रह्माण्ड का पालन करने तथा मानव जाति को धार्मिक मार्गदर्शन प्रदान करने के अपने अपने कार्य करके भगवान् की पूजा करते हैं।

ब्रह्माण्ड के शक्तिशाली नियन्ता भयपूर्ण आदर से परम नियन्ता श्री विष्णु की शरण ग्रहण करते हैं। जैसाकि *तैत्तिरीय उपनिषद्* (२.८.१) में कहा गया है—

भीषास्माद् वातः पवते भीषाद् एति सूर्यः।

भीषास्माद् अग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

''वायु उनके भय से चलता है। उनके ही भय से सूर्य गति करता है और अग्नि तथा इन्द्र अपना अपना कार्य करते हैं। और मृत्यु, जिसका स्थान पाँचवा है, उनके भय से भागता रहता है।''

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

अनिन्द्रियोऽपि यो देवः सर्वकारकशक्तिधृक्।

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च सर्वसेव्यं नमामि तम्॥

"भगवान् के कोई इन्द्रिय नहीं है, फिर भी वह प्रत्येक जीव के ऐन्द्रिय कार्यों को नियंत्रित करता है। वे हर वस्तु के जानने वाले, समस्त कार्य के चरमकर्ता तथा हर एक की भक्ति के समुचित लक्ष्य हैं। मैं उनको नमस्कार करता हूँ।"

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो
विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः ।
न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद्
वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

स्थिर—जड़; चर—तथा चेतन; जातयः—योनियाँ; स्युः—प्रकट हुईं; अजया—भौतिक शक्ति से; उत्थ—जागृत की गई; निमित्त—कारण (तथा ऐसे कारण से क्रियाशील बनाये गये सूक्ष्म शरीर); युजः—धारण करके; विहरः—खेल; उदीक्षया—आपकी टुक चितवन से; यदि—यदि; परस्य—उसका, जो पृथक् रहता है; विमुक्त—हे नित्य मुक्त; ततः—उससे; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; परमस्य—परम का; कश्चित्—कोई; अपरः—पराया नहीं; न—न तो; परः—पराया; च—भी; भवेत्—हो सकता है; वियतः—आकाश के लिए; इव—सदृश; अपदस्य—अनुभवगम्य गुणों से विहीन; तव—तुम्हारा; शून्य—शून्य; तुलाम्—तुलना; दधतः—जो धारण करते हैं।

हे नित्यमुक्त दिव्य भगवान्, आपकी भौतिक शक्ति विविध जड़ तथा चेतन जीव योनियों को उनकी भौतिक इच्छाएँ जगाकर प्रकट कराती है, लेकिन ऐसा तभी होता है, जब आप उस पर अल्प दृष्टि डालकर उसके साथ क्रीड़ा करते हैं।

हे भगवान्, आप किसी को न तो अपना घनिष्ठ मित्र मानते हैं, न ही पराया, ठीक उसी तरह जिस तरह आकाश का अनुभवगम्य गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस मामले में आप शून्य के समान हैं।

तात्पर्य : न केवल सारे जीव अपने पालन-पोषण तथा कल्याण के लिए सर्वशक्तिमान स्वतंत्र भगवान् पर पूरी तरह निर्भर रहते हैं, अपितु उनका सारा देहधारी अस्तित्व उनकी अपार दया के ही कारण होता है। भगवान् को भौतिक व्यापारों में कोई रुचि नहीं रहती, क्योंकि उन्हें इस जगत के क्षुद्र आनन्दों से कुछ भी नहीं लेना होता। वे ईर्ष्या या वासना के किसी भी कल्मष से पूरी तरह मुक्त रहते हैं। वे अपनी दैवी शक्तियों के भीतरी लोक में अपने शुद्ध भक्तों के साथ गुह्य प्रेम-लीलाओं में पूरी तरह व्यस्त रहते हैं। अतएव यदि वे भौतिक सृष्टि के कार्य की ओर कभी मुड़ते हैं, तो उन पतितात्माओं को अपने नित्य आनन्द लोक में खींचकर लाने के लिए ऐसा करते हैं।

भगवान् से पृथक् जीवन बिताने के लिए विद्रोही आत्माओं को उपयुक्त शरीर तथा मोहमय परिवेश

प्रदान किया जाना चाहिए, जिसमें वे स्वतंत्रतापूर्वक विलास-कार्य कर सकें। दयामय प्रभु उन्हें अपनी राह में चल कर अपने आप सीखने के लिए सहमत हो जाते हैं, अतएव वे अपनी भौतिक सृजन की शक्ति महामाया पर दृष्टि डालते हैं। इस दृष्टि के पड़ने से ही वह जाग जाती है और उनकी ओर से सारी व्यवस्था करने लगती है। वह तथा उसके सहायकगण देवताओं, मनुष्यों, पशुओं आदि के असंख्य स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर निर्मित करते हैं। उसी के साथ वे स्वर्ग तथा नरक-लोकों में असंख्य परिस्थितियाँ भी उत्पन्न करते हैं, जिससे बद्धजीवों को उनकी इच्छानुसार तथा योग्यतानुसार सुविधाएँ प्राप्त हो सकें।

भले ही कोई अनजान व्यक्ति प्राणियों के कष्ट के लिए ईश्वर को दोष दे, किन्तु वैदिक वाङ्मय का सच्चा अध्येता प्रत्येक आत्मा के लिए भगवान् की एकसमान चिन्ता की प्रशंसा किये बिना नहीं रहता। चूँकि उन्हें कुछ लेना-देना नहीं रहता, इसलिए वे मित्रों तथा विरोधियों में भेदभाव क्यों रखें? भले ही हम उनका विरोध करने की ठान लें और उन्हें भुलाने के सारे प्रयत्न करें, किन्तु वे हमें कभी नहीं भूलते, न ही वे हमें हमारी सभी आवश्यक वस्तुओं को देना तथा अदृश्य मार्गदर्शन देना बन्द करते हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

त्वदीक्षणवशक्षोभमायाबोधितकर्मभि: ।

जातान् संसरत: खिन्नान् नृहरे पाहि न: पित: ॥

''हे पिता, हे नृसिंह! जो जन्म-मृत्यु के अन्तहीन चक्र में जन्म ले चुके हैं, उनकी रक्षा कीजिये। ये आत्माएँ अपने कर्म-बन्धन से दुखी हैं, जिसे माया ने तब जागृत किया, जब आपने उसे क्रियाशील बनाने के लिए अपनी दृष्टि डाली।''

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्
तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा ।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अपरिमिता:—असंख्य; ध्रुवा:—स्थायी; तनु-भृत:—देहधारी जीव; यदि—यदि; सर्व-गता:—सर्वव्यापी; तर्हि—तब; न—नहीं; शास्यता—प्रभुसत्ता; इति—इस प्रकार; नियम:—नियम; ध्रुव—हे अपरिवर्तित; न—नहीं; इतरथा—अन्यथा; अजनि—उत्पन्न किया गया था; च—तथा; यत्-मयम्—जिसके सार से; तत्—उससे; अविमुच्य—अपने को विलग न करते हुए; नियन्तृ—

नियन्ता; भवेत्—होना चाहिए; समम्—सम रूप से उपस्थित; अनुजानताम्—जानने वालों का; यत्—जो; अमतम्—गलत समझा हुआ; मत—ज्ञान; दुष्टतया—अपूर्णता के कारण।.

यदि ये असंख्य जीव सर्वव्यापी होते और अपरिवर्तनशील शरीरों से युक्त होते, तो हे निर्विकल्प, आप संभवतः उनके परम शासक न हुए होते। लेकिन चूँकि वे आपके स्थानिक अंश हैं और उनके स्वरूप परिवर्तनशील हैं, अतएव आप उनका नियंत्रण करते हैं। निस्सन्देह, जो किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिए अवयव की आपूर्ति करता है, वह अवश्यमेव उसका नियन्ता है, क्योंकि कोई भी उत्पाद अपने अवयव कारण से पृथक् विद्यमान नहीं रहता। यदि कोई यह सोचे कि उसने भगवान् को, जो अपने प्रत्येक अंश में समरूप से रहते हैं जान लिया है, तो यह मात्र उसका भ्रम है, क्योंकि मनुष्य जो भी ज्ञान भौतिक साधनों से अर्जित करता है, वह अपूर्ण होगा।

तात्पर्य : चूँकि बद्धजीव परम पुरुष को प्रत्यक्ष नहीं समझ पाता, अतएव वेद सामान्यतया उसको ब्रह्म और *ॐ तत् सत्* जैसे निर्विशेष रूप में बतलाते हैं। यदि कोई सामान्य विद्वान यह माने कि उसने इन प्रतीकात्मक शब्दों का गुह्य अर्थ समझ लिया है, तो उसे धूर्त समझकर त्याग देना चाहिए। *श्री केन उपनिषद्* (२.१) के शब्दों में—*यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रम् एवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं, यदस्य त्वं यदस्य देवेषु*—"यदि तुम सोचते हो कि तुम ब्रह्म को भलीभाँति जानते हो, तो तुम्हारा ज्ञान बहुत ही कम है। यदि तुम यह सोचते हो कि देवताओं के बीच ब्रह्म के रूप को पहचान सकते हो, तो निस्सन्देह तुम बहुत कम जानते हो।" पुनः

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञातमविजानताम्॥

"जो कोई परम सत्य के विषय में किसी प्रकार का मत रखने से इनकार करता है उसका मत सही होता है, किन्तु जो ब्रह्म के विषय में अपना मत रखता है, वह उन्हें नहीं जानता। जो यह दावा करते हैं कि वे उन्हें जानते हैं उनसे वे अज्ञात होते हैं, वे उन्हीं के द्वारा जाने जाते हैं, जो उन्हें जानने का दावा नहीं करते।" (*केन उपनिषद्* २.३)

आचार्य श्रीधर स्वामी ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है अनेक दार्शनिकों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से जीवन के रहस्यों का अध्ययन किया है और व्यापक दृष्टि से भिन्नता के सिद्धान्त बनाये हैं। उदाहरणार्थ, अद्वैत मायावादी यह सुझाव रखते हैं कि जीव केवल एक है और उसे आच्छादित किए

हुए एक *अविद्या* की शक्ति है, जो अनेक रूप उत्पन्न करती है। किन्तु इस परिकल्पना से यह बेतुका निष्कर्ष निकलता है कि जब कोई जीव मुक्त हो जाता है, तो सभी मुक्त हो जाते हैं। दूसरी ओर यदि एक जीव को आच्छादित करने वाली अनेक अविद्याएँ होंगी तो प्रत्येक अविद्या उस जीव के कुछ ही हिस्से को ढकेगी और तब हमें यह कहना होगा कि किसी विशेष समय पर वह अंशत: मुक्त होता है और उसके शेष अंश बन्धन में पड़े रहते हैं। यह सर्वथा बेहूदा विचार है। इस तरह जीवों की बहुरूपता से बचा नहीं जा सकता।

यही नहीं, अन्य सिद्धान्तवादी भी हैं, यथा न्याय तथा वैशेषिक के समर्थक, जो यह दावा करते हैं कि जीवात्मा का आकार अनिश्चित है। इन विद्वानों का तर्क है कि यदि आत्माएँ सूक्ष्म होतीं, तो वे अपने ही शरीरों में व्याप्त न होतीं और यदि वे मध्यम आकार की होतीं, तो वे खंडों में विभाजित हो सकतीं और तब नित्य न होतीं। यह धारणा कम-से-कम न्याय-वैशेषिका तत्त्व-मीमांसा के अनुसार मानी जाती है, किन्तु यदि असंख्य नित्य जीवात्माएँ असीमत: विशाल हों, तो वे बन्धन की किसी शक्ति से किस तरह आच्छादित हो सकतीं, चाहे वे अविद्या से सम्बद्ध होतीं या स्वयं परमेश्वर से? इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा के लिए न तो कोई अविद्या हो सकती है न ही उसे किसी प्रतिबन्ध से मुक्त होना है। अनन्त आत्माओं को बिना परिवर्तन के नित्य उसी रूप में रहे आना है। इसका अर्थ यह होगा कि सभी आत्माएँ ईश्वर के तुल्य होंगी, क्योंकि ईश्वर को इन सर्वव्यापी अपरिवर्तनशील प्रतिद्वन्द्वियों को नियंत्रित करने के लिए अवसर ही नहीं मिलेगा।

वे वैदिक श्रुति मंत्र जो एक स्वर से व्यष्टि आत्माओं पर ईश्वर की प्रभुता को बतलाते हैं, उनका तर्कसंगत खंडन नहीं किया जा सकता। असली दार्शनिक को श्रुति के कथनों को सभी चर्चित विषयों में विश्वसनीय प्रमाण मानना चाहिए। निस्सन्देह अनेक स्थानों पर वैदिक वाङ्मय में परमेश्वर की शाश्वत अपरिवर्तनशील अभिन्नता को जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँसे हुए जीवों की परिवर्तनशील देहों से भिन्न बतलाया गया है।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

अन्तर्यन्ता सर्वलोकस्य गीत: श्रुत्या युक्त्या चैवम् एवावसेय:।

य: सर्वज्ञ: सर्वशक्तिर्नृसिंह: श्रीमन्तं तं चेतसैवावलम्बे॥

"मैं अपने हृदय में उसकी शरण ग्रहण करता हूँ, जिनका सारे जगतों के आन्तरिक नियन्ता के रूप में महिमागान किया जाता है और जिसकी पुष्टि सारे वेद तर्क द्वारा करते हैं। वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान लक्ष्मीपति नृसिंह हैं।"

न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयोर्
उभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

न घटते—घटित नहीं होता; उद्भवः—सृजन; प्रकृति—प्रकृति का; पूरुषयोः—तथा उसके भोक्ता आत्मा का; अजयोः—अजन्मा; उभय—दोनों के; युजा—संयोग से; भवन्ति—उत्पन्न होते हैं; असु-भृतः—जीव; जल—जल पर; बुद्बुद—बुलबुला; वत्—सदृश; त्वयि—तुममें; ते इमे—ये (जीव); ततः—इसलिए; विविध—तरह-तरह के; नाम—नामों; गुणैः—तथा गुणों से; परमे—परम में; सरितः—नदियाँ; इव—सदृश; अर्णवे—समुद्र में; मधुनि—शहद में; लिल्युः—लीन हो जाती हैं; अशेष—पूरा; रसाः—स्वाद।

न तो प्रकृति, न ही उसका भोग करने के लिए प्रयत्नशील आत्मा कभी जन्म लेते हैं, फिर भी जब ये दोनों संयोग करते हैं, तो जीवों का जन्म होता है, जिस तरह जहाँ जहाँ जल से वायु मिलती है, वहाँ वहाँ बुलबुले बनते हैं। जिस तरह नदियाँ समुद्र में मिलती हैं या विभिन्न फूलों का रस शहद में मिल जाता है, उसी तरह ये सारे बद्धजीव अन्ततोगत्वा अपने विविध नामों तथा गुणों समेत आप ब्रह्म में पुनः लीन हो जाते हैं।

तात्पर्य : समुचित आध्यात्मिक मार्गदर्शन के बिना कोई भी व्यक्ति भगवान् से उद्भूत जीवों के वेदों द्वारा प्रस्तुत वर्णन का यह गलत अर्थ लगा सकता है कि इस तरह से उत्पन्न जीव अन्ततोगत्वा अनस्तित्व में चले जायेंगे। किन्तु यदि जीवों का इस तरह केवल क्षणिक अस्तित्व होना था, तो जब उनमें से कोई मरता, तो उसके बचे हुए कर्म बिना उपयोग में लाये जाकर विलीन हो जाते और जब आत्मा फिर से जन्म लेता तो वह बिना हिसाब के कई कर्मों के साथ उत्पन्न होता, जिन्हें कमाने के लिए उसने कुछ न किया होता। यही नहीं, जीव की मुक्ति का अर्थ होता उसकी पहचान तथा सत्ता का समूल विनाश होना।

किन्तु सच तो यह है कि आत्मा का सार ब्रह्म से तादात्म्य है, जिस तरह मिट्टी के पात्र की दीवालों के छोटे छोटे छिद्र सारतः विस्तीर्ण आकाश से एकाकार हैं। मिट्टी के पात्र के बनाने तथा टूटने की ही

तरह किसी व्यष्टि आत्मा का ''जन्म'' पहले भौतिक शरीर से उसके आच्छादित होने में है और उसकी ''मृत्यु'' या मोक्ष उसके स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों का एक ही बार में सदा के लिए विनाश है। निश्चय ही ऐसा ''जन्म'' तथा ''मृत्यु'' परमेश्वर की कृपा से ही घटित होते हैं।

प्रकृति का उसके नियन्ता से जो भौतिक सृष्टि में असंख्य बद्धजीव उत्पन्न करता है, संयोग होने की उपमा जल तथा वायु के संयोग से दी गई है, जिससे समुद्र की सतह पर फेन के असंख्य बुलबुले उत्पन्न होते हैं। जिस तरह सक्षम कारणरूपी वायु उपादान कारण रूपी जल को बुलबुला बनने के लिए बाध्य करता है, उसी तरह परम पुरुष अपने दृष्टिपात से प्रकृति को भौतिक तत्त्वों तथा इन तत्त्वों से बनने वाले अनेक पदार्थों के रूप में परिवर्तित होने के लिए प्रेरित करता है। इस तरह प्रकृति सृष्टि का *उपादान कारण* अर्थात् सृजन का अवयव रूपी कारण है। किन्तु अन्ततः वह परमेश्वर का अंश भी है, इसलिए परमेश्वर ही एकमात्र उपादान कारण तथा सक्षम कारण भी हैं। *तैत्तिरीय उपनिषद्* (२.२.१) में इसका वर्णन हुआ है *तस्माद् वा एतस्माद् आत्मन आकाश: सम्भूत:* इस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ तथा *सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय* उसने इच्छा की कि सन्तति में विस्तार करके मैं अनेक हो जाऊँ।

जब जीवात्माएँ परमेश्वर तथा प्रकृति से ''जन्म'' लेती हैं, तब न तो वे उत्पन्न होती हैं, न ही जब वे भगवान् के नित्य धाम की ह्लादिनी लीलाओं में उनसे मिलने के लिए उनमें वापस ''लीन'' होती हैं, तो वे विनष्ट होती हैं। इसी तरह जिस प्रकार अति सूक्ष्म जीव बिना किसी वास्तविक परिवर्तन के जन्मते तथा मरते प्रतीत होते हैं उसी तरह परमात्मा बिना किसी विकार के अपने उद्भवों को बाहर निकाल सकता है और भीतर खींच सकता है। इस प्रकार *बृहादरण्यक उपनिषद्* पुष्टि करता है (.५.१) कि *अविनाशी वारेऽयम् आत्मा*—यह आत्मा निस्सन्देह अविनाशी है। यह कथन परमात्मा तथा उसके अधीन जीवात्मा दोनों पर लागू हो सकता है।

जैसाकि श्रील श्रीधर स्वामी ने बतलाया है कि जीव की भौतिक अवस्था का विलय दो प्रकार से होता है आंशिक तथा पूर्ण। आंशिक विलय तब होता है, जब आत्मा को स्वप्नरहित निद्रा आती है, जब वह अपने शरीर को त्यागता है और जब सारी आत्माएँ फिर से ब्रह्माण्ड के प्रलय के समय महाविष्णु के शरीर में प्रवेश करती हैं। ये विभिन्न प्रकार के विलय विभिन्न प्रकार के फूलों से

मधुमक्खियों द्वारा लाये गये मधु को मिलाने के समान हैं। मधु के विभिन्न स्वाद-गंध प्रत्येक जीव के सुप्त कर्मफलों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो अस्तित्व में रहने पर भी एक दूसरे से पहचाने नहीं जा सकते। तुलनात्मक दृष्टि से, जीवात्मा की भौतिक अवस्था का अन्तिम विलय संसार से उसकी मुक्ति है, जो नदियों का समुद्र में मिलने जैसी है। जिस तरह समुद्र में प्रवेश करने के बाद विभिन्न नदियों का जल परस्पर मिल जाता है और एक-दूसरे से पहचाना नहीं जा सकता, उसी तरह मुक्ति के साथ जीव की सारी झूठी भौतिक उपाधियाँ छूट जाती हैं और सारे मुक्त जीव पुनः भगवान् के सेवकों की भाँति समभाव से स्थित हो जाते हैं।

उपनिषदों में इन विलयों का वर्णन इस प्रकार हुआ है यथा *सौम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारम् एकतां संगयन्ति। ते यथा तत्र न विवेकं लभन्ते अमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पदय न विदुः सति सम्पाद्यामहे* "हे बालक! यह (आंशिक विलय) वैसा ही है, जैसाकि मधुमक्खियों द्वारा विविध प्रकार के वृक्षों के फूलों से निकाले रस को मिलाकर एक मिश्रण रूप में बनाया गया मधु होता है। जिस प्रकार मिश्रित रस यह अन्तर नहीं कर पाते कि मैं अमुक फूल का रस हूँ या कि किसी अन्य फूल का रस हूँ, उसी तरह हे बालक! जब ये सारे जीव परस्पर मिल जाते हैं, तो वे यह नहीं सोच पाते कि "अब हम एक दूसरे से मिल गये हैं।" (छन्दोग्य उपनिषद् ६.९.१-२)

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।

तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषं उपैति दिव्यम्॥

"जिस तरह नदियाँ अपने गन्तव्य पर पहुँच कर अपने नामों तथा रूपों को त्याग कर समुद्र में मिलकर विलीन हो जाती हैं, उसी तरह विद्वान व्यक्ति भौतिक नामों तथा स्वरूपों से मुक्त होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है, जो अद्भुत भगवान् हैं।" (*मुण्डक उपनिषद* ३.२.८)

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

यस्मिन्नुद्यद्विलयमपि यद् भाति विश्वं लयादौ

जीवोपेतं गुरुकरुणया केवलात्मावबोधे।

अत्यन्तान्तं व्रजति सहसा सिन्धुवत् सिन्धुमध्ये

मध्ये चित्तं त्रिभुवनगुरुं भावये तं नृसिंहम् ॥

"परमेश्वर आत्म-प्रकाशित होने से सर्वज्ञ हैं। उनकी परम कृपा से, यह ब्रह्माण्ड जो कि बारम्बार उत्पन्न होता और लय होता है, विश्व-प्रलय के समय जीवों के साथ साथ उनमें विलीन होने के बाद उन्हीं में उपस्थित रहता है। ब्रह्माण्ड का यह पूर्ण विलय सहसा होता है, जिस तरह कि समुद्र में जाकर नदी मिल जाती है। मैं अपने हृदय के भीतर तीनों लोकों के स्वामी नृसिंह भगवान् का ध्यान करता हूँ।"

नृषु तव मयया भ्रमममीष्ववगत्य भृशं
त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम् ।
कथमनुवर्ततां भवभयं तव यद्भ्रुकुटिः
सृजति मुहुस्त्रिनेमिरभवच्छरणेषु भयम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

नृषु—मनुष्यों के बीच; तव—तुम्हारी; मायया—माया से; भ्रमम्—मोह; अमीषु—इनमें; अवगत्य—समझकर; भृशम्—अत्यधिक; त्वयि—तुममें; सु-धियः—विद्वान; अभवे—मोक्ष के स्रोत में; दधति—करता है; भावम्—प्रेमाभक्ति; अनुप्रभवम्—शक्तिमान, उत्कट; कथम्—कैसे; अनुवर्तताम्—अनुयायियों के लिए; भव—भौतिक जीवन का; भयम्—डर; तव—तुम्हारा; यत्—चूँकि; भ्रु—भौंहों का; कुटिः—टेढ़ा होना; सृजति—उत्पन्न करती है; मुहुः—बारम्बार; त्रि-नेमिः—तीन आरों वाली (भूत, वर्तमान तथा भविष्यये काल की तीन अवस्थाएँ); अ—नहीं; भवत्—आप से; शरणेषु—शरणागतों के लिए; भयम्—डर।

विद्वान आत्माएँ, जो यह समझते हैं कि आपकी माया, किस तरह सारे मनुष्यों को मोहती है, वे आपकी उत्कट प्रेमाभक्ति करते हैं, क्योंकि आप जन्म तथा मृत्यु से मुक्ति के स्रोत हैं। भला आपके श्रद्धावान सेवकों को भौतिक जीवन का भय कैसे सता सकता है? दूसरी ओर, आपकी कुटिल भौंहें, जो कालचक्र की *तिहरी-नेमि* हैं बारम्बार उन्हें भयभीत बनाती हैं, जो आपकी शरण ग्रहण करने से इनकार करते हैं।

तात्पर्य : वेद अपने सर्वाधिक रहस्य भगवद्भक्ति—को उन्हें ही प्रकट करते हैं, जो उस भौतिक मोह से ऊब चुके हैं जो भगवान् से स्वतंत्र सत्ता के झूठे भाव पर आधारित है। *श्वेत यजुर्वेद* की *वाजसनेयी संहिता* (३२.११) में निम्नलिखित मंत्र है—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।

उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानम् अभिसंविवेश॥

"सारी जीव-योनियों, सारे लोकों तथा सारी दिशाओं में अन्तरिक्ष की सारी सीमाओं को पार

करके मनुष्य मूल अमर आत्मा के पास पहुँचता है। तब उसे उनके राज्य में स्थायी रूप से प्रवेश करने तथा उनकी साक्षात् पूजा करने का अवसर प्राप्त होता है।''

भले ही विविध परस्पर विरोधी भौतिक दर्शनों के समर्थक अपने को अत्यन्त बुद्धिमान मानें, किन्तु वे सबके सब भगवान् की माया द्वारा मोहित हैं। वैष्णवजन सामान्य मोह की इस रीति को जानते हैं, इसलिए वे दास्य, सख्य इत्यादि भक्ति-रसों में भगवान् के प्रति अपने को समर्पित करते हैं। वे दार्शनिक वाद-विवाद की गर्मी और झगड़े में न पड़कर प्रतिक्षण आनन्द का अनुभव करते हैं, क्योंकि उनके प्रेम का लक्ष्य वह है, जो भवबन्धन को अन्त करने वाला है। भगवान् विष्णु के भक्त न केवल इस जीवन में अपितु अगले जीवनों में भी निरन्तर आनन्द का भोग करते हैं। वे चाहे जो भी जन्म लें, वे भगवान् के साथ प्रेमाभक्ति के आदान-प्रदान का आनंद लेते रहते हैं। इस प्रकार निष्ठावान वैष्णव प्रार्थना करता है—

नाथ योनि सहस्रेषु येषु येषु भ्रमाम्यहम्।

तत्र तत्राच्युता भक्तिरच्युतास्तु दृढा त्वयि॥

''हे नाथ! मैं जीवन की हजारों योनियों में जहाँ-जहाँ घूमूँ प्रत्येक अवस्था में हे अच्युत! मैं आपकी दृढ़ भक्ति पाऊँ।'' (*विष्णु पुराण*)

कुछ दार्शनिक यह प्रश्न उठा सकते हैं कि वैष्णवजन *त्वम्* (तुम, जीव) तथा *तत्* (वह, ब्रह्म) के पूर्ण वैश्लेषिक ज्ञान के बिना एवं भौतिक जीवन के प्रति पर्याप्त घृणा उत्पन्न किये बिना इस भवबन्धन को कैसे जीत सकते हैं? यहाँ पर साक्षात् वेद उत्तर देते हैं कि भगवद्भक्तों पर भौतिक मोह बने रहने की गुंजाईश नहीं रहती, क्योंकि भक्ति की प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही भगवत्कृपा से सारा भय तथा आसक्ति दूर हो जाते हैं।

इस जगत में समय (काल) ही समस्त भय का कारण है। वह भूत, वर्तमान तथा भविष्य इन अपने तीन विभागों से रोग, मृत्यु तथा नरक-यातना का भय उत्पन्न करता है, किन्तु केवल उनके लिए जिन्होंने भगवान् के चरणों की शरण नहीं ग्रहण की है। जैसाकि स्वयं भगवान् ने *रामायण* (लंका खण्ड १८.३३) में कहा है—

सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते।

अभयं सर्वदा तस्मै ददाम्येतद् व्रतं मम॥

''यदि कोई एक बार भी यह याचना करते हुए कि ''मैं आपका हूँ'' मेरी शरण में आता है, उसे मैं शाश्वत अभय प्रदान करता हूँ। यह मेरा दृढ़ व्रत है।'' साथ ही, *भगवद्गीता* (७.१) में भगवान् कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायां एतां तरन्ति ते॥

''तीन गुणों से युक्त मेरी इस दैवी शक्ति से पार पाना कठिन है। किन्तु जिन्होंने मेरी शरण ग्रहण कर ली है, वे आसानी से इसे पार कर सकते हैं।''

वैष्णवजन शुष्क दार्शनिक विषयों में दीर्घ समय के लिए व्यर्थ बहस में सिर खपाकर अपना समय नहीं गँवाना चाहते। वे किसी दार्शनिक प्रतिद्वन्द्वी से झगड़ने की बजाय भगवान् की पूजा करना चाहेंगे। वैष्णवों की समझ शास्त्र के आवश्यक सन्देश से मेल खाती है। इन भक्तों की परब्रह्म के प्रति धारणा, जो कि कृष्ण, राम आदि दैवी रूपों की प्रेममयी लीलाओं तथा अगाध समुद्र के रूप में है और स्वयं में भगवान् के नित्य दास की कल्पना *तत्* तथा *त्वम्* जैसे वेदान्त दर्शन के पूर्ण निष्कर्ष के तुल्य है।

भगवान् तथा उनके उद्‌भव यथा जीवात्माएँ एक ही समय भिन्न तथा अभिन्न हैं, जिस तरह कि सूर्य तथा उसकी विस्तारशील किरणें। जीवों की इतनी संख्या है कि उनकी गिनती नहीं की जा सकती और इनमें से हर एक सदैव चेतना से युक्त सजीव है, जैसाकि श्रुतियाँ पुष्टि करती हैं—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्* (*कठ उपनिषद्* ५.१३ तथा *श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.१३)। जब भौतिक सृष्टि के प्रारम्भ में महाविष्णु के शरीर से ये जीव बाहर निकलते हैं, तो वे भगवान् की तटस्था शक्ति के सूक्ष्म कण होने के कारण एकसमान होते हैं। किन्तु विभिन्न अवस्थाओं के कारण वे चार समूहों में बँट जाते हैं कुछ तो अज्ञान से ढके रहते हैं, जो उनकी दृष्टि को बादल के समान ढाँप लेती है। कुछ ज्ञान तथा भक्ति के मिश्रण से अज्ञान से मुक्त हो जाते हैं। तीसरा समूह नितान्त शुद्ध भक्ति से पूर्ण होता है, जिनमें कल्पित ज्ञान तथा सकाम कर्म की कुछ कुछ मिश्रित इच्छा रहती है। ऐसे जीवों को पूर्ण ज्ञान तथा आनन्द से युक्त शुद्ध शरीर प्राप्त होता है, जिससे वे भगवद्‌भक्ति में लग सकते हैं। अन्तिम समूह उनका है, जिनका अज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वे भगवान् के नित्य संगी हैं।

नारद पञ्चरात्र में जीवात्मा की तटस्थ स्थिति का वर्णन हुआ है—

यत् तटस्थं तु चिद्रूपं स्वसंवेद्याद् विनिर्गतम्।

रञ्जितं गुणरागेण स जीव इति कथ्यते॥

''तटस्थ शक्ति को भगवान् की *संवित्* (ज्ञान) शक्ति से उद्भूत समझना चाहिए। यह उद्भव, *जीव* कहलाता है, जो प्रकृति के गुणों द्वारा बद्ध हो जाता है।'' चूँकि जीव भगवान् की बहिरंगा शक्ति, माया और उनकी अन्तरंगा दिव्य शक्ति चित् के मध्य स्थित है, इसलिए जीव *तटस्थ* कहलाता है। किन्तु जब भगवद्भक्ति का अनुशीलन करके वह मुक्ति पा लेता है, तो वह पूर्णतया भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की शरण में आ जाता है। तब वह प्रकृति के गुणों से कलुषित नहीं होता। इसकी पुष्टि भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (१.२६) में की है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो प्रत्येक दशा में एकान्तिक भाव से पूर्ण भक्ति में अपने को लगाता है, वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को लाँघकर ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।''

आत्मा की पूजा का लक्ष्य तीन प्रकार से अनुभव किया जाता है ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्। निर्विशेष ब्रह्म सूर्य के चमकीले तेज जैसा है, परमात्मा सूर्य-मंडल जैसा है और भगवान् सूर्य के भीतर का अधिष्ठाता देव है, जिसके साथ विस्तृत साज-सामान रहता है। अथवा एक अन्य दृष्टान्त दिया जा सकता है, उन यात्रियों का जो किसी शहर की ओर आते हुए, उसके चिह्नों को शुरु में दूर से नहीं पहचान पाते—उन्हें अपने सामने अस्पष्ट-सा चमकता हुआ कुछ दिखता रहता है। किन्तु जब वे पास आते हैं, तो कुछ ऊँची इमारतें दिखने लगती हैं और जब वे बिल्कुल निकट पहुँच जाते हैं, तो शहर को भलीभाँति देख सकते हैं—मकानों, मार्गों, सार्वजनिक इमारतों, उद्यानों तथा नागरिकों की चहल-पहल से भरा शहर। इसी तरह जो लोग निर्विशेष ध्यान की ओर प्रवृत्ति रखते हैं, उन्हें भगवान् के तेज का कुछ कुछ साक्षात्कार (ब्रह्म) हो सकता है, जो और अधिक निकट जाते हैं, वे उन्हें हृदय में परमात्मा रूप में देख सकते हैं और जो उनके बिल्कुल पास आते हैं, वे उन्हें पूरी तरह साक्षात् रूप में (भगवान्) जान सकते हैं।

सार रूप में श्रील श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

संसारचक्रक्रकचैर्विदीर्णम् उदीर्णनानाभवतापतप्तम्।

कथञ्चिदापन्नमिह प्रपन्नं त्वमुद्धर श्रीनृहरे नृलोकम्॥

''हे नरहरि! कृपा करके उन जीवों का उद्धार कीजिये, जिन्होंने नाना प्रकार के कष्ट सहे हैं और संसार के चक्र की तेज धार से विदीर्ण कर दिये गये हैं, किन्तु जिन्होंने किसी तरह से अब आपको ढूँढ़ लिया है और अपने को आपकी शरण में समर्पित कर रहे हैं।''

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं
वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥ ३३॥

शब्दार्थ

विजित—जीता हुआ; हृषीक—इन्द्रियों से; वायुभिः—तथा प्राण से; अदान्त—अवश; मनः—मन रूपी; तुर-गम्—घोड़े को; ये—जो; इह—इस जगत में; यतन्ति—प्रयास करते हैं; यन्तुम्—नियमित बनाने के लिए; अति—अत्यन्त; लोलम्—चलायमान; उपाय—उपायों से; खिदः—सताया हुआ; व्यसन—उत्पात; शत—सैकड़ों; अन्विताः—से युक्त; समवहाय—त्याग कर; गुरोः—गुरु के; चरणम्—चरणों को; वणिजः—व्यापारीगण; इव—सदृश; अज—हे अजन्मा; सन्ति—हैं; अकृत—ग्रहण न करके; कर्ण-धराः—नाविक; जल-धौ—समुद्र में।

मन ऐसे उच्छृंखल घोड़े की तरह है, जिसको अपनी इन्द्रियों एवं श्वास को संयमित कर चुके व्यक्ति भी वश में नहीं कर सकते। इस संसार में वे लोग, जो अवश मन को वश में करना चाहते हैं, किन्तु अपने गुरु के चरणों का परित्याग कर देते हैं, उन्हें विविध दुखदायी विधियों के अनुशीलन में सैकड़ों बाधाओं का सामना करना पड़ता है। हे अजन्मा भगवान्, वे समुद्र में नाव पर बैठे उन व्यापारियों के समान हैं, जो किसी नाविक को भाड़े पर नहीं लेते।

तात्पर्य : ईश्वर का प्रेम, जो कि मुक्ति का पक्व फल है, प्राप्त करने के योग्य बनने के लिए सर्वप्रथम विद्रोही भौतिक मन को वश में लाना होता है। यद्यपि ऐसा कर पाना कठिन है, किन्तु जब मनुष्य इन्द्रिय-तृप्ति की अपनी लत को हटाकर आध्यात्मिक जीवन के उच्चतर आनंद का आस्वाद करने लगता है, तो वह ऐसा कर सकता है। किन्तु भगवान् के प्रतिनिधि गुरु की ही कृपा से यह उच्चतर आस्वाद प्राप्त किया जा सकता है।

गुरु दिव्य जगत के आश्चर्यों को देख सकने के लिए शिष्य की आँखें खोल देता है, जैसाकि गायत्री

स्तुति में दैवी ज्ञान *ऐं* के बीज मंत्र में है।

मुण्डक उपनिषद् (१.२.१२) का कथन है—

तद्विज्ञानर्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्

समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

''इन बातों की सही जानकारी प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपने हाथ में समिधा लेकर गुरु के पास जाना चाहिए, जो वेदों में पारंगत होता है और परम सत्य में दृढ़-भक्ति रखता है।'' तथा *कठ उपनिषद्* (२.९) की घोषणा है—

नैषा तर्केन मतिरापनेया

प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।

''हे बालक! यह अनुभूति तर्क द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। इसे समझ सकने में सक्षम शिष्य से अत्यधिक योग्य गुरु को ही बतलाना चाहिए।''

प्राय: अवैष्णव जन गुरु के प्रति जो शिष्य परंपरा की प्रमाणित पंक्ति में चला आ रहा है, समर्पण भाव की महत्ता की अवहेलना करते हैं। इसके बजाय, अपनी योग्यता पर निर्भर रहकर अभिमानी योगी तथा ज्ञानीजन विश्व पर रोब जमाने के लिए ऊपर से दिखने वाली अपनी अपनी सफलता प्रदर्शित करते हैं, किन्तु उनका यह यश क्षणिक होता है—

युञ्जानानां अभक्तानां प्राणायामादिभिर्मन:।

अक्षीणवासनं राजन् दृश्यते पुनरुत्थितम्॥

''जो अभक्त प्राणायाम् जैसी विधियों में अपने मनों को लगाते हैं, वे भौतिक इच्छाओं से पूरी तरह रहित नहीं हो पाते। अत: हे राजन्! उनके मन में भौतिक इच्छाएँ पुन: उदय होती देखी जाती हैं।'' (*भागवत* .५१.६०)

दूसरी ओर, भगवान् विष्णु तथा वैष्णवों का विनीत दृढ़-संकल्प भक्त अजेय मन पर आसानी से विजय पा लेता है। उसे मन को स्थिर बनाने के लिए न तो अष्टांग योग करने की आवश्यकता पड़ती है, न ही अन्य साधन अपनाने पड़ते हैं। *सर्वं चैतद् गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्*—एकमात्र गुरु-भक्ति के द्वारा मनुष्य इन सारे लक्ष्यों को प्राप्त कर सकता है। अन्यथा एक अभक्त अपनी इन्द्रियों तथा

प्राण–वायु को जीत कर भी अपने मन को वश में नहीं कर सकता, जो लगाम से छूटे घोड़े की तरह स्वच्छंद दौड़ता रहेगा। उसे अनेक आध्यात्मिक विधियों का पालन करने में अपार चिन्ता भोगनी पड़ेगी और अंत में वह इस विशाल भवसागर में पहले की ही तरह भूला–भटका रहता रहेगा। यहाँ पर दिया गया दृष्टान्त उपयुक्त है : वे व्यापारी जो महान् लाभ की इच्छा से जल्दी जल्दी में समुद्र–यात्रा करते हैं, किन्तु अपनी नाव के लिए योग्य नाविक नहीं लेते, उन्हें महान् कष्ट उठाना पड़ता है।

भागवत में अनेक स्थलों पर प्रामाणिक गुरु की महत्ता घोषित की गई है। यथा, ग्यारहवें स्कंध के निम्नलिखित श्लोक में (२०.१७)—

नृदेहमाद्यम् सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।

मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

"जीवन में सारे लाभ दिलाने वाला मनुष्य–शरीर प्रकृति के नियमों द्वारा स्वतः प्राप्त होता है, यद्यपि यह विरल उपलब्धि है। इस मनुष्य–शरीर की उपमा सुनिर्मित नाव से दी जा सकती है, जिसका कर्णधार गुरु होता है और भगवान् के आदेश मार्ग में अनुकूल वायु के तुल्य होते हैं। इन सभी लाभों पर विचार करके जो मनुष्य अपने मनुष्य–शरीर का उपयोग भवसागर को पार करने के लिए नहीं करता, उसे अपनी ही आत्मा का हत्यारा माना जाना चाहिए।" अतएव मनुष्य–जीवन का संजीदगी से उपयोग करने वाले का पहला कर्तव्य यह होता है कि वह ऐसे गुरु की खोज करे जो कृष्णभावनामृत में उसका मार्गदर्शन कर सके।

श्रील श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

यदा परानन्दगुरो भवत्पदे पदं मनो मे भगवल्लभेत।

तदा निरस्ताखिलसाधनश्रमः श्रयेय सौख्यं भवतः कृपातः॥

"हे दिव्य आनन्दमय गुरु! जब मेरा मन आपके चरणकमलों पर स्थान पा लेगा, तो मेरी आध्यात्मिक साधना का श्रम दूर हो जायेगा और आपकी कृपा से मुझे परम सुख का अनुभव होगा।"

स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथै-
स्त्वयि सति किं नृणाम्श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां

सुखयति को न्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे ॥ ३॥

शब्दार्थ

स्वजन—सेवकों; सुत—बच्चों; आत्म—शरीर; दार—पत्नी; धन—धन; धाम—घर; धरा—पृथ्वी; असु—प्राण; रथैः—तथा वाहनों से; त्वयि—जब तुम; सति—बन गये हो; किम्—क्या (लाभ); नृणाम्—मनुष्यों के लिए; श्रयतः—शरण में आये हुए; आत्मनि—उनकी आत्मा; सर्व-रसे—समस्त आनन्द के स्वरूप; इति—इस प्रकार; सत्—सत्य; अजानताम्—न जानने वालों के लिए; मिथुनतः—संभोग से; रतये—रति के लिए; चरताम्—करते हुए; सुखयति—सुख देता है; कः—क्या; नु—तनिक भी; इह—इस (जगत) में; स्व—अपने आप; विहते—विनाशशील; स्व—अपने आप; निरस्त—रहित; भगे—किसी सार से।

जो व्यक्ति आपकी शरण ग्रहण करते हैं, उन्हें आप परमात्मा स्वरूप दिखते हैं, जो समस्त दिव्य-आनन्द स्वरूप है। ऐसे भक्तों के लिए अपने सेवकों, बच्चों या शरीरों, अपनी पत्नियों, धन या घरों, अपनी भूमि, स्वास्थ्य या वाहनों का क्या उपयोग रह जाता है? और जो आपके विषय में सच्चाई को समझने में असफल होते हैं तथा यौन-आनन्द के पीछे भागते रहते हैं, उनके लिए इस सम्पूर्ण जगत में, जो सदैव विनाशशील है और महत्त्व से विहीन है, ऐसा क्या है, जो उन्हें असली सुख प्रदान कर सके?।

तात्पर्य : वह विष्णु-भक्ति शुद्ध मानी जाती है, जिसमें मनुष्य की एकमात्र इच्छा भगवान् को प्रसन्न करना हो। उस पूर्ण चेतना में स्थित वैष्णव को सांसारिक उपलब्धि में कोई रुचि नहीं रहती, इसलिए वह यज्ञ करने तथा योग का कठिन अभ्यास करने के किसी कर्तव्य से मुक्त कर दिया जाता है। जैसाकि *मुण्डक उपनिषद्* (१.२.१२) में कहा गया है—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो

निर्वेदम् आयान् नास्त्यकृतः कृतेन॥

''जब ब्राह्मण यह जान लेता है कि स्वर्ग जाना कर्म का दूसरा संचय मात्र ही है, तो वह विरक्त हो जाता है और अपने कर्मों से दूषित नहीं होता।'' बृहदारण्यक उपनिषद् (..९) तथा *कठ उपनिषद्* (६.१) से इसकी पुष्टि होती है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रीताः।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

''जब कोई व्यक्ति अपने हृदय की सारी पापपूर्ण इच्छाएँ त्याग देता है, तो मृत्यु के बदले वह शाश्वत आध्यात्मिक जीवन लेता है और ब्रह्म में असली सुख पाता है। *गोपालतापनी उपनिषद्* (पूर्व १५) में यह निष्कर्ष दिया गया है कि *भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येन् आमुष्मिन् मनःकल्पनम्*

एतदेव नैष्कर्म्यम्—''भक्ति तो परमेश्वर की पूजा करने की विधि है। इसमें सारी भौतिक उपाधियों से चाहे वे इस जीवन की हों या अगले की, मुँह मोड़ कर उन्हीं पर मन को स्थिर करना होता है। यही असली वैराग्य है।''

श्रुतियों ने यहाँ पर जिन वस्तुओं के नाम गिनाये हैं, वे सभी सांसारिक सफलता के मापदण्ड हैं—*स्वजना:* (सेवक), *आत्मा* (सुन्दर शरीर), *सुता:* (गर्व करने योग्य पुत्र), *दारा:* (सुन्दर आकर्षक पत्नी), *धनम्* (धन), *धाम* (प्रतिष्ठापूर्णघर), *धरा* (भूमि), *असव:* (स्वास्थ्य तथा शक्ति) तथा *रथा:* (मोटर-कार तथा अन्य वाहन जो प्रतिष्ठा को प्रदर्शित करते हैं)। किन्तु जिसने भक्ति के आनन्द का अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया है, वह इन सारी वस्तुओं का आकर्षण त्याग देता है, क्योंकि उसे समस्त आनन्द के आगार भगवान् में, जो अपने आनन्द को अपने सेवकों में बाँटते हैं असली तुष्टि मिलती है।

हममें से हर व्यक्ति अपना जीवन-मार्ग चुनने के लिए स्वतंत्र है—हम चाहें तो अपना शरीर, मन, वचन, प्रतिभा तथा धन भगवान् के यश को अर्पित कर दें या फिर हम उनकी उपेक्षा करके अपने निजी सुख के लिए संघर्ष करें। यह दूसरा मार्ग यौन तथा अभिलाषा की दासता की ओर ले जाने वाला है, जिसमें आत्मा को कभी असली संतोष नहीं मिलता, अपितु वह निरन्तर कष्ट उठाता रहता है। वैष्णवजन भौतिकतावादियों को इस तरह भोगते देखकर दुखी होते हैं, अतएव वे उन्हें प्रबोधित करने का प्रयास करते रहते हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

भजतो हि भवान् साक्षात् परमानन्दचिद्धन: ।

आत्मैव किमत: कृत्यं तुच्छदारसुतादिभि: ॥

''जो आपकी पूजा करते हैं उनके लिए आप उनकी आत्मा और सर्वोच्च आनन्द के आध्यात्मिक कोष बन जाते हैं। उन्हें संसारी पत्नियों, बच्चों इत्यादि से क्या काम?''

भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदा-
स्त उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजला: ।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे

न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

भुवि—पृथ्वी पर; पुरु—अत्यधिक; पुण्य—पवित्र; तीर्थ—तीर्थस्थान; सदनानि—तथा भगवान् के निजी धाम; ऋषयः—ऋषिगण; विमदः—मिथ्या गर्व से रहित; ते—वे; उत—निस्सन्देह; भवत्—आपके; पद—पाँव; अम्बुज—कमलवत्; हृदः—जिनके हृदयों में; अघ—पाप; भित्—विनाश करने वाले; अङ्घ्रि—जिनके चरणों (को धोने से); जलाः—जल; दधति—बदल जाता है; सकृत्—एक बार भी; मनः—जिनके मन; त्वयि—तुममें; ये—जो; आत्मनि—परमात्मा के प्रति; नित्य—सदैव; सुखे—सुख में; न पुनः—फिर कभी नहीं; उपासते—पूजा करते हैं; पुरुष—मनुष्य के; सार—आवश्यक गुण; हर—हर लेते हैं; आवसथान्—उनके संसारी घर।

ऋषिगण मिथ्या गर्व से रहित होकर पवित्र तीर्थस्थानों तथा जहाँ जहाँ भगवान् ने अपनी लीलाएँ प्रदर्शित की हैं, उनका भ्रमण करते हुए इस पृथ्वी पर निवास करते हैं। चूँकि ऐसे भक्त आपके चरणकमलों को अपने हृदयों में रखते हैं, अतः उनके पाँवों को धोने वाला जल सारे पापों को नष्ट कर देता है। जो कोई अपने मन को एक बार भी समस्त जगत के नित्य आनन्दमय आत्मा आपकी ओर मोड़ता है, वह घर पर ऐसे पारिवारिक जीवन के अधीन नहीं रहता, जिससे मनुष्य के अच्छे गुण छीन लिये जाते हैं।

तात्पर्य : महत्त्वाकांक्षी ऋषि का गुण यह है कि उसने आदर्श विद्वानों से परम सत्य के विषय में सीखा होता है और वैराग्य का सौम्य भाव विकसित कर लिया होता है। अनावश्यक एवं आवश्यक में भेद करने की क्षमता विकसित करने के लिए ही ऐसा व्यक्ति प्रायः एक पवित्र स्थान से दूसरे पवित्र स्थान में घूमता रहता है और इन स्थानों में बसने वाले या आने वाले महात्माओं की संगति का लाभ उठाता है। यदि अपनी यात्राओं के दौरान ऐसा ऋषि अपने हृदय के भीतर भगवान् के चरणकमलों की अनुभूति करना आरम्भ कर सकता है, तो वह मिथ्या अहंकार के मोह से तथा काम, ईर्ष्या एवं लोभ के दुखद बन्धन से छूट जायेगा। यद्यपि वह तब भी अपने पाप धो डालने के लिए तीर्थस्थानों में जा सकता है, किन्तु अब इस शुद्ध संत में अपने चरणोदक से और अपने अनुभवजनित उपदेशों से अन्यों को पवित्र बनाने की शक्ति आ जाती है। ऐसे एक ऋषि का वर्णन *मुण्डक उपनिषद्* (२.२.९) में मिलता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

"जब वह परमेश्वर को सर्वत्र, सभी उच्च तथा निम्न जीवों के भीतर, देखता है, तो हृदय-ग्रन्थि का भेदन हो जाता है, सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और सकाम कर्मों की शृंखला टूट जाती है।" इस

अवस्था को प्राप्त ऋषियों को अपना नमस्कार करते हुए *मुण्डक उपनिषद्* (३.२.११) में कहा गया है—*नमः परमर्षिभ्यः, नमः परमर्षिभ्यः*—परम ऋषियों को नमस्कार है, परम ऋषियों को नमस्कार है।

सन्त वैष्णवजन स्त्रियों, बच्चों, मित्रों तथा अनुयायियों की प्रिय संगति छोड़ कर उन पवित्र धामों की यात्रा करते रहते हैं, जहाँ परमेश्वर की पूजा सफलतापूर्वक सम्पन्न की जा सके—ऐसे स्थान जैसे वृन्दावन, मायापुर तथा जगन्नाथ पुरी या फिर जहाँ कहीं भगवान् विष्णु के निष्ठावान भक्त एकत्र होते हैं। यहाँ तक कि ऐसे वैष्णव भी जिन्होंने संन्यास ग्रहण नहीं किया और अब भी अपने घर में या अपने गुरु के आश्रम में रह रहे हैं, किन्तु जिन्होंने भक्ति के दिव्य आनन्द की एक बूँद एक बार भी चखी है, वे भौतिकतावादी गृहस्थ-जीवन के आनन्दों का चिन्तन करने में तनिक भी रुचि नहीं रखेंगे, क्योंकि गृहस्थ-जीवन मनुष्य से उसका विवेक, संकल्प, गम्भीरता, सहिष्णुता तथा मनःशान्ति को हर लेता है।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

मुञ्चन्नंग तदंगसंगमनीशं त्वामेव सञ्चितयन्

सन्तः सन्ति यतो यतो गतमदास्तान् आश्रमान् आवसन्।

नित्यं तन्मुखपंकजाद् विगलितत्वत्पुण्यगाथामृत-

स्रोतःसम्प्लवसम्प्तुो नरहरे न स्याम् अहं देहभृत्॥

"हे प्रभु! जब मैं अपनी सारी इन्द्रिय-तृप्ति त्याग दूँगा और निरन्तर आपका ध्यान धरने में लग जाऊँगा और जब मैं मिथ्या गर्व से रहित सन्त सदृश भक्तों की कुटियाओं में निवास करने लगूँगा, तब मैं आपकी पवित्र कथाओं का उच्चारण कर रहे भक्तों के कमल-मुखों से निकली अमृत की बाढ़ में पूरी तरह डूब जाऊँगा। और हे नरहरि! तब मुझे पुनः भौतिक शरीर धारण नहीं करना होगा।"

सत इदं उत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक् ।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सतः—स्थायी से; **इदम्**—इस (ब्रह्माण्ड); **उत्थितम्**—निकले हुए; **सत्**—स्थायी; **इति**—इस प्रकार; **चेत्**—यदि (कोई प्रस्ताव करे); **ननु**—निश्चय ही; **तर्क**—तार्किक विरोध से; **हतम्**—निषिद्ध; **व्यभिचरति**—सामान्य नहीं रहता; **क्व च**—कुछ बातों में; **क्व च**—अन्य बातों में; **मृषा**—भ्रम; **न**—नहीं; **तथा**—उस तरह; **उभय**—दोनों (सत्य तथा भ्रम); **युक्**—संयोग; **व्यवहृतये**—सामान्य मामलों में; **विकल्पः**—काल्पनिक स्थिति; **इषितः**—वांछित; **अन्ध**—अन्धे व्यक्तियों की; **परम्परया**—परम्परा से;

भ्रमयति—मोहित करती है; भारती—ज्ञान के शब्द; ते—तुम्हारे; उरु—अनेक; वृत्तिभि:—अपने पेशों से; उक्थ—कहे गये; जडान्—जड़।

यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि यह जगत स्थायी रूप से सत्य है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति स्थायी सत्य से हुई है, किन्तु इसका तार्किक खण्डन हो सकता है। निस्सन्देह, कभी कभी कार्य-कारण का ऊपरी अभेद सत्य नहीं सिद्ध हो पाता और कभी तो सत्य वस्तु का फल भ्रामक होता है। यही नहीं, यह जगत स्थायी रूप से सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह केवल परमसत्य के ही स्वभावों में भाग नहीं लेता, अपितु उस सत्य को छिपाने वाले भ्रम में भी लेता है। वस्तुतः इस दृश्य जगत के दृश्य-रूप उन अज्ञानी पुरुषों की परम्परा द्वारा अपनाई गई काल्पनिक व्यवस्था है, जो अपने भौतिक मामलों को सुगम बनाना चाहते थे। आपके वेदों के बुद्धिमत्तापूर्ण शब्द अपने विविध अर्थों तथा अन्तर्निहित व्यवहारों से उन सारे पुरुषों को मोहित कर लेते हैं, जिनके मन यज्ञों के मंत्रोच्चारों को सुनते-सुनते जड़ हो चुके हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार उपनिषद् यह शिक्षा देते हैं कि यह जगत सत्य किन्तु नश्वर है। भगवान् विष्णु के भक्त इसी ज्ञान को मानते हैं। किन्तु ऐसे भौतिकतावादी दार्शनिक भी हैं—यथा जैमिनि ऋषि की कर्म-मीमांसा के समर्थक—जो यह मानते हैं कि यह जगत ही एकमात्र सत्य है और यह शाश्वत रूप से विद्यमान रहता है। जैमिनि के अनुसार कर्म तथा उसके प्रतिफल का चक्र शाश्वत है, जिनसे छूट कर भिन्न दिव्य जगत में जाने की संभावना नहीं है। किन्तु उपनिषदों के मंत्रों के, जिनमें उच्चतर दिव्य जगत के अनेक वर्णन मिलते हैं ध्यानपूर्वक परीक्षण से यह दृष्टिकोण भ्रामक प्रदर्शित होता है। उदाहरणार्थ, *सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्*—हे बालक! इस सृष्टि से पूर्व एकमात्र ब्रह्म था, जो अद्वितीय है। (*छान्दोग्य उपनिषद्* ६.२.१)। यही नहीं, *विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म*—ब्रह्म दिव्य ज्ञान तथा आनन्द है (*बृहदारण्यक उपनिषद्* ३.९.३)।

साक्षात् वेदों की इस स्तुति में भौतिकतावादियों के तर्क को *सत इदम् उत्थितं सत्* शब्दों द्वारा सारांश रूप में कहा गया है। सामान्य रूप से यह तर्क सही है कि किसी वस्तु से उत्पन्न वस्तु उस वस्तु से बनी होती है। उदाहरणार्थ, सोने से बने कुण्डल तथा अन्य गहने सोना ही हैं। इस तरह मीमांसक जन इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह जगत भी शाश्वत सत्य है क्योंकि जिस रूप में हम इस जगत को जानते हैं वह नित्य सत्य की अभिव्यक्ति है। किन्तु संस्कृत का अपादान कारक *सत:* (शाश्वत सत्य से)

कार्य तथा कारण में निश्चित पृथकता को बतलाने वाला है। अतएव *सत्* से जो भी उत्पन्न होता है, वह उससे सार्थक रूप से भिन्न होगा—अर्थात् क्षणिक होगा। इस तरह भौतिकतावादियों का तर्क दोषपूर्ण होता है, क्योंकि इससे जो सिद्ध करना होता है उसके विरुद्ध सिद्ध होता है (*तर्कहतम्*) अर्थात् इस जगत को जैसा हम जानते हैं, केवल वैसा ही है, यह नित्य है और इससे पृथक् कोई दिव्य सत्य नहीं है।

प्रतिरक्षा पक्ष में मीमांसक यह दावा कर सकते हैं कि वे अभेद नहीं सिद्ध करना चाहते, अपितु भेद की संभावना को अथवा दूसरे शब्दों में ज्ञात जगत से भिन्न किसी सत्य की संभावना को गलत सिद्ध करना चाहते हैं। मीमांसा तर्क के समर्थन का यह प्रयास *व्यभिचरति क्व च* जैसे पद से आसानी से निराकरित हो जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सामान्य नियम का विरोध करने वाले उदाहरण भी मिलते हैं। हाँ, कभी कभी स्रोत अपने से उत्पन्न वस्तु से अत्यधिक भिन्न होता है, जैसे कि मनुष्य तथा उसका युवक पुत्र या हथौड़ा तथा मिट्टी के घड़े का विनाश।

किन्तु मीमांसक उत्तर देते हैं कि ब्रह्माण्ड की सृष्टि उस तरह की नहीं है जैसे कि आपके अन्य *विपरीत उदाहरण* हैं: पिता तथा हथौड़ा मात्र सक्षम कारण हैं, जबकि सत् भी इस ब्रह्माण्ड का उपादान कारण है। इस उत्तर की आशा *क्व च मृषा* (कभी कभी कार्य भ्रामक होता है) शब्दों से की जाती है। जब पृथ्वी पर रस्सी में सर्प का भ्रम होता है, तो रस्सी सर्प के भ्रम का उपादान कारण है, जो काल्पनिक सर्प से कई मामलों में, विशेष रूप से सत्य होने के कारण भिन्न है।

मीमांसक फिर उत्तर देते हैं कि काल्पनिक सर्प का उपादान कारण रस्सी ही नहीं है—यह तो रस्सी अप्रेक्षक की अज्ञानता (*अविद्या*) है। चूँकि *अविद्या* वस्तु नहीं है, अतएव इससे उत्पन्न सर्प भ्रम कहलाता है। साक्षात् वेद उत्तर देते हैं कि इतने पर भी यह सत्य है कि अज्ञान के साथ सत् से (*तथोभययुक्*) ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है। यहाँ पर भ्रम का काल्पनिक तत्त्व, माया, जीवों की यह भ्रान्त धारणा है कि उनके अपने शरीर तथा परिवर्तनशील अन्य भौतिक स्वरूप स्थायी हैं।

लेकिन मीमांसक प्रत्युत्तर देते हैं कि इस संसार विषयक हमारा अनुभव वैध है, क्योंकि जिन वस्तुओं का हम अनुभव करते हैं, वे हमारे व्यावहारिक कार्य के लिए उपयोगी हैं। यदि हमारे अनुभव वैध न होते तो हम कभी निश्चित न कर पाते कि हमारी अनुभूतियाँ तथ्यों के संगत हैं। हमारी दशा उस

मनुष्य जैसी होती जो पूरी जाँच-पड़ताल के बाद भी संशय करता कि रस्सी साँप हो सकती है। किन्तु नहीं। श्रुतियाँ यहाँ उत्तर देती हैं कि पदार्थ का नश्वर स्वरूप नित्य आध्यात्मिक सत्य का भ्रामक अनुकरण है, जिसे बद्धजीवों की भौतिक कर्म करने की इच्छा पूरी करने के लिए चतुराई से गढ़ा गया है (*व्यवहृतये विकल्प इषित:*)। इस जगत के स्थायित्व का भ्रम उन अन्धे पुरुषों की परम्परा द्वारा चालू रहता है, जो अपने पूर्वगामियों से भौतिकतावादी विचार सीखते हैं और अपने वंशजों को यह भ्रम हस्तान्तरित करते जाते हैं। कोई भी यह देख सकता है कि प्राय: भ्रम के आधार को हटा देने पर भी स्थायी मानसिक प्रभाव के बल के अन्तर्गत उसकी मानसिक छाप बनी रहती है। इस तरह पूरे इतिहास में अंधे दार्शनिकों ने अन्य अन्धे व्यक्तियों को यह आश्वस्त करके दिग्भ्रमित किया है कि वे संसारी अनुष्ठान करके सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। मूर्ख लोग भले ही जाली सिक्कों में पारस्परिक आदान-प्रदान कर लें, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति जानता है कि ऐसा धन भोजन, दवा तथा अन्य व्यापार की वस्तुएँ खरीदने के लिए व्यर्थ है। यदि इस जाली धन को दान में दिया जाय, तो इससे पुण्य भी नहीं मिलेगा।

लेकिन मीमांसक कहते हैं कि वैदिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने वाला निष्ठावान व्यक्ति मोहग्रस्त मूर्ख कैसे हो सकता है, क्योंकि वैदिक शास्त्रों की संहिताएँ तथा ब्राह्मण यह स्थापित करते हैं कि कर्म का फल शाश्वत है? उदाहरणार्थ, *अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिन: सुकृतं भवति*—चातुर्मास व्रत रखने वाले को अक्षय सद्कर्म मिलते हैं तथा *अपाम सोमम् अमृता बभूम*—हमने सोम रस पिया है और अमर हो चुके हैं (*ऋग्वेद* ८.३.३)।

यह इंगित करके श्रुतियाँ उत्तर देती हैं कि ईश्वर के बुद्धिमत्तापूर्ण शब्द, जिनसे वेद बने हैं, उनको मोहित करते हैं, जिनकी क्षीण बुद्धि कर्म में अत्यधिक श्रद्धा के भार से कुचली जा चुकी है। यहाँ पर *उरु-वृत्तिभि:* विशिष्ट शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो बतलाता है कि वैदिक मंत्र गौण, लक्षणा आदि भाषा-वैज्ञानिक अर्थों से नाना प्रकार के भ्रामक अर्थ प्रदान करके अपने रहस्य की रक्षा सभी से करते हैं, सिवाय उनसे जिनकी श्रद्धा भगवान् विष्णु में है। अपने आदेशों में वास्तव में वेद यह नहीं कहते कि कर्म के फल शाश्वत हैं, अपितु रूपकों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप में नियमित यज्ञों की प्रशंसा करते हैं। *छान्दोग्य उपनिषद्* निश्चित रूप से कहता है कि अनुष्ठानिक कर्म के फल अस्थायी होते हैं—*तद् यथेह कर्मचितो लोक: क्षीयते एवम् एवामुत्र पुण्यचितो लोक: क्षीयते*—जिस तरह इस जगत में कठिन

श्रम करके मनुष्य जो भी लाभ उठाना चाहता है, वह अन्ततः समाप्त हो जाता है, उसी तरह अपनी शुद्धता से मनुष्य अगले लोक में अपने लिए जो भी जीवन कमाता है, वह भी समाप्त हो जायेगा। (*छान्दोग्य उपनिषद्* ८.१.१६) अनेक श्रुति मंत्रों के प्रमाण के अनुसार सम्पूर्ण भौतिक जगत परम सत्य का क्षणिक उद्‌भव है। उदाहरणार्थ, *मुण्डक उपनिषद्* (१.१.७) कहता है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च

यथा पृथिव्याम् ओषधयः सम्भवन्ति।

यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि

तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥

"जिस तरह मकड़ी द्वारा जाल का विस्तार किया जाता है और फिर समेट लिया जाता है, जिस तरह पौधे पृथ्वी से उगते हैं और जिस तरह जीवित व्यक्ति के सिर तथा शरीर पर बाल उगते हैं, उसी तरह यह ब्रह्माण्ड अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न होता है।"

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

उद्‌भूतं भवतः सतोऽपि भुवनं सन्नैव सर्पः स्रजः

कुर्वत् कार्यं अपीह कूतकनकं वेदोऽपि नैवं परः।

अद्वैतं तव सत्परं तु परमानन्दं पदं तन्मुदा

वन्दे सुन्दरमिन्दिरानुत हरे मा मुञ्च मामानतम्॥

"यद्यपि यह जगत सत्य के सार रूप आप से उदय हुआ है, किन्तु यह शाश्वत रूप से सत्य नहीं है। रस्सी से प्रकट होने वाला भ्रामक सर्प स्थायी वास्तविकता नहीं होता, न ही स्वर्ण से उत्पन्न विकार ही। वेद कभी यह नहीं कहते कि ये वास्तविक हैं। वास्तविक दिव्य अद्वैत सत्य आपका परम आनन्दमय निजी धाम है। मैं उस धाम को नमस्कार करता हूँ। हे हरि! मैं भी आपको नमस्कार करता हूँ, जिन्हें देवी इन्दिरा सदैव नमस्कार करती हैं। इसलिए आप मुझे कभी भी छोड़ें नहीं।"

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-
दनु मितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-

र्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यत्—क्योंकि; इदम्—यह (ब्रह्माण्ड); अग्रे—प्रारम्भ में; आस—था; न भविष्यत्—न होगा; अतः—अतः; निधनात् अनु—इसके संहार के बाद; मितम्—प्राप्त; अन्तरा—इस बीच; त्वयि—तुममें; विभाति—प्रकट होता है; मृषा—झूठा; एकरसे—जिसका आनन्द का अनुभव अपरिवर्तित रहता है; अतः—इस प्रकार; उपमीयते—तुलना से जाना जाता है; द्रविण—भौतिक वस्तु का; जाति—कोटियों में; विकल्प—विकारों के; पथैः—किस्मों से; वितथ—तथ्य से विपरीत; मनः—मन; विलासम्—विलास; ऋतम्—असली, सत्य; इति—ऐसा; अवयन्ति—सोचते हैं; अबुधः—बुद्धिहीन, अज्ञानी।

चूँकि यह ब्रह्माण्ड अपनी सृष्टि के पूर्व विद्यमान नहीं था और अपने संहार के बाद विद्यमान नहीं रहेगा, अतः हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि मध्यावधि में यह आपके भीतर दृश्य रूप में कल्पित होता है, जिनका आध्यात्मिक आनन्द कभी नहीं बदलता। हम इस ब्रह्माण्ड की तुलना विविध भौतिक वस्तुओं के विकारों से करते हैं। निश्चय ही, जो यह विश्वास करते हैं कि यह छोटी-सी कल्पना सत्य है, वे अल्पज्ञ हैं।

तात्पर्य : इस प्रकार अनुष्ठानवादियों द्वारा भौतिक सृष्टि की सत्यता स्थापित करने के सारे प्रयासों को विफल करने के बाद साक्षात् वेद इसके विरोध में साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं—कि यह संसार असत्य है, क्योंकि क्षणिक है। ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पूर्व तथा इसके संहार के बाद एकमात्र दिव्य भगवान्, उनके धाम तथा साज-सामान की सत्यता ही बची रहती है। श्रुतियाँ इसकी पुष्टि करती हैं—*आत्मा वा इदम् एक एवाग्र आसीत्*—इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पूर्व एकमात्र आत्मा विद्यमान था। (*ऐतरेय उपनिषद्* १.१) *नासद् आसीन् नो सद् आसीत् तदानीम्*—उस समय पदार्थ के न तो सूक्ष्म, न ही स्थूल पक्ष वर्तमान थे। (*ऋग्वेद* .१२९.१)

सृष्टि की सापेक्षता को एक दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है। जब मिट्टी तथा धातु को विभिन्न आकार की वस्तुओं में ढाल दिया जाता है. तो बनी हुई वस्तुएँ मिट्टी तथा धातु से केवल नाम तथा रूप के कारण पृथक् विद्यमान रहती हैं। उनकी मूलभूत वस्तु तो वही रहती है। इसी तरह से जब भगवान् की शक्तियाँ इस जगत की ज्ञात वस्तुओं में बदल जाती हैं, तो ये वस्तुएँ केवल नाम तथा रूप में भगवान् से पृथक् उपस्थित रहती हैं। *छान्दोग्य उपनिषद्* (६.१.-६) में उद्दालक ऋ षि ऐसा ही दृष्टान्त देकर अपने पुत्र को समझाते हैं—*यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्*—हे बालक! उदाहरणार्थ, मिट्टी के एक ढेले को समझ लेने पर मिट्टी से बनी हर वस्तु को समझा जा सकता है। रूपान्तरित पदार्थों की उपस्थिति केवल भाषा की

उपज है, उपाधियाँ प्रदान करने की बात है—केवल मिट्टी ही सत्य है।

निष्कर्ष के रूप में कोई ऐसा विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलता कि इस जगत की वस्तुएँ शाश्वत हैं, जबकि उनके नश्वर होने तथा मिथ्या उपाधियों से बद्ध होने के अनेक प्रमाण हैं। इसलिए अज्ञानी व्यक्ति ही पदार्थ के काल्पनिक रूपों को सत्य मान सकते हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

मुकुटकुंडलकंकणकिंकिणीपरिणतं कनकं परमार्थत:।

महदहंकृतिखप्रमुखं तथा नरहरेर्न परं परमार्थत:॥

''मुकुट, कुण्डल, चूड़ियाँ तथा नूपुर जैसे स्वर्ण के रूपान्तर स्वर्ण से पृथक् नहीं हैं। इसी तरह से *महत्,* मिथ्या अहंकार तथा आकाश इत्यादि भौतिक तत्त्व अन्तत: भगवान् नरहरि से पृथक् नहीं हैं।''

स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्
भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः ।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

सः—वह (जीव); यत्—क्योंकि; अजया—भौतिक शक्ति के प्रभाव से; तु—लेकिन; अजाम्—वह भौतिक शक्ति; अनुशयीत—लेट जाती है; गुणान्—अपने गुणों को; च—तथा; जुषन्—धारण करके; भजति—ग्रहण करता है; स-रूपताम्—(प्रकृति के गुणों के) सदृश रूप; तत्-अनु—उसके पीछे; मृत्युम्—मृत्यु; अपेत—रहित; भगः—सम्पत्ति का; त्वम्—तुम; उत—दूसरी ओर; जहासि—छोड़ देते हो; ताम्—उस (भौतिक शक्ति) को; अहिः—सर्प; इव—सदृश; त्वचम्—अपनी (पुरानी) खाल, केंचुल; आत्त-भगः—समस्त सम्पत्ति से युक्त; महसि—आपकी आध्यात्मिक शक्तियों में; महीयसे—आपकी महिमा गाई जाती है; अष्ट-गुणिते—आठगुनी; अपरिमेय—असीम; भगः—महानता।

मोहिनी प्रकृति सूक्ष्म जीव को, उसका आलिंगन करने के लिए आकृष्ट करती है और फलस्वरूप जीव उसके गुणों से बने रूप धारण करता है। बाद में वह अपने सारे आध्यात्मिक गुण खो देता है और उसे बारम्बार मृत्यु भोगनी पड़ती है। किन्तु आप भौतिक शक्ति से अपने को उसी तरह बचाते रहते हैं, जिस तरह सर्प पुरानी केंचुल त्यागता है। आप आठ योगसिद्धियों से महिमायुक्त स्वामी हैं और असीम ऐश्वर्य का भोग करते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि जीव शुद्ध आत्मा है और गुणात्मक दृष्टि से परमेश्वर के ही समान है, किन्तु वह भौतिक मोह (माया) के अज्ञान का आलिंगन करने से नीचे गिरता रहता है। जब वह माया के बहकावों में फँस जाता है, तो वह ऐसे शरीर तथा इन्द्रियाँ अपनाता है, जो उसे विस्मृति की ओर ले

जाने वाले होते हैं। माया के तीन गुणों—सतो, रजो, तमो—रूपी कच्चे माल से बने ये शरीर आत्मा को नाना प्रकार के दुखों में फँसा देते हैं, जिनका अन्त मृत्यु तथा पुनर्जन्म में होता है।

परमात्मा तथा आत्मा एक ही आध्यात्मिक प्रकृति में साझेदार हैं, किन्तु परमात्मा अपने सूक्ष्म साथी की तरह अज्ञान के जाल में नहीं फँसता। भले ही धुआँ ताँबे के छोटे-से पिघले हुए गोले की चमक को छिपा ले, किन्तु सूर्य का विशाल मंडल उसी प्रकार से आच्छादित नहीं हो सकता। आखिर माया भगवान् की आज्ञाकारिणी दासी है और उनकी अन्तरंगा शक्ति योगमाया का बाहरी अंश है। *श्री नारद पञ्चरात्र* में श्रुति तथा विद्या के मध्य बातचीत में कहा गया है—

अस्या आवरिकाशक्तिर्महामायाखिलेश्वरी।

यया मुग्धं जगत् सर्वं सर्वे देहाभिमानिनः॥

''उससे निकली आवरण शक्ति महामाया है, जो प्रत्येक भौतिक वस्तु की नियामक है। सारा ब्रह्माण्ड उसके द्वारा मोहग्रस्त हो जाता है और इस तरह प्रत्येक जीव अपनी पहचान गलती से अपने भौतिक शरीर से करता है।''

जिस प्रकार सर्प अपनी पुरानी केंचुल यह जानते हुए भी निकाल फेंकता है कि यह उसकी असली पहचान का भाग नहीं है, उसी तरह भगवान् भी अपनी बहिरंगा शक्ति माया से सदैव अपने को बचाते हैं। उनके आठ प्रकार के योग-ऐश्वर्यों—यथा *अणिमा* (सूक्ष्म होने की शक्ति), *महिमा* (परम विशाल होने की शक्ति) आदि में न तो कोई कमी है, न ही कोई सीमा। अतएव उनकी अद्वितीय तेजस्वी महिमा में भौतिक अंधकार की छाया के प्रवेश करने की गुंजाईश नहीं रह जाती।

जिनमें आध्यात्मिक जीवन की अनुभूति धीरे-धीरे जागृत हो रही होती है उनके लिए कभी कभी उपनिषद् *आत्मा* या ब्रह्म जैसे सामान्य शब्दों का प्रयोग करते हैं—वे परमात्मा तथा जीवात्मा के भेद को खुल कर स्पष्ट नहीं करते। किन्तु प्रायः वे इस द्वैत को स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

''एक ही पीपल वृक्ष की शरण में दो संगी पक्षी बैठते हैं, उनमें से एक वृक्ष के फलों का आस्वाद ले रहा है, जबकि दूसरा खाने से विमुख रह कर अपने मित्र को देखता रहता है।'' (*श्वेताश्वतर*

उपनिषद् .६) इस दृष्टान्त में दो पक्षी आत्म ा तथा परमात्मा हैं, वृक्ष शरीर है और फलों का स्वाद नाना प्रकार के इन्द्रिय-सुख हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

नृत्यन्ती तव वीक्षणांगणगता कालस्वभावादिभिर्

भावान् सत्त्वरजस्तमोगुणमयान् उन्मीलयन्ती बहून्।

मामाक्रम्य पदा शिरस्यतिभरं सम्मर्दयन्त्यातुरं

माया ते शरणं गतोऽस्मि नृहरे त्वामेव तां वारय॥

''आप अपनी प्रेयसी पर वह दृष्टि डालते हैं, जो काल, जीवों की भौतिक लालसाओं इत्यादि से युक्त है। यह दृष्टि उसके मुख पर नाचती है और इस तरह असंख्य उत्पन्न जीवों को जगाने वाली है, जो सतो, रजो तथा तमो गुणों में जन्म लेते हैं। हे भगवान् नरहरि! आपकी माया ने अपना पाँव मेरे सिर पर रख दिया है और वह मुझे बुरी तरह दबा रही है, जिससे मुझे अपार कष्ट हो रहा है। अब मैं आपके पास शरण के लिए आया हूँ। कृपया उसे रोकें।''

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा
दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः ।
असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगव-
न्ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद्भवतः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; न समुद्धरन्ति—उखाड़ नहीं फेंकते; यतयः—संन्यासी लोग; हृदि—अपने हृदयों में; काम—कामेच्छा के; जटाः—चिह्न; दुरधिगमः—साक्षात्कार करना असम्भव; असताम्—अशुद्ध के लिए; हृदि—हृदय में; गतः—प्रवेश करके; अस्मृत—विस्मृत; कण्ठ—गर्दन पर; मणिः—मणि; असु—प्राण; तृप—तृप्ति करने वाला; योगिनाम्—योगियों के लिए; उभयतः—दोनों (संसारों) में; अपि—भी; असुखम्—दुख; भगवन्—हे भगवान्; अनपगत—नहीं गया हुआ; अन्तकात्—मृत्यु से; अनधिरूढ—अप्राप्त; पदात्—जिसका राज्य; भवतः—आपसे।

सन्यास-आश्रम के जो सदस्य अपने हृदय से भौतिक इच्छा को समूल उखाड़ कर फेंक नहीं देते, वे अशुद्ध बने रहते हैं और इस तरह आप उन्हें अपने को समझने नहीं देते। यद्यपि आप उनके हृदयों में वर्तमान रहते हैं, किन्तु उनके लिए आप उस मणि की तरह हैं, जिसे मनुष्य गले में पहने हुए भी भूल जाता है कि वह गले में है। हे प्रभु, जो लोग केवल इन्द्रिय-तृप्ति के लिए योगाभ्यास करते हैं, उन्हें इस जीवन में तथा अगले जीवन में भी उस मृत्यु से, जो उन्हें नहीं

छोड़ेगी, दण्ड मिलना चाहिए और आपसे भी, जिनके धाम तक, वे नहीं पहुँच सकते।

तात्पर्य : वैराग्य के दिखावा मात्र से कोई व्यक्ति भगवद्धाम में प्रवेश नहीं पा सकता। उसे पूरी तरह से अपना हृदय परिवर्तित करना होगा, जिससे इन्द्रिय-तृप्ति की आत्मनाशी, सूक्ष्म तथा स्थूल, आदतें पूरी तरह नष्ट हो जाँय। असली ऋषि को न केवल अवैध यौन, मांसाहार, नशा तथा जुआ खेलने के विचार तक से दूर रहना चाहिए, अपितु उसे ख्याति तथा पद की इच्छाओं को भी त्यागना होगा। ये सारी बातें भयानक चुनौती स्वरूप हैं, लेकिन कृष्णभावनामृत में असली वैराग्य का फल जीवन-भर प्रयास करते रहने के योग्य है।

मुण्डक उपनिषद् (३.२.२) से इस श्लोक के कथन की पुष्टि होती है—*कामान् यः कामयते मन्यमानः स कर्मभिर्जायते तत्र तत्र*—यदि एक विचारशील संन्यासी भी सांसारिक इच्छाएँ रखता है, तो उसे विभिन्न परिस्थितियों में अपने कर्मफलों के अनुसार बारम्बार जन्म लेने के लिए विवश होना पड़ेगा। दार्शनिक तथा योगीजन जन्म-मृत्यु से मुक्त होने के लिए कठिन श्रम करते हैं, लेकिन अपनी गर्वीली स्वतंत्रता को समर्पित न करने की इच्छा के कारण उनका ध्यान भगवद्भक्ति से रहित होता है और इस तरह वे संन्यास की सिद्धि से—शुद्ध भगवत्प्रेम से—विहीन रह जाते हैं। यही शुद्ध प्रेम सच्चे वैष्णवों का एकमात्र लक्ष्य होता है, अतएव उसे लाभ, प्रशंसा तथा ख्याति के स्वाभाविक लोभों का सचेत रह कर सामना करना चाहिए। साथ ही निर्विशेष में तादाकार होने की आन्तरिक इच्छा का भी विरोध करना चाहिए जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृतसिंधु* (१.१.११) में कहा है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

''जब उच्च कोटि की भक्ति उत्पन्न हो, तो मनुष्य को समस्त भौतिक इच्छाओं, एकेश्वरवाद से प्राप्त ज्ञान तथा सकाम कर्म से रहित होना चाहिए। भक्त को चाहिए कि वह कृष्ण की सदैव अनुकूल सेवा करे, जैसाकि कृष्ण चाहते हैं।''

जो लोग अपनी इन्द्रियों को प्रसन्न रखने के लिए ही कठिन योगाभ्यास करते हैं, उन्हें दीर्घकालीन कष्ट भोगना ही पड़ेगा। भूख, रोग, बुढ़ापा, दुर्घटना से चोट, अन्यों से हिंसा—ये कष्ट के असंख्य प्रकारों में से कुछेक कष्ट हैं, जिन्हें इस संसार में कम-ज्यादा मात्रा में उठाना पड़ सकता है। अन्ततः

मृत्यु प्रतीक्षा करती रहती है, जिसके बाद पाप कार्यों के लिए पीड़ाजनक दंड मिलता है। विशेष रूप से वे, जो अन्यों के जीवन के बल पर स्वतंत्र रूप से ऐन्द्रिय भोग-विलास करते हैं, वे कल्पनातीत कठोर दण्ड की आशा रख सकते हैं। लेकिन भौतिक जीवन का सबसे बड़ा कष्ट इस जीवन में दुर्भाग्य या मृत्यु के बाद नरक भेजा जाना न होकर, भगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध की विस्मृति से उत्पन्न रिक्तता है।

श्रील श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

दम्भन्यासमिषेण वञ्चितजनं भोगैकचिन्तातुरं

सम्मुह्यन्तमहरनिशं विरचितोद्योगक्लमैराकुलम्।

आज्ञालंघिनमज्ञमज्ञजनता सम्माननासन्मदं

दीनानाथ दयानिधान परमानन्द प्रभो पाहि माम्॥

"जो वञ्चक संन्यास के बहाने अपने को धोखा देता है, वह केवल इन्द्रिय-भोग का चिन्तन करने के कारण निरन्तर कष्ट पाता रहता है। वह दिन-रात मोहग्रस्त हुआ अपने लिए किए गए अथक प्रयासों के विफल होने से निराश होता है। यह मूर्ख आपके नियमों का उल्लंघन करता है और अन्य मूर्खों से आदर पाने के लोभ में भ्रष्ट हो जाता है। हे पतितों के रक्षक, हे दया के देने वाले, हे परम आनन्दमय स्वामी! आप उस व्यक्ति को, जो कि मैं हूँ, बचाइये।"

त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो-
र्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः ।
अनुयुगमन्वहं सगुण गीतपरम्परया
श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ॥ ૦॥

शब्दार्थ

त्वत्—तुम्हें; अवगमी—जानने वाला; न वेत्ति—परवाह नहीं करता; भवत्—आप से; उत्थ—उठ कर; शुभ-अशुभयोः—शुभ तथा अशुभ का; गुण-विगुण—अच्छे-बुरे का; अन्वयान्—लक्षणों को; तर्हि—फलस्वरूप; देह-भृताम्—देहधारी जीवों का; च—भी; गिरः—शब्द; अनु-युगम्—हर युग में; अनु-अहम्—प्रतिदिन; स-गुण—हे गुणों से युक्त; गीत—गीत की; परम्परया—परम्परा से; श्रवण—सुन कर के; भृतः—ले जाया गया; यतः—इसके कारण; त्वम्—तुम; अपवर्ग—मोक्ष का; गतिः—चरम लक्ष्य; मनुजैः—मनुष्यों द्वारा, मनु के वंशजों द्वारा।

जब मनुष्य आपका साक्षात्कार कर लेता है, तो वह अपने विगत पवित्र तथा पापमय कर्मों से उदित होने वाले अच्छे तथा बुरे भाग्य की परवाह नहीं करता, क्योंकि इस अच्छे तथा बुरे

भाग्य को नियंत्रित करने वाले एकमात्र आप हैं। ऐसा स्वरूपसिद्ध भक्त इसकी भी परवाह नहीं करता कि सामान्य जन उसके विषय में क्या कह रहे हैं। वह प्रतिदिन अपने कानों को आपके यशों से भरता रहता है, जो हर युग में मनु के वंशजों की अविच्छिन्न परम्परा से गाये जाते हैं। इस तरह आप उसका चरम मोक्ष बन जाते हैं।

तात्पर्य : श्लोक ३९ में स्पष्ट कहा गया है कि निर्विशेषवादी सन्यासियों को जन्म-जन्मांतर कष्ट भोगना होगा। कोई यह प्रश्न कर सकता है कि क्या यह कष्ट उचित है, क्योंकि उस संन्यासी में भक्ति की प्रवृत्ति हो या न हो, उसके पद के कारण उसे कष्ट से विमुक्त रखा जाना चाहिये ? जैसाकि श्रुति मंत्र कहता है—*एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्*—ब्राह्मण की शाश्वत महिमा उसके किसी कर्म से कभी घटती-बढ़ती नहीं है (*बृहदारण्यक उपनिषद्* .-२८)। इस उठाये गये आक्षेप के प्रत्युत्तर में ही साक्षात् वेद यह स्तुति कर रहे हैं।

निर्विशेषवादी ज्ञानी तथा योगी कर्मफल से पूरी छूट पाने के योग्य नहीं होते, क्योंकि यह छूट तो केवल उनके लिए सुरक्षित होती है, जो *त्वदवगमी* हैं—अर्थात् शुद्ध भक्त जो भगवान् विषयक कथाओं को सुनने तथा उनका कीर्तन करने में निरन्तर लगे रहते हैं। ये भक्त अपने कठोर कृष्णभावनामृत के द्वारा भगवान् के चरणकमलों पर दृढ़ता से टिके रहते हैं, अतएव उन्हें वेदों की विधियों तथा निषेधों का दृढ़ता से पालन करने की आवश्यकता नहीं रहती। वे भगवान् की प्रसन्नता के लिए ही कर्म करते हैं, अतएव वे निर्भय होकर इन कर्मों के अच्छे तथा बुरे बाहरी फलों की उपेक्षा कर सकते हैं। इसी तरह वे अपनी बड़ाई या बुराई में कहे गये अन्यों के शब्दों की भी उपेक्षा कर सकते हैं। एक विनीत वैष्णव, जो कि संकीर्तन के आनन्द में लीन रहता है, अपनी प्रशंसा की जिसे वह गलत मानता है, परवाह नहीं करता, परन्तु अपनी आलोचना प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता है, क्योंकि इसे वह उपयुक्त समझता है।

भगवान् की महिमा का प्रामाणिक कीर्तन ''मनु के पुत्रों'' से निष्ठापूर्वक सुन कर प्राप्त किया जाता है, क्योंकि यह युग-युगों से चली आ रही सन्त वैष्णवों की शिष्य-परम्परा है। ये ऋषि मनुष्य के पूर्वज स्वायंभुव मनु के उदाहरण का अनुकरण करते हैं—

अयातयामास्तस्यासन् यामा: स्वान्तरयापना:।
शृण्वतो ध्यायतो विष्णो: कुर्वतो ब्रुवत: कथा:॥

''यद्यपि स्वायम्भुव का दीर्घ जीवन धीरे-धीरे समाप्त हो रहा था, जो एक मन्वन्तर युग का था, किन्तु वह व्यर्थ में नहीं बीता, क्योंकि वह भगवान् की लीलाओं को सुनने, मनन करने, लिखने तथा उच्चारण करने में सदैव लगा रहता था।'' (*भागवत* ३.२२.३५)

यदि कोई नवदीक्षित भक्त भी अपने पूर्व दुर्गुणों के कारण उचित आचरण के मानदण्ड से नीचे गिरता है, तब भी सर्व-दयामय भगवान् उसका परित्याग नहीं करेंगे। जैसाकि भगवान् कृष्ण कहते हैं—

तैरहं पूजनीयो वै भद्रकृष्णनिवासिभिः।

तद्धर्मगतिहीना ये तस्यां मयि परायणाः॥

कलिना ग्रसिता ये वै तेषां तस्यामवस्थितिः।

यथा त्वं सह पुत्रैश्च यथा रुद्रो गणै सह।

यथा श्रियाभियुक्तोऽहं तथा भक्तो मम प्रियः॥

''जो लोग भद्रकृष्ण (मथुरा जनपद) में रहते हैं, उनके लिए मैं ही पूजनीय हूँ। यदि उस स्थान के निवासी किसी पवित्र स्थान में पालन किये जाने वाले धार्मिक नियमों का ढंग से अनुशीलन नहीं भी करते, तो भी वे वहाँ रहने के कारण मेरी भक्ति में लगे रहते हैं। चाहे कलि (आधुनिक कलहपूर्ण युग) भी उन्हें अपने चंगुल में क्यों न कर ले, तो भी उन्हें इस स्थान में रहने का श्रेय मिलता है। मथुरावासी मेरा भक्त मुझे उतना ही प्रिय है, जितना कि आप (ब्रह्मा) तथा आपके पुत्र—रुद्र तथा उनके अनुयायी—एवं देवी लक्ष्मी तथा स्वयं मैं।''

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

अवगमं तव मे दिश माधव स्फुरति यन्न सुखासुखसंगमः।

श्रवणवर्णनभावमथापि वा न हि भवामि यथा विधिकिंकरः॥

''हे माधव! ऐसा करें कि मैं आपको समझूँ, जिससे मैं भौतिक सुख तथा दुख के पाश का और अधिक अनुभव न कर सकूँ। या फिर अच्छा हो कि आप अपने विषय में श्रवण तथा कीर्तन करने का आस्वाद मुझे प्रदान करें। उस स्थिति में मैं आनुष्ठानिक आधिदेशों का दास नहीं रह जाऊँगा।''

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया

त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

द्यु—स्वर्ग के; पतयः—स्वामी; एव—भी; ते—तुम्हारा; न ययुः—नहीं पहुँच सकते; अन्तम्—अन्त; अनन्ततया—अनन्त होने से; त्वम्—तुम; अपि—भी; यत्—जिसको; अन्तर—भीतर; अण्ड—ब्रह्माण्डों के; निचयाः—समूह; ननु—निस्सन्देह; स—सहित; आवरनाः—अपने बाहरी खोल; खे—आकाश में; इव—सदृश; रजांसि—धूल के कण; वान्ति—इधर-उधर उड़ते हैं; वयसा सह—कालचक्र के साथ; यत्—क्योंकि; श्रुतयः—वेद; त्वयि—तुममें; हि—निस्सन्देह; फलन्ति—फलते हैं; अतत्—ब्रह्म से भिन्न है, जो, उसका; निरसनेन—निरस्त करने से; भवत्—आप में; निधनाः—जिनका अन्तिम निष्कर्ष।

चूँकि आप असीम हैं, अतः न तो स्वर्ग के अधिपति, न ही स्वयं आप अपनी महिमा के छोर तक पहुँच सकते हैं। असंख्य ब्रह्माण्ड अपने अपने खोलों में लिपटे हुए कालचक्र के द्वारा आपके भीतर घूमने के लिए उसी तरह बाध्य हैं, जिस तरह कि आकाश में धूल के कण इधर-उधर उड़ते रहते हैं। श्रुतियाँ आपको अपने अन्तिम निष्कर्ष के रूप में प्रकट करके सफल बनती हैं, क्योंकि वे आपसे पृथक् हर वस्तु को अपनी निरसन विधि से विलुप्त कर देती हैं।

तात्पर्य : अपनी अन्तिम स्तुति में साक्षात् वेद इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सारी श्रुतियाँ अपने विविध शाब्दिक तथा अलंकारिक संदर्भों द्वारा भगवान् की पहचान और उनके निजी गुणों तथा शक्तियों का ही वर्णन करती हैं। उपनिषद् तो उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं—*यद् ऊर्ध्वं गार्गि दिवो यदर्वाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद् भूतं भवच्च भविष्यच्च*—हे गर्गपुत्री! उसकी महानता हमारे ऊपर स्वर्ग की प्रत्येक वस्तु को, पृथ्वी के नीचे की प्रत्येक वस्तु को, स्वर्ग और पृथ्वी के बीच की प्रत्येक वस्तु को तथा प्रत्येक वस्तु, जो कभी थी, अब है या आगे होगी, उन सबको समाविष्ट करने वाली है (*बृहदारण्यक उपनिषद्* ३.८.)।

श्रुतियों की इस अन्तिम स्तुति के अर्थ पर प्रकाश डालने के लिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर भगवान् नारायण तथा साक्षात् वेदों के बीच हुई निम्नलिखित वार्ता प्रस्तुत करते हैं—

वेदों ने कहा: ''ब्रह्मा तथा स्वर्गलोकों के अन्य शासक अभी तक आपके यश के अन्तिम छोर तक नहीं पहुँच पाये हैं। तो हम क्या कर सकते हैं, क्योंकि इन महान् देवताओं की तुलना में हम तुच्छ हैं?''

भगवान् नारायण ने कहा: ''नहीं, तुम श्रुतियाँ इस ब्रह्माण्ड पर शासन करने वाले देवताओं की अपेक्षा अधिक दिव्यदृष्टि वाली हो। यदि तुम नहीं रुकोगी तो तुम मेरी महिमा का पार पा सकती हो।''

''लेकिन आप भी अपनी सीमा नहीं पा सकते।''

''यदि ऐसा ही है, तो फिर तुम सब मुझे सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान क्यों कहती हो?''

''हमने तो यह निष्कर्ष निकाला है कि आप में ये गुण विद्यमान हैं; इस आधार पर निकाला है कि आप असीम हैं। निस्सन्देह यदि कोई व्यक्ति ऐसी वस्तु से अनजान है, जिसका अस्तित्व ही नहीं होता जैसे कि खरहे के सींग, तो इसके कारण वह अपनी सर्वज्ञता से विपथ नहीं होता और यदि वह ऐसी न होने वाली वस्तु को खोज नहीं पाता तो इससे उसकी सर्वशक्तिमत्ता सीमित नहीं हो जाती। आप इतने विशाल हैं कि आपके भीतर ब्रह्माण्डों के समूह के समूह तैरते रहते हैं। इनमें से हर ब्रह्माण्ड भौतिक तत्त्वों से बने सात आवरणों से घिरा रहता है और इनमें से प्रत्येक एक केन्द्रीय आवरण अपने से भीतर वाले से दस गुना बड़ा होता है। यद्यपि हम आपके विषय में सत्य का पूरा वर्णन कभी नहीं कर पायेंगी, किन्तु यह घोषित करके कि आप ही वेदों के असली विषय हैं, अपने अस्तित्व को सफल बनाती हैं।''

''लेकिन तुम असन्तुष्ट क्यों लगती हो?''

''क्योंकि श्रील वेदव्यास ने वेदों में ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के दिव्य अस्तित्व के विषय में संक्षिप्त विवरण दिया है। जब उन्होंने ब्रह्म विषयक अपने वर्णन को विशद बनाने की आवश्यकता अनुभव की, तो उन्होंने ब्रह्म के निर्विशेष पक्ष को ही चुना जो *तत्* है और ब्रह्म का, उनसे भिन्न जो कुछ है, उसे नकार कर ही, वर्णन किया। जिस तरह किसी खेत में अकस्मात् बिखेरे गये मणियों को अनावश्यक पत्थर एवं घास-फूस हटा कर बटोरा जा सकता है, उसी तरह माया तथा उसकी सृष्टियों के दृश्य जगत में ब्रह्म को निरसन विधि द्वारा खोजा जा सकता है। चूँकि वेद जगत में प्रत्येक वस्तु, उसकी सत्ता, गुण इत्यादि को आदि से अन्त तक गिना नहीं सकते और चूँकि ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् विषयक सत्य इतने पर भी अछूता रहता रहेगा, अतः यदि हम सभी वस्तुओं का वर्णन भी करें और फिर उनको त्याग दें, तो भी हम जाँच-पड़ताल की इस विधि से आपकी अन्तिम परिभाषा तक नहीं पहुँच सकतीं। आपकी कृपा से ही हम परम अगम्य ब्रह्म आपके पास तक पहुँचने का प्रयास कर सकती हैं।''

श्रुतियों के ऐसे अनेक कथन हैं, जो *अतन्निरसनम्* अर्थात् अधम वस्तुओं से ब्रह्म को पहचानने और अलग बताने की विधि का कार्य करते हैं। उदाहरणार्थ, *बृहदारण्यक उपनिषद्* का कथन है

(३.८.८)—*अस्थूलमनणु*

अह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसंगमरसमगन्धमचक्षुष्कम-

श्रोत्रमगमनोऽतेजस्कमप्राणमसुखममात्रमनन्तरमबाह्यम्—"यह न तो बड़ा है न छोटा, न नाटा न लम्बा, न गर्म न ठंडा, न छाया में न अंधकार में। न ही यह वायु है न आकाश। यह किसी वस्तु के सम्पर्क में नहीं है। इसमें भीतर या बाहर कोई स्वाद, गंध, आँखें, कान, गति, शक्ति, प्राण, आनन्द, माप नहीं है।" *केन उपनिषद* (३) की घोषणा है—*अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि*—जो ज्ञात है और अभी जिसे ज्ञात होना है उससे ब्रह्म भिन्न है। तथा *कठ उपनिषद्* का कथन है (२.१)— *अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्*—ब्रह्म धर्म तथा अधर्म, पाप तथा पुण्यकर्मों के क्षेत्र से बाहर है।

भाषाविज्ञान तथा तर्क के नियमों के अनुसार निषेध असीम नहीं हो सकता, इसका कोई प्रतिपक्ष भी होना चाहिए, जिसका यह निषेध होता है। वेदों के *अतन्निरसनम्* में उनके इस निषेध का कि कोई भी वस्तु पूर्णतया सत्य है, इसका प्रतिपक्ष भगवान् श्रीकृष्ण हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

द्युपतयो विदुरन्तमनन्त ते न च भवान् न गिरः श्रुतिमौलयः।

त्वयि फलन्ति यतो नम इत्यतो जय जयेति भजे तव तत्पदम्॥

"हे अनन्त! स्वर्ग के देवता आपकी सीमा नहीं जानते, यहाँ तक कि आप भी इसे नहीं जानते। चूँकि सर्वोच्च श्रुतियों के दिव्य शब्द आपको प्रकट करने से फलदायी हो जाते हैं, अतएव मैं आपको नमस्कार करता हूँ। इस तरह मैं "आपकी जय हो, आपकी जय हो" यह कह कर ब्रह्म के रूप में आपकी पूजा करता हूँ।"

श्रीभगवानुवाच
इत्येतद्ब्रह्मणः पुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम् ।
सनन्दनमथानर्चुः सिद्धा ज्ञात्वात्मनो गतिम् ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्री भगवान् (नारायण ऋषि) ने कहा; इति—इस तरह; एतत्—यह; ब्रह्मणः—ब्रह्मा के; पुत्राः—पुत्रगण; आश्रुत्य—सुन कर; आत्म—आत्मा के विषय में; अनुशासनम्—उपदेश; सनन्दनम्—सनन्दन ऋषि की; अथ—तब; आनर्चुः—उन्होंने पूजा की; सिद्धाः—पूर्णतया तुष्ट; ज्ञात्वा—जान कर; आत्मनः—अपना; गतिम्—चरम गन्तव्य।

भगवान् श्री नारायण ऋषि ने कहा : परमात्मा के विषय में ये आदेश सुन कर ब्रह्मा के पुत्रों

को अपना चरम गन्तव्य समझ में आ गया। वे पूरी तरह सन्तुष्ट हो गये और उन्होंने सनन्दन की पूजा करके उनका सम्मान किया।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि *आत्मानुशासनम्* को जीवात्माओं के लाभ हेतु दिये गये उपदेश तथा समस्त जगत के आधार के साथ जीव के सम्बन्ध के विषय में उपदेश—दोनों ही समझा जा सकता है। इसी प्रकार *आत्मनो गतिम्* से जीवात्मा का गन्तव्य तथा परमात्मा तक पहुँचने के साधन दोनों ही अर्थ निकलते हैं। साक्षात् वेदों की अट्ठाइस स्तुतियाँ सुन कर जो इस अध्याय के प्रारम्भ में कही गईं ब्रह्मोपनिषद् की व्याख्या है, ब्रह्मलोक में समवेत ऋषियों को शुद्ध भगवत्प्रेम के लक्ष्य की ओर बढ़ने में अत्यन्त सहायता मिली।

इत्यशेषसमाम्नायपुराणोपनिषद्रसः ।
समुद्धृतः पूर्वजातैर्व्योमयानैर्महात्मभिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अशेष—समस्त; समाम्नाय—वेदों; पुराण—तथा पुराणों का; उपनिषत्—गुह्य रहस्य; रसः—रस; समुद्धृतः—निचोड़ा हुआ; पूर्व—विगत भूत में; जातैः—उत्पन्न हुओं से; व्योम—ब्रह्माण्ड के उच्चतर भागों में; यानैः—यात्रा करने वाले; महा-आत्मभिः—सन्त-पुरुषों द्वारा।

इस तरह उच्चतर स्वर्गलोकों में विचरण करने वाले प्राचीन सन्तों ने सारे वेदों तथा पुराणों के इस अमृतमय तथा गुह्य रस को निचोड़ लिया।

त्वं चैतद्ब्रह्मदायाद श्रद्धयात्मानुशासनम् ।
धारयंश्चर गां कामं कामानां भर्जनं नृणाम् ॥ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; च—तथा; एतत्—यह; ब्रह्म—ब्रह्मा के; दायाद—हे उत्तराधिकारी (नारद); श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; आत्म-आनुशासनम्—आत्मा के विषय में उपदेशों पर; धारयन्—ध्यान करते हुए; चर—विचरण करते हैं; गाम्—पृथ्वी पर; कामम्—अपनी इच्छानुसार; कामानाम्—भौतिक इच्छाओं को; भर्जनम्—जो जलाने वाले हैं; नृणाम्—मनुष्यों की।

और चूँकि तुम पृथ्वी पर इच्छानुसार विचरण करते हो, अतः, हे ब्रह्मा-पुत्र, तुम्हें आत्मविज्ञान विषयक इन उपदेशों पर श्रद्धापूर्वक ध्यान करना चाहिए, क्योंकि ये सारे मनुष्यों की भौतिक इच्छाओं को भस्म कर देते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा के पुत्र नारद ने यह विवरण श्री नारायण ऋषि से सुना। *ब्रह्मदायाद* का यह भी अर्थ है कि नारद ने बिना प्रयास के ही ब्रह्म पा लिया, मानो यह उसका जन्मसिद्ध अधिकार हो।

श्रीशुक उवाच
एवं स ऋषिणादिष्टं गृहीत्वा श्रद्धयात्मवान् ।
पूर्णः श्रुतधरो राजन्नाह वीरव्रतो मुनिः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार से; सः—वह (नारद); ऋषिणा—ऋषि (नारायण ऋषि) द्वारा; आदिष्टम्—आदेश दिया गया; गृहीत्वा—स्वीकार करके; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; आत्म-वान्—आत्मवान; पूर्णः—अपने कार्यों में सफल; श्रुत—उसने जो कुछ सुना था, उस पर; धरः—ध्यान करते हुए; राजन्—हे राजा (परीक्षित); आह—कहा; वीर—वीर क्षत्रिय की तरह; व्रतः—जिसका व्रत; मुनिः—मुनि ने।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब श्री नारायण ऋषि ने उन्हें इस तरह आदेश दिया, तो आत्मवान नारद मुनि ने उस आदेश को दृढ़ निष्ठा के साथ स्वीकार कर लिया, क्योंकि उनका व्रत एक योद्धा जैसा वीत्वपूर्ण होता है। हे राजन्, अब अपने सारे कार्यों में सफल होकर, उन्होंने जो कुछ सुना था, उस पर विचार किया और भगवान् को इस प्रकार उत्तर दिया।

श्रीनारद उवाच
नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्तये ।
यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशतीः कलाः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; नमः—नमस्कार; तस्मै—उस; भगवते—भगवान्; कृष्णाय—कृष्ण को; अमल—निष्कलुष; कीर्तये—जिसकी कीर्ति; यः—जो; धत्ते—प्रकट करता है; सर्व—सारे; भूतानाम्—जीवों के; अभवाय—मुक्ति हेतु; उशतीः—सर्व-आकर्षक; कलाः—अंश।

श्री नारद ने कहा : मैं उन निर्मल कीर्ति वाले भगवान् कृष्ण को नमस्कार करता हूँ, जो अपने सर्व-आकर्षक साकार अंशों को इसलिए प्रकट करते हैं, जिससे सारे जीव मुक्ति प्राप्त कर सकें।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की टिप्पणी है कि श्री नारायण ऋषि को नारद द्वारा भगवान् कृष्ण के अवतार रूप में सम्बोधित किया जाना सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि यह *श्रीमद्भागवत* के निम्न कथन (१.३.२८) के अनुकूल है—*एते चांशकलाः पुंसः/कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*—उपर्युक्त सारे अवतार (नारायण ऋषि सहित) या तो स्वांश हैं या भगवान् के स्वांश के अंश हैं, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण आदि भगवान् हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक की टीका में भगवान् नारायण ऋषि द्वारा पुछवाया है, "तुम अपने समक्ष खड़े अपने गुरु मुझे नमस्कार न करके कृष्ण को क्यों नमस्कार कर रहे हो?" नारद अपने

कार्य की यह कह कर व्याख्या करते हैं कि भगवान् कृष्ण बद्धजीवों के भौतिक जीवन का अन्त करने के लिए श्री नारायण ऋषि जैसे सर्वाकर्षक रूप में अवतरित होते हैं। अतएव श्रीकृष्ण को नमस्कार करने से नारद नारायण ऋषि तथा ईश्वर के अन्य समस्त स्वरूपों का भी आदर करते हैं।

नारद की यह स्तुति वह अमृत है, जिसे उन्होंने साक्षात् वेदों की स्तुतियों से निकाला है और ये स्तुतियाँ वेदों तथा पुराणों के समस्त रहस्यों के मधुर समुद्र से मंथन करके निकाली गई हैं। जैसी कि *गोपालतापनी उपनिषद्* (पूर्व ५०) की संस्तुति है—*तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत् तं रसयेत् तं भजेत् तं यजेद् इति। ॐ तत्सत्।* ''इसलिए कृष्ण परम ईश्वर हैं। मनुष्य को चाहिए कि उन्हीं का ध्यान करे, उन्हीं से प्रेम के आदान-प्रदान का स्वाद ले, उन्हें ही पूजे और उन्हीं को यज्ञ अर्पित करे।''

इत्याद्यमृषिमानम्य तच्छिष्यांश्च महात्मनः ।
ततोऽगादाश्रमं साक्षात्पितुर्द्वैपायनस्य मे ॥ ७॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार बोलते हुए; आद्यम्—आदि; ऋषिम्—ऋषि (नारायण ऋषि) को; आनम्य—शीश झुकाकर; तत्—उसके; शिष्यान्—शिष्यों को; च—तथा; महा-आत्मनः—महान् सन्त; ततः—वहाँ (नैमिषारण्य) से; अगात्—चला गया; आश्रमम्—कुटिया में; साक्षात्—प्रत्यक्ष; पितुः—पिता; द्वैपायनस्य—द्वैपायन वेदव्यास की; मे—मेरे।

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा]: यह कहने के बाद नारद ने ऋषियों में अग्रणी श्री नारायण ऋषि को तथा उनके सन्त सदृश शिष्यों को भी शीश झुकाया। तब वे मेरे पिता द्वैपायन व्यास की कुटिया में लौट आये।

सभाजितो भगवता कृतासनपरिग्रहः ।
तस्मै तद्वर्णयामास नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥ ८॥

शब्दार्थ

सभाजितः—सम्मानित; भगवता—भगवान् के स्वांश (व्यासदेव) द्वारा; कृत—कर चुकने पर; आसन—आसन की; परिग्रहः—स्वीकृति; तस्मै—उसको; तत्—वह; वर्णयाम् आस—कह सुनाया; नारायण-मुखात्—श्री नारायण ऋषि के मुख से; श्रुतम्—जो उसने सुना था।

भगवान् के अवतार व्यासदेव ने नारद मुनि का सत्कार किया और उन्हें बैठने के लिए आसन दिया, जिसे उन्होंने स्वीकार किया। तब नारद ने व्यास से वह कह सुनाया, जो उन्होंने श्री नारायण ऋषि के मुख से सुना था।

इत्येतद्वर्णितं राजन्यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया ।
यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये नीऋगुणेऽपि मनश्चरेत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; एतत्—यह; वर्णितम्—सुनाया गया; राजन्—हे राजा (परीक्षित); यत्—जो; नः—हम से; प्रश्नः—प्रश्न; कृतः—किया गया; त्वया—तुम्हारे द्वारा; यथा—कैसे; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; अनिर्देश्ये—शब्दों में जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता; निर्गुणे—निर्गुण; अपि—भी; मनः—मन; चरेत्—जाता है।.

हे राजन्, इस प्रकार मैंने तुम्हारे उस प्रश्न का उत्तर दे दिया है, जो इस विषय में तुमने मुझसे पूछा था कि मन उस ब्रह्म तक कैसे पहुँचता है, जो भौतिक शब्दों द्वारा वर्णनीय नहीं है और भौतिक गुणों से रहित है।

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः ।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्त्रं हरिम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; अस्य—इस (ब्रह्माण्ड) का; उत्प्रेक्षकः—निगरानी रखने वाला; आदि—इसके प्रारम्भ में; मध्य—बीच में; निधने—तथा अन्त में; यः—जो; अव्यक्त—अप्रकट (प्रकृति) का; जीव—तथा जीवों का; ईश्वरः—स्वामी; यः—जो; सृष्ट्वा—उत्पन्न करके; इदम्—इस (ब्रह्माण्ड) में; अनुप्रविश्य—प्रवेश करके; ऋषिणा—जीवात्मा के साथ; चक्रे—उत्पन्न किया; पुरः—शरीर; शास्ति—नियमन करता है; ताः—उन्हें; यम्—जिसको; सम्पद्य—शरणागत होकर; जहाति—त्याग देता है; अजाम्—अजन्मा (प्रकृति) का; अनुशयी—आलिंगन करते हुए; सुप्तः—सोया पुरुष; कुलायम्—उसका शरीर; यथा—जिस तरह; तम्—उस पर; कैवल्य—अपनी शुद्ध आध्यात्मिक स्थिति से; निरस्त—दूर रखा हुआ; योनिम्—जन्म; अभयम्—निर्भयता के लिए; ध्यायेत्—ध्यान करना चाहिए; अजस्त्रम्—सतत; हरिम्—भगवान् कृष्ण को।.

वह ही स्वामी है, जो इस ब्रह्माण्ड की निरन्तर निगरानी करता है, जो इसके प्रकट होने के पूर्व, उसके बीच में तथा उसके बाद विद्यमान रहता है। वह अव्यक्त भौतिक प्रकृति तथा आत्मा दोनों का स्वामी है। इस सृष्टि को उत्पन्न करके, वह इसके भीतर प्रवेश कर जाता है और प्रत्येक जीव के साथ रहता है। वहाँ पर वह भौतिक देहों की सृष्टि करता है और फिर उनके नियामक के रूप में रहने लगता है। उनकी शरण में जाकर मनुष्य माया के आलिंगन से बच सकता है, जिस तरह स्वप्न देख रहा व्यक्ति अपने शरीर को भूल जाता है। जो व्यक्ति भय से मुक्ति चाहता है, उसे चाहिए कि उस भगवान् हरि का निरन्तर ध्यान धरे, जो सदैव सिद्धावस्था में रहता है और कभी भी भौतिक जन्म नहीं लेता।

तात्पर्य : जीवात्मा की सृष्टि करते समय भगवान् सुप्त ब्रह्माण्ड पर दृष्टि डाल कर उनकी सारी आवश्यकताएँ पूरी करते हैं। वे उन जीवों को जो सकाम कर्मी हैं भौतिक कार्य में सफलता पाने के

लिए आवश्यक बुद्धि तथा इन्द्रियाँ प्रदान करते हैं। जो दिव्य ज्ञान की खोज करते हैं उन्हें वे वह बुद्धि प्रदान करते हैं, जिससे वे ईश्वर के आध्यात्मिक तेज में लीन होकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। और भक्तों को तो वे वह समझ देते हैं, जिससे उन्हें शुद्ध भगवद्‌भक्ति प्राप्त हो।

इन विविध सुविधाओं की व्यवस्था करने के लिए भगवान् प्रकृति को उत्प्रेरित करते हैं कि वह ब्रह्माण्ड के विकास का कार्य प्रारम्भ करे। इस प्रकार भगवान् सृष्टि के *निमित्त कारणम्* अर्थात् प्रभावी कारण हैं। वे इसके *उपादान कारण* अर्थात अवयव कारण भी हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु उन्हीं से उद्‌भूत होती है और वे ही अकेले ऐसे हैं, जो सृजित जगत के पूर्व, बीच में तथा उसके अन्त में सदा-सर्वदा वर्तमान रहते हैं। *चतुःश्लोकी भागवत* में भगवान् नारायण स्वयं कहते हैं—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत्परम्।

पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्यते सोऽस्म्यहम्॥

"मैं ही वह भगवान् हूँ जो सृष्टि के पूर्व था जब मेरे सिवा और कुछ भी न था। न ही इस सृष्टि की कारणस्वरूप प्रकृति ही थी। इस समय जो तुम देखते हो, वह भी मैं भगवान् ही हूँ और प्रलय के बाद जो कुछ शेष रहेगा, वह भी मैं भगवान् ही हूँ।" (*भागवत* २.९.३३) आदि माया तथा जीवात्मा को क्रमशः सृष्टि के *उपादान* तथा *निमित्त* कारण कहा जा सकता है किन्तु भगवान् अन्ततः इन दोनों ही के उद्‌गम हैं।

जब तक जीवात्मा भगवान् की दया को स्वीकार नहीं करता वह *अनुशयी* है अर्थात् माया के आलिंगन में असहाय की तरह बँधा हुआ रहता है। जब वह भगवान् की पूजा करने लगता है, तो वह भिन्न अर्थ में *अनुशयी* रहता है—भगवान् के चरणकमलों में प्रणाम करने के लिए दण्ड की तरह गिरा हुआ रहता है। इस समर्पण से आत्मा अपने मोह को आसानी से उतार फेंकता है। यद्यपि मुक्तात्मा अब भी भौतिक शरीर में रहता प्रतीत होता है, किन्तु उससे उसका सम्बन्ध बाहरी दिखावे का ही रहता है। वह उसकी ओर उससे भी कम ध्यान देता है, जितना कि सोया हुआ व्यक्ति स्वप्नलोक में खोये रहने से अपने शरीर के प्रति देता है।

मनुष्य अपने भौतिक शरीर से अपनी झूठी पहचान करना छोड़ने से अज्ञान का परित्याग करता है। कभी कभी इस अवस्था को प्राप्त करने में कई जन्मों तक कठोर प्रयास करना पड़ सकता है, किन्तु

किसी–किसी के साथ भगवान् अपनी विशेष कृपा दिखा सकते हैं और ऐसा करते समय वे इसकी परवाह नहीं करते कि उस जीवात्मा ने नियमित अभ्यास से कितना पुण्य संचित किया है। श्री भीष्मदेव के शब्दों में—*यमिह निरीक्ष्य हता गताः स्वरूपम्*—जिन्होंने कृष्ण को कुरुक्षेत्र युद्ध–स्थल में देखा उन्होंने मारे जाने के बाद अपना मूल स्वरूप प्राप्त कर लिया। (*भागवत* १.९.३९) अघ, बक तथा केशी जैसे असुरों को बिना कोई आध्यात्मिक अभ्यास किये ही कृष्ण ने मोक्ष प्रदान किया—यह इस बात का संकेत है कि वे आदि भगवान् के अद्वितीय पद पर स्थित हैं। यह जान कर हमें अपना सारा भय तथा संशय ताक पर रख कर भक्ति की प्रक्रिया में दत्तचित्त होना चाहिए।

इस अध्याय की टीका के अन्तिम शब्दों के रूप में श्रील श्रीधर स्वामी लिखते हैं—

सर्वश्रुतिशिरोरत्ननीराजितपदाम्बुजम्।

भोगयोगप्रदं वन्दे माधवं कर्मिनम्रयोः॥

"श्रुतियों में सर्वश्रेष्ठ श्रुतियाँ अपने तेज से भगवान् माधव के चरणकमलों की आरती उतारती हैं। मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ, जो भौतिक कर्मियों द्वारा सम्मानित भौतिक भोग प्रदान करने वाले हैं और जो उन्हें आदरपूर्वक शीश झुकाते हैं, उन्हें वे अपने साथ दिव्य सम्बन्ध प्रदान करते हैं।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर भी इस अवसर का लाभ उठाकर यह विनीत प्रार्थना करते हैं—

हे भक्ता द्वार्ययं चञ्चद्वालधी रौति वो मनाक्।

प्रसादं लभतां यस्माद् विशिष्टः श्वेवनाथति॥

"हे भक्तो! यह निरीह प्राणी आपके द्वार पर अपनी पूँछ हिलाता और भौंकता हुआ खड़ा है। कृपा करके इसे थोड़ा प्रसादम् दे दें, जिससे यह कुत्तों में अद्वितीय बन कर अपने मालिक के तौर पर सर्वश्रेष्ठ स्वामी पा सके।" यहाँ पर आचार्य अपने ही नाम पर व्यंग्य करते हैं *विश* (इष्टः) "अद्वितीय," *श्व* (इव) "कुत्ते जैसा" *नाथ* (अति) "स्वामी वाला" वैष्णव दीनता की ऐसी पूर्णता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "साक्षात् वेदों द्वारा स्तुति" नामक सत्तासिवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अट्ठासी

वृकासुर से शिवजी की रक्षा

इस अध्याय में बतलाया गया है कि विष्णु के भक्तों को मोक्ष कैसे मिलता है, जबकि अन्य देवताओं के भक्तों को भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

भगवान् विष्णु सर्व ऐश्वर्ययुक्त हैं, किन्तु शिवजी दरिद्रता में रहते हैं। तो भी भगवान् विष्णु के भक्त सामान्यतया दरिद्रता में जीते हैं, जबकि शिव के भक्त प्रचुर सम्पत्ति प्राप्त करते हैं। जब महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से इस रहस्यमय तथ्य को समझाने के लिए कहा, तो मुनि ने इस प्रकार उत्तर दिया, ''शिवजी प्रकृति के तीनों गुणों के अनुसार तीन प्रकार से मिथ्या अहंकार-रूप में प्रकट होते हैं। इस अहंकार से पाँच भौतिक तत्त्व तथा भौतिक प्रकृति के अन्य विकार उत्पन्न होते हैं, जिनकी कुल संख्या सोलह है। जब शिवजी का भक्त इन तत्त्वों में से किसी रूप में उनकी पूजा करता है, तो भक्त को उसी तत्त्व से संगत भोग्य ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। किन्तु श्री हरि प्रकृति के गुणों से अतीत हैं, अतएव उनके भक्त भी दिव्य बन जाते हैं।

अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति पर राजा युधिष्ठिर ने यही प्रश्न भगवान् कृष्ण से पूछा था, तो उन्होंने उत्तर दिया था, ''जब मैं किसी पर विशेष कृपा करता हूँ, तब मैं धीरे धीरे उसको उसकी धन-सम्पदा से वंचित कर देता हूँ, तब उस दरिद्र व्यक्ति के बच्चे, पत्नी तथा अन्य सम्बन्धी उसे छोड़ देते हैं। जब वह अपने परिवार का समर्थन पाने के लिए फिर से सम्पत्ति प्राप्त करने का प्रयास करता है, तो मैं उस पर दया करके उसे हताश कर देता हूँ, जिससे वह सकाम कर्म से मुख मोड़ लेता है और मेरे भक्तों को मित्र बनाता है। उस समय मैं उस पर असाधारण दया दिखाता हूँ। तब वह भौतिक जीवन के बन्धन से छूट कर भगवद्धाम वैकुण्ठ को प्राप्त कर सकता है।''

ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव में से हर एक वर दे सकते हैं या वरों को देने से इनकार कर सकते हैं, किन्तु ब्रह्मा तथा शिव जल्दी ही प्रसन्न या क्रुद्ध होते हैं, जबकि विष्णु ऐसे नहीं हैं। इस प्रसंग में वैदिक वाङ्मय में निम्नलिखित कथा मिलती है।

एक बार वृकासुर ने नारद से पूछा कि कौन-सा देवता जल्दी प्रसन्न हो जाता है, तो नारद ने उत्तर दिया कि शिवजी। अत: वृकासुर केदारनाथ नामक तीर्थस्थान पर गया और अग्नि में अपने मांस के टुकड़ों की आहुतियाँ देकर शिव की पूजा करने लगा। किन्तु शिवजी प्रकट नहीं हुए। अतएव उसने

अपना सिर काट कर आत्महत्या करने का निश्चय किया। उसी क्षण यज्ञ-अग्नि से शिवजी प्रकट हुए और उसे मनवांछित वर देने को सहमत होकर ऐसा करने से रोका। वृक ने कहा, ''मैं जिसके भी सिर पर हाथ रखूँ वह मर जाय।'' शिव उसकी विनती पूरी करने पर विवश हो गए। दुष्ट वृक ने तत्क्षण इस वर की परीक्षा भगवान् के ही सिर पर हाथ रख कर करनी चाही। शिवजी अपना जीवन बचाने के लिए भयभीत होकर भागे और भागते हुए वे स्वर्ग तथा मर्त्यलोक की बाह्य सीमाओं तक गये। अन्त में वे श्वेतद्वीप लोक में पहुँचे, जहाँ विष्णुजी का निवास है। दूर से ही हताश शिव को देखकर, उन्होंने एक युवक विद्यार्थी का वेश बना लिया और वृकासुर के समक्ष गये और मधुर वाणी में उसे सम्बोधित किया, ''हे वृक! थोड़ा विश्राम करो और हमें बताओ कि तुम क्या करना चाहते हो।'' भगवान् के शब्दों से मोहित होकर उसने जो कुछ हुआ था, वह बता दिया। भगवान् ने कहा, ''जब से प्रजापति दक्ष ने शिवजी को शाप दिया है, तब से वे मांसभक्षी भूत-प्रेत बन गये हैं। अत: तुम्हें उनके शब्दों पर विश्वास नहीं करना चाहिए। अच्छा हो कि उनके वर की परीक्षा अपने सिरपर हाथ रखकर कर लो।'' इन शब्दों से मोहित होकर उस मूर्ख असुर ने, ज्योंही अपना सिर छुआ कि उसका सिर टूक-टूक होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। आकाश से ''जय हो'' ''नमस्कार'' तथा ''बहुत अच्छा किया'' की ध्वनियाँ सुनाई पड़ीं तथा देवताओं, ऋषियों, दिव्य पूर्वजों तथा गन्धर्वों ने उन पर फूलों की वर्षा करते हुए, उन्हें बधाई दी।

श्रीराजोवाच
देवासुरमनुष्येसु ये भजन्त्यशिवं शिवम् ।
प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा (परीक्षित) ने कहा; देव—देवताओं; असुर—असुरों; मनुष्येषु—तथा मनुष्यों में से; ये—जो; भजन्ति—पूजा करते हैं; अशिवम्—विरागी; शिवम्—शिव को; प्राय:—सामान्यतया; ते—वे; धनिन:—धनी; भोजा:—इन्द्रिय-तृप्ति के भोक्ता; न—नहीं; तु—फिर भी; लक्ष्म्या:—लक्ष्मी के; पतिम्—पति; हरिम्—भगवान् हरि को।

राजा परीक्षित ने कहा : जो देवता, असुर तथा मनुष्य परम वैरागी शिव की पूजा करते हैं, वे सामान्यतया धन सम्पदा तथा इन्द्रिय-तृप्ति का आनन्द लूटते हैं, जबकि लक्ष्मीपति भगवान् हरि की पूजा करने वाले, ऐसा नहीं कर पाते।

एतद्वेदितुमिच्छामः सन्देहोऽत्र महान्हि नः ।
विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोर्विरुद्धा भजतां गतिः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; वेदितुम्—जानने के लिए; इच्छामः—इच्छुक हैं; सन्देहः—सन्देह; अत्र—इस मामले में; महान्—महान्; हि—निस्सन्देह; नः—हम पर से; विरुद्ध—उल्टा; शीलयोः—जिनके चरित्र; प्रभ्वोः—दोनों प्रभुओं के; विरुद्धा—विपरीत; भजताम्—पूजा करने वालों का; गतिः—गन्तव्य।

हम इस विषय को ठीक से समझना चाहते हैं, क्योंकि यह हमें अत्यधिक परेशान किये हुए है। दरअसल इन विपरीत चरित्रों वाले दोनों प्रभुओं की पूजा करने वालों को, जो फल मिलते हैं, वे अपेक्षा के विपरीत होते हैं।

तात्पर्य : पिछले अध्याय की समाप्ति इस संस्तुति के साथ हुई है कि हर एक को चाहिए कि मुक्तिदाता भगवान् हरि का ध्यान करे। इस सम्बन्ध में महाराज परीक्षित ने सामान्य जनों में व्याप्त एक सामान्य भय को व्यक्त किया है कि भगवान् विष्णु का भक्त बनने से मनुष्य सम्पत्ति तथा सामाजिक पद से हाथ धो बैठेगा। अत: अल्प श्रद्धा वाले ऐसे व्यक्तियों के लाभ के लिए राजा परीक्षित श्रील शुकदेव गोस्वामी से इस विरोधाभास को बतलाने की प्रार्थना करते हैं: भिक्षुक की तरह बिन अपने घर के रहने वाले शिव अपने भक्तों को धनी तथा शक्तिवान बना देते हैं, जबकि सर्वस्व अधिपति भगवान् विष्णु अपने सेवक को दरिद्रता के द्वार तक पहुँचा देते हैं। इसका उत्तर शुकदेव गोस्वामी तर्कपूर्ण व्याख्या सहित और वृक असुर का प्राचीन वृत्तान्त प्रस्तुत करके देंगे।

श्रीशुक उवाच
शिवः शक्तियुतः शश्वत्त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः ।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुक ने कहा; शिवः—शिव; शक्ति—अपनी भौतिक शक्ति, प्रकृति से; यतः—युक्त; शश्वत्—सदैव; त्रि—तीन; लिङ्गः—प्रकट स्वरूप वाले; गुण—गुणों से; संवृतः—अनुरोध किये गये; वैकारिकः—सतोगुणी अहंकार; तैजसः—रजोगुणी अहंकार; च—तथा; तामसः—तमोगुणी अहंकार; च—तथा; इति—इस प्रकार; अहम्—अहंकार का तत्त्व; त्रिधा—तीन गुना।

श्रीशुकदेव ने कहा : शिवजी सदैव अपनी निजी शक्ति, प्रकृति के साथ, संयुक्त रहते हैं। प्रकृति के तीन गुणों के अनुरोध पर अपने को तीन रूपों में प्रकट करते हुए वे सतो, रजो तथा तमोगुणी अहंकार के त्रितत्त्व को धारण करने वाले हैं।

ततो विकारा अभवन्षोडशामीषु कञ्चन ।
उपधावन्विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम् ॥ ॥

शब्दार्थ

ततः—उस (अहंकार) से; विकाराः—रूपान्तरेण; अभवन्—प्रकट हुए; षोडश—सोलह; अमीषु—इनमें से; कञ्चन—कोई; उपधावन्—पूजा करते हुए; विभूतीनाम्—भौतिक सम्पत्ति का; सर्वासाम्—समस्त; अश्नुते—भोग करता है; गतिम्—उपलब्धि ।.

उसी मिथ्या अहंकार से सोलह तत्त्व विकार-रूप में निकले हैं। जब शिव-भक्त इन तत्त्वों में से किसी भी विकार की पूजा करता है, तो उसे सभी प्रकार का उसी तत्त्व के संगत भोग्य ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

तात्पर्य : मिथ्या अहंकार के सोलह विकार हैं—मन, दस इन्द्रियाँ (आँखें, कान, नाक, जीभ, चर्म, हाथ, पाँव, वाणी, जननांग तथा गुदा) एवं पाँच भौतिक तत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश)। शिवजी इन सोलहों वस्तुओं में से हर एक में एक विशेष लिंग रूप में प्रकट होते हैं, जो ब्रह्माण्ड के विभिन्न पवित्र स्थानों में अर्चाविग्रहों के रूप में पूजे जाते हैं। शिव-भक्त इनमें से किसी विशेष लिंग की पूजा करके तत्सम्बन्धी ऐश्वर्य प्राप्त कर सकता है। जैसे कि शिवजी का *आकाशलिंग* आकाश का ऐश्वर्य प्रदान करता है और उनका *ज्योतिर्लिंग* अग्नि का ऐश्वर्य प्रदान करता है इत्यादि।

हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः ।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

हरिः—भगवान् हरि; हि—निस्सन्देह; निर्गुणः—गुणों से अछूता; साक्षात्—परम रूप से; पुरुषः—ईश्वर; प्रकृतेः—प्रकृति के; परः—दिव्य; सः—वह; सर्व—हर वस्तु; दृक्—देखते हुए; उपद्रष्टा—साक्षी; तम्—उसकी; भजन्—पूजा करके; निर्गुणः—भौतिक गुणों से मुक्त; भवेत्—बन जाता है ।.

किन्तु भगवान् हरि का भौतिक गुणों से कोई सरोकार नहीं रहता। वे सर्वद्रष्टा नित्य साक्षी भगवान् हैं, जो भौतिक प्रकृति के परे हैं। जो उनकी पूजा करता है, वह भी उन्हीं की तरह भौतिक गुणों से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु भौतिक शक्ति से परे अपने दिव्य पद पर स्थित हैं। तो फिर उनकी पूजा से भौतिक ऐश्वर्य का फल किस तरह मिलता है ? भगवान् विष्णु की पूजा करने का असली फल दिव्य ज्ञान है। इस तरह विष्णु का पूजक भौतिक सम्पत्ति से अंधा होने की बजाय दिव्य ज्ञान-चक्षु प्राप्त

करता है। भगवान् भौतिक सृष्टि के एक विरक्त साक्षी हैं, इसलिए उनका भक्त भी भगवान् की कनिष्ठा शक्तियों की अन्योन्य क्रिया से पृथक् रहता है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने वैदिक साहित्य से निम्नलिखित उद्धरण दिये हैं—

वस्तुनो गुणसम्बन्धे रूपद्वयमिहेष्यते।

तद्धर्मायोगयोगाभ्यां बिम्बवत् प्रतिबिम्बवत्॥

''जब परम सत्य प्रकृति के गुणों के साथ रहता है, तो भगवान् इस जगत में दो भिन्न प्रकार के रूप धारण करते हैं, जिनका आधार इस बात पर होता है कि उनके दिव्य गुण प्रकट हैं अथवा नहीं। इस तरह वे प्रतिबिम्ब और फिर उसके भी प्रतिबिम्ब की तरह कार्य करते हैं।''

गुणाः सत्त्वादयः शान्तघोरमूढाः स्वभावतः।

विष्णुब्रह्मशिवानां च गुणयन्तृस्वरूपिणाम्॥

''सतो, रजो तथा तमोगुण जिनके स्वभाव क्रमशः शान्त, उद्धत तथा मूर्ख हैं, स्वयं विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव द्वारा नियमित होते हैं।''

नातिभेदो भवेद् भेदो गुणधर्मैरिहांशतः।

सत्त्वस्य शान्त्या नो जातु विष्णोर्विक्षेपमूढते॥

''विष्णु का शान्त सतोगुण उनके आदि आध्यात्मिक गुणों से कुछ विशेष मात्रा में भिन्न नहीं होता, यद्यपि इस जगत में यह उनकी आंशिक अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार भगवान् विष्णु का सतोगुण कभी भी क्षोभ (रजोगुण में) या मोह (तमोगुण में) से कलुषित नहीं होता।''

रजस्तमोगुणाभ्यां तु भवेतां ब्रह्मरुद्रयोः।

गुणोपमर्दतो भूयस्तदंशानां च भिन्नता॥

''दूसरी ओर रजो तथा तमोगुण से ब्रह्मा तथा रुद्र के आदि आध्यात्मिक गुण छिप जाते हैं। इस तरह ये आध्यात्मिक गुण, अंशतः पृथक्, भौतिक गुणों के रूप में प्रकट होते हैं।''

अतः समग्रसत्त्वस्य विष्णोर्मोक्षकरी मतिः।

अंशतो भूतिहेतुश्च तथानन्दमयी स्वतः॥

''इसलिए समस्त सत्त्व के रूप भगवान् विष्णु पर चेतना को केन्द्रित करने से मुक्ति प्राप्त होती है।

ऐसी ईश-चेतना से उपजात के रूप में भौतिक सफलता भी उत्पन्न होती है, किन्तु इसकी सही प्रकृति शुद्ध आध्यात्मिक आनन्द है।''

अंशतस्तारतम्येन ब्रह्मरुद्रादिसेविनाम्।

विभूतयो भवन्त्येव शनैर्मोक्षोऽप्यनंशत:॥

''ब्रह्मा, रुद्र तथा अन्य देवताओं के भक्त अपनी पूजा के गुण के अनुसार भौतिक ऐश्वर्य की सीमित सफलता प्राप्त करते हैं। अन्तत: वे संभवत: पूर्ण मुक्ति के पात्र बन सकते हैं।''

यही भाव *श्रीमद्भागवत* के इस कथन (१.२.२३) से ध्वनित होता है—*श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्यु:*—इन तीनों (ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव) में से सारे मनुष्य चरम लाभ विष्णु से पा सकते हैं, जो सतोगुण स्वरूप हैं।''

निवृत्तेष्वश्वमेधेषु राजा युष्मत्पितामह: ।
शृण्वन्भगवतो धर्मानपृच्छदिदमच्युतम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

निवृत्तेषु—पूर्ण हुए; अश्व-मेधेषु—अश्वमेध यज्ञ के; राजा—राजा (युधिष्ठिर); युष्मत्—तुम्हारे (परीक्षित के); पितामहा:—बाबा; शृण्वन्—सुनते हुए; भगवत:—भगवान् (श्रीकृष्ण) से; धर्मान्—धार्मिक सिद्धान्तों को; अपृच्छत्—पूछा; इदम्—यह; अच्युतम्—भगवान् कृष्ण से।

तुम्हारे बाबा राजा युधिष्ठिर ने अपना अश्वमेध यज्ञ पूरा कर लेने के बाद भगवान् अच्युत से यही प्रश्न पूछा था, जब वे भगवान् से धर्म की व्याख्या सुन रहे थे।

स आह भगवांस्तस्मै प्रीत: शुश्रूषवे प्रभु: ।
नृणां नि:श्रेयसार्थाय योऽवतीर्णो यदो: कुले ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

स:—उसने; आह—कहा; भगवान्—भगवान्; तस्मै—उसको; प्रीत:—प्रसन्न; शुश्रूषवे—सुनने का इच्छुक; प्रभु:—स्वामी; नृणाम्—सारे मनुष्यों के; नि:श्रेयस—चरम लाभ के; अर्थाय—हेतु; य:—जो; अवतीर्ण:—अवतरित; यदो:—राजा यदु के; कुले—वंश में।

राजा के स्वामी तथा प्रभु श्रीकृष्ण, जो सारे लोगों को परम लाभ प्रदान करने के उद्देश्य से यदुकुल में अवतीर्ण हुए थे, इस प्रश्न से प्रसन्न हुए। भगवान् ने निम्नवत् उत्तर दिया, जिसे राजा ने उत्सुकतापूर्वक सुना।

श्रीभगवानुवाच
यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; यस्य—जिस पर; अहम्—मैं; अनुगृह्णामि—अनुग्रह करता हूँ; हरिष्ये—हरण कर लेता हूँ; तत्—उसका; धनम्—धन; शनैः—धीरे धीरे; ततः—तब; अधनम्—निर्धन; त्यजन्ति—छोड़ देते हैं; अस्य—उसके; स्व-जनाः—सम्बन्धी तथा मित्र; दुःख-दुःखितम्—एक के बाद, एक दुख से दुखी।

भगवान् ने कहा : यदि मैं किसी पर विशेष रूप से कृपा करता हूँ, तो मैं धीरे धीरे उसे उसके धन से वंचित करता जाता हूँ। तब ऐसे निर्धन व्यक्ति के स्वजन तथा मित्र उसका परित्याग कर देते हैं। इस प्रकार वह कष्ट पर कष्ट सहता है।

तात्पर्य : भगवद्भक्तों को सुख तथा दुख दोनों का अनुभव करना पड़ता है—इसलिए नहीं कि ये भौतिक कर्म के फल हैं, अपितु भगवान् से प्रेम करने के आपाद्कालिक प्रतिफल होते हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने *श्री भक्तिरसामृतसिन्धु* में जो उनका भक्ति-प्रक्रिया पर पारिभाषिक शोध-प्रबंध है, बतलाया है कि किस तरह एक वैष्णव सारे कर्मफलों से छूट जाता है—इन फलों में *अप्रारब्ध*—(जो अभी प्रकट नहीं हुए); *कूट* (जो प्रारम्भ होने वाले हैं), *बीज* (जो प्रकट हो रहे होते हैं) तथा *प्रारब्ध* (जो पूरी तरह से प्रकट हो चुके हैं) सम्मिलित हैं। जिस प्रकार कमल की पंखुड़ियाँ धीरे धीरे गिर जाती हैं, उसी तरह भक्ति का आश्रय लिये व्यक्ति के सारे कर्मफल विनष्ट होते जाते हैं।

गोपालतापनी श्रुति (पूर्व १५) के निम्नलिखित गद्यांश से भी इसकी पुष्टि होती है कि भगवान् कृष्ण की भक्ति से सारे कर्मफल समूल नष्ट हो जाते हैं—*भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनामुष्मिन् मनःकल्पनम् एतदेव नैकष्कर्म्यम्*—"भक्ति भगवान् की पूजा करने की विधि है। इसमें सारी भौतिक उपाधियों से, चाहे वे इस जन्म में हों या अगले जन्म में, विरक्त होकर उन पर ध्यान एकाग्र करना होता है। इससे सारे कर्मों का विलय हो जाता है।" यह सच है कि जो भक्ति करते हैं, वे कुछ काल तक इस भौतिक शरीर में और भौतिक स्थितियों में रहते हैं, किन्तु यह भगवान् की अचिन्त्य दया की अभिव्यक्ति मात्र है और उन्हें केवल शुद्ध होने पर भक्ति का फल मिलता है। किन्तु भक्ति की प्रत्येक अवस्था में भगवान् अपने भक्त पर नजर रखते हैं और देखते हैं कि उसके कर्म का धीरे धीरे निरसन होता रहे। इस तथ्य के बावजूद कि भक्त जिस सुख-दुख का अनुभव करते हैं वह सामान्य कर्मफलों के समान ही होता है, किन्तु इन्हें देने वाले स्वयं भगवान् होते हैं। जैसाकि

भागवत (.८७.०) में कहा गया है— *भवदुत्थ शुभाशुभयोः*—प्रौढ़ भक्त जानता है कि बाहर से दिखने वाली अच्छी तथा बुरी परिस्थितियाँ जिन्हें वह झेल रहा है उसके शुभेच्छु भगवान् के प्रत्यक्ष मार्गदर्शन के संकेत हैं।

किन्तु यदि भगवान् अपने भक्तों के प्रति दयालु हैं, तो वे उन्हें विशेष कष्ट क्यों देते हैं? इसका उत्तर एक दृष्टान्त द्वारा दिया जा रहा है। एक अत्यन्त स्नेही पिता अपने बच्चों को खेलने से रोक कर उन्हें पढ़ने के लिए पाठशाला भेजने का उत्तरदायित्व लेता है। वह जानता है कि बच्चों के प्रति यह सही प्रेम की अभिव्यक्ति है भले ही बच्चे इसे न समझ पायें। इसी तरह से भगवान् विष्णु अपने सभी भक्तों पर दयापूर्ण होते हुए भी कठोर हैं केवल अप्रौढ़ भक्तों पर नहीं जो अभी योग्य बनने के लिए संघर्ष कर रहे होते हैं। यहाँ तक कि प्रह्लाद, ध्रुव तथा युधिष्ठिर जैसे पूर्ण सन्तों को महान् कष्ट झेलने पड़े और यह सब उन्हीं के गौरव हेतु था। कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद श्री भीष्मदेव ने इस पर राजा युधिष्ठिर से अपना आश्चर्य व्यक्त किया—

यत्र धर्मसुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः।
कृष्णोऽस्त्री गाण्डिवं चापं सुहृत् कृष्णस्ततो विपत्॥
न ह्यस्य कर्हिचिद् राजन् पुमान् वेत्ति विधित्सितम्।
यद्विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ति कवयोऽपि हि॥

"ओह! अपरिहार्य काल का प्रभाव कितना विचित्र है। यह अनुर्कमणीय है अन्यथा धर्मसुत राजा युधिष्ठिर, गदाधारी भीम, गाण्डीवधारी महान् योद्धा अर्जुन तथा इन सबों के ऊपर पाण्डवों के परम शुभचिन्तक भगवान् की उपस्थिति में ऐसी विपदाएँ क्यों आतीं? हे राजन्! कोई भी भगवान् (कृष्ण) की योजना को नहीं जान सकता। यद्यपि बड़े बड़े दार्शनिक पूर्ण जिज्ञासा करते हैं, किन्तु वे भी मोहग्रस्त हो जाते हैं।" (*भागवत* १.९.१५-१६)

यद्यपि वैष्णव के सुख तथा दुख सामान्य कर्मफलों जैसे अनुभव किये जाते हैं, किन्तु एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण से वे पृथक् होते हैं। कर्म से उत्पन्न भौतिक सुख तथा दुख एक सूक्ष्म अवशेष छोड़ जाते हैं—जो भावी बन्धन का बीज बनता है। ऐसे सुख तथा दुख से पतन होने की सम्भावना रहती है तथा नरक में जाने का खतरा बढ़ जाता है। किन्तु भगवान् की इच्छाओं से उत्पन्न सुख तथा

दुख अपना तात्कालिक उद्देश्य पूरा हो जाने के पश्चात् ऐसा कोई अवशेष नहीं छोड़ते। यही नहीं, जो वैष्णव भगवान् के साथ ऐसा आदान-प्रदान करता है, उसे अज्ञान में गिरने का खतरा नहीं रहता। जैसाकि मृत्यु के देवता एवं सभी मृत-जीवों के निर्णायक यमराज ने कहा है—

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयम्

चेतश्च न स्मरति तच्चरणाविन्दम्।

कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि

तान् आनयध्वम् असतोऽकृतविष्णुकृत्यान्॥

''मेरे सेवको! तुम मेरे पास केवल उन्हीं पापी व्यक्तियों को लाओ जो अपनी जीभों का प्रयोग कृष्ण के पवित्र नाम तथा गुणों का कीर्तन करने के लिए न करते हों, जिनके हृदय एक बार भी कृष्ण के चरणकमलों का स्मरण न करते हों और जिनके सिर एक बार भी कृष्ण के समक्ष न झुकते हों। मेरे पास केवल उनको भेजो जो विष्णु के प्रति अपना कर्तव्य नहीं निभाते, जो मनुष्य-जीवन का एकमात्र कर्तव्य है। मेरे पास ऐसे सारे मूर्खों तथा धूर्तों को लाओ।'' (*भागवत* ६.३.२९)।

भगवान् के प्रिय भक्तगण अपने ऊपर भगवान् द्वारा लादे गये कष्टों को अत्यन्त दुखदायी नहीं मानते। वे देखते हैं कि अन्त में इनसे उन्हें असीम आनन्द प्राप्त होता है, जिस तरह वैद्य द्वारा अपने रोगी की दुखती आँख में लगाया गया कडुआ लेप उसके कष्ट को दूर कर देता है। कष्ट से भक्ति की गुह्यता की रक्षा होती है, क्योंकि श्रद्धाविहीन लोग इसके भीतर प्रवेश करने का साहस नहीं कर पाते और इससे वह उत्सुकता बढ़ती है, जिससे भक्तगण भगवान् को प्रकट होने के लिए पुकारते हैं। यदि भगवान् विष्णु के भक्त संतुष्ट होकर सदैव सुखी रहते, तो उन्हें कृष्ण, रामचन्द्र, नृसिंह आदि के रूप में इस जगत में प्रकट होने की जरूरत ही न पड़ती। जैसाकि *भगवद्गीता* (.८) में स्वयं कृष्ण कहते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

''साधुओं का उद्धार करने तथा दुष्टों का संहार करने एवं धर्म की पुनः स्थापना करने के लिए मैं युग युग में प्रकट होता हूँ।'' यदि भगवान् अपने मूल कृष्ण-रूप में तथा विविध अवतारों के रूप में

अपने को न दिखलायें, तो इस जगत में उनके श्रद्धालु सेवकों को उनकी रासलीला तथा अन्य लीलाओं का आनन्द लेने का अवसर ही प्राप्त न हो सके।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती यहाँ एक सम्भावित आपत्ति प्रस्तुत करते हैं, ''यदि ईश्वर सन्त-पुरुषों को कष्टों से उबारने के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से अवतार लें, तो उसमें कौन-सा हर्ज होगा?'' विद्वान आचार्य इसका उत्तर देते हैं, ''हाँ, भाइयो! यह ठीक तो है, लेकिन तुम लोग आध्यात्मिक रस समझने में दक्ष नहीं हो। तो सुनो: रात में ही सूर्योदय आकर्षक लगता है, ग्रीष्म की गर्मी में ही शीतल जल सुख देता है और जाड़े के शीतकाल में ही गर्म जल सुहाता है। दीपक का प्रकाश अँधेरे में आकर्षक लगता है, दिन के तेज प्रकाश में नहीं और जब किसी को भूख लगी होती है, तो भोजन विशेष तौर से अच्छा लगता है।'' दूसरे शब्दों में, अपने भक्तों के उन पर आश्रित रहने के भाव को तथा प्रेम को दृढ़ करने के लिए ही भगवान् भक्तों को कुछ कष्ट देते हैं और जब वे उनका उद्धार करने के लिए प्रकट होते हैं, तो उनकी कृतज्ञता तथा उनका दिव्य आनन्द असीम होता है।

स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद्धनेहया ।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; यदा—जब; वितथ—व्यर्थ; उद्योगः—प्रयास; निर्विण्णः—विफल; स्यात्—हो जाता है; धन—धन के लिए; ईहया—अपने प्रयास से; मत्—मेरे; परैः—भक्तों के साथ; कृत—बनाने वाले के लिए; मैत्रस्य—मित्रता; करिष्ये—दिखलाऊँगा; मत्—मेरी; अनुग्रहम्—कृपा।

जब वह धन कमाने के अपने प्रयासों में विफल होकर मेरे भक्तों को अपना मित्र बनाता है, तो मैं उस पर विशेष अनुग्रह प्रदर्शित करता हूँ।

तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम् ।
विज्ञायात्मतया धीरः संसारात्परिमुच्यते ॥ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; ब्रह्म—निर्विशेष ब्रह्म; परमम्—परम; सूक्ष्मम्—सूक्ष्म; चित्—आत्मा; मात्रम्—शुद्ध; सत्—नित्य जगत; अनन्तकम्—अन्तहीन; विज्ञाय—भलीभाँति जान कर; आत्मतया—अपने ही आत्मा के रूप में; धीरः—धीर; संसारात्—भौतिक जीवन से; परिमुच्यते—छूट जाता है।

इस तरह धीर बना हुआ व्यक्ति ब्रह्म को, जो आत्मा की सर्वाधिक सूक्ष्म तथा पूर्ण अभिव्यक्ति से एवं अन्तहीन जगत से परे है, सर्वोच्च सत्य के रूप में पूरी तरह से अनुभव करता

है। इस तरह यह अनुभव करते हुए कि परम सत्य उसके अपने अस्तित्व का आधार है, वह भौतिक जीवन के चक्र से मुक्त हो जाता है।

अतो मां सुदुराराध्यं हित्वान्यान्भजते जनः ।
ततस्त आशुतोषेभ्यो लब्धराज्यश्रियोद्धताः ।
मत्ताः प्रमत्ता वरदान्विस्मयन्त्यवजानते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अतः—इसलिए; माम्—मुझको; सु—अत्यन्त; दुराराध्यम्—पूजा करने में कठिन; हित्वा—छोड़ कर; अन्यान्—अन्यों को; भजते—पूजता है; जनः—सामान्य व्यक्ति; ततः—फलस्वरूप; ते—वे; आशु—शीघ्र ही; तोषेभ्यः—संतुष्ट लोगों से; लब्ध—प्राप्त; राज्य—राजसी; श्रिया—ऐश्वर्य से; उद्धताः—उद्धत बनाये गये; मत्ताः—मद से चूर; प्रमत्ताः—परवाह न करने वाले; वर—वरों के; दान्—दाता; विस्मयन्ति—अत्यन्त निडर बन कर; अवजानते—अपमान (तिरस्कार) करते हैं।

चूँकि मुझे पूजना कठिन है, इसलिए सामान्यतया लोग मुझसे कतराते हैं और बजाय इसके में उन अन्य देवों की पूजा करते हैं, जो शीघ्र ही तुष्ट हो जाते हैं। जब लोग इन देवों से राजसी ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं, तो वे उद्धत, गर्वोन्मत्त तथा अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करने वाले बन जाते हैं। वे उन देवताओं को भी अपमानित करने का दुस्साहस करते हैं, जिन्होंने उन्हें वर दिये हैं।

श्रीशुक उवाच
शापप्रसादयोरीशा ब्रह्मविष्णुशिवादयः ।
सद्यः शापप्रसादोऽङ्ग शिवो ब्रह्मा न चाच्युतः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; शाप—शाप देने; प्रसादयोः—दया दिखाने में; ईशाः—समर्थ; ब्रह्म-विष्णु-शिव-आदयः—ब्रह्मा, विष्णु, शिव इत्यादि; सद्यः—शीघ्र; शाप-प्रसादः—जिनके शाप तथा वरदान; अङ्ग—हे प्रिय (राजा परीक्षित); शिवः—शिव; ब्रह्मा—ब्रह्मा; न—नहीं; च—तथा; अच्युतः—भगवान् विष्णु।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा अन्य देवता किसी को शाप या आशीर्वाद देने में समर्थ हैं। शिव तथा ब्रह्मा शाप देने या वर देने में बहुत शीघ्रता करते हैं, किन्तु हे राजन्, भगवान् अच्युत ऐसे नहीं हैं।

अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
वृकासुराय गिरिशो वरं दत्त्वाप सङ्कटम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अत्र—इस सम्बन्ध में; च—तथा; उदाहरन्ति—उदाहरण के रूप में बतलाते हैं; इमम्—यह (आगे दिया); इतिहासम्—ऐतिहासिक विवरण; पुरातनम्—प्राचीन; वृक-असुराय—वृक असुर के लिए; गिरि-शः—कैलाश पर्वत के स्वामी शिवजी ने; वरम्—वर; दत्त्वा—देकर; आप—प्राप्त किया; सङ्कटम्—भयावह स्थिति।

इस सम्बन्ध में एक प्राचीन ऐतिहासिक विवरण बतलाया जाता है कि किस तरह वृक असुर को वर माँगने के लिए कहने से कैलाश पर्वत के स्वामी संकट में पड़ गये।

वृको नामासुरः पुत्रः शकुनेः पथि नारदम् ।
दृष्ट्वाशुतोषं पप्रच्छ देवेषु त्रिषु दुर्मतिः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

वृकः—वृक; नाम—नामक; असुरः—असुर; पुत्रः—पुत्र; शकुनेः—शकुनि का; पथि—मार्ग में; नारदम्—नारद मुनि को; दृष्ट्वा—देख कर; आशु—शीघ्र; तोषम्—प्रसन्न होने वाला; पप्रच्छ—पूछा; देवेषु—देवताओं में से; त्रिषु—तीन; दुर्मतिः—दुष्ट ने।

एक बार मार्ग में शकुनि-पुत्र वृक नामक असुर की नारद से भेंट हो गयी। इस दुष्ट ने उनसे पूछा कि तीन प्रमुख देवों में से, किसे सबसे जल्दी प्रसन्न किया जा सकता है।

स आह देवं गिरिशमुपाधावाशु सिद्ध्यसि ।
योऽल्पाभ्यां गुणदोषाभ्यामाशु तुष्यति कुप्यति ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने (नारद ने); आह—कहा; देवम्—देव; गिरिशम्—शिव को; उपाधाव—पूजो; आशु—शीघ्र; सिद्ध्यसि—सफल होगे; यः—जो; अल्पाभ्याम्—कुछ; गुण—उत्तम गुणों से; दोषाभ्याम्—तथा दोषों से; आशु—जल्दी; तुष्यति—तुष्ट होता है; कुप्यति—क्रुद्ध होता है।

नारद ने उससे कहा : तुम शिव की पूजा करो, तो तुम्हें शीघ्र ही सफलता प्राप्त हो सकेगी। वे अपनी पूजा करने वालों के रंचमात्र भी उत्तम गुणों को देख कर तुरन्त प्रसन्न हो जाते हैं और उनकी रंचमात्र भी त्रुटि देख कर तुरन्त कुपित होते हैं।

दशास्यबाणयोस्तुष्टः स्तुवतोर्वन्दिनोरिव ।
ऐश्वर्यमतुलं दत्त्वा तत आप सुसङ्कटम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

दश-आस्य—दस सिरों वाले रावण से; बाणयोः—तथा बाण से; तुष्टः—संतुष्ट; स्तुवतोः—उनकी स्तुति का गान करने वाले; वन्दिनोः इव—गायकों की तरह; ऐश्वर्यम्—शक्ति; अतुलम्—अद्वितीय; दत्त्वा—देकर; ततः—तब; आप—प्राप्त किया; सु—महान्; सङ्कटम्—विपत्ति।

वे दस-सिर वाले रावण से तथा बाण से तब प्रसन्न हो उठे, जब उनमें से प्रत्येक ने राज्य दरबार के वन्दीजनों की तरह उनके यश का गायन किया। तब शिवजी ने उन दोनों को अभूतपूर्व शक्ति प्रदान की, किन्तु इसके फलस्वरूप, उन्हें दोनों के कारण महान् संकट उठाना पड़ा।

तात्पर्य : रावण ने शक्ति प्राप्त करने के लिए शिवजी की पूजा की और तब इस शक्ति का दुरुपयोग शिवजी के ही आवास पवित्र कैलाश पर्वत को नष्ट करने में किया। बाणासुर की याचना पर शिवजी बाण की राजधानी की रखवाली स्वयं करने के लिए राजी हो गये किन्तु बाद में उन्हें बाण के लिए श्रीकृष्ण तथा उनके पुत्रों से युद्ध करना पड़ा।

इत्यादिष्टस्तमसुर उपाधावत्स्वगात्रतः ।
केदार आत्मक्रव्येण जुह्वानो ग्निमुखं हरम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; आदिष्टः—आदेश दिया गया; तम्—उस (शिव) की; असुरः—असुर ने; उपाधावत्—पूजा की; स्व—अपने; गात्रतः—शरीर के अंगों से; केदारे—केदारनाथ नामक पवित्र स्थान पर; आत्म—अपने; क्रव्येण—मांस से; जुह्वानः—आहुतियाँ देते हुए; अग्नि—अग्नि रूपी; मुखम्—मुख में; हरम्—शिव के।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : इस प्रकार उपदेश पाकर, वह असुर केदारनाथ में शिवजी की पूजा करने गया, जहाँ वह अपने शरीर से मांस के टुकड़े काट-काट कर पवित्र अग्नि में, जो कि शिवमुख है, आहुतियाँ देने लगा।

देवोपलब्धिमप्राप्य निर्वेदात्सप्तमेऽहनि ।
शिरोऽवृश्चत्सुधितिना तत्तीर्थक्लिन्नमूर्धजम् ॥ १८ ॥
तदा महाकारुणिको स धूर्जटि-
र्यथा वयं चाग्निरिवोत्थितोऽनलात् ।
निगृह्य दोर्भ्यां भुजयोर्न्यवारयत्
तत्स्पर्शनाद्भूय उपस्कृताकृतिः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

देव—देवता का; उपलब्धिम्—दर्शन; अप्राप्य—न पाकर; निर्वेदात्—हताशा से; सप्तमे—सातवें; अहनि—दिन; शिरः—सिर; अवृश्चत्—काटने वाला था; सुधितिना—कुल्हाड़े से; तत्—उस (केदारनाथ) का; तीर्थ—तीर्थस्थान (के जल) में; क्लिन्न—सिक्त; मूर्ध-जम्—सिर के बाल; तदा—तब; महा—परम; कारुणिकः—दयालु; सः—वह; धूर्जटिः—शिवजी; यथा—जिस तरह; वयम्—हम; च—भी; अग्निः—अग्नि देव; इव—की तरह प्रकट होकर; उत्थितः—उठा हुआ; अनलात्—अग्नि से; निगृह्य—पकड़ कर; दोर्भ्याम्—अपनी बाँहों से; भुजयोः—उसकी (वृक की) बाँहें; न्यवारयत्—रोका; तत्—उसका (शिव का); स्पर्शनात्—स्पर्श से; भूयः—पुनः; उपस्कृत—सुनिर्मित; आकृतिः—शरीर।

देवता का दर्शन न पाकर वृकासुर हताश हो गया। अन्त में सातवें दिन केदारनाथ की पवित्र नदी में अपने बाल भिगोकर तथा उन्हें गीला ही रहने देकर, उसने एक कुल्हाड़ा उठाया और अपना सिर काटने लगा। लेकिन उसी क्षण परम दयालु शिवजी यज्ञ-अग्नि से प्रकट हुए, जो साक्षात् अग्नि देव जैसे लग रहे थे। उन्होंने असुर को आत्महत्या करने से रोकने के लिए उसकी

दोनों बाँहें पकड़ लीं, जिस तरह ऐसी परिस्थिति में हम करेंगे। शिवजी का स्पर्श करने से वृकासुर, एक बार फिर पूर्ण हो गया।

तमाह चाङ्गालमलं वृणीष्व मे
यथाभिकामं वितरामि ते वरम् ।
प्रीयेय तोयेन नृणां प्रपद्यता-
महो त्वयात्मा भृशमर्द्यते वृथा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तम्—उससे; आह—(शिव ने) कहा; च—तथा; अङ्ग—हे प्रिय; अलम् अलम्—बस बस; वृणीष्व—वर माँगो; मे—मुझसे; यथा—जैसा; अभिकामम्—चाहते हो; वितरामि—प्रदान करूँगा; ते—तुम्हें; वरम्—तुम्हारा चुना वर; प्रीयेय—प्रसन्न होता हूँ; तोयेन—जल से; नृणाम्—मनुष्यों के; प्रपद्यताम्—शरणागत; अहो—ओह; त्वया—तुम्हारे द्वारा; आत्मा—तुम्हारा शरीर; भृशम्—अत्यधिक; अर्द्यते—पीड़ा पहुँचाया गया; वृथा—व्यर्थ।

शिवजी ने उससे कहा : हे मित्र, बस करो, बस करो, तुम जो भी चाहो, मुझसे माँगो। मैं तुम्हें वही वर दूँगा। हाय! तुमने वृथा ही अपने शरीर को इतनी पीड़ा पहुँचाई, क्योंकि जो लोग शरण के लिए मेरे पास पहुँचते हैं, उनके द्वारा मात्र जल की भेंट से मैं प्रसन्न हो जाता हूँ।

देवं स वव्रे पापीयान्वरं भूतभयावहम् ।
यस्य यस्य करं शीर्ष्णि धास्ये स म्रियतामिति ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

देवम्—देव से; सः—उसने; वव्रे—माँगा; पापीयान्—पापी असुर; वरम्—वर; भूत—सारे जीवों को; भय—डर; आवहम्—लाने वाला; यस्य यस्य—जिस जिसके; करम्—हाथ; शीर्ष्णि—सिर पर; धास्ये—मैं रखूँ; सः—वह; म्रियताम्—मर जाये; इति—इस प्रकार।

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा] : उस पापी वृक ने भगवान् से जो वर माँगा, वह सारे जीवों को भयाकान्त करने वाला था। वृक ने कहा, ''मैं जिसके भी सिर पर अपना हाथ रखूँ, उसकी मृत्यु हो जाये।''

तच्छ्रुत्वा भगवान्रुद्रो दुर्मना इव भारत ।
ॐ इति प्रहसंस्तस्मै ददेऽहेरमृतं यथा ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तत्—यह; श्रुत्वा—सुनकर; भगवान् रुद्रः—भगवान् रुद्र ने; दुर्मनाः—अप्रसन्न; इव—मानो; भारत—हे भरतवंशी; ॐ इति—स्वीकृति के रूप में ॐ शब्द का उच्चारण करते हुए; प्रहसन्—हँसते हुए; तस्मै—उसे; ददे—दे दिया; अहेः—साँप को; अमृतम्—अमृत; यथा—जिस तरह।

यह सुनकर भगवान् रुद्र कुछ विचलित से लगे। फिर भी हे भारत, उन्होंने अपनी सहमति

दिखाने के लिए ॐ का उच्चारण किया और व्यंग्य-हँसी के साथ वृक को वर दे दिया कि, मानो विषैले सर्प को दूध दे दिया हो।

स तद्वरपरीक्षार्थं शम्भोर्मूर्ध्नि किलासुरः ।
स्वहस्तं धातुमारेभे सोऽबिभ्यत्स्वकृताच्छिवः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; तत्—उसके (शिव के); वर—वरदान की; परीक्षा-अर्थम्—परीक्षा लेने के लिए; शम्भोः—शिवजी के; मूर्ध्नि—सिर पर; किल—निस्सन्देह; असुरः—असुर ने; स्व—अपना; हस्तम्—हाथ; धातुम्—रखने के लिए; आरेभे—प्रयत्न किया; सः—उसने; अबिभ्यत्—डर गया; स्व—अपने द्वारा; कृतात्—किये हुए से; शिवः—शिव।

भगवान् शम्भु के वर की परीक्षा करने के लिए असुर ने उन्हीं के सिर पर हाथ रखने का प्रयास किया। तब शिवजी को अपने किये हुए पर भय लगने लगा।

तेनोपसृष्टः सन्त्रस्तः पराधावन्सवेपथुः ।
यावदन्तं दिवो भूमेः कष्ठानामुदगादुदक् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तेन—उसके द्वारा; उपसृष्टः—पीछा किया जाते; सन्त्रस्तः—भयभीत; पराधावन्—दौड़ते हुए; स—सहित; वेपथुः—काँपते हुए; यावत्—जहाँ तक; अन्तम्—छोर; दिवः—आकाश का; भूमेः—पृथ्वी का; काष्ठानाम्—तथा दिशाओं का; उदगात्—तेजी से गया; उदक्—उत्तर दिशा से।

जब असुर उनका पीछा करने लगा, तो शिवजी भय से काँपते हुए उत्तर में स्थित अपने निवास से तेजी से भागने लगे। जहाँ तक पृथ्वी, आकाश तथा ब्रह्माण्ड के छोर हैं, वहाँ तक वे दौते रहे।

अजानन्तः प्रतिविधिं तूष्णीमासन्सुरेश्वराः ।
ततो वैकुण्ठमगमद्भास्वरं तमसः परम् ॥ २५ ॥
यत्र नारायणः साक्षान्न्यासिनां परमो गतिः ।
शान्तानां न्यस्तदण्डानां यतो नावर्तते गतः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अजानन्तः—न जानते हुए; प्रति-विधिम्—निराकरण; तूष्णीम्—मौन; आसन्—हो गये; सुर—देवताओं के; ईश्वराः—स्वामी; ततः—तब; वैकुण्ठम्—ईश्वर के धाम, वैकुण्ठ; अगमत्—गया; भास्वरम्—तेजवान; तमसः—अंधकार; परम्—परे; यत्र—जहाँ; नारायणः—नारायण; साक्षात्—प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर; न्यासिनाम्—सन्यासियों के; परमः—परमेश्वर; गतिः—लक्ष्य; शान्तानाम्—शान्त रहने वालों का; न्यस्त—विरक्त; दण्डानाम्—हिंसा के; यतः—जिससे; न आवर्तते—नहीं लौटता; गतः—जाकर।

बड़े बड़े देवता, यह न जानने से कि वर का निराकरण कैसे किया जाये, केवल मौन रह

सकते हैं। शिवजी समस्त अंधकार के परे वैकुण्ठ के तेजस्वी धाम पहुँचे, जहाँ साक्षात् भगवान् नारायण प्रकट होते हैं। यह धाम उन विरक्तों का गन्तव्य है, जिन्हें शान्ति प्राप्त हो चुकी है और जो अन्य प्राणियों के प्रति हिंसा छोड़ चुके हैं। वहाँ जाकर कोई फिर से नहीं लौटता।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार शिवजी श्वेतद्वीप में प्रविष्ट हुए, जो भौतिक ब्रह्माण्ड की सीमा के ही भीतर आध्यात्मिक जगत के विशेष चौकसी-स्थल के रूप में है। यहाँ पर दिव्य दुग्धसागर से घिरे सुन्दर श्वेतद्वीप में भगवान् विष्णु अनन्त-शेष की शय्या में शयन करते रहते हैं और सहायता की आवश्यकता पड़ने पर वे देवताओं को उपलब्ध होते हैं।

तं तथा व्यसनं दृष्ट्वा भगवान्वृजिनार्दनः ।
दूरात्प्रत्युदियाद्भूत्वा बटुको योगमायया ॥ २७॥
मेखलाजिनदण्डाक्षैस्तेजसाग्निरिव ज्वलन् ।
अभिवादयामास च तं कुशपाणिर्विनीतवत् ॥ २८॥

शब्दार्थ

तम्—उस; तथा—इस प्रकार; व्यसनम्—संकट को; दृष्ट्वा—देखकर; भगवान्—भगवान्; वृजिन—कष्ट को; अर्दनः—नष्ट करने वाले; दूरात्—दूर से; प्रत्युदियात्—(वृकासुर के) सामने आ गये; भूत्वा—बन कर; बटुकः—ब्रह्मचारी छात्र; योग-मायया—अपनी अन्तरंगा योगशक्ति से; मेखल—छात्र की पेटी; अजिन—मृगचर्म; दण्ड—डण्डा; अक्षैः—तथा जप-माला से युक्त; तेजसा—अपने तेज से; अग्निः इव—अग्नि की तरह; ज्वलन्—प्रकाश करते; अभिवादयाम् आस—आदरपूर्वक सत्कार किया; च—तथा; तम्—उसको; कुश-पाणिः—हाथ में कुशा लिए; विनीत-वत्—विनीत होकर।

अपने भक्तों के कष्टों को हरने वाले भगवान् ने दूर से ही देख लिया कि शिवजी संकट में हैं। अतएव अपनी योग-माया शक्ति से उन्होंने ब्रह्मचारी छात्र का रूप धारण कर लिया, जो उपयुक्त मेखला, मृगचर्म, दण्ड तथा जप-माला से युक्त था और वृकासुर के समक्ष आये। भगवान् की आभा अग्नि के समान चमचमा रही थी। अपने हाथ में कुशा घास पकड़े हुए, उन्होंने असुर का विनीत भाव से स्वागत किया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने वेशधारी भगवान् नारायण के मुख से निकले इन शब्दों को उद्धृत किया है, ''हम जो कि ब्रह्मवेत्ता हैं, उनके लिए सारे जीव आदर के पात्र हैं। और चूँकि तुम शकुनि के पुत्र हो, जो अत्यन्त ज्ञानी तथा तपस्वी था, अतएव मुझ जैसे युवक ब्रह्मचारी से सत्कार किये जाने के पात्र हो।''

श्रीभगवानुवाच
शाकुनेय भवान्व्यक्तं श्रान्तः किं दूरमागतः ।
क्षणं विश्रम्यतां पुंस आत्मायं सर्वकामधुक् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; शाकुनेय—हे शकुनि-पुत्र; भवान्—आप; व्यक्तम्—स्पष्टतः; श्रान्तः—थके हुए; किम्—किस कारण; दूरम्—दूर से; आगतः—आये हैं; क्षणम्—क्षण-भर के लिए; विश्रम्यताम्—कृपया आराम करें; पुंसः—पुरुष का; आत्मा—शरीर; अयम्—यह; सर्व—समस्त; काम—इच्छाएँ; धुक्—गाय के दूध के समान देते हुए।

भगवान् ने कहा : हे शकुनि-पुत्र, तुम थके लग रहे हो। तुम इतनी दूर क्यों आये हो? कुछ क्षण के लिए विश्राम कर लो। आखिर मनुष्य का शरीर ही सारी इच्छाओं को पूरा करने वाला है।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद *भगवान् श्रीकृष्ण* में टीका करते हैं, "इसके पूर्व कि असुर यह तर्क करे कि विश्राम करने की उसे फुरसत नहीं है, भगवान् उसे शरीर का महत्त्व बतलाने लगे और वह असुर आश्वस्त हो गया। कोई भी व्यक्ति, विशेष रूप से असुर, शरीर को बहुत महत्त्वपूर्ण मानता है।"

यदि नः श्रवणायालं युष्मद्व्यवसितं विभो ।
भण्यतां प्रायशः पुम्भिर्धृतैः स्वार्थान्समीहते ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; नः—हमारा; श्रवणाय—सुनने के लिए; अलम्—उपयुक्त; युष्मत्—तुम्हारा; व्यवसितम्—विचार; विभो—हे शक्तिशाली; भण्यताम्—कृपया बतलायें; प्रायशः—सामान्यतया; पुम्भिः—व्यक्तियों से; धृतैः—धारण किया हुआ; स्व—अपने; अर्थान्—प्रयोजन के लिए; समीहते—सम्पन्न करता है।

हे विभो, यदि आप हमें इस योग्य समझते हैं, तो हमें बतलाइये कि आप क्या करना चाहते हैं। सामान्यतया मनुष्य अन्यों से सहायता लेकर अपने कार्यों को सिद्ध करता है।

तात्पर्य : ईर्ष्यालु असुर भी अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए ब्राह्मण की शक्ति का लाभ उठाने से इनकार नहीं करेगा।

श्रीशुक उवाच
एवं भगवता पृष्टो वचसामृतवर्षिणा ।
गतक्लमोऽब्रवीत्तस्मै यथापूर्वमनुष्ठितम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; भगवता—भगवान् द्वारा; पृष्टः—पूछे जाने पर; वचसा—वाणी से; अमृत—अमृत; वर्षिणा—वर्षा करने वाली; गत—समाप्त; क्लमः—थकान; अब्रवीत्—कहा; तस्मै—उनसे; यथा—जिस तरह; पूर्वम्—पहले; अनुष्ठितम्—सम्पन्न किया हुआ।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह मधुर अमृत की वर्षा करने वाली वाणी में भगवान्

द्वारा प्रश्न किये जाने पर वृक को लगा कि उसकी थकावट मिट गई है। उसने भगवान् से अपने द्वारा की गई हर बात बतला दी।

श्रीभगवानुवाच
एवं चेत्तर्हि तद्वाक्यं न वयं श्रद्दधीमहि ।
यो दक्षशापात्पैशाच्यं प्राप्तः प्रेतपिशाचराट् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; एवम्—ऐसा; चेत्—यदि; तर्हि—तो; तत्—उसके; वाक्यम्—कथनों में; न—नहीं; वयम्—हम; श्रद्दधीमहि—विश्वास कर सकते हैं; यः—जो; दक्ष-शापात्—दक्ष प्रजापति के शाप से; पैशाच्यम्—पिशाचों के गुण; प्राप्तः—प्राप्त; प्रेत-पिशाच—प्रेतों तथा पिशाचों का; राट्—राजा।

भगवान् ने कहा : यदि ऐसा ही है, तो हम शिव के कहने पर विश्वास नहीं कर सकते। शिव तो प्रेतों तथा पिशाचों के वही स्वामी हैं, जिन्हें दक्ष ने एक मानव-भक्षी पिशाच बनने का शाप दिया था।

यदि वस्तत्र विश्रम्भो दानवेन्द्र जगद्गुरौ ।
तर्ह्यङ्गाशु स्वशिरसि हस्तं न्यस्य प्रतीयताम् ॥ ३३॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; वः—तुम्हारा; तत्र—उसमें; विश्रम्भः—विश्वास; दानव-इन्द्र—हे असुरों में श्रेष्ठ; जगत्—ब्रह्माण्ड के; गुरौ—गुरु की तरह; तर्हि—तो; अङ्ग—हे मित्र; आशु—अभी यहीं पर; स्व—अपने; शिरसि—सिर पर; हस्तम्—अपना हाथ; न्यस्य—रख कर; प्रतीयताम्—देख लो।

हे असुर-श्रेष्ठ, यदि उन पर तुम्हें विश्वास है, क्योंकि वे ब्रह्माण्ड के गुरु हैं, तो अविलम्ब तुम अपना हाथ अपने सिर पर रखो और देख लो कि क्या होता है।

यद्यसत्यं वचः शम्भोः कथञ्चिद्दानवर्षभ ।
तदैनं जह्यसद्वाचं न यद्वक्तानृतं पुनः ॥ ३॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; असत्यम्—झूठ; वचः—शब्द; शम्भोः—शिव के; कथञ्चित्—किसी भी तरह; दानव-ऋषभ—हे दानव-श्रेष्ठ; तदा—तो; एनम्—उसको; जहि—मार डालो; असत्—असत्य; वाचम्—जिसके शब्द; न—नहीं; यत्—जिससे; वक्ता—बोल सके; अनृतम्—झूठ; पुनः—फिर।

हे दानव-श्रेष्ठ, यदि किसी तरह भगवान् शम्भु के शब्द असत्य सिद्ध होते हैं, तो उस झूठे का वध कर दो, जिससे वह दुबारा झूठ न बोल सके।

तात्पर्य : हो सकता है कि मारे जाने के बाद शिव में पुनः जीवित हो जाने की शक्ति हो, किन्तु

कम से कम वे फिर से झूठ नहीं बोल सकेंगे।

इत्थं भगवतश्चित्रैर्वचोभि: स सुपेशलै: ।
भिन्नधीर्विस्मृत: शीर्ष्णि स्वहस्तं कुमतिर्न्यधात् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार से; भगवत:—भगवान् के; चित्रै:—अद्‍भुत; वचोभि:—शब्दों से; स:—उसने (वृक); सु—अत्यन्त; पेशलै:—चतुर; भिन्न—मोहग्रस्त; धी:—उसका मन; विस्मृत:—भूल कर; शीर्ष्णि—सिर पर; स्व—अपना; हस्तम्—हाथ; कु-मति:—मूर्ख ने; न्यधात्—रख दिया।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : इस प्रकार भगवान् के मोहक चतुर शब्दों से मोहित होकर मूर्ख वृक ने बिना समझे कि वह क्या कर रहा है, अपने सिर पर अपना हाथ रख दिया।

अथापतद् भिन्नशिरा: वज्राहत इव क्षणात् ।
जयशब्दो नम:शब्द: साधुशब्दोऽभवद्दिवि ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; अपतत्—गिर पड़ा; भिन्न—छिन्न-भिन्न हुआ; शिरा:—उसका सिर; वज्र—वज्र से; आहत:—चोट खाया; इव—मानो; क्षणात्—क्षण-भर में; जय—''जय हो''; शब्द:—ध्वनि; नम:—''नमस्कार है''; शब्द:—ध्वनि; साधु—''साधु साधु''; शब्द:—ध्वनि; अभवत्—हुई; दिवि—आकाश में।

उसका सिर तत्क्षण विदीर्ण हो गया, मानो वज्र द्वारा प्रहार हुआ हो और वह असुर भूमि पर गिर कर मर गया। आकाश से ''जय हो,'' ''नमस्कार है'' तथा ''साधु साधु'' जैसी ध्वनियाँ सुनाई पड़ीं।

मुमुचु: पुष्पवर्षाणि हते पापे वृकासुरे ।
देवर्षिपितृगन्धर्वा मोचित: सङ्कटाच्छिव: ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

मुमुचु:—कराई; पुष्प—फूलों की; वर्षाणि—वर्षा; हते—मारे जाने पर; पापे—पापी; वृक-असुरे—वृकासुर के; देव-ऋषि—दैवी ऋषियों; पितृ—पुरखों; गन्धर्वा:—तथा स्वर्ग के गवैयों ने; मोचित:—छुटकारा पाये हुए; सङ्कटात्—संकट से; शिव:—शिव।

पापी वृकासुर के मारे जाने पर उत्सव मनाने के लिए दैवी ऋषियों, पितरों तथा गन्धर्वों ने फूलों की वर्षा की। अब शिवजी खतरे से बाहर थे।

मुक्तं गिरिशमभ्याह भगवान्पुरुषोत्तम: ।
अहो देव महादेव पापोऽयं स्वेन पाप्मना ॥ ३८ ॥

हतः को नु महत्स्वीश जन्तुर्वै कृतकिल्बिषः ।
क्षेमी स्यात्किमु विश्वेशे कृतागस्को जगद्गुरौ ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

मुक्तम्—मुक्त हुए; गिरिशम्—शिव को; अभ्याह—सम्बोधित किया; भगवान् पुरुष-उत्तमः—भगवान् (नारायण) ने; अहो—ओह; देव—हे स्वामी; महा-देव—शिव; पापः—पापी; अयम्—यह व्यक्ति; स्वेन—अपने; पाप्मना—पापों से; हतः—मारा गया; कः—क्या; नु—निस्सन्देह; महत्सु—बड़े सन्तों के प्रति; ईश—हे स्वामी; जन्तुः—जीव; वै—निस्सन्देह; कृत—किया गया; किल्बिषः—अपराध; क्षेमी—भाग्यवान्; स्यात्—हो सकता है; किम् उ—क्या कहा जा सकता है, और भी; विश्व—ब्रह्माण्ड के; ईशे—ईश्वर (आप) के विरुद्ध; कृत-आगस्कः—अपराध करके; जगत्—ब्रह्माण्ड के; गुरौ—गुरु के।

तब पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने खतरे से बाहर हुए गिरिश को सम्बोधित किया, ''हे महादेव, मेरे प्रभु, देखें न, यह दुष्ट व्यक्ति अपने ही पाप के फलों से किस तरह मारा गया है। निस्सन्देह, यदि कोई जीव महान् सन्तों का अपमान करता है, तो वह सौभाग्य की आशा कैसे कर सकता है? ब्रह्माण्ड के स्वामी तथा गुरु के प्रति अपराध करने के विषय में, तो कहा ही क्या जा सकता।''

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार भगवान् विष्णु का यह कथन मीठी फटकार के रूप में है, ''हे असीम दृष्टि के स्वामी! हे विशुद्ध बुद्धि वाले! दुष्ट असुरों को इस तरह वर नहीं देने चाहिए। आप तो मार डाले गये होते! किन्तु आप तो इस बेचारे को बचाने में लगे थे और इसकी परवाह ही नहीं की कि फलस्वरूप आपको क्या हो सकता है।'' इस तरह आचार्य विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि भगवान् नारायण की यह मीठी फटकार शिवजी की अद्वितीय दयालुता को भी प्रकाश में लाती है।

य एवमव्याकृतशक्त्युदन्वतः
परस्य साक्षात्परमात्मनो हरेः ।
गिरित्रमोक्षं कथयेच्छृणोति वा
विमुच्यते संसृतिभिस्तथारिभिः ॥ ० ॥

शब्दार्थ

यः—जो भी; एवम्—इस प्रकार; अव्याकृत—अचिन्त्य; शक्ति—शक्तियों के; उदन्वतः—सागर; परस्य—परम की; साक्षात्—स्वयं प्रकट; परम-आत्मनः—परमात्मा; हरेः—भगवान् हरि के; गिरित्र—शिव के; मोक्षम्—बचाव को; कथयेत्—सुनाता है; शृणोति—सुनता है; वा—अथवा; विमुच्यते—छूट जाता है; संसृतिभिः—बारम्बार जन्म तथा मृत्यु से; तथा—भी; अरिभिः—शत्रुओं से।

भगवान् हरि साक्षात् प्रकट परम सत्य, परमात्मा तथा अचिन्त्य शक्तियों के असीम सागर हैं। जो कोई भी, उनके द्वारा शिव को बचाने की इस लीला को कहेगा या सुनेगा, वह सारे शत्रुओं

तथा जन्म-मृत्यु के आवागमन से मुक्त हो जायेगा।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी इस अध्याय का समापन इस कथन के साथ करते हैं—

भक्तसंकटमालोक्य कृपापूर्णहृदम्बुज: ।

गिरित्रं चित्रवाक्यात्तु मोक्षयामास केशव: ॥

''जब भगवान् केशव ने देखा कि उनके भक्त पर संकट आया है, तो उनका कमलवत् हृदय अनुकम्पा से भर गया। इस प्रकार उन्होंने शिव को उनके वाक्पटु शब्दों के परिणामों से उबार लिया।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''वृकासुर से शिवजी की रक्षा'' नामक अट्ठासिवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नवासी

कृष्ण तथा अर्जुन द्वारा ब्राह्मण-पुत्रों का वापस लाया जाना

इस अध्याय में बताया गया है कि किस तरह भृगु मुनि ने भगवान् विष्णु की श्रेष्ठता सिद्ध की और भगवान् कृष्ण तथा अर्जुन किस तरह द्वारका में एक दुखियारे ब्राह्मण के मृत पुत्रों को फिर से वापस लाये।

बहुत काल पहले, एक बार सरस्वती नदी के तट पर ऋषियों के एक समूह में यह वार्ता छिड़ी कि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—इन तीनों देवों में सबसे बड़ा कौन है। इसका पता लगाने के लिए उन्होंने भृगु मुनि को नियुक्त किया।

भृगु ने देवों की सहनशक्ति की परीक्षा करने का निश्चय किया, क्योंकि यह गुण महानता का निश्चित लक्षण है। अतएव, वे सर्वप्रथम अपने पिता ब्रह्माजी के दरबार में, उन्हें प्रणाम किये बिना ही प्रविष्ट हुए। इससे ब्रह्मा को क्रोध आ गया, किन्तु उन्होंने इस क्रोध को दबा लिया, क्योंकि भृगु उनके पुत्र थे। इसके बाद भृगु अपने बड़े भाई शिव के पास गये जिन्होंने अपने आसन से उठ कर उनका आलिंगन किया। किन्तु भृगु ने शिवजी को पथभ्रष्ट विधर्मी कहते हुए उनके आलिंगन को स्वीकार नहीं किया। ज्योंही वे अपने त्रिशूल से भृगु को मारने जा रहे थे कि देवी पार्वती ने रोक दिया और अपने

पति को शान्त किया। इसके बाद भगवान् नारायण की परीक्षा लेने भृगु वैकुण्ठ-लोक गये। भगवान् देवी लक्ष्मी की गोद में अपना सिर रखे लेटे थे, तभी उनके पास जाकर भृगु ने उनकी छाती पर लात मारी। किन्तु क्रुद्ध होने की बजाय भगवान् तथा उनकी प्रेयसी, दोनों ने खड़े होकर भृगु का स्वागत किया। भगवान् ने कहा, ''स्वागत है। बैठ जाइये और थोड़े समय के लिए विश्राम कीजिये। हे प्रभु! हमें क्षमा करें, क्योंकि हमने आपको आते नहीं देखा।'' जब भृगु ने ऋषियों की सभा में जाकर उन्हें जो कुछ हुआ था बतलाया, तो उन्होंने यही निष्कर्ष निकाला कि विष्णु निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

एक बार, द्वारका में एक ब्राह्मण की पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया, जो तुरन्त मर गया। ब्राह्मण अपने मृत पुत्र को राजा उग्रसेन के दरबार में ले गया और राजा को भला-बुरा कहने लगा, ''इस छद्मी, ब्राह्मणों के लोभी शत्रु ने मेरे पुत्र की मृत्यु कराई है, क्योंकि इसने अपने कर्तव्यों का सही पालन नहीं किया।'' इस ब्राह्मण के साथ यही दुर्घटना हर बार घटती रही और वह अपने मृत पुत्र का शरीर राज-दरबार में लाता और राजा को भला-बुरा कहता। जब उसका नौवाँ पुत्र जन्म लेते ही मर गया तो अर्जुन ने अचानक ब्राह्मण की शिकायत सुन ली, अतः उन्होंने कहा, ''हे प्रभु! मैं आपकी सन्तान की रक्षा करूँगा और यदि मैं नहीं कर पाया, तो अपने पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए अग्नि में प्रविष्ट हो जाऊँगा।''

कुछ काल बाद ब्राह्मणी को दसवीं बार पुत्र होने वाला था। जब अर्जुन को पता चला, तो वे प्रसूति-गृह गये और उसे बाणों के रक्षात्मक पिंजरे से घेर दिया। किन्तु अर्जुन का प्रयास व्यर्थ हुआ, क्योंकि शिशु जन्म लेते ही रोने लगा और आकाश-मार्ग में लुप्त हो गया। जब ब्राह्मण ने अर्जुन का खूब उपहास किया, तो वह योद्धा मृत्यु के देवता यमराज के घर के लिए चल पड़ा। किन्तु अर्जुन को ब्राह्मण का पुत्र वहाँ नहीं मिला और चौदहों लोकों को छान मारने पर भी, उस शिशु का नाम-निशान भी नहीं मिल पाया।

ब्राह्मण के पुत्र की रक्षा न कर पाने के कारण, अब अर्जुन पवित्र अग्नि में प्रवेश करके मरने पर तुले थे। जब वे ऐसा करने जा ही रहे थे, तो कृष्ण ने उन्हें रोकते हुए कहा, ''मैं तुमको ब्राह्मण के सारे पुत्र दिखलाऊँगा। तुम अपने को इस प्रकार मत कोसो।'' तब भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को अपने दिव्य रथ पर चढ़ाया और दोनों ने सात द्वीपों तथा सात समुद्रों को पार किया, फिर लोकालोक पर्वतश्रेणी को

पार करते हुए गहन अंधकार के प्रदेश में प्रविष्ट हुए। चूँकि घोड़े अपना रास्ता नहीं ढूँढ़ पा रहे थे, इसलिए अंधकार को भेदने के लिए कृष्ण ने अपना ज्वलित सुदर्शन चक्र आगे-आगे भेजा। धीरे-धीरे वे कारण सागर में आये, जिसके भीतर उन्हें महाविष्णु की नगरी मिली। वहाँ उन्होंने एक हजार फनों वाले सर्प अनन्त को देखा, जिसके ऊपर महाविष्णु लेटे थे। महाप्रभु ने श्रीकृष्ण तथा अर्जुन का यह कहते हुए सत्कार किया, ''मैं ब्राह्मण के पुत्रों को यहाँ, इसीलिए ले आया था, क्योंकि मैं तुम दोनों को देखना चाहता था। कृपया नर-नारायण ऋषियों के रूपों में सामान्य जनों को अपना धार्मिक व्यवहार दिखाते हुए लाभान्वित करते रहो।''

तब भगवान् कृष्ण तथा अर्जुन ने ब्राह्मण-पुत्रों को लिया और द्वारका लौट आये जहाँ, इन शिशुओं को उनके पिता को दे दिया। श्रीकृष्ण की महानता का प्रत्यक्ष अनुभव करके, अर्जुन चकित थे। उन्होंने यही निष्कर्ष निकाला कि एकमात्र भगवान् की कृपा से कोई जीव कोई शक्ति या ऐश्वर्य प्रदर्शित कर सकता है।

श्रीशुक उवाच
सरस्वत्यास्तटे राजन्नृषयः सत्रमासत ।
वितर्कः समभूत्तेषां त्रिष्वधीशेषु को महान् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सरस्वत्याः—सरस्वती नदी के; तटे—किनारे; राजन्—हे राजा (परीक्षित); ऋषयः—ऋषिगण; सत्रम्—वैदिक यज्ञ; आसत—कर रहे थे; वितर्कः—वाद-विवाद; समभूत्—उठ खड़ा हुआ; तेषाम्—उनमें से; त्रिषु—तीन; अधीशेषु—मुख्य स्वामियों में से; कः—कौन; महान्—सबसे बड़ा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, एक बार जब सरस्वती नदी के तट पर ऋषियों का समूह वैदिक यज्ञ कर रहा था, तो उनके बीच यह वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ कि तीन मुख्य देवों में से सर्वश्रेष्ठ कौन है।

तात्पर्य : तीन मुख्य देव हैं—विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव।

तस्य जिज्ञासया ते वै भृगुं ब्रह्मसुतं नृप ।
तज्ज्ञप्त्यै प्रेषयामासुः सोऽभ्जगाद्ब्रह्मणः सभाम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तस्य—इसके विषय में; जिज्ञासया—जानने की इच्छा से; ते—वे; वै—निस्सन्देह; भृगुम्—भृगु मुनि को; ब्रह्म-सुतम्—ब्रह्मा के पुत्र; नृप—हे राजा; तत्—यह; ज्ञप्त्यै—ढूँढ़ निकालने के लिए; प्रेषयाम् आसुः—उन्होंने भेजा; सः—वह; अभ्यगात्—गया; ब्रह्मणः—ब्रह्मा के; सभाम्—दरबार में।

हे राजन्, इस प्रश्न का हल ढूँढ़ निकालने के इच्छुक ऋषियों ने ब्रह्मा के पुत्र भृगु को उत्तर खोजने के लिए भेजा। वे सर्वप्रथम, अपने पिता ब्रह्मा के दरबार में गये।

तात्पर्य : *भगवान् श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद बतलाते हैं: ''ऋषियों ने जो योजना बनाई वह यह थी कि प्रमुख देवताओं के सद्गुणों की परीक्षा करने के लिए भृगु को भेजा जाय।'' सतोगुणी व्यक्ति में सहिष्णुता तथा समता जैसे सद्गुण पाये जाते हैं, किन्तु रजोगुणी तथा तमोगुणी तुरन्त ही क्रुद्ध हो उठते हैं।

न तस्मै प्रह्वणं स्तोत्रं चक्रे सत्त्वपरीक्षया ।
तस्मै चुक्रोध भगवान्प्रज्वलन्स्वेन तेजसा ॥ ३॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तस्मै—उस (ब्रह्मा) को; प्रह्वणम्—नमस्कार करना; स्तोत्रम्—स्तुति; चक्रे—की; सत्त्व—सतोगुण में स्थिति; परीक्षया—परीक्षण करने के उद्देश्य से; तस्मै—उसको; चुक्रोध—क्रुद्ध हो गया; भगवान्—प्रभु; प्रज्वलन्—जल उठे; स्वेन—अपने ही; तेजसा—भावावेश से।

यह परीक्षा लेने के लिए कि ब्रह्माजी कहाँ तक सतोगुण को प्राप्त हैं, भृगु ने न तो उन्हें प्रणाम किया न ही स्तुतियों द्वारा उनका महिमा-गान किया। अतः वे अपने ही भावावेश से जल-भुन कर भृगु पर क्रुद्ध हो उठे।

स आत्मन्युत्थितम्मन्युमात्मजायात्मना प्रभुः ।
अशीशमद्यथा वह्निं स्वयोन्या वारिणात्मभूः ॥ ॥

शब्दार्थ

सः—उस; आत्मनि—अपने भीतर; उत्थितम्—उठे हुए; मन्युम्—क्रोध; आत्म-जाय—अपने पुत्र के प्रति; आत्मना—अपनी बुद्धि से; प्रभुः—प्रभु ने; अशीशमत्—दमन कर लिया; यथा—जिस तरह; वह्निम्—आग; स्व—अपने; योन्या—उद्गम से; वारिणा—जल से; आत्म-भूः—अपने से उत्पन्न ब्रह्मा।

यद्यपि उनके हृदय के भीतर अपने पुत्र के प्रति क्रोध उठ रहा था, किन्तु ब्रह्माजी ने अपनी बुद्धि के प्रयोग से, उसे वैसे ही दबा लिया, जिस तरह अग्नि अपने ही उत्पाद जल से बुझ जाती है।

तात्पर्य : कभी कभी ब्रह्माजी रजोगुण के संसर्ग से प्रभावित हो उठते हैं। लेकिन *आदि कवि* होने से अर्थात् सर्वप्रथम जन्मे तथा सर्वोच्च विद्वान होने से, जब उनका क्रोध उनके मन को विचलित करने

लगता है, तो वे विवेकपूर्ण आत्म-परीक्षण द्वारा उस पर नियंत्रण प्राप्त कर लेते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में उन्होंने अपने आपको याद दिलाया कि भृगु तुम्हारा ही पुत्र है। इस तरह इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी यह दृष्टान्त देते हैं कि ब्रह्मा के ही अंश (पुत्र) ने उनके क्रोध को उसी तरह शान्त कर दिया, जिस तरह पुरातन सृष्टि में अग्नि से ही उत्पन्न हुआ जल अग्नि को बुझा देता है।

ततः कैलासमगमत्स तं देवो महेश्वरः ।
परिरब्धुं समारेभ उत्थाय भ्रातरं मुदा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; कैलासम्—कैलास पर्वत पर; अगमत्—गया; सः—वह (भृगु); तम्—उसको; देवः महा-ईश्वरः—शिव ने; परिरब्धुम्—आलिंगन करने के लिए; समारेभे—प्रयास किया; उत्थाय—उठ कर; भ्रातरम्—अपने भाई को; मुदा—हर्षपूर्वक।

तब भृगु कैलास पर्वत गये। वहाँ पर शिवजी उठ खड़े हुए और अपने भाई का आलिंगन करने प्रसन्नतापूर्वक आगे बढ़े।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता में अपने परिवार के सदस्यों का उचित रीति से स्वागत करना, विशेष रूप से जब उन्हें बहुत समय से न देखा हो, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। योग्य पुत्र को चाहिए कि अपने पिता का आदर करे, छोटे भाई को चाहिए कि बड़े भाई का आदर करे और बड़े भाई को चाहिए कि बदले में छोटे भाई पर स्नेह प्रदर्शित करे।

नैच्छत्त्वमस्युत्पथग इति देवश्चुकोप ह ।
शूलमुद्यम्य तं हन्तुमारेभे तिग्मलोचनः ॥ ६ ॥
पतित्वा पादयोर्देवी सान्त्वयामास तं गिरा ।
अथो जगाम वैकुण्ठं यत्र देवो जनार्दनः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

न ऐच्छत्—उसने इसे (आलिंगन को) नहीं स्वीकारा; त्वम्—तुम; असि—हो; उत्पथ-गः—(धर्म) पथ का उल्लंघन करने वाले; इति—इस तरह कहते हुए; देवः—देवता (शिव); चुकोप ह—क्रुद्ध हो गये; शूलम्—अपना त्रिशूल; उद्यम्य—उठाकर; तम्—उस (भृगु) को; हन्तुम्—मार डालने के लिए; आरेभे—उद्यत; तिग्म—भयानक; लोचनः—जिसकी आँखें; पतित्वा—गिरते हुए; पादयोः—(शिव के) पैरों पर; देवी—देवी ने; सान्त्वयाम् आस—शान्त किया; तम्—उसको; गिरा—शब्दों से; अथ उ—तब; जगाम—(भृगु) चला गया; वैकुण्ठम्—वैकुण्ठ नामक आध्यात्मिक लोक को; यत्र—जहाँ; देवः जनार्दनः—भगवान् जनार्दन (विष्णु)।

किन्तु भृगु ने यह कहते हुए उनके आलिंगन का त्याग कर दिया कि आप तो विपथगामी हैं। इस पर शिवजी क्रुद्ध हो उठे और उनकी आँखें भयावने रूप से जलने लगीं। उन्होंने अपना त्रिशूल उठा लिया और भृगु को जान से मारने ही वाले थे कि देवी उनके चरणों पर गिर पड़ीं

और उन्होंने उन्हें शान्त करने के लिए कुछ शब्द कहे। तब भृगु उस स्थान से चल पड़े और वैकुण्ठ गये, जहाँ भगवान् जनार्दन निवास करते हैं।

तात्पर्य : *भगवान् श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''कहा जाता है कि कोई अपराध शरीर से, मन से या फिर वाणी से किया जाता है। भृगु मुनि ने ब्रह्मा के प्रति, जो पहला अपराध किया था वह मन से किया गया अपराध था। उन्होंने दूसरा अपराध शिवजी के प्रति वाणी से किया, जिसमें उन्होंने शिवजी का अपमान करते हुए उनकी गन्दी आदतों की आलोचना की। चूँकि शिव में तमोगुण की प्रधानता रहती है, अतएव जब उन्होंने भृगु द्वारा किया गया अपमान सुना, तो तुरन्त ही उनकी आँखें क्रोध से लाल हो उठीं। उन्होंने अनियंत्रित क्रोध के साथ अपना त्रिशूल उठा लिया और भृगु मुनि को मारने को उद्यत हो गये। उस समय शिवजी की पत्नी पार्वती वहाँ उपस्थित थीं। वे तीन गुणों के मिश्रण से बनी हुई हैं, अतएव वे त्रिगुणमयी कहलाती हैं। यहाँ पर उन्होंने शिवजी में सतोगुण का आह्वान करके स्थिति सँभाल ली।''

श्रील जीव गोस्वामी की टिप्पणी है कि यहाँ पर उल्लिखित वैकुण्ठ-लोक श्वेतद्वीप है।

शयानं श्रिय उत्सङ्गे पदा वक्षस्यताडयत् ।
तत उत्थाय भगवान्सह लक्ष्म्या सतां गतिः ।
स्वतल्पादवरुह्याथ ननाम शिरसा मुनिम् ॥ ८॥
आह ते स्वागतं ब्रह्मन्निषीदात्रासने क्षणम् ।
अजानतामागतान्वः क्षन्तुमर्हथ नः प्रभो ॥ ९॥

शब्दार्थ

शयानम्—लेटे हुए; श्रियः—लक्ष्मी की; उत्सङ्गे—गोद में; पदा—अपने पाँव से; वक्षसि—उनकी छाती पर; अताडयत्—प्रहार किया; ततः—तब; उत्थाय—उठ कर; भगवान्—भगवान्; सह लक्ष्म्या—लक्ष्मीजी समेत; सताम्—शुद्ध भक्तों के; गतिः—गन्तव्य; स्व—अपने; तल्पात्—बिस्तर से; अवरुह्य—उतर कर; अथ—तब; ननाम—नमस्कार किया; शिरसा—सिर द्वारा; मुनिम्—मुनि को; आह—उन्होंने कहा; ते—तुम्हारा; सु-आगतम्—स्वागत है; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; निषीद—बैठिये; अत्र—इस; आसने—आसन पर; क्षणम्—क्षण-भर के लिए; अजानताम्—अनजानों को; आगतान्—आये हुए; वः—तुम्हारे; क्षन्तुम्—क्षमा; अर्हथ—करना चाहिए; नः—हमको; प्रभो—हे प्रभु।

वे भगवान् के पास तक गये, जो अपना सिर अपनी प्रियतमा श्री की गोद में रख कर लेटे थे और वहाँ भृगुने उनकी छाती पर पाँव से प्रहार किया। तब भगवान् आदर सूचित करने के लिए देवी लक्ष्मी सहित उठ कर खड़े हो गये। अपने बिस्तर से उतर कर शुद्ध भक्तों के चरम लक्ष्य भगवान् ने मुनि के समक्ष अपना सिर झुकाया और उनसे कहा, ''हे ब्राह्मण, आपका स्वागत है।

आप इस आसन पर बैठें और कुछ क्षण विश्राम करें। हे प्रभु, आपके आगमन पर ध्यान न दे पाने के लिए हमें क्षमा कर दें।''

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार इस लीला के समय तक भृगु मुनि शुद्ध वैष्णव नहीं बन पाये थे अन्यथा भगवान् के साथ इतनी जल्दबाजी में काम न करते। उस समय भगवान् विष्णु न केवल विश्राम कर रहे थे, अपितु वे अपना सिर अपनी पत्नी की गोद में रख कर लेटे थे। इस स्थिति में उन पर प्रहार करना—वह भी हाथ से नहीं अपितु पाँव से प्रहार करना—भृगु के लिए इससे बुरा अन्य अपराध नहीं हो सकता था।

श्रील प्रभुपाद टीका करते हैं, ''निस्सन्देह, भगवान् विष्णु परम दयालु हैं। वे भृगु मुनि की करतूत पर क्रुद्ध नहीं हुए, क्योंकि भृगु मुनि महान् ब्राह्मण थे। कभी कभी अपराध करने पर भी ब्राह्मण को क्षमा कर देना चाहिए और भगवान् विष्णु ने यही दृष्टान्त प्रस्तुत किया। तो भी यह कहा जाता है कि इस घटना के समय से ही लक्ष्मी देवी ब्राह्मणों के प्रति अधिक अनुकूल नहीं रहतीं और चूँकि लक्ष्मीजी ब्राह्मणों को वर नहीं देतीं, इसीलिए वे सामान्यतया अत्यन्त निर्धन होते हैं।''

पुनीहि सहलोकं मां लोकपालांश्च मद्गतान् ।
पादोदकेन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणा ॥ ॥
अद्याहं भगवँल्लक्ष्म्या आसमेकान्तभाजनम् ।
वत्स्यत्युरसि मे भूतिर्भवत्पादहतांहसः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

पुनीहि—कृपया पवित्र करें; सह—सहित; लोकम्—मेरे लोक; माम्—मुझको; लोक—विभिन्न लोकों के; पालान्—शासकों को; च—तथा; मत्-गतान्—मेरे भक्तों को; पाद—पाँवों (को धो दिया है); उदकेन—जल से; भवतः—आप ही के; तीर्थानाम्—तीर्थस्थलों के; तीर्थ—उनकी पवित्रता; कारिणा—उत्पन्न करने वाला; अद्य—आज; अहम्—मैं; भगवन्—हे प्रभु; लक्ष्म्याः—लक्ष्मी का; आसम्—बन गये हो; एक-अन्त—एकमात्र; भाजनम्—आश्रय; वत्स्यति—निवास करेगी; उरसि—छाती पर; मे—मेरी; भूतिः—लक्ष्मी; भवत्—आपके; पाद—पाँव से; हत—समूल नष्ट किये गये; अंहसः—जिसके पापों के फल।

''कृपा करके, अपने पाँवों के प्रक्षालित जल को मुझे देकर मुझे, मेरे धाम तथा मेरे लोकपालक भक्तों के राज्यों को पवित्र कीजिये। निस्सन्देह यही पवित्र जल तीर्थस्थानों को पवित्र बनाता है। हे प्रभु, आज मैं लक्ष्मी का एकमात्र आश्रय बन गया हूँ। वह मेरी छाती पर निवास करने के लिए सहमत होंगी, क्योंकि आपके पाँव ने इसके सारे पापों को दूर कर दिया है।''

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद अपनी टीका में आगे कहते हैं, ''कलियुग के तथाकथित ब्राह्मण कभी कभी अत्यन्त गर्व करते हैं कि वे भगवान् विष्णु की छाती को अपने पाँव से छू सकते हैं। किन्तु जब भृगु मुनि ने अपने पाँव से भगवान् विष्णु की छाती का स्पर्श किया, तो वह बात भिन्न थी, क्योंकि सबसे बड़ा अपराध होते हुए भी अत्यन्त वदान्य होने के कारण भगवान् विष्णु ने इस पर अधिक ध्यान नहीं दिया।''

श्रीमद्भागवत के कुछ संस्करणों के श्लोक ११ तथा १२ के बीच निम्नलिखित श्लोक पाया जाता है, जिसे श्रील प्रभुपाद ने भी दसवें स्कंध की अपनी संक्षिप्त टीका *भगवान् श्रीकृष्ण* में सम्मिलित कर लिया है—

अतीवकोमलौ तात चरणौ ते महामुने।

इत्युक्त्वा विप्रचरणौ मर्दयन् स्वेन पाणिना॥

''[भगवान् ने ब्राह्मण भृगु से कहा], 'हे महान् मुनि! आपके चरण निस्सन्देह अतीव कोमल हैं': यह कहते हुए भगवान् विष्णु अपने हाथों से ब्राह्मण के चरण दबाने लगे।''

श्रीशुक उवाच
एवं ब्रुवाणे वैकुण्ठे भृगुस्तन्मन्द्रया गिरा ।
निर्वृतस्तर्पितस्तूष्णीं भक्त्युत्कण्ठोऽश्रुलोचनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस तरह; ब्रुवाणे—कहने पर; वैकुण्ठे—भगवान् विष्णु के; भृगुः—भृगु; तत्—उस; मन्द्रया—गम्भीर; गिरा—वाणी से; निर्वृतः—प्रसन्न हुए; तर्पितः—तुष्ट; तूष्णीम्—चुप था; भक्ति—भक्ति से; उत्कण्ठः—भावविह्वल; अश्रु—आँसू; लोचनः—जिसकी आँखों में।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् वैकुण्ठ द्वारा कहे गये गम्भीर शब्दों को सुन कर भृगु संतुष्ट तथा प्रसन्न हो उठे। वे भक्तिमय आनन्द से विह्वल होकर निःशब्द हो गए और उनकी आँखें अश्रुओं से भर आईं।

तात्पर्य : भृगु भगवान् की प्रशंसा नहीं कर सके, क्योंकि आनन्द के आँसुओं से उनका गला भर आया था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के मत से भृगु मुनि को आक्रामक व्यवहार के लिए भला-बुरा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इस दिव्य लीला में उनकी भूमिका भगवान् द्वारा नियोजित थी।

पुनश्च सत्रमाव्रज्य मुनीनां ब्रह्मवादिनाम् ।
स्वानुभूतमशेषेण राजन्भृगुरवर्णयत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पुनः—फिर; च—तथा; सत्रम्—यज्ञ तक; आव्रज्य—जाकर; मुनीनाम्—मुनियों के; ब्रह्म-वादिनाम्—वेदों के ज्ञान में दक्ष; स्व—अपने द्वारा; अनुभूतम्—अनुभव किया गया; अशेषेण—पूर्णतया; राजन्—हे राजा (परीक्षित); भृगुः—भृगु ने; अवर्णयत्—वर्णन किया।

हे राजन्, तब भृगु वैदिक विद्वानों की यज्ञशाला में लौट आये और उनसे अपना सारा अनुभव कह सुनाया।

तन्निशम्याथ मुनयो विस्मिता मुक्तसंशयाः ।
भूयांसं श्रद्दधुर्विष्णुं यतः शान्तिर्यतोऽभयम् ॥ १ ॥
धर्मः साक्षाद्यतो ज्ञानं वैराग्यं च तदन्वितम् ।
ऐश्वर्यं चाष्टधा यस्माद्यशश्चात्ममलापहम् ॥ १५ ॥
मुनीनां न्यस्तदण्डानां शान्तानां समचेतसाम् ।
अकिञ्चनानां साधूनां यमाहुः परमां गतिम् ॥ १६ ॥
सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिर्ब्राह्मणास्त्विष्टदेवताः ।
भजन्त्यनाशिषः शान्ता यं वा निपुणबुद्धयः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तत्—यह; निशम्य—सुन कर; अथ—तब; मुनयः—मुनिगण; विस्मिताः—चकित; मुक्त—रहित; संशयाः—अपने संदेहों से; भूयांसम्—सबसे महान् के रूप में; श्रद्दधुः—उन्होंने श्रद्धा व्यक्त की; विष्णुम्—विष्णु में; यतः—जिससे; शान्तिः—शान्ति; यतः—जिससे; अभयम्—निर्भयता; धर्मः—धर्म; साक्षात्—साक्षात् रूप में; यतः—जिससे; ज्ञानम्—ज्ञान; वैराग्यम्—विरक्ति; च—तथा; तत्—यह (ज्ञान); अन्वितम्—समेत; ऐश्वर्यम्—योगशक्ति (योगाभ्यास द्वारा प्राप्त); च—तथा; अष्टधा—आठ प्रकार की; यस्मात्—जिससे; यशः—उनका यश; च—भी; आत्म—मन का; मल—दूषण; अपहम्—दूर करने वाला; मुनीनाम्—मुनियों के; न्यस्त—जिन्होंने त्याग दिया है, त्यक्त; दण्डानाम्—हिंसा; शान्तानाम्—शान्त; सम—समभाव; चेतसाम्—मनों वाले; अकिञ्चनानाम्—स्वार्थरहित; साधूनाम्—सन्त स्वभाव के; यम्—जिसको; आहुः—वे कहते हैं; परमाम्—परम; गतिम्—लक्ष्य; सत्त्वम्—सतोगुण; यस्य—जिसका; प्रिया—प्रिय; मूर्तिः—स्वरूप; ब्राह्मणाः—ब्राह्मणजन; तु—तथा; इष्ट—पूजित; देवताः—अर्चाविग्रह; भजन्ति—वे पूजा करते हैं; अनाशिषः—बिना किसी कामना के; शान्ताः—आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त कर चुके; यम्—जिसको; वा—निस्सन्देह; निपुण—चतुर; बुद्धयः—जिसकी बुद्धि की क्षमताएँ।

भृगु के विवरण को सुन कर चकित हुए मुनियों के सारे सन्देह दूर हो गये और वे आश्वस्त हो गये कि विष्णु सबसे बड़े देव हैं। उन्हीं से शान्ति, निर्भयता, धर्म के अनिवार्य सिद्धान्त, ज्ञान सहित वैराग्य, आठों योगशक्तियाँ तथा मन के सारे कल्मषों को धो डालने वाली उनकी महिमा प्राप्त होती है। वे शान्त तथा समभाव वाले स्वार्थरहित निपुण उन मुनियों के परम गन्तव्य जाने जाते हैं, जिन्होंने सारी हिंसा का परित्याग कर दिया है। उनका सबसे प्रिय स्वरूप शुद्ध सत्त्वमय है और ब्राह्मण उनके पूज्य देव हैं। तीव्र बुद्धि वाले व्यक्ति, जिन्होंने आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त कर ली है, निःस्वार्थ भाव से उनकी पूजा करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् की भक्ति करने पर मनुष्य को बिना किसी विशेष प्रयास के दिव्य ज्ञान तथा इन्द्रिय-तृप्ति से विरक्ति प्राप्त हो जाती है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के ग्यारहवें स्कन्ध (११.२.२) में कहा गया है—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।

प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥

"जिसने भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है उसे भक्ति, भगवान् का प्रत्यक्ष अनुभव तथा अन्य बातों से विरक्ति—ये तीनों एकसाथ मिल जाते हैं, जिस तरह कि भोजन करने में व्यस्त व्यक्ति को हर कौर से अधिकाधिक आनन्द, पोषण तथा भूख से राहत एकसाथ प्राप्त होते हैं।" इसी प्रकार प्रथम स्कंध (१.२.७) में श्रील सूत गोस्वामी कहते हैं—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

"भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करने से मनुष्य को तुरन्त ही अहैतुक ज्ञान तथा संसार से विरक्ति प्राप्त होती है।"

अपनी माता देवहूति को उपदेश देते हुए भगवान् श्री कपिल सुझाव रखते हैं कि योग की आठ प्रकार की शक्तियाँ भक्ति का समकालिक फल भी हैं—

अथो विभूतिं मम मायाविनस्ताम्

ऐश्वर्यमष्टांगमनुप्रवृत्तम् ।

श्रियं भागवतीं वास्पृहयन्ति भद्रां

परस्य मे तेऽश्नुवते हि लोके॥

"चूँकि मेरा भक्त मेरे चिन्तन में पूर्णतया लीन रहता है, इसलिए उसे सत्यलोक जैसे उच्च लोकों में भी प्राप्य सर्वोच्च वर की इच्छा नहीं होती। वह न तो योग से प्राप्त होने वाली अष्ट भौतिक सिद्धियों की इच्छा रखता है, न ही भगवद्धाम जाना चाहता है। इन सबकी इच्छा न रखते हुए भी मेरा भक्त इसी जीवन में सारे प्रदत्त वरों का भोग करता है।" (*भागवत* ३.२५.३७)

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती संकेत करते हैं कि श्लोक १६ में तीन प्रकार के ब्रह्मवादियों के नाम

गिनाये गये हैं—मुनि, शान्त तथा साधु। ये तीनों महत्त्व की दृष्टि से क्रमश: वे व्यक्ति हैं, जो मुक्ति के लिए प्रयासरत रहते हैं, जिन्होंने मुक्ति पा ली है तथा जो भगवान् विष्णु की शुद्ध भक्ति में लगे हैं।

त्रिविधाकृतयस्तस्य राक्षसा असुराः सुराः ।
गुणिन्या मायया सृष्टाः सत्त्वं तत्तीर्थसाधनम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

त्रि-विध—तीन प्रकार के; आकृतय:—स्वरूप; तस्य—उसके; राक्षसा:—अज्ञानी प्रेत; असुरा:—असुर; सुरा:—तथा देवतागण; गुणिन्याः—गुणों से युक्त; मायया—उनकी भौतिक शक्ति से; सृष्टाः—उत्पन्न; सत्त्वम्—सतोगुण; तत्—उनमें से; तीर्थ—जीवन में सफलता के; साधनम्—प्राप्ति के साधन।

भगवान् तीन प्रकार के व्यक्त प्राणियों में विस्तार करते हैं—ये हैं राक्षस, असुर तथा देवता। ये तीनों ही भगवान् की भौतिक शक्ति से उत्पन्न हैं और उसके गुणों से बद्ध हैं। किन्तु इन तीन गुणों में से सतोगुण ही जीवन की अन्तिम सफलता प्राप्त करने का साधन है।

तात्पर्य : *भगवान् श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद ने लिखा है, ''अनेक प्रकार के लोग हैं, जिनमें विभिन्न भौतिक गुण पाये जाते हैं। जो तमोगुणी हैं, वे राक्षस कहलाते हैं; जो रजोगुणी हैं, वे असुर कहलाते हैं और जो सतोगुणी हैं, वे सुर अर्थात् देवता कहलाते हैं। मनुष्यों की ये तीन श्रेणियाँ भगवान् के निर्देशन में भौतिक प्रकृति द्वारा उत्पन्न की जाती है, किन्तु जो सतोगुणी हैं, उन्हें भगवद्धाम वापस जाने का अवसर अधिक है।''

श्रीशुक उवाच
इत्थं सारस्वता विप्रा नृणाम्संशयनुत्तये ।
पुरुषस्य पदाम्भोजसेवया तद्गतिं गताः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार से; सारस्वता:—सरस्वती नदी के तट पर रहने वाले; विप्रा:—विद्वान ब्राह्मणों ने; नृणाम्—लोगों के; संशय—सन्देह; नुत्तये—दूर करने के लिए; पुरुषस्य—परम पुरुष के; पद-अम्भोज—चरणकमलों की; सेवया—सेवा से; तत्—उसके; गतिम्—गन्तव्य, धाम को; गत:—प्राप्त किया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : सरस्वती नदी के तट पर रहने वाले विद्वान ब्राह्मणों ने समस्त लोगों के संशयों को दूर करने के लिए यह निष्कर्ष निकाला। तत्पश्चात् उन्होंने भगवान् के चरणकमलों की भक्ति की और वे सभी उनके धाम को प्राप्त हुए।

श्रीसूत उवाच

इत्येतन्मुनितनयास्यपद्मगन्ध-
पीयूषं भवभयभित्परस्य पुंसः ।
सुश्लोकं श्रवणपुटैः पिबत्यभीक्ष्णम्
पान्थोऽध्वभ्रमणपरिश्रमं जहाति ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार कहने के बाद; एतत्—यह; मुनि—मुनि (वेदव्यास) के; तनय—पुत्र (शुकदेव) के; आस्य—मुख से; पद्म—कमल (सदृश); गन्ध—सुगन्धि से; पीयूषम्—अमृत; भव—भौतिक जीवन के; भय—डर को; भित्—छिन्न छिन्न करने वाला; परस्य—परम के; पुंसः—भगवान्; सु-श्लोकम्—महिमावान्; श्रवण—कानों के; पुटैः—रन्ध्रों से; पिबति—पीता है; अभीक्ष्णम्—निरन्तर; पान्थः—यात्री; अध्व—मार्ग पर; भ्रमण—भ्रमण करने से; परिश्रमम्—थकान; जहाति—त्याग देता है।.

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : व्यासदेव मुनि के पुत्र शुकदेव गोस्वामी के मुख कमल से इस प्रकार सुगन्धित अमृत बहा। परम पुरुष का यह अद्भुत महिमा-गायन भौतिक संसार के सारे भय को नष्ट करने वाला है। जो यात्री इस अमृत को अपने कान के छेदों से निरन्तर पीता रहता है, वह सांसारिक जीवन के मार्गों पर भ्रमण करने से उत्पन्न थकान को भूल जायेगा।

तात्पर्य : श्रील शुकदेव गोस्वामी द्वारा कही गई यह कथा दो प्रकार से मूल्यवान है—जो लोग आध्यात्मिक दुर्बलता के शिकार हैं उनके मोह-रोग को अच्छा करने के लिए यह प्रभावशाली ओषधि है। और शरणागत वैष्णवों के लिए यह स्वादिष्ट तथा शक्तिवर्धक पेय है, जो श्री शुकदेव की अनुभूतियों की सुगन्धि से सुगन्धित है।

श्रीशुक उवाच
एकदा द्वारवत्यां तु विप्रपत्न्याः कुमारकः ।
जातमात्रो भुवं स्पृष्ट्वा ममार किल भारत ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एकदा—एक बार; द्वारवत्याम्—द्वारका में; तु—और; विप्र—एक ब्राह्मण की; पत्न्याः—पत्नी के; कुमारकः—शिशु पुत्र; जात—उत्पन्न; मात्रः—एकमात्र; भुवम्—पृथ्वी को; स्पृष्ट्वा—छूते ही; ममार—मर गया; किल—निस्सन्देह; भारत—हे भरतवंशी (परीक्षित महाराज)।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : एक बार द्वारका में एक ब्राह्मण की पत्नी ने पुत्र को जन्म दिया किन्तु, हे भारत, यह नवजात शिशु पृथ्वी का स्पर्श करते ही मर गया।

तात्पर्य : इस अध्याय में भगवान् विष्णु का यशोगान भगवान् के रूप में किया गया। अब शुकदेव गोस्वामी कृष्ण के अद्वितीय दिव्य गुणों को प्रकाश में लाने वाली एक अन्य लीला का वर्णन करके, उन्हें भगवान् के तुल्य बताने जा रहे हैं।

विप्रो गृहीत्वा मृतकं राजद्वार्युपधाय सः ।
इदं प्रोवाच विलपन्नातुरो दीनमानसः ॥ २२॥

शब्दार्थ

विप्रः—ब्राह्मण ने; गृहीत्वा—लेकर; मृतकम्—शव को; राज—राजा (उग्रसेन) के; द्वारि—दरवाजे पर; उपधाय—प्रस्तुत करके; सः—उसने; इदम्—यह; प्रोवाच—कहा; विलपन्—शोक करते हुए; आतुरः—विक्षुब्ध; दीन—दुखियारा; मानसः—मन वाला।

ब्राह्मण ने उस मृत शरीर को ले जाकर राजा उग्रसेन के दरबार के द्वार पर रख दिया। फिर क्षुब्ध तथा दीन-हीन भाव से शोक-विलाप करता, वह इस प्रकार बोला।

ब्रह्मद्विषः शठधियो लुब्धस्य विषयात्मनः ।
क्षत्रबन्धोः कर्मदोषात्पञ्चत्वं मे गतोऽर्भकः ॥ २३॥

शब्दार्थ

ब्रह्म—ब्राह्मणों के विरुद्ध; द्विषः—द्वेषपूर्ण; शठ—शैतान; धियः—बुद्धि वाला; लुब्धस्य—लोभी; विषय-आत्मनः—इन्द्रिय-तृप्ति में लिप्त रहने वाला; क्षत्र-बन्धोः—अयोग्य क्षत्रिय का; कर्म—कर्तव्य पूरा करने में; दोषात्—त्रुटि से; पञ्चत्वम्—मृत्यु को; मे—मेरा; गतः—प्राप्त हुआ; अर्भकः—पुत्र।

[ब्राह्मण ने कहा] : ब्राह्मणों के इस शठ, लालची शत्रु तथा इन्द्रिय-सुख में लिप्त रहने वाले अयोग्य शासक द्वारा, अपने कर्तव्यों को सम्पन्न करने में हुई, किसी त्रुटि के कारण मेरे पुत्र की मृत्यु हुई है।

तात्पर्य : यह मानकर कि ब्राह्मण ने स्वयं कुछ ऐसा नहीं किया, जिससे उसके पुत्र की मृत्यु हुई है, उसने राजा उग्रसेन को इसके लिए दोषी ठहराना उचित समझा वैदिक सामाजिक पद्धति में राजा को उसके राज्य में घटने वाली प्रत्येक अच्छी या बुरी बात के लिए उत्तरदायी माना जाता है यहाँ तक कि प्रजातंत्र में भी किसी समूह या प्रायोजना का भार सँभालने वाले प्रबन्धक को किसी दोष के लिए स्वयं उत्तरदायी होना पड़ता है न अपने अधीस्थों या अपने से वरिष्ठों पर आरोप लगाने का प्रयास करने से काम नहीं चलता।

हिंसाविहारं नृपतिं दुःशीलमजितेन्द्रियम् ।
प्रजा भजन्त्यः सीदन्ति दरिद्रा नित्यदुःखिताः ॥ २॥

शब्दार्थ

हिंसा—हिंसा; विहारम्—जिसका खिलवाड़; नृ-पतिम्—इस राजा को; दु:शीलम्—दुष्ट; अजित—अजेय; इन्द्रियम्—जिसकी इन्द्रियाँ; प्रजा:—नागरिक जन; भजन्त्य:—सेवा करते हुए; सीदन्ति—कष्ट उठाते हैं; दरिद्रा:—निर्धन; नित्य—सदैव; दु:खिता:—दुखी.

हिंसा में सुख पाने वाले तथा अपनी इन्द्रियों को वश में न कर सकने वाले दुष्ट राजा की सेवा करने वाले नागरिकों को निरन्तर निर्धनता तथा दुख का सामना करना पड़ता है।

एवं द्वितीयं विप्रर्षिस्तृतीयं त्वेवमेव च ।
विसृज्य स नृपद्वारि तां गाथां समगायत ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इसी प्रकार से; द्वितीयम्—दुबारा; विप्र-ऋषि:—बुद्धिमान ब्राह्मण; तृतीयम्—तिबारा; तु—तथा; एवम् एव च—इसी प्रकार से; विसृज्य—छोड़ कर (अपने पुत्र को); स:—वह; नृप-द्वारि—राजा के दरवाजे पर; ताम्—उसी; गाथाम्—गीत को; समगायत—गाता रहा।.

उस बुद्धिमान ब्राह्मण को अपने दूसरे तथा तीसरे पुत्र के साथ भी यही दुख भोगना पड़ा प्रत्येक बार वह अपने मृत पुत्र का शरीर राजा के दरवाजे पर छोड़ जाता और वही शोक-गीत गाता।

तामर्जुन उपश्रुत्य कर्हिचित्केशवान्तिके ।
परेते नवमे बाले ब्राह्मणं समभाषत ॥ २६ ॥
किं स्विद्ब्रह्मंस्त्वन्निवासे इह नास्ति धनुर्धर: ।
राजन्यबन्धुरेते वै ब्राह्मणा: सत्रमासते ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस (विलाप) को; अर्जुन:—अर्जुन ने; उपश्रुत्य—सुन कर; कर्हिचित्—एक बार; केशव—भगवान् कृष्ण के; अन्तिके—निकट; परेते—मृत; नवमे—नौवें; बाले—शिशु; ब्राह्मणम्—ब्राह्मण से; समभाषत—कहा; किम् स्वित्—क्या; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; त्वत्—तुम्हारे; निवासे—घर पर; इह—यहाँ; न अस्ति—नहीं है; धनु:-धर:—हाथ में धनुष लिए; राजन्य-बन्धु:—राज-परिवार का पतित सदस्य; एते—ये (क्षत्रिय); व:—निस्सन्देह; ब्राह्मणा:—ब्राह्मणों (की तरह); सत्रे—प्रमुख यज्ञ में; आसते—उपस्थित हैं।.

जब उस ब्राह्मण का नौवाँ पुत्र मरा, तो भगवान् केशव के निकट खड़े अर्जुन ने उस ब्राह्मण के विलाप को सुना अत: अर्जुन ने ब्राह्मण से कहा, ‘‘हे ब्राह्मण, क्या बात है? क्या यहाँ पर कोई राजसी दरबार का निम्न सदस्य अर्थात् क्षत्रिय-बन्धु नहीं है, जो कम-से-कम अपने हाथ में धनुष लेकर आपके घर के सामने खड़ा रहे? ये क्षत्रिय ऐसा आचरण कर रहे हैं, मानो यज्ञ में व्यर्थ ही लगे हुए ब्राह्मण हों।

धनदारात्मजापृक्ता यत्र शोचन्ति ब्राह्मणाः ।
ते वै राजन्यवेषेण नटा जीवन्त्यसुम्भराः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

धन—सम्पत्ति; दार—पत्नी; आत्मज—तथा पुत्रों से; अपृक्ताः—पृथक्; यत्र—जिस (स्थिति) में; शोचन्ति—शोक करते हैं; ब्राह्मणाः—ब्राह्मणजन; ते—वे; वै—निस्सन्देह; राजन्य-वेषेण—राजाओं के वेश में; नटाः—अभिनेता; जीवन्ति—जीते हैं; असुम्-भराः—अपना पेट पालते हुए।

''जिस राज्य में ब्राह्मण अपनी नष्ट हुई सम्पत्ति, पत्नियों तथा सन्तानों के लिए शोक करते हैं, उसके शासक निरे वञ्चक हैं, जो अपना उदर-पोषण करने के लिए राजाओं का अभिनय करते हैं।''

अहं प्रजाः वां भगवन्रक्षिष्ये दीनयोरिह ।
अनिस्तीर्णप्रतिज्ञोऽग्निं प्रवेक्ष्ये हतकल्मषः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; प्रजाः—सन्तान; वाम्—तुम दोनों की (पति-पत्नी की); भगवन्—हे प्रभु; रक्षिष्ये—रक्षा करूँगा; दीनयोः—दीन; इह—इस मामले में; अनिस्तीर्ण—पूरा न कर पाने पर; प्रतिज्ञः—वायदा (प्रतिज्ञा); अग्निम्—अग्नि में; प्रवेक्ष्ये—प्रविष्ट करूँगा; हत—विनष्ट; कल्मषः—जिसके कल्मष।

''हे प्रभु, मैं ऐसे अत्यन्त दुखियारे आप तथा आपकी पत्नी की सन्तान की रक्षा करूँगा यदि मैं यह वचन पूरा न कर सका, तो मैं अपने पाप का प्रायश्चित करने के लिए अग्नि में प्रवेश करूँगा।''

तात्पर्य : वीर अर्जुन अपना वचन पूरा न कर सकने की लज्जा को सहन नहीं कर सका जैसाकि *भगवद्गीता* (२.३) में कृष्ण ने कहा है— *सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणाद् अतिरिच्यते*—सम्मानित व्यक्ति के लिए अनादर मृत्यु से भी बुरा है।

श्रीब्राह्मण उवाच
सङ्कर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नो धन्विनां वरः ।
अनिरुद्धोऽप्रतिरथो न त्रातुं शक्नुवन्ति यत् ॥ ३० ॥
तत्कथं नु भवान्कर्म दुष्करं जगदीश्वरैः ।
त्वं चिकीर्षसि बालिश्यात्तन्न श्रद्दध्महे वयम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्राह्मणः उवाच—ब्राह्मण ने कहा; सङ्कर्षणः—संकर्षण (बलराम); वासुदेवः—वासुदेव (कृष्ण); प्रद्युम्नः—प्रद्युम्न; धन्विनाम्—धनुर्धारियों के; वरः—सबसे बड़े; अनिरुद्धः—अनिरुद्ध; अप्रति-रथः—अद्वितीय रथी; न—नहीं; त्रातुम्—बचाने के लिए; शक्नुवन्ति—समर्थ थे; यत्—इतना कि; तत्—इस प्रकार; कथम्—क्यों; नु—निस्सन्देह; भवान्—आप; कर्म—

कौशल; दुष्करम्—कर पाना असम्भव; जगत्—ब्रह्माण्ड के; ईश्वरैः—ईश्वरों द्वारा; त्वम्—तुम; चिकीर्षसि—करना चाहते; बालिश्यात्—बदमाशी से; तत्—इसलिए; न श्रद्दध्महे—विश्वास नहीं करते; वयम्—हम।

ब्राह्मण ने कहा : न तो संकर्षण, वासुदेव, सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर प्रद्युम्न, न अद्वितीय योद्धा अनिरुद्ध ही, मेरे पुत्रों को बचा सके तो फिर तुम क्यों ऐसा कौशल करने का मूर्खतापूर्ण प्रयास करने जा रहे हो, जिसे ब्रह्माण्ड के स्वामी भी नहीं कर सके? हमें तुम पर विश्वास नहीं हो रहा।

श्रीअर्जुन उवाच

नाहं सङ्कर्षणो ब्रह्मन्न कृष्णः कार्ष्णिरेव च ।
अहं वा अर्जुनो नाम गाण्डीवं यस्य वै धनुः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-अर्जुनः उवाच—श्री अर्जुन ने कहा; न—नहीं; अहम्—मैं; सङ्कर्षणः—बलराम; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; न—न तो; कृष्णः—कृष्ण; कार्ष्णिः—कृष्ण का वंशज; एव च—ही; अहम्—मैं; वै—निस्सन्देह; अर्जुनः नाम—अर्जुन नाम वाला; गाण्डीवम्—गांडीव; यस्य—जिसका; वै—निस्सन्देह; धनुः—धनुष।

श्री अर्जुन ने कहा : हे ब्राह्मण, मैं न तो संकर्षण हूँ, न कृष्ण और न ही कृष्ण का पुत्र, प्रत्युत मैं गाण्डीव धनुष धारण करने वाला अर्जुन हूँ।

मावमंस्था मम ब्रह्मन्वीर्यं त्र्यम्बकतोषणम् ।
मृत्युं विजित्य प्रधने आनेष्ये ते प्रजाः प्रभो ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

मा अवमंस्थाः—मत छोटा मानो; मम—मेरा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; वीर्यम्—पराक्रम; त्रि-अम्बक—शिवजी; तोषणम्—संतुष्ट करने के लिए; मृत्युम्—मृत्यु को; विजित्य—हराकर; प्रधने—युद्ध में; आनेष्ये—वापस लाऊँगा; ते—तुम्हारी; प्रजाः—सन्तानें; प्रभो—हे स्वामी।

हे ब्राह्मण, मेरी उस क्षमता को कम न करें, जो शिवजी को भी तुष्ट करने में सफल हुई थी। हे स्वामी, मैं आपके पुत्रों को वापस ले आऊँगा, चाहे मुझे युद्ध में साक्षात् काल को ही क्यों न पराजित करना पड़े।

एवं विश्रम्भितो विप्रः फाल्गुनेन परन्तप ।
जगाम स्वगृहं प्रीतः पार्थवीर्यं निशामयन् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विश्रम्भितः—विश्वास दिलाया गया; विप्रः—ब्राह्मण; फाल्गुनेन—अर्जुन द्वारा; परम्—शत्रुओं का; तप—हे सताने वाले (परीक्षित महाराज); जगाम—गया; स्व—अपने; गृहम्—घर; प्रीतः—तुष्ट होकर; पार्थ—पृथा के पुत्र का; वीर्यम्—पराक्रम को; निशामयन्—सुनता हुआ।

हे शत्रुओं को सताने वाले, इस तरह अर्जुन द्वारा आश्वस्त किये जाने पर अर्जुन के पराक्रम

की घोषणा सुन कर तुष्ट हुआ ब्राह्मण अपने घर चला गया।

प्रसूतिकाल आसन्ने भार्याया द्विजसत्तमः ।
पाहि पाहि प्रजां मृत्योरित्याहार्जुनमातुरः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

प्रसूति—प्रसव; काले—के समय; आसन्ने—निकट होने पर; भार्यायाः—उसकी पत्नी के; द्विज—ब्राह्मण; सत्-तमः—अत्यन्त पूज्य; पाहि—रक्षा कीजिये; पाहि—रक्षा कीजिये; प्रजाम्—मेरे बच्चे की; मृत्योः—मृत्यु से; इति—इस प्रकार; आह—उसने कहा; अर्जुनम्—अर्जुन से; आतुरः—किंकर्तव्यविमूढ़।

जब पुनः उस पूज्य ब्राह्मण की पत्नी के बच्चा जनने वाली थी, तो वह अत्यन्त चिन्तित होकर अर्जुन के पास गया और उनसे याचना की, ''कृपा करके मेरे बच्चे को मृत्यु से बचा लें, बचा लें।''

स उपस्पृश्य शुच्यम्भो नमस्कृत्य महेश्वरम् ।
दिव्यान्यस्त्राणि संस्मृत्य सज्यं गाण्डीवमाददे ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (अर्जुन); उपस्पृश्य—स्पर्श करके; शुचि—शुद्ध; अम्भः—जल; नमः-कृत्य—नमस्कार करके; महा-ईश्वरम्—शिवजी को; दिव्यानि—दैवी; अस्त्राणि—अपने प्रक्षेपास्त्रों को; संस्मृत्य—स्मरण करके; सज्यम्—धनुष की डोरी को; गाण्डीवम्—अपने धनुष गाण्डीव पर; आददे—स्थिर किया।

शुद्ध जल का स्पर्श करके, भगवान् महेश्वर को नमस्कार करके तथा अपने दैवी अस्त्रों के लिए मंत्रों का स्मरण करके अर्जुन ने अपने धनुष गाण्डीव की डोरी चढ़ाई।

तात्पर्य : आचार्यों ने यह इंगित किया है कि चूँकि ब्राह्मण ने भगवान् कृष्ण का अनादर किया था इसलिए अर्जुन ने बहुत ही चतुराई से शिवजी को नमस्कार किया, जिन्होंने उसे पाशुपतास्त्र के मंत्रों का प्रयोग करने की विधि बतलाई थी।

न्यरुणत्सूतिकागारं शरैर्नानास्त्रयोजितैः ।
तिर्यगूर्ध्वमधः पार्थश्चकार शरपञ्जरम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

न्यरुणत्—घेर दिया; सूतिका-आगारम्—सौरी (प्रसूति) गृह को; शरैः—बाणों से; नाना—विविध; अस्त्र—प्रक्षेपास्त्रों से; योजितैः—जुड़े; तिर्यक्—समतल रीति से; ऊर्ध्वम्—ऊपर; अधः—नीचे; पार्थः—अर्जुन ने; चकार—बना दिया; शर—बाणों का; पञ्जरम्—पिंजरा।

अर्जुन ने विविध प्रक्षेपास्त्रों से लगे बाणों द्वारा उस सौरी-गृह को घेर दिया इस तरह पृथा-

पुत्र ने बाणों का एक सुरक्षात्मक पिंजरा बना कर उस गृह को ऊपर से, नीचे से तथा अगल-बगल से आच्छादित कर दिया।

ततः कुमारः सञ्जातो विप्रपत्न्या रुदन्मुहुः ।
सद्योऽदर्शनमापेदे सशरीरो विहायसा ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; कुमारः—बालक; सञ्जातः—उत्पन्न हुआ; विप्र—ब्राह्मण की; पत्न्याः—पत्नी के; रुदन्—रोता हुआ; मुहुः—कुछ काल तक; सद्यः—सहसा; अदर्शनम् आपेदे—विलुप्त हो गया; स—सहित; शरीरः—अपने शरीर; विहायसा—आकाश से होकर।

तब ब्राह्मण की पत्नी ने बालक को जन्म दिया वह नवजात शिशु कुछ समय तक तो रोता रहा, किन्तु सहसा वह सशरीर आकाश में अदृश्य हो गया।

तदाह विप्रो विजयं विनिन्दन्कृष्णसन्निधौ ।
मौढ्यं पश्यत मे योऽहं श्रद्दधे क्लीबकत्थनम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तदा—तब; आह—कहा; विप्रः—ब्राह्मण ने; विजयम्—अर्जुन से; विनिन्दन्—आलोचना करते हुए; कृष्ण-सन्निधौ—भगवान् कृष्ण की उपस्थिति में; मौढ्यम्—मूर्खता; पश्यत—देखो तो; मे—मेरी; यः—जो; अहम्—मैंने; श्रद्दधे—विश्वास किया; क्लीब—नपुंसक की; कत्थनम्—डींग पर।

तब उस ब्राह्मण ने भगवान् कृष्ण की उपस्थिति में अर्जुन का उपहास किया, ''जरा देखो तो मैं कितना मूर्ख हूँ कि मैंने इस डींग मारने वाले नपुंसक पर विश्वास किया।''

न प्रद्युम्नो नानिरुद्धो न रामो न च केशवः ।
यस्य शेकुः परित्रातुं कोऽन्यस्तदवितेश्वरः ॥ ० ॥

शब्दार्थ

न—न तो; प्रद्युम्नः—प्रद्युम्न; न—न ही; अनिरुद्धः—अनिरुद्ध; न—न; रामः—बलराम; न—नहीं; च—भी; केशवः—कृष्ण; यस्य—जिनके (बालक); शेकुः—समर्थ थे; परित्रातुम्—रक्षा करने में; कः—कौन; अन्यः—अन्य; तत्—इस परिस्थिति में; अविता—रक्षक के रूप में; ईश्वरः—समर्थ।

''जब न ही प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, राम और न ही केशव किसी व्यक्ति को बचा सकते हैं, तो भला अन्य कौन उसकी रक्षा कर सकता है?

धिगर्जुनं मृषावादं धिगात्मश्लाघिनो धनुः ।
दैवोपसृष्टं यो मौढ्यादानिनीषति दुर्मतिः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

धिक्—धिक्कार है; अर्जुनम्—अर्जुन को; मृषा—झूठी; वादम्—जिसकी वाणी; धिक्—धिक्कार है; आत्म—अपनी; श्लाघिनः—प्रशंसा करने वाले की; धनुः—धनुष पर; दैव—भाग्यवश; उपसृष्टम्—लिये हुए; यः—जो; मौढ्यात्—मोहवश; आनिनीषति—वापस लाना चाहता है; दुर्मतिः—मूर्ख।

''उस झूठे अर्जुन को धिक्कार है उस आत्म-प्रशंसक के धनुष को धिक्कार है, वह इतना मूर्ख है कि वह यह सोचते हुए कि ऐसे व्यक्ति को वापस ला सकता है, जिसे विधाता ने उठा लिया है, मोहग्रस्त हो चुका है।''

एवं शपति विप्रर्षौ विद्यामास्थाय फाल्गुनः ।
ययौ संयमनीमाशु यत्रास्ते भगवान्यमः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; शपति—शाप देते हुए; विप्र-ऋषौ—ज्ञानी ब्राह्मण; विद्याम्—योगविद्या; आस्थाय—करके; फाल्गुनः—अर्जुन; ययौ—गया; संयमनीम्—संयमनी नामक स्वर्गपुरी में; असु—तुरन्त; यत्र—जहाँ; आस्ते—रहता है; भगवान् यमः-लोर्द् यमराज.

जब वह बुद्धिमान ब्राह्मण अर्जुन को भला-बुरा कह कर अपमानित कर रहा था, तो अर्जुन ने तुरन्त ही संयमनी पुरी जाने के लिए, जहाँ यमराज का वास है, योगविद्या का प्रयोग किया।

विप्रापत्यमचक्षाणस्तत ऐन्द्रीमगात्पुरीम् ।
आग्नेयीं नैरृतीं सौम्यां वायव्यां वारुणीमथ ।
रसातलं नाकपृष्ठं धिष्ण्यान्यन्यान्युदायुधः ॥ ३ ॥
ततोऽलब्धद्विजसुतो ह्यनिस्तीर्णप्रतिश्रुतः ।
अग्निं विविक्षुः कृष्णेन प्रत्युक्तः प्रतिषेधता ॥ ॥

शब्दार्थ

विप्र—ब्राह्मण के; अपत्यम्—बालक को; अचक्षाणः—न देखकर; ततः—वहाँ से; ऐन्द्रीम्—इन्द्र की; अगात्—गया; पुरीम्—नगरी में; आग्नेयीम्—अग्नि देव की पुरी; नैरृतीम्—मृत्यु के कनिष्ठ देवता (जो यमराज से भिन्न है) की नगरी; सौम्यम्—चन्द्र देव की नगरी; वायव्याम्—वायु देव की नगरी; वारुणीम्—वरुण देव की नगरी; अथ—तब; रसातलम्—अधोलोक; नाक-पृष्ठम्—स्वर्ग के ऊपर; धिष्ण्यानि—प्रदेश; अन्यानि—अन्य; उदायुधः—हथियार उठाये हुए; ततः—वहाँ से; अलब्ध—न पाकर; द्विज—ब्राह्मण के; सुतः—पुत्र को; हि—निस्सन्देह; अनिस्तीर्ण—पूरा न कर सकने से; प्रतिश्रुतः—वायदा किया हुआ; अग्निम्—अग्नि में; विविक्षुः—प्रवेश करने ही वाला था; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; प्रत्युक्तः—विरोध किया गया; प्रतिषेधता—विरत करने का प्रयास कर रहे।

वहाँ ब्राह्मण-पुत्र को न देखकर अर्जुन अग्नि, निर्ऋति, सोम, वायु तथा वरुण की पुरियों में गया। हाथ में हथियार तैयार रखे हुए उसने अधोलोक से लेकर स्वर्ग के ऊपर तक ब्रह्माण्ड के सारे प्रदेशों को खोज मारा। अन्त में ब्राह्मण के पुत्र को कहीं भी न पाकर, अर्जुन ने अपना वायदा पूरा न करने के कारण पवित्र अग्नि में प्रवेश करने का निश्चय किया किन्तु जब वह ऐसा

करने जा ही रहा था, तो भगवान् कृष्ण ने उसे रोक लिया और उससे निम्नलिखित शब्द कहे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका है कि परोक्ष में अर्जुन शिव को अपना गुरु मानता था, इसलिए उसने शिव-लोक को ढूँढ़ने की परवाह नहीं की।

दर्शये द्विजसूनूंस्ते मावज्ञात्मानमात्मना ।
ये ते नः कीर्तिं विमलां मनुष्याः स्थापयिष्यन्ति ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

दर्शये—मैं दिखला दूँगा; द्विज—ब्राह्मण के; सूनून्—पुत्रों को; ते—तुमको; मा—मत; अवज्ञ—छोटा करो; आत्मानम्—अपने आपको; आत्मना—अपने मन से; ये—जो; ते—वे (आलोचक); नः—हम दोनों के; कीर्तिम्—यश; विमलाम्—निर्मल; मनुष्याः—मनुष्यगण; स्थापयिष्यन्ति—स्थापना करने जा रहे हैं।

[भगवान् कृष्ण ने कहा] : मैं तुम्हें ब्राह्मण के पुत्र दिखलाऊँगा, अतः तुम अपने आपको इस प्रकार छोटा मत बनाओ। यही मनुष्य, जो अभी हमारी आलोचना करते हैं, शीघ्र ही हमारी निष्कलुष कीर्ति को स्थापित करेंगे।

इति सम्भाष्य भगवानर्जुनेन सहेश्वरः ।
दिव्यं स्वरथमास्थाय प्रतीचीं दिशमाविशत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; सम्भाष्य—वार्तालाप करके; भगवान्—भगवान्; अर्जुनेन सह—अर्जुन के साथ; ईश्वरः—ईश्वर; दिव्यम्—दिव्य; स्व—अपने; रथम्—रथ पर; आस्थाय—चढ़ कर; प्रतीचीम्—पश्चिम की; दिशम्—दिशा में; आविशत्—प्रविष्ट हुआ।

अर्जुन को इस प्रकार सलाह देकर भगवान् ने अर्जुन को अपने दैवीरथ में बैठाया और वे दोनों एकसाथ पश्चिम दिशा की ओर रवाना हो गये।

सप्त द्वीपान्ससिन्धूंश्च सप्त सप्त गिरीनथ ।
लोकालोकं तथातीत्य विवेश सुमहत्तमः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सप्त—सात; द्वीपान्—द्वीपों; स—सहित; सिन्धून्—समुद्रों; च—तथा; सप्त सप्त—सात सात; गिरीन्—पर्वतों को; अथ—तब; लोक-अलोकम्—अंधकार से प्रकाश को पृथक् करने वाली पर्वत माला को; तथा—भी; अतीत्य—लाँघ कर; विवेश—प्रविष्ट हुआ; सु-महत्—विशाल; तमः—अंधकार।

भगवान् का रथ मध्यवर्ती ब्रह्माण्ड के सात द्वीपों के ऊपर से गुजरा, जिनके अपने अपने समुद्र तथा सात सात मुख्य पर्वत थे। तब उस रथ ने लोकालोक सीमा पार की और पूर्ण अंधकार के विशाल क्षेत्र में प्रवेश किया।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* में लिखा है, ''कृष्ण इन सारे लोकों से होते हुए ब्रह्माण्ड के आवरण में जा पहुँचे। *श्रीमद्‌भागवत* में इस आवरण को महत्-अंधकार कहा गया है। यह पूरा भौतिक संसार अंधकारमय कहा जाता है। खुले भाग में सूर्य-प्रकाश रहता है, अतएव वह प्रकाशित रहता है, किन्तु सूर्य-प्रकाश की अनुपस्थिति के कारण, आवरण स्वाभाविक रूप से अंधकारमय रहता है।''

तत्राश्वाः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकाः ।
तमसि भ्रष्टगतयो बभूवुर्भरतर्षभ ॥ ८॥
तान्दृष्ट्वा भगवान्कृष्णो महायोगेश्वरेश्वरः ।
सहस्रादित्यसङ्काशं स्वचक्रं प्राहिणोत्पुरः ॥ ९॥

शब्दार्थ

तत्र—उस स्थान पर; अश्वाः—घोड़े; शैब्य-सुग्रीव-मेघपुष्प-बलाहकाः—शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प तथा बलाहक नाम वाले; तमसि—अंधकार में; भ्रष्ट—भ्रष्ट; गतयः—अपना मार्ग; बभूवुः—हो गये; भरत-ऋषभ—हे भारतों मेंश्रेष्ठ; तान्—उनको; दृष्ट्वा—देखकर; भगवान्—भगवान्; कृष्णः—कृष्ण; महा—परम; योग-ईश्वर—योग के स्वामियों के; ईश्वरः—स्वामी; सहस्र—एक हजार; आदित्य—सूर्य; सङ्काशम्—के सदृश; स्व—अपने; चक्रम्—चक्र को; प्राहिणोत्—भेजा; पुरः—आगे।

उस अंधकार में रथ के शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प तथा बलाहक नामक घोड़े अपना मार्ग भटक गये। हे भारत-श्रेष्ठ, उन्हें इस अवस्था में देखकर, योगेश्वरों के भी परम स्वामी भगवान् कृष्ण ने अपने रथ के आगे, अपने सुदर्शन चक्र को भेज दिया।वह चक्र सैकड़ों सूर्यों की तरह चमक रहा था।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक के विषय में निम्नलिखित अन्तर्दृष्टि दी है। भगवान् कृष्ण के घोड़े भगवान् की धरा-लीलाओं में भाग लेने के लिए वैकुण्ठ से आये थे। चूँकि भगवान् स्वयं सीमित मनुष्य होने का अभिनय कर रहे थे, अतएव उनके घोड़े भी संभ्रमित होने का अभिनय कर रहे थे, ताकि उन लोगों के लिए जो एक दिन इस लीला को सुनेंगे, इस दृश्य की नाटकीयता में वृद्धि हो सके।

तमः सुघोरं गहनं कृतं महद्
विदारयद्भूरितरेण रोचिषा ।
मनोजवं निर्विविशे सुदर्शनं
गुणच्युतो रामशरो यथा चमूः ॥ ५०॥

शब्दार्थ

तमः—अंधकार; सु—अत्यन्त; घोरम्—भयावह; गहनम्—घना; कृतम्—भौतिक सृष्टि की अभिव्यक्ति; महत्—महान्; विदारयत्—चीरते हुए; भूरि-तरेण—अत्यन्त विस्तृत; रोचिषा—तेज से; मनः—मन की; जवम्—गति वाले; निर्विविशे—प्रविष्ट हुए; सुदर्शनम्—सुदर्शन चक्र; गुण—डोरी से; च्युतः—छोड़ा गया; राम—भगवान् रामचन्द्र का; शरः—बाण; यथा—जिस तरह; चमूः—सेना पर।

भगवान् का सुदर्शन चक्र अपने प्रज्ज्वलित तेज के साथ अंधकार में प्रविष्ट हुआ। मन की गति से आगे बढ़ते हुए उसने आदि पदार्थ से विस्तीर्ण भयावह घने अंधकार को उसी तरह काट दिया, जिस तरह भगवान् राम के धनुष से छूटा तीर उनके शत्रु की सेना को काटता हुआ निकल जाता है।

द्वारेण चक्रानुपथेन तत्तमः
परं परं ज्योतिरनन्तपारम् ।
समश्नुवानं प्रसमीक्ष्य फाल्गुनः
प्रताडिताक्षो पिदधेऽक्षिणी उभे ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

द्वारेण—मार्ग से; चक्र—सुदर्शन चक्र; अनुपथेन—पीछा करता; तत्—वह; तमः—अंधकार; परम्—परे; परम्—दिव्य; ज्योतिः—प्रकाश; अनन्त—असीम; पारम्—जिसका विस्तार; समश्नुवानम्—सर्वव्यापी; प्रसमीक्ष्य—देखकर; फाल्गुनः—अर्जुन; प्रताडित—पीड़ित; अक्षः—आँखों वाला; अपिदधे—बन्द कर लीं; अक्षिणी—अपनी आँखें; उभे—दोनों।

सुदर्शन चक्र के पीछे-पीछे जाता हुआ, रथ अंधकार को पार करके सर्वव्यापी ब्रह्मज्योति के अनन्त आध्यात्मिक प्रकाश में जा पहुँचा। ज्योंही अर्जुन ने इस चमचमाते तेज को देखा, उसकी आँखें दुखने लगीं, अतः उसने उन्हें बन्द कर लिया।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के आठों संकेन्द्रित आवरणों को क्रमशः भेदते हुए सुदर्शन चक्र कृष्ण के रथ को असीम आत्मतेजवान वैकुण्ठ-लोक के वायुमंडल में ले गया। श्रीकृष्ण तथा अर्जुन द्वारा वैकुण्ठ-लोक की यह यात्रा *श्री हरिवंश* में भी वर्णित है, जहाँ भगवान् अपने साथी से यह कहते हैं—

ब्रह्मतेजोमयं दिव्यं महत् यद् दृष्टवान् असि

अहं स भरतश्रेष्ठ मत्तेजस्तत् सनातनम् ॥

"हे भारत-श्रेष्ठ! तुमने जिस ब्रह्मतेज के दिव्य प्रसार को देखा है, वह मैं ही हूँ। यह मेरा ही नित्य तेज है।"

प्रकृतिः सा मम परा व्यक्ताव्यक्ता सनातनी

तां प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता योगविदुत्तमाः ॥

"यह मेरी व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों ही प्रकार की नित्य आध्यात्मिक शक्तियों से युक्त है। इस जगत के सर्वश्रेष्ठ योगी इसके भीतर प्रवेश करते हैं और मुक्त हो जाते हैं।"

सा सांख्यानां गतिः पार्थ योगिनां च तपस्विनाम्

तत्परं परमं ब्रह्म सर्वं विभजते जगत्

ममैव तद् घनं तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत॥

"हे पार्थ! यह सांख्य अनुयायियों के साथ साथ योगियों तथा तपस्वियों का भी परम लक्ष्य है। सम्पूर्ण सृजित जगत की विविधता को प्रकट करने वाला यही परब्रह्म है। हे भारत! तुम इस ब्रह्मज्योति को मेरा केन्द्रीभूत साकार तेज समझो।"

ततः प्रविष्टः सलिलं नभस्वता
बलीयसैजद्बृहदूर्मिभूषणम् ।
तत्राद्भुतं वै भवनं द्युमत्तमं
भ्राजन्मणिस्तम्भसहस्रशोभितम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

ततः—वहाँ से; प्रविष्टः—प्रवेश किया; सलिलम्—जल में; नभस्वता—वायु द्वारा; बलीयसा—शक्तिशाली; एजत्—हिलाया; बृहत्—विशाल; ऊर्मि—लहरें; भूषणम्—जिसके आभूषण; तत्र—वहाँ पर; अद्भुतम्—विचित्र; वै—निस्सन्देह; भवनम्—घर; द्युमत्-तमम्—अत्यधिक तेजयुक्त; भ्राजत्—चमकते हुए; मणि—मणियों से युक्त; स्तम्भ—ख भों के; सहस्र—हजारों; शोभितम्—सुन्दर लग रहे।

उस क्षेत्र से वे जलराशि में प्रविष्ट हुए, जो शक्तिशाली वायु द्वारा मथी जा रही विशाल लहरों से तेजयुक्त थी। उस समुद्र के भीतर अर्जुन ने एक अद्‌भुत महल देखा, जो उसके द्वारा अभी तक देखी गई हर वस्तु से अधिक चमकीला था। इसका सौन्दर्य चमकीले मणियों से जड़े हुए हजारों अलंकृत ख भों के कारण बढ़ गया था।

तस्मिन्महाभोगमनन्तमद्भुतं
सहस्रमूर्धन्यफणामणिद्युभिः ।
विभ्राजमानं द्विगुणेक्षणोल्बणं
सिताचलाभं शितिकण्ठजिह्वम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—वहाँ; महा—विशाल; भोगम्—सर्प; अनन्तम्—भगवान् अनन्त को; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; सहस्र—हजार; मूर्धन्य—उनके सिरों पर; फणा—फनों पर; मणि—मणियों की; द्युभिः—तेज की किरणों से; विभ्राजमानम्—चमकते हुए;

द्वि—दो; गुण—गुना; ईक्षण—जिसकी आँखें; उल्बणम्—भयावनी; सित—श्वेत; अचल—पर्वत (कैलास); आभम्—जिसकी तुलना; शिति—गहरा नीला; कण्ठ—जिसकी गर्दनें; जिह्वम्—तथा जीभें।

उस स्थान पर विशाल विस्मयकारी अनन्त शेष सर्प था। वह अपने हजारों फनों पर स्थित मणियों से निकलने वाले प्रकाश से चमचमा रहा था, जो कि फनों से दुगुनी भयावनी आँखों से परावर्तित हो रहा था। वह श्वेत कैलास पर्वत की तरह लग रहा था और उसकी गर्दनें तथा जीभें गहरे नीले रंग की थीं।

ददर्श तद्भोगसुखासनं विभुं
महानुभावं पुरुषोत्तमोत्तमम् ।
सान्द्राम्बुदाभं सुपिशङ्गवाससं
प्रसन्नवक्त्रं रुचिरायतेक्षणम् ॥ ५ ॥
महामणिव्रातकिरीटकुण्डल-
प्रभापरिक्षिप्तसहस्रकुन्तलम् ।
प्रलम्बचार्वष्टभुजं सकौस्तुभं
श्रीवत्सलक्ष्मं वनमालयावृतम् ॥ ५५ ॥
सुनन्दनन्दप्रमुखैः स्वपार्षदै-
श्चक्रादिभिर्मूर्तिधरैर्निजायुधैः ।
पुष्ट्या श्रीया कीर्त्यजयाखिलर्धिभि-
र्निषेव्यमानं परमेष्ठिनां पतिम् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

ददर्श—(अर्जुन ने) देखा; तत्—वह; भोग—सर्प; सुख—आरामदेह; आसनम्—आसन; विभुम्—सर्वव्यापी; महा-अनुभावम्—सर्वशक्तिमान; पुरुष-उत्तम—भगवान् के; उत्तमम्—परम; सान्द्र—सघन; अम्बुद—बादल; आभम्—के ही समान (उनके नीले वर्ण से); सु—सुन्दर; पिशङ्ग—पीला; वाससम्—जिसका वस्त्र; प्रसन्न—सुहावना; वक्त्रम्—जिसका मुखमण्डल; रुचिर—आकर्षक; आयत—चौड़ी; ईक्षणम्—जिसकी आँखें; महा—विशाल; मणि—मणियों के; व्रात—गुच्छों से; किरीट—मुकुट; कुण्डल—तथा कुण्डलों की; प्रभा—परावर्तित चमक से; परिक्षिप्त—इधर-उधर बिखरी हुई; सहस्र—हजारों; कुन्तलम्—जिसके बालों के गुच्छे; प्रलम्ब—लम्बा; चारु—मनोहर; अष्ट—आठ; भुजम्—भुजाएँ; स—सहित; कौस्तुभम्—कौस्तुभ मणि; श्रीवत्स-लक्ष्मम्—तथा श्रीवत्स का विशिष्ट चिह्न प्रदर्शित करते; वन—जंगली फूलों की; मालया—माला से; आवृतम्—चुम्बित; सुनन्द-नन्द-प्रमुखैः—सुनन्द तथा नन्द इत्यादि; स्व-पार्षदैः—अपने निजी संगियों सहित; चक्र-आदिभिः—चक्र इत्यादि; मूर्ति—स्वरूपों को; धरैः—प्रकट करते हुए; निज—अपने; आयुधैः—हथियारों से; पुष्ट्या श्रिया कीर्ति-अजया—पुष्टि, श्री, कीर्ति तथा अजा नामक अपनी शक्तियों से; अखिल—समस्त; ऋधिभिः—योगशक्तियों से; निषेव्यमानम्—सेवित; परमेष्ठिनम्—ब्रह्माण्ड के शासकों के; पतिम्—प्रधान को।

तत्पश्चात् अर्जुन ने सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान भगवान् महाविष्णु को सर्पशय्या पर सुखपूर्वक बैठे देखा। उनका नील वर्ण घने बादल के रंग का था, वे सुन्दर पीताम्बर पहने थे और उनका मुखमण्डल मनोहर लग रहा था। उनकी चौड़ी आँखें अत्यन्त आकर्षक थीं और उनके आठ लम्बे सुन्दर बाजू थे। उनके बालों के घने गुच्छे उनके मुकुट तथा कुण्डलों को

विभूषित करने वाले बहुमूल्य मणियों के गुच्छों से परावर्तित प्रकाश से सभी ओर से नहाये हुए थे। वे कौस्तुभ मणि, श्रीवत्स चिन्ह तथा जंगली फूलों की माला धारण किये हुए थे। सर्वोच्च ईश्वर की सेवा में सुनन्द तथा नन्द जैसे निजी संगी, उनका चक्र तथा अन्य हथियार साकार होकर उनकी संगिनी शक्तियाँ पुष्टि, श्री, कीर्ति तथा अजा एवं उनकी विविध योगशक्तियाँ थीं।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने उल्लेख किया है कि, ''भगवान् के अनेक शक्तियाँ हैं और वे भी साकार होकर खड़ी थीं। उनमें से सर्वप्रमुख थीं—पुष्टि, जो कि पोषण की शक्ति है, श्री, जो कि सौन्दर्य की शक्ति है, कीर्ति, जो कि यश की शक्ति है तथा अजा, जो कि भौतिक सृजन की शक्ति है। ये सारी शक्तियाँ भौतिक जगत के प्रशासकों अर्थात् ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु में तथा स्वर्गलोक के राजाओं, इन्द्र, चन्द्र, वरुण तथा सूर्य देव में निहित हैं। दूसरे शब्दों में, ये सारे देवता भगवान् द्वारा कुछ शक्तियों से सम्पन्न किये जाकर भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं।''

ववन्द आत्मानमनन्तमच्युतो
जिष्णुश्च तद्दर्शनजातसाध्वसः ।
तावाह भूमा परमेष्ठिनां प्रभु-
र्बद्धाञ्जली सस्मितमूर्जया गिरा ॥ ५७॥

शब्दार्थ

ववन्द—सत्कार किया; आत्मानम्—अपना; अनन्तम्—अपने असंख्य रूप में; अच्युतः—अच्युत भगवान् कृष्ण; जिष्णुः—अर्जुन; च—भी; तत्—उसके; दर्शन—दर्शन से; जात—उत्पन्न; साध्वसः—जिसका आश्चर्य; तौ—उन दोनों से; आह—कहा; भूमा—सर्वशक्तिमान ईश्वर (महाविष्णु) ने; परमे-स्थिनाम्—ब्रह्माण्ड के शासकों में से; प्रभुः—स्वामी; बद्ध-अञ्जली—आदर हेतु हाथ जोड़े हुए; स—सहित; स्मितम्—हँसी; ऊर्जया—शक्तिमान; गिरा—वाणी में।

भगवान् कृष्ण ने इस अनन्त रूप में अपनी ही वन्दना की और अर्जुन ने भी महाविष्णु के दर्शन से चकित होकर उन्हें नमस्कार किया। तत्पश्चात्, जब ये दोनों हाथ जोड़ कर उनके समक्ष खड़े थे, तो ब्रह्माण्ड के समस्त पालकों के परम स्वामी महाविष्णु मुसकाये और अत्यन्त गम्भीर वाणी में उनसे बोले।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक पर निम्नलिखित टिप्पणी की है : जिस तरह भगवान् कृष्ण ने गोवर्धन पूजा के समय अपने ही अर्चाविग्रह को नमस्कार किया था उसी तरह अब उन्होंने अपनी लीला हेतु अपने विष्णु अंश की वन्दना की। भगवान् *अनन्त* हैं अर्थात् असंख्यरूपों वाले हैं और यह आठ-भुजी रूप उन्हीं में से है। वे *अच्युत* हैं अर्थात् अपने पद से कभी च्युत नहीं होते,

क्योंकि वे वृन्दावन के ग्वालबाल के रूप में अपनी मानवी लीलाएँ करने में कभी कोई विराम नहीं लेते। अतएव कृष्ण के रूप में अपनी मानवी लीलाओं की विशेष पवित्रता बनाये रखने के लिए ही उन्होंने अपने स्वांश को नमस्कार किया।

कृष्ण तथा अर्जुन के समक्ष महाविष्णु *भूमा* अर्थात् परम ऐश्वर्यवान के रूप में तथा *परमेष्ठिनां प्रभुः* अर्थात् करोड़ों ब्रह्माण्डों पर शासन करने वाले असंख्य ब्रह्माओं के स्वामी के रूप में प्रकट हुए। वे श्रीकृष्ण की आन्तरिक इच्छा के अनुसार ही अर्जुन से ऐसी गम्भीर वाणी में बोले कि अर्जुन मोहग्रस्त हो जाय। उनकी हँसी उनके गुप्त विचारों का संकेत दे रही थी जिसे श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने हम सबों के लाभार्थ प्रकट किया है, ''हे कृष्ण! यद्यपि मैं आपका अंश हूँ, किन्तु आपकी इच्छानुसार मैं अपनी श्रेष्ठता का वर्णन करूँगा। साथ ही मेरे कथन में सूक्ष्मता से आपके सौन्दर्य, चरित्र तथा शक्ति की सर्वोच्चता निहित रहेगी और यह तथ्य भी रहेगा कि आप ही वह उद्गम हैं, जहाँ से मैं उद्भूत हूँ। देखो न, मेरी चतुराई! मैं अर्जुन के सामने रहस्यात्मक ढंग से अपनी असली पहचान प्रकट कर रहा हूँ, जो आप से अभिन्न है।''

द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा
मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये ।
कलावतीर्णाववनेर्भरासुरान्
हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

द्विज—ब्राह्मण के; आत्म-जाः—पुत्र; मे—मेरा; युवयोः—तुम दोनों; दिदृक्षुणा—जो देखना चाहता था; मया—मेरे द्वारा; उपनीताः—लाया गया; भुवि—पृथ्वी पर; धर्म—धर्म के नियमों की; गुप्तये—रक्षा के लिए; कला—(मेरे) अंशरूप; अवतीर्णौ—अवतरित; अवनेः—पृथ्वी के; भर—भारस्वरूप; असुरान्—असुरों को; हत्वा—मार कर; इह—यहाँ; भूयः—फिर; त्वरया—जल्दी से; इतम्—चले आना; अन्ति—निकट; मे—मेरे।

[महाविष्णु ने कहा] : मैं ब्राह्मणों के पुत्रों को यहाँ ले आया था, क्योंकि मैं आप दोनों के दर्शन करना चाह रहा था। आप मेरे अंश हैं, जो धर्म की रक्षा हेतु पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं। ज्योंही आप पृथ्वी के भारस्वरूप असुरों का वध कर चुकें आप तुरन्त ही मेरे पास यहाँ वापस आ जायँ।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने व्याख्या की है अर्जुन की प्रशंसा में कहे गये इन शब्दों का गुह्य आशय इस प्रकार है, ''तुम दोनों, जो कि अपनी कलाओं अर्थात् निजी शक्तियों के साथ

अवतरित हुए हो पृथ्वी के भारस्वरूप असुरों का वध करने के बाद मेरे पास लौट आओ। तुम इन असुरों को उनकी मुक्ति हेतु मेरे पास यहाँ शीघ्र भेज दो।'' *श्री हरिवंश* तथा *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कंध में कहा गया है कि क्रमिक मुक्ति का मार्ग इस ब्रह्माण्ड के आठवें आवरण के बाहर स्थित महाविष्णु के धाम के मध्यवर्ती केन्द्र से होकर गुजरता है।

पूर्णकामावपि युवां नरनारायणावृषी ।
धर्ममाचरतां स्थित्यै ऋषभौ लोकसङ्ग्रहम् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

पूर्ण—पूर्ण; कामौ—सारी इच्छाओं में; अपि—यद्यपि; युवाम्—तुम दोनों; नर-नारायणौ ऋषी—नर तथा नारायण मुनियों के रूप में; धर्मम्—धर्म को; आचरताम्—पूरा करना चाहिए; स्थित्यै—पालन करने के लिए; ऋषभौ—समस्त पुरुषों में श्रेष्ठ; लोक-सङ्ग्रहम्—सामान्य जनों के लाभ हेतु।

हे महापुरुषों में श्रेष्ठ, यद्यपि आपकी सारी इच्छाएँ पूर्ण हो चुकी हैं, किन्तु सामान्य जनों के लाभ हेतु आप नर तथा नारायण मुनियों के रूप में अपने धार्मिक आचरण का आदर्श प्रस्तुत करते रहें।

इत्यादिष्टौ भगवता तौ कृष्णौ परमेष्ठिना ।
ॐ इत्यानम्य भूमानमादाय द्विजदारकान् ॥ ६० ॥
न्यवर्तेतां स्वकं धाम सम्प्रहृष्टौ यथागतम् ।
विप्राय ददतुः पुत्रान्यथारूपं यथावयः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

इति—इन शब्दों से; आदिष्टौ—आदेश दिये गये; भगवता—भगवान् द्वारा; तौ—वे दोनों; कृष्णौ—दो कृष्ण (कृष्ण तथा अर्जुन); परमे-ष्ठिना—परम धाम के स्वामी द्वारा; ॐ इति—सहमति जताने के लिए ॐ का उच्चारण करते हुए; आनम्य—झुक कर; भूमानम्—परम शक्तिशाली भगवान् को; आदाय—तथा लेकर; द्विज—ब्राह्मण के; दारकान्—पुत्रों को; न्यवर्तेताम्—लौट गये; स्वकम्—अपने; धाम—घर (द्वारका) को; सम्प्रहृष्टौ—प्रसन्न; यथा—जिस तरह; गतम्—वे आये थे; विप्राय—ब्राह्मण को; ददतुः—दे दिया; पुत्रान्—उसके पुत्र; यथा—उसी; रूपम्—स्वरूप में; यथा—उसी; वयः—आयु में।

सर्वोच्च लोक के परमेश्वर द्वारा इस तरह आदेश दिये जाकर कृष्ण तथा अर्जुन ने ॐ का उच्चारण करके अपनी सहमति व्यक्त की और तब सर्वशक्तिमान महाविष्णु को नमन किया। अपने साथ ब्राह्मण के पुत्रों को लेकर वे परम प्रसन्नतापूर्वक उसी मार्ग से द्वारका लौट गये, जिससे होकर वे आये थे। वहाँ उन्होंने ब्राह्मण को उसके पुत्र सौंप दिये, जो वैसे ही शैशव शरीर में थे, जिसमें वे खो गये थे।

निशाम्य वैष्णवं धाम पार्थ: परमविस्मित: ।
यत्किञ्चित्पौरुषं पुंसां मेने कृष्णानुकम्पितम् ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

निशाम्य—देखकर; वैष्णवम्—भगवान् विष्णु के; धाम—धाम; पार्थ:—अर्जुन ने; परम—परम; विस्मित:—चकित; यत् किञ्चित्—जो भी; पौरुषम्—विशेष शक्ति; पुंसाम्—जीवों से सम्बद्ध; मेने—निष्कर्ष निकाला; कृष्ण—कृष्ण की; अनुकम्पितम्—प्रदर्शित अनुग्रह।

भगवान् विष्णु के धाम को देखने के बाद अर्जुन पूर्णतया विस्मित थे। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य, जो भी अद्वितीय शक्ति प्रदर्शित करता है, वह कृष्ण की कृपा की अभिव्यक्ति मात्र हो सकती है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती अर्जुन के विस्मय का वर्णन इस प्रकार करते हैं: उसने सोचा, ''देखो न! यद्यपि मैं मर्त्य हूँ, किन्तु कृष्ण की कृपा से मैंने हर वस्तु के मूल कारण भगवान् का दर्शन किया है।'' क्षण-भर बाद उसने पुन: सोचा, ''किन्तु भगवान् विष्णु ने यह क्यों कहा कि कृष्ण का दर्शन करने की कामना से ही वे ब्राह्मण के पुत्रों को ले आये थे? भला भगवान् अपने ही अंश का दर्शन करने के लिए क्यों लालायित हैं? यह किसी विशेष क्षणिक परिस्थिति का प्रभाव हो सकता है, किन्तु चूँकि उन्होंने *दिदृक्षता* न कह कर *दिदृक्षुणा* कहा है—*षुणा* प्रत्यय स्थायी गुण का सूचक है, नश्वरता का नहीं—अत: इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वे कृष्ण तथा मुझको देखने के लिए सदैव इच्छुक रहे हैं। यदि यह भी मान लिया जाय, तो फिर उन्होंने द्वारका में कृष्ण का दर्शन क्यों नहीं किया? आखिर, भगवान् महाविष्णु ब्रह्माण्ड के सर्वव्यापक स्रष्टा हैं और वे इस ब्रह्माण्ड को आमलक फल की भाँति अपने हस्त में धारण करते हैं। क्या ऐसा तो नहीं है कि वे द्वारका में कृष्ण का दर्शन नहीं कर पाये, क्योंकि कृष्ण अपनी विशेष अनुमति के बिना किसी को अपना दर्शन नहीं देते?''

और फिर ब्राह्मणों के दयालु स्वामी महाविष्णु वर्षानुवर्ष एक उच्च ब्राह्मण को क्यों कष्ट पहुँचाते रहे? उन्होंने ऐसा असामान्य व्यवहार इसीलिए किया होगा, क्योंकि वे कृष्ण का दर्शन करने की अपनी उत्कट अभिलाषा का परित्याग नहीं कर पाये होंगे। माना कि उन्होंने इसीलिए यह अनुचित कार्य किया होगा, किन्तु उन्होंने ब्राह्मण के पुत्रों का अपहरण करने के लिए अपना दास क्यों नहीं भेजा? उन्हें द्वारका क्यों आना पड़ा? क्या कृष्ण की राजधानी से उन्हें चुरा कर ले जाना इतना कठिन था कि भगवान् विष्णु के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता था? मेरी समझ में उन्होंने भगवान् कृष्ण की पुरी के ब्राह्मण को इसीलिए इतना सताना चाहा था कि कृष्ण इसे सहन न कर सकें, तब वे भगवान्

विष्णु को अपना दर्शन देने की स्वीकृति दे सकेंगे। भगवान् विष्णु ने संतप्त ब्राह्मण को प्रेरित किया कि वह स्वयं जाकर कृष्ण से शिकायत करे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीकृष्ण का ईश्वरत्व पद महाविष्णु के पद से वरिष्ठ है।

इस तरह सोच कर अर्जुन पूर्णतया विस्मित था। उसने भगवान् कृष्ण से पूछा कि क्या यह सही तथ्य है और भगवान् ने जो उत्तर दिया वह *हरिवंश* में इस प्रकार वर्णित है—

मद्दर्शनार्थं ते बाला हृतास्तेन महात्मना।

विप्रार्थम् एष्यते कृष्णो मत्समीपं न चान्यथा॥

''परमात्मा ने मेरा दर्शन पाने के लिए ही उन बालकों को चुराया था। उनका विश्वास था कि कृष्ण एकमात्र ब्राह्मण का पक्ष लेकर मुझे देखने आयेंगे, अन्यथा नहीं।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से आगे कहा, ''किन्तु मैं ब्राह्मण के लिए वहाँ नहीं गया। हे मित्र! मैं तो तुम्हारे प्राण बचाने के लिए वहाँ गया। यदि ब्राह्मण के लिए मैंने ऐसा किया होता, तो उसके पहले बालक के अपहरण के बाद ही मैं वैकुण्ठ पहुँचा होता।''

श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार यद्यपि यह लीला कुरुक्षेत्र युद्ध के पूर्व घटी, किन्तु भगवान् कृष्ण की महिमा की श्रेष्ठता के अन्तर्गत इनको दशम स्कंध के अन्त में फिर से दुहराया गया है।

इतीदृशान्यनेकानि वीर्याणीह प्रदर्शयन् ।
बुभुजे विषयान्ग्राम्यानीजे चात्युर्जितैर्मखैः ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ईदृशानि—इस जैसे; अनेकानि—अनेक; वीर्याणि—बहादुरी के कार्य; इह—इस जगत में; प्रदर्शयन्—प्रदर्शित करते हुए; बुभुजे—(भगवान् कृष्ण ने) भोग किया; विषयान्—इन्द्रिय-सुख की वस्तुएँ; ग्राम्यान्—सामान्य; ईजे—पूजा की; च—तथा; अति—अत्यन्त; उर्जितैः—सशक्त; मखैः—वैदिक यज्ञों से।

भगवान् कृष्ण ने इस जगत में ऐसी ही अन्य अनेक लीलाएँ कीं। उन्होंने ऊपर से सामान्य मानव-जीवन के आनन्दों का भोग किया और अत्यन्त सशक्त यज्ञ सम्पन्न किये।

प्रववर्षाखिलान्कामान्प्रजासु ब्राह्मणादिषु ।
यथाकालं यथैवेन्द्रो भगवान्श्रैष्ठ्यमास्थितः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

प्रववर्ष—वर्षा की; अखिलान्—समस्त; कामान्—इच्छित वस्तुओं की; प्रजासु—अपनी प्रजा पर; ब्राह्मण-आदिषु—ब्राह्मण इत्यादि पर; यथा-कालम्—उपयुक्त अवसरों पर; यथा एव—उसी तरह से; इन्द्रः—(जिस तरह) इन्द्र; भगवान्—भगवान्; श्रैष्ठ्यम्—अपनी सर्वश्रेष्ठता में; आस्थितः—स्थित।

अपनी सर्वश्रेष्ठता का प्रदर्शन कर चुकने के बाद भगवान् ने उपयुक्त अवसरों पर ब्राह्मणों तथा अपनी प्रजा पर उसी तरह इच्छित वस्तुओं की वर्षा की, जिस तरह इन्द्र जल की वर्षा करता है।

हत्वा नृपानधर्मिष्ठान्घाटयित्वार्जुनादिभिः ।
अञ्जसा वर्तयामास धर्मं धर्मसुतादिभिः ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

हत्वा—मार कर के; नृपान्—राजाओं को; अधर्मिष्ठान्—अत्यन्त अधार्मिक; घातयित्वा—उनको मरवाकर; अर्जुन-आदिभिः—अर्जुन तथा अन्यों द्वारा; अञ्जसा—सरलतापूर्वक; वर्तयाम् आस—पालन करवाया; धर्मम्—धर्म के सिद्धान्तों को; धर्म-सुत-आदिभिः—(धर्म के पुत्र) युधिष्ठिर तथा अन्यों द्वारा।

अब, जब कि उन्होंने अनेक दुष्ट राजाओं का वध कर दिया था और अन्यों को मारने के लिए अर्जुन जैसे भक्तों को लगा दिया था, तो वे युधिष्ठिर जैसे पवित्र शासकों के माध्यम से धार्मिक सिद्धान्तों के सम्पन्न होने के लिए सरलता से आश्वासन दे सके।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''कृष्ण तथा अर्जुन द्वारा ब्राह्मण-पुत्रों का वापस लाया जाना'' नामक नवासिवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नब्बे

भगवान् कृष्ण की महिमाओं का सारांश

इस अध्याय में बतलाया गया है कि भगवान् कृष्ण ने किस तरह अपनी रानियों के साथ द्वारका की सरोवरों में विहार किया। इसमें रानियों द्वारा उनके उत्कट विरह से उत्पन्न भावपूर्ण स्तुतियाँ भी हैं और भगवान् की लीलाओं का सार-समाहार भी हुआ है।

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारका स्थित अपनी ऐश्वर्यशाली राजधानी में यदुओं तथा अपनी रानियों के साथ रहते रहे। वे महल के भीतर बने तालाबों में अपनी पत्नियों के साथ पिचकारी से उन पर जल छिड़क कर तथा छिड़काकर क्रीड़ा का आनन्द लेते। वे अपने शालीन संकेतों, प्रेमपूर्ण वचनों तथा दीर्घ

चितवनों से उनके हृदयों को मुग्ध करते। इस तरह से रानियाँ उन्हीं के विचारों में निमग्न रहतीं। कभी कभी भगवान् से जल-क्रीड़ा कर चुकने के बाद, वे विविध प्राणियों को यथा कुररी और चक्रवाक पक्षियों, समुद्र, चन्द्रमा, बादल, कोयल, पर्वत, नदी इत्यादि को सम्बोधित करके कहतीं कि श्रीकृष्ण से उनकी आसक्ति प्रगाढ़ है। ऐसा कह कर वे इन प्राणियों से सहानुभूति प्रकट करना चाहती थीं।

श्रीकृष्ण ने प्रत्येक रानी के गर्भ से दस-दस पुत्र उत्पन्न किये। इनमें से प्रद्युम्न सर्व प्रमुख था, जो समस्त दिव्य गुणों में अपने पिता के ही समान था। प्रद्युम्न ने रुक्मी की कन्या से विवाह किया, जिसके गर्भ से अनिरुद्ध ने जन्म लिया। तब अनिरुद्ध ने रुक्मी की नातिन से विवाह किया, जिससे वज्र उत्पन्न हुआ, जो प्रभास में छिड़े लौह-गदा-युद्ध में बचा एकमात्र यदु-कुमार था। वज्र से ही शेष यदुवंश चला, जिसमें प्रतिबाहु सर्वप्रथम था। इस यदुवंश के सदस्य असंख्य हैं। यदुओं को अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए ३,८८,००,००० शिक्षक लगाने पड़े थे।

भगवान् कृष्ण के प्रकट होने के पूर्व संसार के लोगों को सताने तथा ब्राह्मण-संस्कृति को विनष्ट करने के लिए अनेक राक्षसों ने मानव-परिवारों में जन्म लिया था। उनका दमन करने के लिए भगवान् ने देवताओं को यदुवंश में अवतार लेने के लिए आदेश दिया, जो १ जातियों में फैल गया। सारे यदु श्रीकृष्ण को भगवान् मानते थे और उन पर अटूट श्रद्धा रखते थे। विश्राम, भोजन, भ्रमण इत्यादि करते समय, वे प्रायः उनके संग ही रहते थे और अपने दिव्य सुख में अपने शरीरों को भूल जाते थे।

दसवें स्कंध का समापन निष्ठावान श्रोता की सफलता के लिए इस वचन के साथ होता है : ''अधिकाधिक निष्ठा के साथ भगवान् मुकुन्द की सुन्दर कथाओं का नियमित श्रवण, कीर्तन तथा ध्यान करने से मर्त्य जीव को भगवद्धाम प्राप्त होगा, जहाँ काल की अमोघ शक्ति का कोई भय नहीं है।''

श्रीशुक उवाच

सुखं स्वपुर्यां निवसन्द्वारकायां श्रियः पतिः ।
सर्वसम्पत्समृद्धायां जुष्टायां वृष्णिपुङ्गवैः ॥ १ ॥
स्त्रीभिश्चोत्तमवेषाभिर्नवयौवनकान्तिभिः ।
कन्दुकादिभिर्हर्म्येषु क्रीडन्तीभिस्तडिद्द्युभिः ॥ २ ॥
नित्यं सङ्कुलमार्गायां मदच्युद्भिर्मतङ्गजैः ।
स्वलङ्कृतैर्भटैरश्वै रथैश्च कनकोज्ज्वलैः ॥ ३ ॥

उद्यानोपवनाढ्यायां पुष्पितद्रुमराजिषु ।
निर्विशद्भृङ्गविहगैर्नादितायां समन्ततः ॥ ॥
रेमे षोडशसाहस्रपत्नीनां एकवल्लभः ।
तावद्विचित्ररूपोऽसौ तद्गेहेषु महर्द्धिषु ॥ ५ ॥
प्रोत्फुल्लोत्पलकह्लारकुमुदाम्भोजरेणुभिः ।
वासितामलतोयेषु कूजद्द्विजकुलेषु च ॥ ६ ॥
विजहार विगाह्याम्भो ह्रदिनीषु महोदयः ।
कुचकुङ्कुमलिप्ताङ्गः परिरब्धश्च योषिताम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सुखम्—सुखपूर्वक; स्व—अपनी; पुर्याम्—नगरी में; निवसन्—निवास करते हुए; द्वारकायाम्—द्वारका में; श्रियः—लक्ष्मी के; पतिः—पति; सर्व—समस्त; सम्पत्—ऐश्वर्यमय गुणों में; समृद्धायाम्—सम्पन्न था; जुष्टायाम्—आबाद; वृष्णि-पुङ्गवैः—सर्वप्रमुख वृष्णियों द्वारा; स्त्रीभिः—स्त्रियों द्वारा; च—तथा; उत्तम—उत्तम; वेषाभिः—वेश वाली; नव—नवीन; यौवन—यौवन की; कान्तिभिः—सुन्दरता द्वारा; कन्दुक-आदिभिः—गेंदों तथा अन्य खिलौनों से; हर्म्येषु—छतों पर; क्रीडन्तीभिः—खेलती हुई; तडित्—बिजली जैसे; द्युभिः—तेज से; नित्यम्—सदैव; सङ्कुल—भीड़-भाड़ से भरी हुई; मार्गायाम्—जिसकी सड़कें; मद-च्युद्भिः—मद चुआते; मतम्—उन्मत्त; गजैः—हाथियों से; सु—अच्छी तरह; अलङ्कृतैः—सुसज्जित; भटैः—पैदल सैनिकों से; अश्वैः—घोड़ों से; रथैः—रथों से; च—तथा; कनक—सोने से; उज्ज्वलैः—चमकीले; उद्यान—बगीचों; उपवन—तथा पार्कों से; आढ्यायाम्—युक्त; पुष्पित—फूले हुए; द्रुम—वृक्षों की; राजिषु—पंक्तियों से; निर्विशत्—प्रवेश करते; भृङ्ग—भौंरों; विहगैः—तथा पक्षियों से; नादितायाम्—गुञ्जरित; समन्ततः—चारों ओर; रेमे—रमण किया; षोडश—सोलह; साहस्र—हजार; पत्नीनाम्—पत्नियों के; एक—एकमात्र; वल्लभः—प्रियतम; तावत्—उतने ही; विचित्र—विविध; रूपः—रूपों वाला; असौ—वह; तत्—उनके; गेहेषु—घरों में; महा-ऋद्धिषु—अत्यधिक सजे-धजे; प्रोत्फुल्ल—खिले हुए; उत्पल—कमलिनियों; कह्लार—श्वेत कमल; कुमुद—रात में खिलने वाले कमल; अम्भोज—तथा दिन में खिलने वाले कमलों के; रेणुभिः—पराग से; वासिता—सुगन्धित; अमल—निर्मल; तोयेषु—जल में; कूजत्—कूकते हुए; द्विज—पक्षियों के; कुलेषु—झुंडों में; च—तथा; विजहार—क्रीड़ा की; विगाह्य—डुबकी लगाकर; अम्भः—जल में; ह्रदिनीषु—नदियों में; महा-उदयः—सर्वशक्तिमान भगवान्; कुच—उनके स्तनों से; कुङ्कुम—लाल रंग के अंगराग, गेरू; लिप्त—लेप किया हुआ; अङ्गः—उनका शरीर; परिरब्धः—आलिंगित; च—तथा; योषिताम्—स्त्रियों द्वारा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : लक्ष्मीपति भगवान् सुखपूर्वक अपनी राजधानी द्वारका पुरी में रहने लगे, जो समस्त ऐश्वर्यों से युक्त थी और गण्य-मान्य वृष्णियों तथा आलंकारिक वेशभूषा से सजी उनकी पत्नियों द्वारा आबाद थी। जब ये यौवन-भरी सुन्दर स्त्रियाँ शहर की छतों पर गेंद तथा अन्य खिलौने खेलतीं, तो वे बिजली की चमक जैसी चमचमातीं। नगर के प्रमुख मार्गों में मद चुवाते उन्मत्त हाथियों और खूब सजे घुड़सवारों, खूब सजे-धजे पैदल सैनिकों तथा सोने से सुसज्जित चमचमाते रथों पर सवार सिपाहियों की भीड़ लगी रहती। शहर में पुष्पित वृक्षों की पंक्तियों वाले अनेक उद्यान तथा वाटिकाएँ थी, जहाँ भौंरे तथा पक्षी एकत्र होते और अपने गीतों से सारी दिशाओं को व्याप्त कर देते।

भगवान् कृष्ण अपनी सोलह हजार पत्नियों के एकमात्र प्रियतम थे। इतने ही रूपों में अपना विस्तार करके, उन्होंने प्रत्येक रानी के साथ उनके भरपूर सुसज्जित आवासों में रमण किया। इन

महलों के प्रांगण में निर्मल तालाब थे, जो खिले हुए उत्पल, कह्लार, कुमुद तथा अम्भोज कमलों के पराग-कणों से सुगन्धित थे और कूजते हुए पक्षियों के झुडों से भरे थे। सर्वशक्तिमान प्रभु इन तालाबों में तथा विविध नदियों में प्रवेश कर जल-क्रीड़ा का आनन्द लूटते और उनकी पत्नियाँ उनका आलिंगन करतीं, जिससे उनके स्तनों पर लेपित लाल कुंकम उनके शरीर पर लग जाता।

तात्पर्य : वैष्णव लेखकों ने अपनी काव्य रचना के लिए नियम बना रखा है *मधुरेण समापयेत्*— किसी भी साहित्यिक कृति का समापन विशिष्ट मधुर रस से किया जाना चाहिए। दिव्य कथाओं के सर्वाधिक मधुर वक्ता श्रील शुकदेव गोस्वामी ने तदनुसार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के इस अन्तिम अध्याय में द्वारका के मनोहारी वातावरण में भगवान् कृष्ण के रमणीय जल-विहार दृश्य के पश्चात् रानियों की उल्लासजनक स्तुतियाँ प्रस्तुत की हैं।

उपगीयमानो गन्धर्वैर्मृदङ्गपणवानकान् ।
वादयद्भिर्मुदा वीणां सूतमागधवन्दिभिः ॥ ८ ॥
सिच्यमानोऽच्युतस्ताभिर्हसन्तीभिः स्म रेचकैः ।
प्रतिषिञ्चन्विचिक्रीडे यक्षीभिर्यक्षराडिव ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

उपगीयमानः—गीतों द्वारा प्रशंसित; गन्धर्वैः—गन्धर्वों द्वारा; मृदङ्ग-पणव-आनकान्—मृदंग, पणव तथा आनक नामक ढोलों; वादयद्भिः—बजा रहे; मुदा—हर्षपूर्वक; वीणाम्—वीणाओं को; सूत-मागध-वन्दिभिः—सूतों, मागधों तथा वन्दियों द्वारा; सिच्यमानः—भिगोई जा रही; अच्युतः—भगवान् कृष्ण; ताभिः—अपनी पत्नियों द्वारा; हसन्तीभिः—हँस रही; स्म—निस्सन्देह; रेचकैः—पिचकारियों से; प्रतिषिञ्चन्—उलट कर भिगोये जाते; विचिक्रीडे—उन्होंने क्रीड़ा की; यक्षीभिः—यक्षियों से; यक्ष-राट्—यक्षों के स्वामी (कुबेर); इव—सदृश।

जब गन्धर्वों ने हर्षपूर्वक मृदङ्ग, पणव *तथा आनक* नामक ढोलों के साथ उनकी प्रशंसा में गीत गाये एवं सूतों, मागधों तथा वन्दियों ने वीणा बजाकर उनकी प्रशंसा में कविताएँ सुनाईं, तो भगवान् कृष्ण अपनी पत्नियों के साथ जल-क्रीड़ा करने लगे। रानियाँ ठिठोली करती हुईं, उन पर पिचकारियों से पानी के फुहारे छोड़ती और वे भी प्रत्युत्तर में उन पर पानी छिड़क देते। इस प्रकार से कृष्ण ने अपनी रानियों के साथ उसी तरह क्रीड़ा की, जिस तरह यक्षराज 'यक्षी अप्सराओं' के साथ क्रीड़ा करता है।

ताः क्लिन्नवस्त्रविवृतोरुकुचप्रदेशाः
सिञ्चन्त्य उद्धृतबृहत्कवरप्रसूनाः ।

कान्तं स्म रेचकजिहीर्षययोपगुह्य
जातस्मरोत्स्मयलसद्वदना विरेजुः ॥ ॥

शब्दार्थ

ताः—वे (भगवान् कृष्ण की रानियाँ); क्लिन्न—भीगे; वस्त्र—वस्त्रों वाली; विवृत—खुली हुई; ऊरु—जाँघों; कुच—स्तन के; प्रदेशाः—भाग; सिञ्चन्त्यः—छिड़कते हुए; उद्धृत—बिखरे; बृहत्—विशाल; कवर—बालों की चोटी से; प्रसूनाः—फूल; कान्तम्—उनके प्रियतम को; स्म—निस्सन्देह; रेचक—उनकी पिचकारी; जिहीर्षयया—छीन लेने के विचार; उपगुह्य—आलिंगन करके; जात—उत्पन्न; स्मर—काम की इच्छा के; उत्स्मय—अट्टहास से; लसद्—चमकते; वदनाः—जिनके मुखमण्डल; विरेजुः—देदीप्यमान लग रहे थे।

रानियों के भीगे वस्त्रों के नीचे उनकी जाँघें तथा उनके स्तन दिख रहे थे। अपने प्रियतम पर जल छिड़कने से उनके विशाल जूड़ों से बँधे फूल बिखर गये। वे उनकी पिचकारी छीनने के बहाने, उनका आलिंगन कर लेती थीं। उनका स्पर्श करने से उनमें काम-भावना बढ़ जाती, जिससे उनके मुखमंडल हँसी से चमचमाने लगते। इस तरह कृष्ण की रानियाँ देदीप्यमान सौन्दर्य से चमचमा रही थीं।

कृष्णस्तु तत्स्तनविषज्जितकुङ्कुमस्रक्-
क्रीडाभिषङ्गधुतकुन्तलवृन्दबन्धः ।
सिञ्चन्मुहुर्युवतिभिः प्रतिषिच्यमानो
रेमे करेणुभिरिवेभपतिः परीतः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

कृष्णः—भगवान् कृष्ण ने; तु—तथा; तत्—उनके; स्तन—स्तनों से; विषज्जित—लिपटे हुए; कुङ्कुम—कुंकुम-चूर्ण; स्रक्—जिनकी फूल-माला; क्रीडा—क्रीड़ा में; अभिषङ्ग—लीन होने से; धुत—हिलाये गये; कुन्तल—बालों के गुच्छों के; वृन्द—समूह की; बन्धः—व्यवस्था, सज्जा; सिञ्चन्—छिड़कते हुए; मुहुः—बारम्बार; युवतिभिः—युवती स्त्रियों द्वारा; प्रतिषिच्यमानः—उलट कर छिड़के जाते हुए; रेमे—आनन्द लूटा; करेणुभिः—हथिनियों द्वारा; इव—सदृश; इभ-पतिः—हाथियों का राजा; परीतः—घिरा हुआ।

भगवान् कृष्ण की फूल-माला उनके स्तनों के कुंकुम से पुत गई और क्रीड़ा में लीन रहने के फलस्वरूप उनके बालों के बहुत-से गुच्छे अस्त-व्यस्त हो गये। जब भगवान् ने अपनी युवा प्रेमिकाओं पर बारम्बार जल छिड़का और उन्होंने भी उलटकर उन पर जल छिड़का, तो उन्होंने वैसा ही आनन्द लूटा, जिस तरह हाथियों का राजा हथिनियों के संग में आनंद लूटता है।

नटानां नर्तकीनां च गीतवाद्योपजीविनाम् ।
क्रीडालङ्कारवासांसि कृष्णोऽदात्तस्य च स्त्रियः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

नटानाम्—पुरुष नर्तकों को; नर्तकीनाम्—तथा स्त्री नर्तकियों को; च—तथा; गीत—गाने; वाद्य—तथा बाजे से; उपजीविनाम्—जीविका चलाने वाले; क्रीडा—अपने खिलवाड़ से; अलङ्कार—गहने; वासांसि—तथा वस्त्र; कृष्णः—भगवान् कृष्ण ने; अदात्—दे दिया; तस्य—उसका (अपना); च—तथा; स्त्रियः—पत्नियाँ।

तत्पश्चात्, भगवान् कृष्ण तथा उनकी पत्नियों ने जल-क्रीड़ा के दौरान अपने पहने हुए गहने तथा वस्त्र, उन नटों तथा नर्तकियों को दे दिये जो गाना गाकर तथा वाद्य बजाकर, अपनी जीविका कमाते थे।

कृष्णस्यैवं विहरतो गत्यालापेक्षितस्मितैः ।
नर्मक्ष्वेलिपरिष्वङ्गैः स्त्रीणां किल हृता धियः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

कृष्णस्य—कृष्ण के; एवम्—इस प्रकार; विहरतः—क्रीड़ा करते; गति—हिलने-डुलने; आलाप—बातचीत; ईक्षित—निहारने; स्मितैः—तथा हँसने से; नर्म—परिहास से; क्ष्वेलि—छेड़छाड़ से; परिष्वङ्गैः—तथा आलिंगन से; स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; किल—निस्सन्देह; हृताः—चुराये गये; धियः—हृदय।

इस तरह भगवान् कृष्ण अपनी रानियों से क्रीड़ा करके और अपने हाव-भावों, बातों, चितवनों तथा हँसी से तथा अपने परिहास, छेड़छाड़ तथा आलिंगन द्वारा भी, उनके हृदयों को पूरी तरह मुग्ध कर लेते।

ऊचुर्मुकुन्दैकधियो गिर उन्मत्तवज्जडम् ।
चिन्तयन्त्योऽरविन्दाक्षं तानि मे गदतः शृणु ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ऊचुः—वे बोलीं; मुकुन्द—भगवान् कृष्ण; एक—एकमात्र; धियः—मन; गिरः—शब्द; उन्मत्त—उन्मादी व्यक्ति; वत्—सदृश; जडम्—जड़; चिन्तयन्त्यः—सोचते हुए; अरविन्द-अक्षम्—कमल जैसे नेत्र वाले प्रभु के विषय में; तानि—वे (शब्द); मे—मुझसे; गदतः—कह रहे; शृणु—सुनो।

रानियाँ भावमय आत्मविस्मृति में जड़ बन जातीं और उनके मन एकमात्र कृष्ण में लीन हो जाते। तब, वे अपने कमल नेत्र प्रभु के विषय में सोचती हुई इस तरह बोलतीं मानों पागल (उन्मादग्रस्त) हों। कृपया ये शब्द मुझसे सुनें, जैसे जैसे मैं उन्हें बतला रहा हूँ।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि भगवान् कृष्ण की रानियों में यह ऊपरी पागलपन का प्राकट्य मानो वे धतूरे या अन्य किसी भ्रांतिजनक औषधि से उन्मत्त हों वस्तुतः शुद्ध भगवद्प्रेम की क्रमिक छठी अवस्था की अभिव्यक्ति थी, जिसे *प्रेमवैचित्र्य* कहा जाता है। श्रील रूप गोस्वामी ने *उज्ज्वल नीलमणि* (१५.१३) में इस अनुराग के प्रकार का उल्लेख किया है—

प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि

प्रेमोत्कर्ष-स्वभावतः ।

या विश्लेष-धियार्तिस्तत्

प्रेमवैचित्र्यमुच्यते ॥

''जब कोई अपने उत्कट प्रेम के सहज उपजात के रूप में विरह के दुख को अपने प्रिय की उपस्थिति भी अनुभव करता है, तो यह अवस्था *प्रेमवैचित्र्य* कहलाती है।''

महिष्य ऊचुः
कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः ।
वयमिव सखि कच्चिद्गाढनिर्विद्धचेता
नलिननयनहासोदारलीलेक्षितेन ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

महिष्यः ऊचुः—रानियों ने कहा; कुररि—हे कुररी पक्षी; विलपसि—विलाप करती हो; त्वम्—तुम; वीत—विहीन; निद्रा—नींद से; न शेषे—तुम विश्राम नहीं कर सकते; स्वपिति—सोती है; जगति—(कहीं) संसार में; रात्र्याम्—रात में; ईश्वरः—भगवान्; गुप्त—छिपे; बोधः—अता-पता; वयम्—हम; इव—जिस तरह; सखि—हे सखी; कच्चित्—क्या; गाढ—गहराई से; निर्विद्ध—बिंधा हुआ; चेताः—जिसका हृदय; नलिन—कमल (की तरह); नयन—जिसकी आँखें; हास—हँसती हुई; उदार—उदार; लीला—कौतुकपूर्ण; ईक्षितेन—चितवन से।

रानियों ने कहा : हे कुररी पक्षी, तुम विलाप कर रही हो। अब तो रात्रि है और भगवान् इस जगत में कहीं गुप्त स्थान में सोये हुए हैं। किन्तु हे सखी, तुम जगी हुई हो और सोने में असमर्थ हो। कहीं ऐसा तो नहीं है कि हमारी ही तरह कमलनेत्र भगवान् की उदार कौतुक-भरी हँसीली चितवन से तुम्हारा हृदय अन्दर तक बिंध गया हो?

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि रानियों के दिव्य उन्माद ने उनमें ऐसे आनंद भाव भर दिये कि उन्हें हर व्यक्ति और हर वस्तु में उनके भाव का ही प्रतिबिम्ब दिखने लगा था। यहाँ पर वे कुररी पक्षी को सम्बोधित कर रही हैं, जिसे वे कृष्ण के विरह में शोक करती हुई मानती हैं और संकेत करती हैं कि यदि सचमुच कृष्ण को उसकी या रानियों की चिन्ता होती, तो वे उस समय कहीं सुखपूर्वक सो न रहे होते। वे कुररी को आगाह करती हैं कि वह कृष्ण से अपने विलाप को सुनने तथा कुछ दया दिखाने की आशा न करे। यदि कुररी यह सोचती हो कि कृष्ण अपनी रानियों के साथ सो रहे हैं, तो वे यह कहकर इनकार करती हैं कि वे *गुप्त बोध* हैं—अर्थात् उनका अता-पता उन्हें ज्ञात नहीं है। वे इस रात में जगत में कहीं बाहर निकल गये हैं, किन्तु उन्हें यह पता नहीं कि वे उन्हें ढूँढ़ने

कहाँ जाँय। वे क्रन्दन करती हैं, "हाय, प्रिय पक्षी! यद्यपि तुम सीधे-सादे प्राणी हो, किन्तु तुम्हारा हृदय हमारी ही तरह अन्दर तक बिंध गया है। अवश्य ही हमारे कृष्ण से तुम्हारा किञ्चित स्पर्श हुआ होगा। उनसे तुम्हारी निराशाजनक आसक्ति तुम्हारे द्वारा त्यागी क्यों नहीं जा रही?"

नेत्रे निमीलयसि नक्तमदृष्टबन्धु-
स्त्वं रोरवीषि करुणं बत चक्रवाकि ।
दास्यं गत वयमिवाच्युतपादजुष्टां
किं वा स्त्रजं स्पृहयसे कवरेण वोढुम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

नेत्रे—आँखें; निमीलयसि—बन्द रखती हो; नक्तम्—रात्रि में; अदृष्ट—न देखा हुआ; बन्धुः—जिसका प्रेमी; त्वम्—तुम; रोरवीषि—क्रन्दन करती हो; करुणम्—करुणापूर्वक; बत—हाय; चक्रवाकि—हे चक्रवाकी; दास्यम्—दासता; गता—प्राप्त; वयम् इव—हमारी ही तरह; अच्युत—कृष्ण के; पाद—पैरों से; जुष्टाम्—आदरित; किम्—शायद; वा—अथवा; स्त्रजम्—फूल की माला को; स्पृहयसे—चाहती हो; कवरेण—अपने जूड़े में; वोढुम्—लगाने के लिए।

हे बेचारी चक्रवाकी, तुम अपनी आँखें मूँद कर भी अपने अदृष्ट जोड़े (साथी) के लिए रात-भर करुणापूर्वक बहकती रहती हो। अथवा कहीं ऐसा तो नहीं है कि हमारी ही तरह तुम भी अच्युत की दासी बन चुकी हो और अपने जूड़े में उस माला को लगाना चाहती हो, जिसे वे अपने पाद-स्पर्श से धन्य कर चुके हैं?

भो भोः सदा निष्टनसे उदन्व-
न्नलब्धनिद्रोऽधिगतप्रजागरः ।
किम्वा मुकुन्दापहृतात्मलाञ्छनः
प्राप्तां दशां त्वं च गतो दुरत्ययाम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

भोः—प्रिय; भोः—प्रिय; सदा—सदैव; निष्टनसे—तुम निरन्तर उच्च ध्वनि करते हो; उदन्वन्—हे समुद्र; अलब्ध—न पाकर; निद्रः—नींद; अधिगत—अनुभव करते हुए; प्रजागरः—उन्निद्र रोग; किम् वा—अथवा शायद; मुकुन्द—कृष्ण द्वारा; अपहृत—चुराये गये; आत्म—निजी; लाञ्छनः—चिह्न; प्राप्ताम्—(हमारे द्वारा) प्राप्त; दशाम्—अवस्था को; त्वम्—तुम; च—भी; गतः—प्राप्त हुए हो; दुरत्ययाम्—मुक्त हो पाना असम्भव।

हे प्रिय समुद्र, तुम सदैव गर्जते रहते हो, रात में सोते नहीं। क्या तुम्हें उन्निद्र रोग हो गया है? या कहीं ऐसा तो नहीं है कि मुकुन्द ने हमारी ही तरह, तुमसे तुम्हारे चिन्ह छीन लिए हैं और तुम उन्हें फिर पाने में निराश हो?

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं कि यहाँ पर भगवान् कृष्ण की रानियाँ द्वारका को घेरने वाले समुद्र को क्षीर सागर समझ बैठती हैं, जिससे बहुत पहले लक्ष्मी तथा कौस्तुभ मणि निकले थे। इन्हें

भगवान् विष्णु ने छीन लिया था (*अपहृत*) और अब वे उनके वक्षस्थल में वास करते हैं। रानियाँ कल्पना करती हैं कि समुद्र एक बार फिर भगवान् के वक्षस्थल पर लक्ष्मी के वास तथा कौस्तुभ मणि के चिह्न देखने को इच्छुक है और वे यह कह कर सहानुभूति अभिव्यक्त करती हैं कि वे भी इन चिह्नों को देखना चाहती हैं। किन्तु रानियाँ तो भगवान् के वक्षस्थल पर कुंकुम चिह्न देखने की अधिक इच्छुक हैं, जिसे कृष्ण इनके स्तनों से लेते गये थे, जब इन्होंने उनका आलिंगन किया था।

त्वं यक्ष्मणा बलवतासि गृहीत इन्दो
क्षीणस्तमो न निजदीधितिभिः क्षिणोषि ।
कच्चिन्मुकुन्दगदितानि यथा वयं त्वं
विस्मृत्य भोः स्थगितगीरुपलक्ष्यसे नः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; यक्ष्मणा—यक्ष्मा रोग से; बल-वता—शक्तिशाली; असि—हो; गृहीतः—पकड़े हुए; इन्दो—हे चन्द्रमा; क्षीणः—दुर्बल; तमः—अंधकार; न—नहीं; निज—अपनी; दीधितिभिः—किरणों से; क्षिणोषि—नष्ट करते हो; कच्चित्—क्या; मुकुन्द-गदितानि—मुकुन्द द्वारा कहे गये; यथा—जिस तरह; वयम्—हमको; त्वम्—तुम; विस्मृत्य—भुला कर; भोः—प्यारे; स्थगित—जड़ीभूत; गीः—जिसकी वाणी; उपलक्ष्यसे—प्रतीत होते हो; नः—हमको।

हे प्रिय चन्द्रमा, घोर यक्ष्मा रोग (क्षयरोग) से ग्रसित होने से तुम इतने क्षीण हो गये हो कि तुम अपनी किरणों से अंधकार को भगाने में असफल हो। या फिर कहीं ऐसा तो नहीं है कि तुम इसलिए अवाक् प्रतीत हो रहे हो, क्योंकि हमारी ही तरह तुम भी मुकुन्द द्वारा दिये गये, उत्साहप्रद वादों को स्मरण नहीं कर सकते हो?

किं न्वाचरितमस्माभिर्मलयानिल तेऽप्रियम् ।
गोविन्दापाङ्गनिर्भिन्ने हृदीरयसि नः स्मरम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; नु—निस्सन्देह; आचरितम्—किया कार्य; अस्माभिः—हमारे द्वारा; मलय—मलय पर्वत के; अनिल—हे वायु; ते—तुमको; अप्रियम्—अच्छी न लगने वाली; गोविन्द—कृष्ण की; अपाङ्ग—चितवनों द्वारा; निर्भिन्ने—विदीर्ण; हृदि—हृदयों में; ईरयसि—प्रेरणा दे रहे हो; नः—हमारी; स्मरम्—काम-वासना को।

हे मलय समीर, ऐसा हमने क्या किया है कि तुम हमसे अप्रसन्न हो और हमारे उन हृदयों में काम-भावना जागृत कर रहे हो, जो पहले ही गोविन्द की चितवनों से विदीर्ण हो चुके हैं?

मेघ श्रीमंस्त्वमसि दयितो यादवेन्द्रस्य नूनं
श्रीवत्साङ्कं वयमिव भवान्ध्यायति प्रेमबद्धः ।

अत्युत्कण्ठः शवलहृदयोऽस्मद्विधो बाष्पधाराः
स्मृत्वा स्मृत्वा विसृजसि मुहुर्दुःखदस्तत्प्रसङ्गः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

मेघ—हे बादल; श्री-मन्—हे सम्मानित; त्वम्—तुम; असि—हो; दयितः—प्रिय मित्र; यादव-इन्द्रस्य—यादवों के प्रधान के; नूनम्—निश्चय ही; श्रीवत्स-अङ्कम्—श्रीवत्स नामक विशेष चिह्न धारण करने वाले (उनके वक्षस्थल पर); वयम्—हम; इव—जिस तरह; भवान्—आप; ध्यायति—ध्यान करते हैं; प्रेम—शुद्ध प्रेम द्वारा; बद्धः—बद्ध; अति—अत्यधिक; उत्कण्ठः—उत्सुक; शवल—किंकर्तव्यविमूढ़; हृदयः—जिसका हृदय; अस्मत्—जिस तरह हमारे (हृदय); विधः—उसी तरह से; बाष्प—आँसुओं की; धाराः—धाराएँ; स्मृत्वा स्मृत्वा—बारम्बार स्मरण करके; विसृजसि—आप मुक्त करते हैं; मुहुः—बारम्बार; दुःख—दुख; दः—देने वाले; तत्—उसके साथ; प्रसङ्गः—संगति।

हे पूज्य बादल, निसन्देह तुम यादवों के उन प्रधान के अत्यन्त प्रिय हो, जो श्रीवत्स का चिन्ह धारण किए हुए हैं। तुम भी हमारी ही तरह उनसे प्रेम द्वारा बद्ध हो और उनका ही चिन्तन करते हो। तुम्हारा हृदय हमारे हृदयों की ही तरह अत्यन्त उत्सुकता से किंकर्तव्यविमूढ़ है और जब तुम उनका बारम्बार स्मरण करते हो, तो आँसुओं की धारा बहाते हो। कृष्ण की संगति ऐसा ही दुख लाती है।

तात्पर्य : आचार्यों ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार से की है—बादल भगवान् कृष्ण के मित्र स्वरूप है, क्योंकि वह सूर्य की झुलसती किरणों से उनकी रक्षा करता है, अतः भगवान् के ऐसे सच्चे शुभचिन्तक को उनके कल्याण के बारे में निरन्तर ध्यान करना चाहिए। यद्यपि बादल भगवान् के नीले वर्ण में साथ देता है, किन्तु भगवान् कृष्ण के विशिष्ट लक्षण यथा उनका श्रीवत्स चिह्न, बादल के ध्यान को विशेष रूप से आकर्षित करते हैं। किन्तु इसका परिणाम क्या निकलता है? मात्र दुख—बादल हताश होता है और वह वर्षा का बहाना करके निरन्तर आँसू बहाता रहता हैं। अतः रानियाँ उसे सलाह देती हैं, ''तुम्हारे लिए यही अच्छा होगा कि तुम कृष्ण में इतनी रुचि मत लो।''

प्रियरावपदानि भाषसे मृत-
सञ्जीविकयानया गिरा ।
करवाणि किमद्य ते प्रियं
वद मे वल्गितकण्ठ कोकिल ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

प्रिय—प्रिय; राव—उसका जिसकी ध्वनियाँ; पदानि—झंकारें; भाषसे—तुम कह रहे हो; मृत—मरे हुए; सञ्जीविकया—पुनः जीवित करने वाला; अनया—इसमें; गिरा—वाणी; करवाणि—मुझे करना चाहिए; किम्—क्या; अद्य—आज; ते—तुम्हारे लिए; प्रियम्—अच्छा लगने वाला; वद—कहो; मे—मुझसे; वल्गित—इन ध्वनियों से मधुरित; कण्ठ—कण्ठ वाले; कोकिल—हे कोयल।

रे मधुर कंठ वाली कोयल, तुम मृत को भी जीवित करनेवाली वह बोली बोल रही हो, जिसे

हमने एक बार अत्यन्त मधुरभाषी अपने प्रेमी से सुनी थी। कृपा करके मुझे बताओ कि मैं तुम्हें प्रसन्न करने के लिए आज क्या कर सकती हूँ?

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि यद्यपि कोयल का गायन अत्यन्त सुहावना है, किन्तु भगवान् कृष्ण की पत्नियाँ इसे वेदनामयी अनुभव करती हैं, क्योंकि इससे उन्हें अपने प्रियतम कृष्ण की याद आ जाती है और उनकी विरह-पीड़ा बढ़ जाती हैं।

न चलसि न वदस्युदारबुद्धे
क्षितिधर चिन्तयसे महान्तमर्थम् ।
अपि बत वसुदेवनन्दनाङ्घ्रिं
वयमिव कामयसे स्तनैर्विधर्तुम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

न चलसि—तुम हिलते-डुलते नहीं हो; न वदसि—न बोलते हो; उदार—उदार; बुद्धे—जिसकी बुद्धि; क्षिति-धर—हे पर्वत; चिन्तयसे—तुम सोचते हो; महान्तम्—महान्; अर्थम्—बात के विषय में; अपि बत—शायद; वसुदेव-नन्दन—वसुदेव के लाड़ले पुत्र को; अङ्घ्रिम्—पाँवों को; वयम्—हम; इव—जिस तरह; कामयसे—तुम चाहते हो; स्तनैः—तुम्हारे स्तनों (चोटियों) पर; विधर्तुम्—धारण करने के लिए।

हे उदार पर्वत, तुम न तो हिलते-डुलते हो, न बोलते-चालते हो। तुम अवश्य ही किसी अत्यन्त महत्त्व वाली बात पर विचार कर रहे होगे। अथवा क्या तुम हमारी ही तरह अपने स्तनों (शिखिरों) पर वसुदेव के लाड़ले के पाँवों को धारण करना चाहते हो?

तात्पर्य : *स्तनैः* शब्द, जिसका अर्थ "अपने स्तनों पर" है यहाँ पर्वत की चोटियों का सूचक हैं।

शुष्यद्ध्रदाः करशिता बत सिन्धुपत्न्यः
सम्प्रत्यपास्तकमलश्रिय इष्टभर्तुः ।
यद्वद्वयं मधुपतेः प्रणयावलोक-
मप्राप्य मुष्टहृदयाः पुरुकर्शिताः स्म ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

शुष्यत्—सूखती हुई; ह्रदाः—जिसकी झीलें; करशिताः—दुबली-पतली; बत—हाय; सिन्धु—समुद्र की; पत्न्यः—हे पत्नियों; सम्प्रति—अब; अपास्त—खोया हुआ; कमल—कमलों का; श्रीयः—तेज; इष्ट—प्रिय; भर्तुः—पति का; यद्वत्—जिस तरह; वयम्—हम; मधु-पतेः—मधु के स्वामी; प्रणय—प्रेम; अवलोकम्—झलक; अप्राप्य—न पाते हुए; मुष्ट—ठगी हुई; हृदयाः—हृदयों वाली; पुरु—पूरी तरह; कर्शिताः—विदीर्ण; स्म—हो गई हैं।

हे समुद्र-पत्नी नदियो, अब तुम्हारे कुण्ड सूख गये हैं। हाय! तुम एकदम दुबली हो गई हो और तुम्हारी कमलों की सम्पत्ति लुप्त हो गई है। तो क्या तुम हमारी तरह हो, जो इसलिए म्लान हो रही हैं, क्योंकि उन्हें हृदयों को ठगने वाले अपने प्रिय पति मधुपति की स्नेहिल चितवन नहीं

मिल रही?

तात्पर्य : ग्रीष्म ऋतु में नदियों को अपने पति रूपी समुद्र से बादलों के द्वारा वर्षा की झड़ी नहीं मिल पाती। किन्तु नदियों के सूखने का असली कारण रानियों के अनुसार यह है कि वे समस्त सुख के आगार भगवान् कृष्ण की प्रेममयी चितवन पाने में विफल रही हैं।

हंस स्वागतमास्यतां पिब पयो ब्रूह्यङ्ग शौरेः कथां
दूतं त्वां नु विदाम कच्चिदजितः स्वस्त्यास्त उक्तं पुरा ।
किं वा नश्चलसौहृदः स्मरति तं कस्माद्भजामो वयं
क्षौद्रालापय कामदं श्रियमृते सैवैकनिष्ठा स्त्रियाम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

हंस—हे हंस; सु-आगतम्—स्वागत है; आस्यताम्—आओ और बैठो; पिब—पियो; पयः—दूध; ब्रूहि—हमें बतलाओ; अङ्ग—हे प्रिय; शौरेः—शौरि के; कथाम्—समाचार; दूतम्—संदेशवाहक को; त्वाम्—तुम; नु—निस्सन्देह; विदाम—हम पहचानती हैं; कच्चित्—क्या; अजितः—अजेय; स्वस्ति—कुशलपूर्वक; आस्ते—है; उक्तम्—कहा हुआ; पुरा—बहुत पहले; किम्—क्या; वा—अथवा; नः—हमको; चल—चलायमान; सौहृदः—जिसकी मित्रता; स्मरति—स्मरण करता है; तम्—उसको; कस्मात्—किस कारण से; भजामः—पूजा करें; वयम्—हम; क्षौद्र—हे क्षुद्र के सेवक; आलापय—उसे आने के लिए कहो; काम—इच्छा; दम्—देनेवाला; श्रियम्—लक्ष्मी के; ऋते—बिना; सा—वह; एव—अकेले; एक-निष्ठा—एकान्त भाव के अनुसार; स्त्रियाम्—स्त्रियों में से।

हे हंस, स्वागत है। कृपया यहाँ बैठो और थोड़ा दूध पियो। हमें अपने प्रिय शूरवंशी के कुछ समाचार बतलाओ। हम जानती हैं कि तुम उनके दूत हो। वे अजेय प्रभु कुशल से तो हैं? क्या हमारा वह अविश्वसनीय मित्र अब भी उन शब्दों का स्मरण करता है, जिन्हें उसने बहुत काल पूर्व कहा था? हम उसके पास क्यों जाँय और उसकी पूजा क्यों करें? हे क्षुद्र स्वामी के सेवक, जाकर उससे कहो कि वह लक्ष्मी के बिना यहाँ आकर हमारी इच्छाएँ पूरी करे। क्या वही एकमात्र स्त्री है, जो उसके प्रति विशेषरूप से अनुरक्त हो गया है?

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती रानियों तथा हंस के बीच हुई निम्नलिखित बातचीत सुनाते हैं—

रानियाँ पूछती हैं, ''क्या अजेय प्रभु सकुशल हैं?''

हंस उत्तर देता है, ''भला अपनी प्रिय पत्नियों के बिना कृष्ण कैसे कुशल से हो सकते है?''

''किन्तु क्या उसे स्मरण है, जो उसने एक बार हममें से एक, श्रीमती रुक्मिणी, से कहा था? क्या उसे स्मरण है कि उसने कहा था, ''मैं सारे महलों में तुम जैसी प्रिया अन्य कोई पत्नी नहीं देखता हूँ।''

(*भागवत* .६०.५५ *न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु पश्यामि*)

“हाँ, उन्हें यह सब याद है, इसीलिए उन्होंने मुझे यहाँ भेजा है। तुम सब उनके पास जाओ और उनकी भक्ति में लगो।”

“यदि वह हमारे साथ रहने के लिए यहाँ आने से इनकार करता है, तो हम उसकी पूजा करने क्यों जायें?”

“किन्तु हे दयासिन्धो! वे तुम्हारी अनुपस्थिति से अत्यधिक कष्ट पा रहे हैं। वे इस कष्ट से कैसे बचाये जायें?”

“हे क्षुद्र स्वामी के सेवक! जरा सुनो तो, उसे यहाँ आने के लिए कहो, क्योंकि उसे आना चाहिए। यदि उसे कामेच्छा सता रही है, तो वह स्वयं दोषी हैं, क्योंकि काम-शक्ति का स्रष्टा वही है। हम आत्मसम्मान रखने वाली महिलाएँ उसकी माँग के सामने झुकने वाली नहीं हैं कि हम जाकर उसे ढूँढ़ें।”

“ऐसा ही हो, तब मैं विदा चाहूँगा।”

“नहीं, जरा एक मिनट! तुम यहाँ आने के लिए उसे कहो किन्तु लक्ष्मी के बिना, क्योंकि वह पूरे समय उसे अपने पास रख कर हमें सदैव ठगती है।”

“क्या तुम यह नहीं जानती कि लक्ष्मी देवी एकमात्र भगवान् के प्रति अनुरक्त हैं? भला वे उन्हें इस तरह क्यों छोड़ने लगे?”

“तो क्या संसार में वही एकमात्र ऐसी स्त्री है, जो उसके हाथ बिक चुकी है? हम कहाँ गईं?”

श्रीशुक उवाच
इतीदृशेन भावेन कृष्णे योगेश्वरेश्वरे ।
क्रियमाणेन माधव्यो लेभिरे परमां गतिम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस तरह कहते हुए; ईदृशेन—ऐसे; भावेन—भावपूर्ण प्रेम से; कृष्णे—कृष्ण के लिए; योग-ईश्वर—योग के स्वामियों के; ईश्वरे—स्वामी; क्रियमाणेन—आचरण करते हुए; माधव्यः—माधव की पत्नियों ने; लेभिरे—प्राप्त किया; परमाम्—चरम; गतिम्—गन्तव्य, लक्ष्य।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : योग के समस्त ईश्वरों के ईश्वर भगवान् कृष्ण के ऐसे भावमय प्रेम में बोलती तथा कार्य करती हुईं, उनकी प्रिय पत्नियों ने जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त किया।

तात्पर्य : आचार्य श्रील गोस्वामी के अनुसार यहाँ पर शुकदेव गोस्वामी *क्रियमाणेन* शब्द को

वर्तमान काल में यह सूचित करने के लिए प्रयुक्त करते हैं कि भगवान् की रानियों ने तुरन्त ही बिना विलम्ब उनके नित्य धाम को प्राप्त किया। इस अन्तर्दृष्टि से आचार्य इस झूठी कल्पना का निराकरण करते हैं कि इस लोक से कृष्ण के चले जाने पर कुछ आदिकालीन ग्वालों ने उनकी पत्नियों का तब अपहरण कर लिया, जब वे अर्जुन के संरक्षण में थीं। वस्तुत: जैसाकि स्वरूपसिद्ध वैष्णव टीकाकारों ने अन्यत्र व्याख्या की है भगवान् कृष्ण स्वयं ही उन चोरों के वेश में प्रकट हुए थे, जिन्होंने रानियों का अपहरण किया था। इस विषय पर अधिक जानकारी के लिए *श्रीमद्भागवत* (१.१५.२०) के श्रील प्रभुपाद द्वारा लिखित तात्पर्य को देखना चाहिए।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टिप्पणी है कि इन भद्र महिलाओं ने जो चरम गति प्राप्त की वह निर्विशेष योगियों की मुक्ति नहीं थी अपितु *प्रेम-भक्ति* की पूर्ण दशा थी। निस्सन्देह, चूँकि वे प्रारम्भ से दिव्य भगवत्प्रेम से ओतप्रोत थीं, अतएव उन्हें सच्चिदानन्द विग्रह प्राप्त था, जिसमें वे भगवान् की अन्तरंग मधुर लीलाओं के आदान-प्रदान का आनन्द प्राप्त कर सकती थीं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के मतानुसार, उनका भगवत्प्रेम *भावोन्माद* में बदल चुका था, जिस तरह गोपियों के प्रेम के साथ हुआ था, जब कृष्ण उनके रासनृत्य के बीच से ही अदृश्य हो गये थे। उस समय गोपियों ने पूर्ण भावोन्माद का अनुभव किया था, जिसको उन्होंने जंगल के विविध जन्तुओं से पूछताछ करते हुए तथा इन शब्दों द्वारा *कृष्णोऽहं पश्यत गतिम्* (मैं कृष्ण हूँ। देखो न, मैं कितने गौरव से चल रही हूँ।'' (*भागवत* .३०.१९) व्यक्त किया था। इसी तरह भगवान् द्वार काधीश की प्रमुख पत्नियों के प्रेम-भाव या *विलास* ने उनमें *प्रेमवैचित्र्य* के लक्षण उत्पन्न किये, जिसे वे यहाँ प्रकट कर रही हैं।

श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीणां प्रसह्याकर्षते मनः ।
उरुगायोरुगीतो वा पश्यन्तीनां च किं पुनः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्रुत—सुना हुआ; मात्रः—केवल; अपि—भी; यः—जो (भगवान् कृष्ण); स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; प्रसह्य—बल से; आकर्षते—आकर्षित करता है; मनः—मनों को; उरु—अनेक; गाय—गीतों द्वारा; उरु—असंख्य प्रकारों से; गीतः—गाया हुआ; वा—दूसरी ओर; पश्यन्तीनाम्—उसे देखने वाली स्त्रियों के; च—तथा; किम्—क्या; पुनः—अधिक।

भगवान् जिनका महिमागान असंख्य गीतों द्वारा असंख्य प्रकार से होता हैं, वे उन समस्त स्त्रियों के मन को बलपूर्वक आकर्षित करते हैं, जो उनके विषय में श्रवण मात्र करती हैं। तो फिर उन स्त्रियों के विषय में क्या कहा जाय, जो प्रत्यक्ष रुप से उनका दर्शन करती हैं?

याः सम्पर्यचरन्प्रेम्णा पादसंवाहनादिभिः ।
जगद्गुरुं भर्तृबुद्ध्या तासां किम्वर्ण्यते तपः ॥ २७॥

शब्दार्थ

याः—जो; सम्पर्यचरन्—पूरी तरह सेवित; प्रेम्णा—शुद्ध प्रेम से; पाद—उनके पैर; संवाहन—मालिश; आदिभिः—इत्यादि के द्वारा; जगत्—ब्रह्माण्ड के; गुरुम्—गुरु को; भर्तृ—अपने पति रूप में; बुद्ध्या—प्रवृत्ति से; तासाम्—उनकी; किम्—कैसे; वर्ण्यते—वर्णन किया जा सकता है; तपः—तपस्या का।

और उन स्त्रियों द्वारा, जिन्होंने शुद्ध प्रेमभाव से ब्रह्माण्ड के गुरु की सेवा की उनके द्वारा सम्पन्न महान् तपस्या का भला कोई कैसे वर्णन कर सकता है? उन्हें अपना पति मानकर, उन्होंने उनके पाँव दबाने जैसी घनिष्ठ सेवाएँ कीं।

एवं वेदोदितं धर्ममनुतिष्ठन्सतां गतिः ।
गृहं धर्मार्थकामानां मुहुश्चादर्शयत्पदम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; वेद—वेदों द्वारा; उदितम्—कहा गया; धर्मम्—धर्म; अनुतिष्ठन्—सम्पन्न करते हुए; सताम्—सन्त-भक्तों के; गतिः—लक्ष्य; गृहम्—घर; धर्म—धार्मिकता; अर्थ—आर्थिक विकास; कामानाम्—तथा इन्द्रिय-तृप्ति के; मुहुः—बारम्बार; च—तथा; आदर्शयत्—उन्होंने प्रदर्शित किया; पदम्—स्थान के रूप में।

इस तरह वेदों द्वारा आदेशित कर्तव्यों का पालन करते हुए सन्त-भक्तों के लक्ष्य भगवान् कृष्ण ने बारम्बार प्रदर्शित किया कि कोई व्यक्ति घर पर किस तरह धर्म, आर्थिक विकास तथा नियमित इन्द्रिय-तृप्ति के लक्ष्यों को प्राप्त कर सकता है।

आस्थितस्य परं धर्मं कृष्णस्य गृहमेधिनाम् ।
आसन्षोडशसाहस्रं महिष्यश्च शताधिकम् ॥ २९॥

शब्दार्थ

आस्थितस्य—स्थित; परम्—सर्वोच्च; धर्मम्—धार्मिक सिद्धान्तों को; कृष्णस्य—कृष्ण के; गृह-मेधिनाम्—गृहस्थाश्रम वालों के; आसन्—थे; षोडश—सोलह; साहस्रम्—हजार; महिष्यः—रानियाँ; च—तथा; शत—एक सौ से; अधिकम्-प्लुस्.

धार्मिक गृहस्थ-जीवन के सर्वोच्च आदर्शों को पूरा करते हुए, भगवान् कृष्ण के १६,० से अधिक पत्नियाँ थीं।

तासां स्त्रीरत्नभूतानामष्टौ याः प्रागुदाहृताः ।
रुक्मिणीप्रमुखा राजंस्तत्पुत्राश्चानुपूर्वशः ॥ ३०॥

शब्दार्थ

तासाम्—उनमें से; स्त्री—स्त्रियों की; रत्न—रत्न या मणियों जैसी; भूतानाम्—थीं; अष्टौ—आठ; याः—जो; प्राक्—इसके पूर्व; उदाहृताः—वर्णित; रुक्मिणी-प्रमुखाः—रुक्मिणी इत्यादि; राजन्—हे राजा (परीक्षित); तत्—उनके; पुत्राः—पुत्र; च—भी; अनुपूर्वशः—उसी क्रम में।

इन रत्न जैसी स्त्रियों में से रुक्मिणी इत्यादि आठ प्रमुख रानियाँ थीं। हे राजन्, मैं पहले ही इनके पुत्रों के साथ-साथ इनका क्रमिक वर्णन कर चुका हूँ।

एकैकस्यां दश दश कृष्णोऽजीजनदात्मजान् ।
यावत्य आत्मनो भार्या अमोघगतिरीश्वरः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एक-एकस्याम्—उनमें से प्रत्येक के; दश दश—दस-दस; कृष्णः—कृष्ण ने; अजीजनत्—उत्पन्न किया; आत्म-जान्—पुत्रों को; यावत्यः—जितनी; आत्मनः—उनकी; भार्याः—पत्नियाँ; अमोघ—कभी विफल न होने वाला; गतिः—जिसका प्रयास; ईश्वरः—भगवान्।

ऐसे भगवान् कृष्ण ने, जिनका प्रयास कभी विफल नहीं होता, अपनी हर एक पत्नी से दस-दस पुत्र उत्पन्न किये।

तात्पर्य : इस तरह कृष्ण के पुत्रों की कुल संख्या १,६१,०८० थी और उनकी प्रत्येक पत्नी से एक-एक पुत्री भी थी।

तेषामुद्दामवीर्याणामष्टादश महारथाः ।
आसन्नुदारयशसस्तेषां नामानि मे शृणु ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—इन (पुत्रों) के; उद्दाम—असीम; वीर्याणाम्—जिनका पराक्रम; अष्टा-दश—अठारह; महा-रथाः—महारथों, सर्वोच्च श्रेणी के रथ-योद्धा; आसन्—थे; उदार—विस्तृत; यशसः—जिनकी ख्याति; तेषाम्—उनके; नामानि—नाम; मे—मुझसे; शृणु—सुनो।

इन असीम पराक्रम वाले पुत्रों में से अठारह महान् ख्याति वाले महारथ थे। अब मुझसे उनके नाम सुनो।

प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च दीप्तिमान्भानुरेव च ।
साम्बो मधुर्बृहद्भानुश्चित्रभानुर्वृकोऽरुणः ॥ ३३ ॥
पुष्करो वेदबाहुश्च श्रुतदेवः सुनन्दनः ।
चित्रबाहुर्विरूपश्च कविर्न्यग्रोध एव च ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

प्रद्युम्नः—प्रद्युम्न; च—तथा; अनिरुद्धः—अनिरुद्ध; च—तथा; दीप्तिमान् भानुः—दीप्तिमान तथा भानु; एव च—भी; साम्बः मधुः बृहत्-भानुः—साम्ब, मधु तथा बहद्भानु; चित्र-भानुः वृकः अरुणः—चित्रभानु, वृक तथा अरुण; पुष्करः वेद-बाहुः

च—पुष्कर तथा वेदबाहु; श्रुतदेवः सुनन्दनः—श्रुतदेव तथा सुनन्दन; चित्र-बाहुः विरूपः च—चित्रबाहु तथा विरूप; कविः न्यग्रोधः—कवि तथा न्यग्रोध; एव च—भी।

इनके नाम थे प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, दीप्तिमान्, भानु, साम्ब, मधु, बृहद्भानु, चित्रभानु, वृक, अरुण, पुष्कर, वेदबाहु, श्रुतदेव, सुनन्दन, चित्रबाहु, विरूप, कवि तथा न्यग्रोध।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार यहाँ पर उल्लिखित अनिरुद्ध भगवान् कृष्ण का पुत्र था, प्रद्युम्न से उत्पन्न उनका प्रसिद्ध पौत्र नहीं।

एतेषामपि राजेन्द्र तनुजानां मधुद्विषः ।
प्रद्युम्न आसीत्प्रथमः पितृवद् रुक्मिणीसुतः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एतेषाम्—इनमें से; अपि—तथा; राज-इन्द्र—हे राजाओं में प्रधान; तनु-जानाम्—पुत्रों में से; मधु-द्विषः—मधु असुर के शत्रु कृष्ण के; प्रद्युम्नः—प्रद्युम्न; आसीत्—था; प्रथमः—पहला; पितृवत्—अपने पिता के ही समान; रुक्मिणी-सुतः—रुक्मिणी का पुत्र।

हे राजाओं में श्रेष्ठ, मधु के शत्रु भगवान् कृष्ण द्वारा उत्पन्न किये गये इन पुत्रों में से रुक्मिणी-पुत्र प्रद्युम्न सर्वप्रमुख था। वह अपने पिता के ही समान था।

स रुक्मिणो दुहितरमुपयेमे महारथः ।
तस्यां ततोऽनिरुद्धोऽभून्नागायतबलान्वितः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने (प्रद्युम्न ने); रुक्मिणः—रुक्मी (रुक्मिणी के बड़े भाई) की; दुहितरम्—पुत्री, रुक्मवती से; उपयेमे—विवाह किया; महा-रथः—महारथी; तस्याम्—उससे; ततः—तब; अनिरुद्धः—अनिरुद्ध; अभूत्—उत्पन्न हुआ; नाग—हाथी के; अयुत—दस हजार; बल—बल से; अन्वितः—युक्त।

महारथी प्रद्युम्न ने रुक्मी की पुत्री (रुक्मवती) से विवाह किया, जिसने अनिरुद्ध को जन्म दिया। वह दस हजार हाथियों जितना बलवान् था।

स चापि रुक्मिणः पौत्रीं दौहित्रो जगृहे ततः ।
वज्रस्तस्याभवद्यस्तु मौषलादवशेषितः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने (अनिरुद्ध ने); च—तथा; अपि—आगे; रुक्मिणः—रुक्मी की; पौत्रीम्—पोती, (रोचना से); दौहित्रः—(रुक्मी) पुत्री का पुत्र; जगृहे—ग्रहण किया; ततः—तत्पश्चात्; वज्रः—वज्र ने; तस्य—उसके पुत्र रुप में; अभवत्—जन्म लिया; यः—जो; तु—लेकिन; मौषलात्—लोहे के बने मूसल से यदुओं की विनाश-लीला के बाद; अवशेषितः—बचा रहा।

रुक्मी की पुत्री के पुत्र (अनिरुद्ध) ने रुक्मी के पुत्र की कन्या (रोचना) से विवाह किया। उससे वज्र उत्पन्न हुआ, जो यदुओं के मूसल-युद्ध के बाद कुछ बचने वालों में से एक था।

प्रतिबाहुरभूत्तस्मात्सुबाहुस्तस्य चात्मजः ।
सुबाहोः शान्तसेनोऽभूच्छतसेनस्तु तत्सुतः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

प्रति-बाहुः—प्रतिबाहु; अभूत्—हुआ; तस्मात्—उस (वज्र) से; सुबाहुः—सुबाहु; तस्य—उसका; च—तथा; आत्म-जः—पुत्र; सु-बाहोः—सुबाहु से; शान्त-सेनः—शान्तसेन; अभूत्—हुआ; शत-सेनः—शतसेन; तु—तथा; तत्—उसका (शान्तसेन का); सुतः—पुत्र।

वज्र से प्रतिबाहु उत्पन्न हुआ, जिसका पुत्र सुबाहु था। सुबाहु का पुत्र शान्तसेन था और शान्तसेन से शतसेन उत्पन्न हुआ।

न ह्येतस्मिन्कुले जाता अधना अबहुप्रजाः ।
अल्पायुषोऽल्पवीर्याश्च अब्रह्मण्याश्च जज्ञिरे ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; एतस्मिन्—इस; कुले—परिवार में; जाताः—उत्पन्न; अधनः—निर्धन; अ-बहु—अनेक नहीं; प्रजाः—पुत्र; अल्प-आयुषः—कम उम्र वाले; अल्प—कम; वीर्याः—पराक्रम वाले; च—तथा; अब्रह्मण्याः—ब्राह्मण के प्रति निष्ठावान् नहीं; च—तथा; जज्ञिरे—उत्पन्न हुए।

इस परिवार के ऐसा कोई भी व्यक्ति उत्पन्न नहीं हुआ, जो निर्धन हो या सन्तानहीन, अल्पायु, निर्बल या ब्राह्मण संस्कृति के प्रति उपेक्षावान् हो।

यदुवंशप्रसूतानां पुंसां विख्यातकर्मणाम् ।
सङ्ख्या न शक्यते कर्तुमपि वर्षायुतैर्नृप ॥ ० ॥

शब्दार्थ

यदु-वंश—यदुवंश में; प्रसूतानाम्—जन्म लेने वाले; पुंसाम्—मनुष्यों को; विख्यात—प्रसिद्ध; कर्मणाम्—कर्मों वाले; सङ्ख्या—गिनती; न शक्यते—सम्भव नहीं; कर्तुम्—कर पाना; अपि—भी; वर्ष—वर्षों में; अयुतैः—दस हजार; नृप—हे राजा (परीक्षित)।

यदुवंश ने विख्यात कृत्यों वाले असंख्य महापुरुषों को जन्म दिया। हे राजन्, उन सबों की गिनती दस हजार से अधिक वर्षों में भी नहीं की जा सकती।

तिस्रः कोट्यः सहस्राणामष्टाशीतिशतानि च ।
आसन्यदुकुलाचार्याः कुमाराणामिति श्रुतम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

तिस्रः—तीन; कोट्यः—करोड़; सहस्राणाम्—हजार; अष्टा-अशीति—अट्ठासी; शतानि—सौ; च—तथा; आसन्—थे; यदु-कुल—यदुवंश के; आचार्याः—शिक्षक; कुमाराणाम्—बालकों के लिए; इति—इस प्रकार; श्रुतम्—सुना गया है।

मैंने प्रामाणिक स्रोतों से सुना है कि यदुवंश ने अपने बालकों को शिक्षा देने के लिए ही

३,८८,००,००० शिक्षक नियुक्त किये थे।

सङ्ख्यानं यादवानां कः करिष्यति महात्मनाम् ।
यत्रायुतानामयुतलक्षेणास्ते स आहुकः ॥ २॥

शब्दार्थ

सङ्ख्यानम्—गिनती; यादवानाम्—यादवों की; कः—कौन; करिष्यति—कर सकता है; महा-आत्मनाम्—महापुरुषों की; यत्र—जिनमें से; अयुतानाम्—दस हजारों के; अयुत—दस हजार (गुना); लक्षेण—(तीन) सौ हजार (व्यक्तियों) समेत; आस्ते—उपस्थित थे; सः—वह; आहुकः—उग्रसेन।.

भला महान् यादवों की गणना कौन कर सकता है, जबकि उनमें से राजा उग्रसेन के साथ तीन नील (३,००,००,००,००,००,०००) परिचारक रहते थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसकी व्याख्या की है कि राजा उग्रसेन के परिचारकों की संख्या असंख्य नीलों में न बताई जाकर तीन नील कही गई है। उन्होंने *कपिञ्जलाधिकरण* की व्याख्या (कबूतरों के संदर्भ) का नियम उद्धृत किया है। वेदों में कहीं पर आदेश है कि ''मनुष्य को चाहिए कि कुछ कबूतरों की बलि दे।'' इसका तात्पर्य असंख्य कबूतर नहीं अपितु केवल तीन कबूतर है क्योंकि वेद किसी विषय को अस्पष्ट नहीं छोड़ते हैं। मीमांसा के नियमानुसार, जब कोई संख्या न व्यक्त हो तो उसे तीन मानना चाहिए।

देवासुराहवहता दैतेया ये सुदारुणाः ।
ते चोत्पन्ना मनुष्येषु प्रजा दृप्ता बबाधिरे ॥ ३॥

शब्दार्थ

देव-असुर—देवताओं तथा असुरों के मध्य; आहव—युद्धों में; हताः—मारे गये; दैतेयाः—असुरगण; ये—जो; सु—अत्यन्त; दारुणाः—भयानक; ते—वे; च—तथा; उत्पन्नाः—उत्पन्न हुए; मनुष्येषु—मनुष्यों के बीच में; प्रजाः—जनता को; दृप्ताः—उद्धत; बबाधिरे—सताने लगे।.

दिति की जंगली सन्तानों ने जो भूतकाल में देवताओं तथा असुरों के मध्य हुए युद्धों में मारी गई थीं, मनुष्यों के बीच जन्म लिया और वे उद्धत होकर सामान्य जनता को सताने लगे थे।

तन्निग्रहाय हरिणा प्रोक्ता देवा यदोः कुले ।
अवतीर्णाः कुलशतं तेषामेकाधिकं नृप ॥ ॥

शब्दार्थ

तत्—उनके; निग्रहाय—दमन के लिए; हरिणा—भगवान् कृष्ण द्वारा; प्रोक्ता:—कहा गया; देवा:—देवतागण; यदो:—यदु के; कुले—कुल में; अवतीर्णा:—अवतरित; कुल—कुलों के; शतम्—एक सौ; तेषाम्—उनके; एक-अधिकम्—एक और; नृप—हे राजा (परीक्षित)।

इन असुरों का दमन करने के लिए भगवान् हरि ने देवताओं से यदुकुल में अवतार लेने के लिए कहा। हे राजन् ऐसे १ कुल थे।

तेषां प्रमाणं भगवान्प्रभुत्वेनाभवद्धरिः ।
ये चानुवर्तिनस्तस्य ववृधुः सर्वयादवाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनमें से; प्रमाणम्—प्रमाण; भगवान्—भगवान्; प्रभुत्वेन—भगवान् होने के कारण; अभवत्—था; हरि:—भगवान् हरि; ये—जो; च—तथा; अनुवर्तिन:—निजी संगी; तस्य—उसके; ववृधु:—उन्नति की; सर्व—सारे; यादवा:—यादवों ने।

चूँकि श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, अतएत यादवों ने उन्हें अपना परम प्रमाण (सत्ता) मान लिया। और इन सबों में से, जो उनके घनिष्ठ संगी थे उन्होंने विशेष रूप से उन्नति की।

शय्यासनाटनालापक्रीडास्नानादिकर्मसु ।
न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

शय्या—सोते; आसन—बैठते; अटन—घूमते; आलाप—बात करते; क्रीड—खेलते; स्नान—नहाते; आदि—इत्यादि; कर्मसु—कार्यों में; न विदु:—वे अवगत न थे; सन्तम्—उपस्थित; आत्मानम्—वे स्वयं; वृष्णय:—वृष्णिजन; कृष्ण—कृष्ण में (लीन); चेतस:—जिनके मन।

वृष्णिजन कृष्णभावनामृत में इतने लीन थे कि वे सोते, बैठते, घूमते, बातें करते, खेलते, नहाते इत्यादि कार्य करते समय अपने ही शरीर की सुधि-बुधि भूल गये।

तीर्थं चक्रे नृपोनं यदजनि यदुषु स्वःसरित्पादशौचं
विद्विट्स्निग्धाः स्वरूपं ययुरजितपर श्रीर्यदर्थेऽन्ययत्नः ।
यन्नामामङ्गलघ्नं श्रुतमथ गदितं यत्कृतो गोत्रधर्मः
कृष्णस्यैतन्न चित्रं क्षितिभरहरणं कालचक्रायुधस्य ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तीर्थम्—तीर्थस्थान; चक्रे—बनाया; नृप—हे राजा (परीक्षित); ऊनम्—घट कर; यत्—जो (कृष्ण की महिमा); अजनि—उसने जन्म लिया; यदुषु—यदुओं के मध्य; स्व:—स्वर्ग की; सरित्—नदी; पाद—जिसके पैर; शौचम्—जो (जल) धोता है; विद्विट्—शत्रु; स्निग्धा:—तथा प्रियजन; स्वरूपम्—जिनके स्वरूप; ययु:—प्राप्त किया; अजित—अजेय; परा—तथा पूर्ण; श्री:—लक्ष्मी; यत्—जिसके; अर्थे—हेतु; अन्य—अन्य; यत्न:—प्रयास; यत्—जिसका; नाम—नाम; अमङ्गल—अशुभ को; घ्नम्—नष्ट करने वाला; श्रुतम्—सुना हुआ; अथ—अथवा; गदितम्—कहा गया; यत्—जिसके द्वारा; कृत:—उत्पन्न; गोत्र—

(विभिन्न मुनियों के) गोत्रों में; धर्मः—धर्म; कृष्णस्य—कृष्ण के लिए; एतत्—यह; न—नहीं; चित्रम्—आश्चर्यजनक; क्षिति—पृथ्वी के; भर—भार के; हरणम्—उतारने के लिए; काल—समय का; चक्र—पहिया; आयुधस्य—जिसका हथियार।

स्वर्ग की गंगा पवित्र तीर्थ है, क्योंकि उसका जल भगवान् के चरणों को पखारता है। किन्तु जब भगवान् ने यदुओं के बीच अवतार लिया, तो उनके यश के कारण पवित्र स्थान के रूप में गंगा नदी का महत्त्व कम हो गया। किन्तु कृष्ण से घृणा करने वालों तथा उनसे प्रेम करने वालों ने आध्यात्मिक लोक में उन्हीं के समान नित्य स्वरूप प्राप्त किया। अप्राप्य तथा परम आत्मतुष्ट लक्ष्मी जिनकी कृपा के लिए हर कोई संघर्ष करता है एकमात्र उन्हीं की हैं। उनके नाम का श्रवण या कीर्तन करने से समस्त अमंगल नष्ट हो जाता है। एकमात्र उन्हीं ने ऋषियों की विविध शिष्य-परम्पराओं के सिद्धान्त निश्चित किये हैं। इसमें कौन-सा आश्चर्य है कि कालचक्र, जिसका हथियार हो, उसने पृथ्वी के भार को उतारा?

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध में आदि से अन्त तक वृन्दावन, मथुरा तथा द्वारका में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन हुआ है। जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती संकेत करते हैं यह श्लोक भगवान् श्रीकृष्ण की उन पाँच विशिष्ट महिमाओं का उल्लेख करके दसवें स्कंध की इति कर देता है, जो उनके विस्तार, अंश और अवतार भी प्रदर्शित नहीं कर पाते।

प्रथम तो यह कि जब भगवान् कृष्ण यदुवंश में अवतरित हुए, तो उनके यश से पवित्र गंगा की ख्याति कम हो गई। इसके पूर्व माता गंगा समस्त तीर्थों में सर्वाधिक पवित्र मानी जाती थीं, क्योंकि इसी के जल ने भगवान् वामन देव के चरणों को धोया था। यमुना नामक अन्य नदी, व्रज तथा मथुरा में भगवान् कृष्ण के चरणों की धूल का स्पर्श करके गंगा से भी बढ़ गई।

गंगाशतगुणा प्रायो माथुरे मम मण्डले।

यमुना विश्रुता देवि नात्र कार्या विचारणा॥

"मेरे मथुरा राज्य में विख्यात यमुना नदी गंगा से सैकड़ों गुना बड़ी है। हे देवि! इसमें कोई मतभेद नहीं हो सकता।" (*वराह पुराण*)

दूसरे, भगवान् कृष्ण ने न केवल अपने शरणागत भक्तों को मोक्ष प्रदान किया, अपितु उन्हें भी, जो अपने को उनका शत्रु मानते थे। व्रज की गोपियों तथा अन्य भक्तों ने वैकुण्ठ में उनकी नित्य लीलाओं में सम्मिलित होकर उनका सान्निध्य प्राप्त किया, जबकि उनके द्वारा मारे गये शत्रु-असुरों को उनके

दिव्य स्वरूप में लीन होकर *सायुज्य मुक्ति* प्राप्त हुई। जब वे इस धराधाम में उपस्थित थे, तो उनकी कृपा उनके परिवार, मित्रों तथा सेवकों पर तो थी ही, प्रत्युत उनके शत्रुओं तथा उनके परिवारों, मित्रों तथा सेवकों पर भी थी। ब्रह्मा जैसे महापुरुषों ने इस तथ्य का उल्लेख किया हैं—*सद्वेषाद् इव पूतनापि सकुला त्वमेव देवापिता*—हे प्रभु! आपने पूतना तथा उसके परिवार वालों को अपने आपको इसीलिए दे डाला, क्योंकि उसने भक्त का वेश बना रखा था। (*भागवत* .१.३५)

तीसरे, भगवान् नारायण की नित्य संगिनी देवी लक्ष्मी को जिनकी कृपा पाने के लिए बड़े बड़े देवता तुच्छ सेवा-कार्य करते हैं, व्रज में भगवान् कृष्ण के भक्तों की साक्षात् संगति प्राप्त करने का सुयोग नहीं मिल पाया। रासनृत्य में तथा कृष्ण की अन्य लीलाओं में भाग लेने की उत्सुकता होने पर भी तथा इसके लिए कठिन तपस्या करने पर भी वे स्वाभाविक आदर-भाव का अतिक्रमण नहीं कर पाईं। वृन्दावन में प्रदर्शित भगवान् कृष्ण का माधुर्य तथा घनिष्ठता ऐसा अद्वितीय प्रकार का ऐश्वर्य है, जो वैकुण्ठ तक में कहीं नहीं पाया जाता। जैसाकि श्री उद्धव कहते हैं—

यन् मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।

विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणांगम्॥

''अपनी आध्यात्मिक शक्ति के बल के प्रदर्शनार्थ भगवान् कृष्ण ने ऐसा रूप प्रकट किया, जो इस भौतिक जगत में उनकी मानव जैसी लीलाओं के उपयुक्त था। यह रूप उनके लिए भी अद्‌भुत सौभाग्य की सम्पत्ति का परम धाम था। इसके अंग इतने सुन्दर थे कि वे उनके शरीर के विभिन्न भागों में पहने गये आभूषणों के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले थे।'' (भागवत ३.२.१२)

चौथे, कृष्ण नाम नारायण नाम से तथा भगवान् कृष्ण के अन्य अंशों के नामों से श्रेष्ठ है। *कृष्* तथा *ण*—ये दो अक्षर मिलकर समस्त अमंगल तथा मोह को नष्ट करने वाले हैं। उच्चारण करने पर कृष्ण नाम *श्रुतमथ* बन जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि कृष्ण नाम का उच्चारण शास्त्रों (*श्रुत*) में वर्णित अन्य समस्त आध्यात्मिक विधियों की उत्तमता को पूर्णतया कुचल देता है (*मथ्नाति*)। *ब्रह्माण्ड पुराण* के शब्दों में—

सहस्रनाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्त्या तु यत्फलम्।

एकावृत्त्या तु कृष्णस्य मामैकं तत्प्रयच्छति॥

"केवल एक बार कृष्ण नाम उच्चारण करने से मनुष्य को वही लाभ मिलता है, जो तीन बार विष्णु के सहस्त्र नामों का उच्चारण करने पर मिलता है।"

पाँचवें, भगवान् कृष्ण ने दृढ़तापूर्वक धर्म रूपी बैल को उसके दया, तपस्या, शौच तथा सत्य रूपी चार पैरों पर पुनः स्थापित किया। इस तरह धर्म एक बार पुनः गोत्र अर्थात् पृथ्वी का रक्षक बन सका। श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय पर्वत, गौवों तथा ब्राह्मणों का सम्मान करने के लिए गोवर्धन पूजा के धार्मिक उत्सव को प्रचलित किया। वे स्वयं *गोत्र* अर्थात् पर्वत बने और उन्होंने ग्वालों की भेंटें स्वीकार कीं। यही नहीं, उन्होंने व्रज के दिव्य ग्वालों (गोपों) के *धर्म* अर्थात् प्रेममय स्वभाव का अनुशीलन किया, जिनका प्रेम उनके प्रति अद्वितीय था।

ये कुछेक अद्भुत गुण हैं भगवान् कृष्ण के अद्वितीय व्यक्तित्व के।

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो
यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम् ।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन
व्रजपुरवनितानां वर्धयन्कामदेवम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

जयति—शाश्वत यशस्वी बनकर जीवित रहता है; जन-निवासः—जो यदुवंश के सदस्यों जैसे मनुष्यों के बीच रहता है और जो समस्त जीवों का चरम आश्रय है; देवकी-जन्म-वादः—देवकी के पुत्र रूप में जाने जाते हैं (भगवान् का कोई माता-पिता नहीं होता इसलिए वे देवकी के पुत्र जाने जाते हैं। इसी तरह वे यशोदा, वसुदेव तथा नन्द महाराज के पुत्र जाने जाते हैं); यदु-वर-परिषत्—यदुवंश के सदस्यों अथवा वृन्दावन के गोपों द्वारा सेवित (जो सभी भगवान् के नित्य संगी तथा नित्य दास हैं); स्वैः दोर्भिः—अपनी बाहुओं से या अर्जुन जैसे भक्तों से, जो उनकी भुजाओं जैसे हैं; अस्यन्—मारते हुए; अधर्मम्—असुरों को या अमंगलकारियों को; स्थिर-चर-वृजिन-घ्नः—समस्त चर तथा अचर जीवों के दुर्भाग्य के विनाशक; सु-स्मित—सदैव हँसते हुए; श्री-मुखेन—अपने सुन्दर मुखड़े से; व्रज-पुर-वनितानाम्—वृन्दावन की युवतियों की; वर्धयन्—बढ़ाते हुए; काम-देवम्—कामेच्छाओं को।

भगवान् श्रीकृष्ण जन-निवास के नाम से विख्यात हैं अर्थात् वे समस्त जीवों के परम आश्रय हैं। वे देवकीनन्दन या यशोदानन्दन भी कहलाते हैं। वे यदुकुल के पथ-प्रदर्शक हैं और वे अपनी बलशाली भुजाओं से समस्त अमंगल को तथा समस्त अपवित्र व्यक्तियों का वध करते हैं। वे अपनी उपस्थिति से समस्त चर तथा अचर प्राणियों के अमंगल को नष्ट करते हैं। उनका आनन्दपूर्ण मन्द हासयुक्त मुख वृन्दावन की गोपियों की कामेच्छाओं को बढ़ाने वाला है। उनकी जय हो और वे प्रसन्न हों।

तात्पर्य : इस श्लोक का भावार्थ तथा श्रील प्रभुपाद द्वारा *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य १३.७९) की

अंग्रेजी भाषा में की गई व्याख्या पर आधारित है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार श्रील शुकदेव गोस्वामी ने इस सुन्दर श्लोक की रचना उनको सान्त्वना प्रदान करने के लिए की जो यह शोक व्यक्त करते हैं कि भगवान् कृष्ण ने वर्तमान समय तक अपनी लीलाएँ प्रकट करना जारी क्यों नहीं रखा। यहाँ पर श्रीशुकदेव श्रोताओं को याद दिलाते हैं कि भगवान् इस संसार में—अपने पवित्र धाम, अपने नाम तथा अपनी महिमा के गायन में—शाश्वत रहते हैं। यह भाव *जयति* शब्द से व्यक्त किया गया है, जो वर्तमान काल का सूचक है, भूत काल का नहीं।

भगवान् श्रीकृष्ण में श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक की व्याख्या निम्नवत् की है, ''श्रील शुकदेव गोस्वामी भगवान् श्रीकृष्ण के सर्वश्रेष्ठ पद के विवरण को निम्न प्रकार से भगवान् का यशोगान करके समाप्त करते हैं ''हे भगवान् श्रीकृष्ण! आपकी जय हो। आप सबके हृदयों में परमात्मा रूप में स्थित हैं अतएव आप *जन-निवास* के नाम से विख्यात हैं—अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में निवास करने वाले। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है—*ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—परमात्मा रूप में भगवान् हर व्यक्ति के हृदय में निवास करते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि श्री भगवान् के रूप में श्रीकृष्ण का पृथक् अस्तित्व नहीं है। मायावादी दार्शनिक परब्रह्म की सर्वव्यापकता के लक्षण को स्वीकार करते हैं किन्तु जब परब्रह्म या परमेश्वर प्रकट होते हैं, तो वे विचार करते हैं कि परब्रह्म भौतिक प्रकृति के नियंत्रण में प्रकट होते हैं। क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण देवकीसुत के रूप में प्रकट हुए थे, अत: मायावादी दार्शनिक श्रीकृष्ण को इस भौतिक जगत में जन्म लेने वाला सामान्य प्राणी मानते हैं। अतएव शुकदेव गोस्वामी उनको चेतावनी देते हैं कि *देवकीजन्मवाद:,* अर्थात् यद्यपि श्रीकृष्ण देवकी-पुत्र के रूप में प्रसिद्ध हैं, किन्तु वे परमात्मा अथवा सर्वव्यापी भगवान् हैं।

किन्तु भक्तगण इस *देवकीजन्मवाद:* शब्द को भिन्न रूप में लेते हैं। वे समझते हैं कि वस्तुत: श्रीकृष्ण माता यशोदा के पुत्र थे। यद्यपि श्रीकृष्ण सर्वप्रथम देवकी के पुत्र रूप में प्रकट हुए, किन्तु तत्काल माता यशोदा की गोद में चले गये थे और माता यशोदा तथा नन्द महाराज ने उनकी बाल-लीलाओं का आनन्द लूटा। जब वसुदेव ने नन्द महाराज तथा यशोदा से कुरुक्षेत्र में भेंट की थी तो, उन्होंने यह तथ्य स्वयं स्वीकार किया था। उन्होंने यह स्वीकार किया था कि श्रीकृष्ण तथा बलराम वस्तुत: माता यशोदा तथा नन्द महाराज के पुत्र थे। देवकी तथा वसुदेव उनके नाम के माता-पिता थे।

तत्पश्चात् श्रीशुकदेव गोस्वामी ने *यदुवरपरिषत्*—अर्थात् यदुवंश की सभा द्वारा सम्मानित कह कर तथा अनेक प्रकार के असुरों का वध करने वाले के रूप में भगवान् की प्रशंसा की है। भगवान् श्रीकृष्ण अपनी विभिन्न भौतिक शक्तियों का प्रयोग करके सारे असुरों का वध कर सकते थे, किन्तु उन्हें मोक्ष देने के उद्देश्य से वे उनका वध अपने हाथों से करना चाहते थे। असुरों का वध करने के लिए ही श्रीकृष्ण को इस भौतिक जगत में आने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उनके व्यक्तिगत प्रयास के बिना ही उनकी इच्छामात्र से सैकड़ों-हजारों असुरों का वध हो सकता था, किन्तु वस्तुत: वे अपने शुद्ध भक्तों के लिए, एक बालक के रूप में माता यशोदा तथा नन्द महाराज के साथ क्रीड़ा करने तथा द्वारकावासियों को सुख प्रदान करने के लिए अवतीर्ण हुए थे। असुरों का वध एवं भक्तों की रक्षा करके श्रीकृष्ण ने असली धर्म के सिद्धान्त की स्थापना की, जो कि केवल भगवत्प्रेम है। भगवान् के प्रति प्रेम के वास्तविक धर्म का अनुसरण करके *स्थिरचर* नाम से जाने जानेवाले जीव भी समस्त भौतिक दूषणों से मुक्त हो गये तथा आध्यात्मिक लोक चले गये। *स्थिर* का अर्थ है : पेड़-पौधे जो चल नहीं सकते तथा *चर* का अर्थ है : चलने-फिरने वाले पशु, विशेष रूप से गौवें। अपनी उपस्थिति में श्रीकृष्ण ने वृन्दावन में तथा द्वारका में अपने दर्शन करने वाले तथा सेवा करने वाले समस्त वृक्षों, वानरों तथा अन्य पौधों एवं पशुओं को मुक्त कर दिया।

''भगवान् का सुयश विशेष रूप से गोपियों तथा द्वारका की रानियों को सुख देने के कारण था। श्रीशुकदेव गोस्वामी भगवान् श्रीकृष्ण का यशोगान उनकी मोहनी मुस्कान के लिए करते हैं, जिसके द्वारा श्रीकृष्ण ने न केवल वृन्दावन की गोपियों को मुग्ध कर लिया, अपितु द्वारका में रानियों को भी मोह लिया। इस सम्बन्ध में प्रयुक्त शब्द *वर्धयन् कामदेवम्* है। वृन्दावन में अनेक गोपियों के किशोर सखा के रूप में तथा द्वारका में अनेक रानियों के पति रूप में श्रीकृष्ण ने उनके साथ आनन्द लेने के लिए उनकी कामेच्छा में अभिवृद्धि की। आत्म-साक्षात्कार या ईश-साक्षात्कार के लिए साधारणतया व्यक्ति को हजारों वर्षों तक कठोर तपस्या करनी पड़ती है, तब कहीं ईश्वर का साक्षात्कार सम्भव होता है। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण को सखा अथवा पति के रूप में भोगने की अपनी कामेच्छा में अभिवृद्धि के द्वारा ही गोपियों तथा द्वारका की रानियों ने सर्वश्रेष्ठ प्रकार की मुक्ति प्राप्त की।''

इस तरह श्रील प्रभुपाद शुकदेव गोस्वामी द्वारा लिखित इस श्लोक के अर्थ पर अद्भुत प्रकाश

डालते हैं, जो भगवान् कृष्ण की लीलाओं का सारांश प्रस्तुत करता है।

इत्थं परस्य निजवर्त्मरिरक्षयात्त-
लीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि ।
कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य
श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार से (वर्णित); परस्य—ब्रह्म का; निज—अपना; वर्त्म—मार्ग (भक्ति का); रिरक्षया—रक्षा करने की इच्छा से; आत्त—धारण किये हुए; लीला—लीलाओं के लिए; तनोः—विविध रूप; तत्—इनमें से प्रत्येक को; अनुरूप—उपयुक्त; विडम्बनानि—अनुकरण करते हुए; कर्माणि—कर्मों को; कर्म—भौतिक कर्म के फल; कषणानि—जो नष्ट करते हैं; यदु-उत्तमस्य—यदुओं में श्रेष्ठ के; श्रूयात्—मनुष्य सुने; अमुष्य—उसके; पदयोः—पैरों के; अनुवृत्तिम्—पालन करने का अधिकार; इच्छन्—इच्छा करते हुए।

अपने प्रति भक्ति के सिद्धान्तों की रक्षा करने के लिए यदुश्रेष्ठ भगवान् कृष्ण उन लीला-रूपों को स्वीकार करते हैं, जिनका यहाँ पर *श्रीमद्भागवत* में महिमा-गान हुआ है। जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक उनके चरणकमलों की सेवा करने का इच्छुक हो, उसे उन कार्यकलापों को सुनना चाहिए, जिन्हें वे प्रत्येक अवतार में सम्पन्न करते हैं—वे कार्यकलाप, जो उनके द्वारा धारण किए जाने वाले रूपों के अनुरूप हैं। इन लीलाओं के वर्णनों को सुनने से सकाम कर्मों के फल विनष्ट होते हैं।

मर्त्यस्तयानुसवमेधितया मुकुन्द-
श्रीमत्कथाश्रवणकीर्तनचिन्तयैति ।
तद्धाम दुस्तरकृतान्तजवापवर्गं
ग्रामाद्वनं क्षितिभुजोऽपि ययुर्यदर्थाः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

मर्त्यः—मर्त्य; तया—ऐसे; अनुसवम्—निरन्तर; एधितया—वर्धमान; मुकुन्द—कृष्ण विषयक; श्रीमत्—सुन्दर; कथा—कथाओं के; श्रवण—सुनने; कीर्तन—कीर्तन करने; चिन्तया—तथा चिन्तन करने से; एति—जाता है; तत्—उसके; धाम—घर को; दुस्तर—जिससे बचा न जा सके; कृत-अन्त—मृत्यु के; जव—बल के; अपवर्गम्—मोक्ष को; ग्रामात्—संसारी घर से; वनम्—जंगल को; क्षिति-भुजः—राजा (यथा प्रियव्रत); अपि—भी; ययुः—गये; यत्—जिसको; अर्थाः—प्राप्त करने के लिए।

नित्यप्रति अधिकाधिक निष्ठापूर्वक भगवान् मुकुन्द की सुन्दर कथाओं के नियमित श्रवण, कीर्तन तथा ध्यान से मर्त्य प्राणी को भगवान् का दैवीधाम प्राप्त होगा, जहाँ मृत्यु की दुस्तर शक्ति का शासन नहीं है। इसी उद्देश्य से अनेक व्यक्तियों ने, जिनमें बड़े-बड़े राजा सम्मिलित हैं अपने-अपने संसारी घरों को त्याग कर जंगल की राह ली।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कन्ध के लिए यह श्लोक फल-श्रुति है अर्थात् इसके श्रोता के लिए सफलता का वायदा है। भक्ति विधि का शुभारम्भ भगवान् विषयक कथाओं के श्रवण से होता है। जब कोई व्यक्ति इन कथाओं को समुचित रीति से सुन चुकता है, तो वह अन्यों के लाभ के लिए उनका कीर्तन कर सकता है और उनकी महत्ता पर विचार कर सकता है। इससे भक्ति के सिद्धान्तों में श्रद्धापूर्वक दृढ़ रहा जा सकता है और इसका समापन भगवान् कृष्ण की परम श्रद्धा में होता है। ऐसी पूर्ण श्रद्धा से मनुष्य को भगवान् की अन्तरंग सेवा करने का अधिकार प्राप्त होता है और यथासमय वह भगवद्धाम में शाश्वत दिव्य जीवन के लिए वापस जाता है।

दसवें स्कंध की टीका को अपने पूज्य भगवान् के चरणकमलों पर विनीत भाव से भेंट करते हुए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती प्रार्थना करते हैं—

मद्गवीरपि गोपालः स्वीकुर्यात् कृपया यदि।

तदैवासां पयः पीत्वा हृष्येयुस्तत्प्रिया जनाः॥

''यदि भगवान् गोपाल कृपापूर्वक मेरी शब्द-रूपी गौवों को स्वीकार करें, तो उनके प्रिय भक्तगण उनको सुनने से उत्पन्न अमृत तुल्य दूध पीने का आनन्द उठा सकते हैं।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''भगवान् कृष्ण की महिमाओं का सारांश'' नामक नब्बेवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

श्रीमद्भागवत का दसवाँ स्कन्ध श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती की तिरोधान जयन्ती २७ दिसम्बर १९८८ को पूर्ण हुआ।

PRELIMINARY PAGES OF BH. BEGINS FROM HERE

श्री श्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

कृष्णद्वैपायन व्यास

कृत

श्रीमद्भागवतम्

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके

स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।

यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्

जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥१३॥

(श्रीमद्भागवत .८.१३)

दशम स्कंध

''परम पुरुषार्थ''

(भाग चार—अध्याय ७०—९०)

मूल संस्कृत पाठ, शब्दार्थ,

तथा विस्तृत तात्पर्य कृष्णकृपामूर्ति

श्री श्रीमद् अभयचरणारविन्द भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकाचार्य: अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

के शिष्यों द्वारा

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

श्रीमद्भागवतम् एवं सम्पादकीय बोर्ड

(संस्कृत से अंग्रेजी)

हृदयानन्द दास गोस्वामी

प्रोजेक्ट डायरेक्टर, अनुवादक, तात्पर्य लेखक एवं प्रधान संपादक

गोपीप्राणधन दास अधिकारी

अनुवादक, तात्पर्य लेखक एवं संस्कृत संपादक

द्रविड़ दास ब्रह्मचारी

अंग्रेजी संपादक

विषय–सूची

प्राक्कथन
आमुख
प्रस्तावना
अध्याय सत्तर
भगवान् कृष्ण की दैनिक चर्या
अध्याय का सारांश
पक्षियों की चहचहाहट से भगवान् कृष्ण का जागना
भगवान् द्वारा स्वयं का ध्यान किया जाना
उदय होते सूर्य, गुरुजनों तथा ब्राह्मणों की कृष्ण द्वारा पूजा
भगवान् द्वारा अपने मंत्रियों का सत्कार
अन्त:पुर की स्त्रियों द्वारा कृष्ण को प्रेममयी लजीली चितवनों से देखना
सुधर्मा सभा में भगवान् यदुओं के बीच तारों के मध्य चन्द्रमा समान सुशोभित
सभा में एक दूत का आगमन
दूत द्वारा कृष्ण को बीस हजार बन्दी राजाओं की प्रार्थना बतलाना
''हे प्रभु! हमने आत्मा के असली सुख का बहिष्कार किया है''
''कृपया जरासन्ध को हरा कर, हमें मुक्त कराएँ''
नारद मुनि का सभा में प्रकट होना तथा कृष्ण की प्रशंसा करना
नारद का कथन, ''हे प्रभु! राजा युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने का आशीर्वाद दें''
भगवान् कृष्ण का श्री उद्धव से सलाह लेना
अध्याय इकहत्तर
भगवान् की इन्द्रप्रस्थ यात्रा
अध्याय का सारांश
राजाओं को मुक्त करने तथा युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने में
सहायता करने की उद्धव की कृष्ण को सलाह
''भीम ब्राह्मण–वेश में जरासन्ध से युद्ध करने की याचना करें''
''बन्दी राजाओं की पत्नियाँ तथा गोपियाँ आपका यशोगान करती हैं''
भव्य जुलूस के साथ भगवान् का इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान
कृष्ण की रानियाँ सोने की पालकियों में सवार
बन्दी राजाओं के दूत से कृष्ण का वायदा कि जरासन्ध का वध होगा
राजा युधिष्ठिर द्वारा भावविभोर होकर भगवान् का आलिंगन
कृष्ण का आलिंगन किये जाने पर भीम का सहर्ष हँसना
सुन्दर इन्द्रप्रस्थ नगरी का वर्णन

कृष्ण को देखने के लिए नगर की स्त्रियों का अटारियों पर चढ़ना
रानी कुन्ती द्वारा अपने भतीजे कृष्ण का स्नेहपूर्ण आलिंगन
द्रौपदी द्वारा कृष्ण की सभी रानियों की पूजा करना
खाण्डव वन को जलाने की अनुमति देकर कृष्ण तथा अर्जुन द्वारा
अग्नि की तुष्टि किया जाना

अध्याय बहत्तर

जरासन्ध असुर का वध

अध्याय का सारांश
राजा युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ सम्पन्न किये जाने के अपने प्रयास
के हेतु कृष्ण से आशीर्वाद माँगना
''आपकी भक्ति की शक्ति को लोग देखें''
समस्त राजाओं को जीतने के बाद ही राजसूय यज्ञ करने की भगवान् की युधिष्ठिर को सलाह
भीम, अर्जुन, सहदेव तथा नकुल द्वारा जरासन्ध के अतिरिक्त समस्त राजाओं का जीता जाना
भीम, अर्जुन तथा कृष्ण का ब्राह्मण वेश में जरासन्ध से भेंट करने के लिए गिरिव्रज जाना
इन ब्राह्मणों का जरासन्ध से भीख माँगना
शंकालु जरासन्ध द्वारा अतिथियों को मनवांछित वर माँगने की स्वीकृति
कृष्ण द्वारा जरासन्ध से द्वन्द्व के लिए याचना भीम तथा जरासन्ध का गदायुद्ध
दोनों योद्धा क्रुद्ध हाथियों जैसे थे
भीम को कृष्ण द्वारा संकेत कि जरासंध को कैसे मारा जाये ?
भीमसेन द्वारा जरासंध का दो भागों में चीरा जाना
कृष्ण द्वारा जरासन्ध के पुत्र सहदेव को मगध का राजा बनाया जाना

अध्याय तिहत्तर

बन्दी-गृह से छुड़ाये गये राजाओं को कृष्ण द्वारा आशीर्वाद

अध्याय का सारांश
बीस हजार राजाओं द्वारा बन्दी-गृह से छूटने पर कृष्ण का दर्शन
मुक्त किये गये राजाओं द्वारा स्तुतियाँ
''अब हम कभी भी मृगतृष्णा तुल्य राज्य की कामना नहीं करेंगे''
भगवान् कृष्ण का राजाओं से कहना कि अब से वे उनकी भक्ति में दृढ़ रहेंगे
भगवान् का कहना कि ''जीवन जीते समय सदैव अपने मन मुझमें स्थिर रखो''
सहदेव द्वारा राजाओं को राजसी उपहारों से सम्मानित करना
कृष्ण द्वारा राजाओं को उनके राज्यों में वापस भेजना
कृष्ण, अर्जुन तथा भीम की इन्द्रप्रस्थ वापसी
प्रेम तथा कृतज्ञता वश युधिष्ठिर गद्गद तथा अवाक्

अध्याय चौहत्तर

राजसूय यज्ञ में शिशुपाल का उद्धार

अध्याय का सारांश
राजा युधिष्ठिर द्वारा कृष्ण की स्तुति
यज्ञ सम्पन्न करने के लिए राजा द्वारा उपयुक्त पुरोहितों का चुनाव
यज्ञ देखने के लिए सभी दिशाओं से भीड़ का आगमन
इन्द्र, ब्रह्मा, शिव तथा बहुत-से अन्य देवताओं का आगमन
अग्रपूजा किसकी हो?
सहदेव का कहना कि "हम कृष्ण की अग्रपूजा करें"
सभी सन्त पुरुष सहदेव से सहमत
कृष्ण के प्रति दिखाये गये सम्मान से शिशुपाल क्रुद्ध
"गुणहीन व्यक्ति पूजा के योग्य कैसे?"
कृष्ण का मौन रहना तथा अनेक लोगों का सभा से बहिर्गमन
कृष्ण का अपने सुदर्शन चक्र से शिशुपाल का शिरच्छेद
शिशुपाल की आत्मा का भगवान् के शरीर में लीन होना
राजा युधिष्ठिर द्वारा यज्ञ की समाप्ति पर अवभृथ स्नान
सभा में देवराज के समान युधिष्ठिर का तेज
श्रोताओं के लिए वरदान
अध्याय पचहत्तर
दुर्योधन का मानमर्दन
अध्याय का सारांश
राजसूय यज्ञ में भीम, अर्जुन, कृष्ण तथा अन्यों द्वारा आवश्यक सेवा कार्य
नर्तकों का प्रसन्न होकर नाचना तथा गवैयों द्वारा वाद्यों के साथ सहगान
पुरुषों तथा स्त्रियों द्वारा परस्पर तरल लेप लगाकर क्रीड़ा करना
सम्राट युधिष्ठिर का विविध कृत्यों से घिरे राजसूय यज्ञ
के ही समान तेजस्वी दिखना
युधिष्ठिर द्वारा सबों को उपहार दिया जाना
सबों के विदा हो जाने पर कृष्ण तथा अन्य लोगों से
थोड़ा समय और रुकने के लिए युधिष्ठिर की विनती
दुर्योधन को युधिष्ठिर के ऐश्वर्य से ईर्ष्या
मोहग्रस्त दुर्योधन का जल में गिरना
अध्याय छिहत्तर
शाल्व तथा वृष्णियों के मध्य युद्ध
अध्याय का सारांश
शाल्व द्वारा प्रतिदिन एक मुट्ठी धूल फाँककर शिवजी की पूजा
मयदानव द्वारा शाल्व के लिए सौभ यान का निर्माण
शाल्व तथा उसकी सेना द्वारा द्वारका का घेराव
अग्रणी वृष्णि योद्धाओं का नगर की रक्षा हेतु बाहर आना

भगवान् प्रद्युम्न द्वारा शाल्व के जादू का विनाश
शाल्व के विमान का अलात-चक्र के समान इधर उधर घूमना
द्युमान द्वारा प्रद्युम्न की छाती पर आघात
दारुक द्वारा प्रद्युम्न को युद्धभुमि से हटा ले जाना
प्रद्युम्न द्वारा दारुक को डाँटफटकार
अध्याय सतहत्तर
कृष्ण द्वारा असुर शाल्व का वध
अध्याय का सारांश
प्रद्युम्न द्वारा द्युमान का बाण द्वारा सिर अलग किया जाना
भयावने युद्ध का सत्ताईस दिनों तक चलना
कृष्ण का द्वारका लौटना और युद्ध क्षेत्र के लिए प्रस्थान
शाल्व द्वारा कृष्ण की बाँह पर बाण से प्रहार और उनके हाथ से शाङ्र्ग धनुष का गिरना
शाल्व द्वारा भगवान् का अपमान
असुर का अन्तर्धान होना और दूत द्वारा बुरा समाचार लाया जाना
शाल्व द्वारा छद्म वसुदेव का सिर काटा जाना
शाल्व का वध करने की कृष्ण द्वारा तैयारी
कृष्ण मोह के वशीभूत कैसे हो सकते हैं ?
कृष्ण की गदा से ध्वस्त सौभ-विमान का समुद्र में गिरना
कृष्ण का अपने सुदर्शन चक्र द्वारा शाल्व का शिरच्छेद
अध्याय अठहत्तर
दन्तवक्र, विदूरथ तथा रोमहर्षण का वध
अध्याय का सारांश
अपने मित्रों की मृत्यु का बदला लेने के उद्देश्य से
दन्तवक्र का कृष्ण पर आक्रमण
अपनी गदा से कृष्ण द्वारा दन्तवक्र का वध
विदूरथ का भगवान् पर आक्रमण करना और मारा जाना
भगवान् कृष्ण का वृन्दावन वापस आना
कृष्ण की परवर्ती लीलाओं का अनुक्रम
तीर्थयात्रा के लिए निकले बलराम का नैमिषारण्य पहुँचना
रोमहर्षण द्वारा अपमानित किये जाने पर बलराम का क्रुद्ध होना
कुश के तिनके से बलराम द्वारा रोमहर्षण की हत्या
ब्राह्मणों के अनुरोध पर बलराम का अपने पापों के लिए
प्रायश्चित्त करने के लिए राजी होना
बलराम द्वारा रोमहर्षण के पुत्र को सभा का नया वक्ता बनाया जाना
बलराम से बल्वल असुर को मारने तथा एक वर्ष की तीर्थ यात्रा पर जाने का अनुरोध
अध्याय उन्यासी

भगवान् बलराम की तीर्थ यात्रा
अध्याय का सारांश
भयावने बल्वल असुर को मारने के लिए बलराम द्वारा
अपने हल तथा गदा का आवाहन
असुर के मारे जाने पर ऋषियों द्वारा बलराम का सम्मान
बलरामजी का तीर्थयात्रा के लिए प्रस्थान
भारतवर्ष की परिक्रमा के बाद बलरामजी का प्रभास लौटना
भीम तथा दुर्योधन को गदायुद्ध बन्द करने की बलरामजी की सलाह
बलरामजी द्वारा नैमिषारण्य के ऋषियों को आशीर्वाद
श्रोताओं को आशीष
अध्याय अस्सी
द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण से ब्राह्मण सुदामा की भेंट
अध्याय का सारांश
भगवान् के गुणों का वर्णन करने वाली ही वाणी असली है
असली आँखें वे हैं, जो एकमात्र भगवान् का दर्शन करती हैं
विद्वान, शान्त, आत्मसंयमी, तपस्वी तथा दरिद्र ब्राह्मण सुदामा
सुदामा की पत्नी उससे कृष्ण के पास द्वारका जाकर दान माँगने के लिए याचना करती है
सुदामा का द्वारका के लिए प्रस्थान
महल में प्रवेश करने पर भगवान् द्वारा सुदामा का आलिंगन
अपने पुराने मित्र से मिलने पर कृष्ण भावाभिभूत
कृष्ण तथा सुदामा द्वारा सान्दीपनि मुनि की पाठशाला में बिताये गये दिनों का स्मरण
प्रामाणिक गुरु ईश्वर के ही समान
कृष्ण और सुदामा के ईंधन लेने गए समय असामयिक तूफान का आना
सान्दीपनि मुनि का कृष्ण तथा सुदामा को विपत्ति में फँसा देखना
असली शिष्यों का कर्तव्य है कि अपना सर्वस्व अपने गुरु को दे दें
शिष्य के रूप में कृष्ण की भूमिका मानवोचित लीलाओं के अनुरूप
अध्याय इक्यासी
भगवान् द्वारा सुदामा ब्राह्मण को वरदान
अध्याय का सारांश
प्रेमपूर्वक भेंट की गई किसी भी वस्तु से भगवान् प्रसन्न होते हैं
भगवान् द्वारा सुदामा की तन्दुल की तुच्छ पोटली का छीना जाना
कृष्ण का एक मुट्ठी तन्दुल खाना
सुदामा ऊपरी तौर से रिक्तहस्त घर के लिए रवाना
सुदामा द्वारा कृष्ण की कृपा का चिन्तन
सुदामा ब्राह्मण का आश्चर्यजनक ऐश्वर्य

ब्राह्मण-पत्नी अब देवी जैसी लग रही थीं
सुदामा का सोचना कि कृष्ण अपनी कृपा की वर्षा बादल की भाँति करते हैं
''मैं जन्म-जन्मांतर भगवान् की प्रेमपूर्वक सेवा करता रहूँ''
कृष्ण द्वारा ब्राह्मणों को अपने स्वामियों जैसा मानना
श्रोताओं को आशीष

अध्याय बयासी

वृन्दावनवासियों से कृष्ण तथा बलराम की भेंट

अध्याय का सारांश
सूर्यग्रहण के समय लोगों का समन्त-पञ्चक जाना
प्राय: सारे वृष्णियों का कुरुक्षेत्र की गोष्ठी में भाग लेना
वृष्णियों तथा उनके पुराने मित्रों का पुनर्मिलन
महारानी कुन्ती अपने पुराने बिछड़े सम्बन्धियों से मिलकर सान्त्वना प्राप्त करती हैं
वसुदेव द्वारा कुन्ती को आश्वासन देना
भगवान् कृष्ण के सौन्दर्य से सभी स्तम्भित
कृष्ण के यश, वाणी तथा चरणकमलों की महिमा
नंद महाराज को देखकर वृष्णिजन पुलकित
नन्द तथा यशोदा से मिलकर कृष्ण तथा बलराम गद्‌गद
रोहिणी तथा देवकी द्वारा माता यशोदा की प्रशंसा
गोपियों द्वारा अपने हृदयों के भीतर कृष्ण का आलिंगन
कृष्ण द्वारा गोपियों को सान्त्वना प्रदान करना
''अपने प्रेम से तुम लोगों ने मुझे पा लिया है''
गोपियाँ मिथ्या अहंकार के समस्त कल्मष से मुक्त
कृष्ण के चरणकमलों का निरन्तर स्मरण करते रहने की गोपियों की प्रार्थना

अध्याय तिरासी

कृष्ण की रानियों से द्रौपदी की भेंट

अध्याय का सारांश
जिन्होंने कृष्ण के चरणकमलों के यश का एक बार भी
श्रवण किया है, उन्हें विपत्ति कैसे घेर सकती है?
द्रौपदी द्वारा कृष्ण की प्रमुख रानियों से उनके कृष्ण के साथ
ब्याह की बातें पूछे जाना
सत्यभामा द्वारा स्यमन्तक मणि की कथा सुनाया जाना
कालिन्दी द्वारा यह बताया जाना कि भगवान् के चरणकमलों का
स्पर्श करने के लिए उसने किस तरह प्रार्थना की थी
सत्या द्वारा यह बताया जाना कि उसे पाने के लिए
कृष्ण ने किस तरह सात साँड़ों को परास्त किया
लक्ष्मणा द्वारा बताया जाना कि किस तरह उसका पाणिग्रहण

करने के लिए कृष्ण ने मत्स्य-भेद किया
''केवल मत्स्य का प्रतिबिम्ब दिखता था''
''अनेक राजाओं ने हाथ आजमाये किन्तु असफल रहे''
''अन्त में कृष्ण ने अपने तीर से मछली को बेधकर
धरती पर गिरा दिया''
''मैंने कृष्ण को विजयमाल पहनाई''
''कृष्ण ने अपने सारे ईर्ष्यालु प्रतिद्वन्द्वियों को हराया''
रोहिणी द्वारा बतलाया जाना कि कृष्ण ने किस तरह उन्हें
तथा, अन्य कुमारियों को भौमासुर से छुड़ाकर
उनके साथ विवाह किया
रानियों की एकमात्र इच्छा कि कृष्ण के चरणकमलों की धूल मिले

अध्याय चौरासी

कुरुक्षेत्र में ऋषियों के उपदेश

अध्याय का सारांश
कुरुक्षेत्र में श्रील व्यासदेव, नारद मुनि तथा अनेक
अन्य महर्षियों का आगमन
कृष्ण बलराम तथा अन्य अग्रणियों द्वारा ऋषियों की पूजा
मुनियों को सम्बोधित करते हुए कृष्ण का कथन,
''हम सामान्यजनों को आप जैसे महापुरुषों का दर्शन कैसे हो सकता है?''
''विद्वान मुनिगण क्षणमात्र सेवा करने वालों के पापों को नष्ट कर देते हैं''
''महर्षियों की उपेक्षा करने वाला गधा है''
भगवान् कृष्ण के आचरण से मुनिगण चकित
अपने भक्तों की रक्षा करने तथा दुष्टों को दण्ड देने के लिए
कृष्ण सतोगुण का रूप धारण करते हैं
स्वयं कृष्ण चरम आशीर्वाद हैं
मुनियों द्वारा भगवान् के चरणकमलों का महिमागान
वसुदेव द्वारा मुनियों से पूछना कि कर्म से मुक्त
कैसे हुआ जा सकता है?
वैदिक यज्ञों द्वारा विष्णु-पूजन की मुनियों की संस्तुति
पुत्ररूप में कृष्ण प्राप्त होने के लिए मुनियों द्वारा वसुदेव की प्रशंसा
वसुदेव तथा उनकी पत्नियों द्वारा यज्ञ की तैयारी
वसुदेव द्वारा विविध यज्ञों का सम्पन्न किया जाना और पुरोहितों को दक्षिणा देना
वसुदेव द्वारा सभी उपस्थितों को भव्य भोजन खिलाकर और उपहार देकर सम्मान करना
सबों के विदा होने पर नन्द, कृष्ण, बलराम तथा अन्यों का कुछ और काल तक ठहरना
वसुदेव द्वारा नन्द से क्षमा याचना कि कंस के शासनकाल में वे उनकी सहायता नहीं कर पाये
कृष्ण, बलराम, वसुदेव तथा अन्यों के प्रेम में बँधकर नन्द का

कुरुक्षेत्र में तीन मास तक रहते जाना
नन्द तथा गोपों का केवल गोविन्द के चरणकमलों का
ध्यान करते हुए वृन्दावन के लिए प्रस्थान
अध्याय पचासी
कृष्ण द्वारा वसुदेव को उपदेश दिया जाना तथा देवकी-पुत्रों की वापसी
अध्याय का सारांश
वसुदेव द्वारा कृष्ण तथा बलराम की भगवान् रूप में स्तुति
''हे प्रभु! सर्वप्रथम आपने यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड रचा और
तब आप उसमें प्रविष्ट हुए''
''आप में चन्द्रमा की चमक तथा अग्नि का तेज हैं''
''आप इन्द्रियों द्वारा उनके विषयों को प्रकट करने की शक्ति हैं''
''जो अज्ञानी हैं, वे ही आपको अपना परम गन्तव्य नहीं मानते''
''आप हमारे पुत्र नहीं अपितु सर्वेश्वर हैं''
कृष्ण द्वारा अपने पिता के वत्सल भाव को वापस लाना
देवकी द्वारा अपने मृतपुत्रों को वापस लाने के लिए
कृष्ण तथा बलराम से याचना
कृष्ण तथा बलराम का बलि द्वारा शासित सुतल लोक में जाना
बलि द्वारा दोनों प्रभुओं का भव्य सत्कार
बलि द्वारा कृष्ण और बलराम का महिमागान
''आपके अनेक पुराने शत्रुओं ने घृणा से अपने मनों को
आपमें लीन करके सिद्धि प्राप्त की''
बलि द्वारा प्रभु की कृपा की याचना
देवकी के छह पुत्रों को लेकर दोनों प्रभुओं का घर के लिए विदा होना
देवकी अपने दीर्घकाल से बिछुड़े पुत्रों को पाकर स्नेहाभिभूत
छहों पुत्रों का देवकी का स्तनपान करके स्वर्गलोक के लिए प्रयाण
श्रोताओं के लिए आशीर्वाद
अध्याय छियासी
अर्जुन द्वारा सुभद्रा-हरण तथा कृष्ण द्वारा अपने भक्तों को आशीर्वाद दिया जाना
अध्याय का सारांश
संन्यासी का वेश धर कर अर्जुन का द्वारका जाना
बलराम द्वारा वेस बदले अर्जुन को अपने घर बुलाना
अर्जुन तथा सुभद्रा एक दूसरे को देखकर कामोन्मुख
उत्सव के समय अर्जुन द्वारा सुभद्रा हरण
कृष्ण द्वारा शान्त किये जाने पर बलराम द्वारा वर-वधु को प्रचुर दहेज दिया जाना
अपने प्रिय भक्तों श्रुतदेव तथा बहुलाश्व को देखने के लिए
कुछ मुनियों के साथ मिथिला के लिए कृष्ण द्वारा प्रस्थान

मिथिला के मार्ग में विभिन्न राज्यों के वासियों को अपनी चितवन से आशीर्वाद देना
मिथिला में श्रुतदेव तथा बहुलाश्व द्वारा भगवान् को प्रणाम करके
उन्हें अपने घर आने का आमंत्रण
भगवान् कृष्ण द्वारा दो रूपों में विस्तार तथा दोनों भक्तों के यहाँ एक ही समय जाना
पुलकित बहुलाश्व द्वारा कृष्ण तथा मुनियों का सत्कार एवं पूजा करना
बहुलाश्व द्वारा स्तुति
कृष्ण तथा मुनियों को कुछ काल रुकने तथा
आशीर्वाद देने के लिए बहुलाश्व का आमंत्रण
श्रुतदेव द्वारा कृष्ण तथा मुनियों का बहुलाश्व जैसा ही सत्कार
श्रुतदेव द्वारा स्तुति
भगवान् द्वारा साथ आये मुनियों की प्रशंसा
''ब्राह्मण जन्म से ही समस्त जीवों में श्रेष्ठ''
''मूर्खजन ही विद्वान ब्राह्मणों की उपेक्षा करके
मेरे अर्चाविग्रह की पूजा करते हैं।''
श्रुतदेव तथा बहुलाश्व दोनों को दिव्य चरमगति की प्राप्ति
अध्याय सत्तासी
साक्षात् वेदों द्वारा स्तुति
अध्याय का सारांश
राजा परीक्षित द्वारा शुकदेव गोस्वामी से पूछा जाना कि किस तरह
वेद परम सत्य का प्रत्यक्ष वर्णन कर सकते हैं
परमेश्वर द्वारा आत्माओं के भौतिक आवरण का
उनके चरम लाभ हेतु प्रदर्शन
नारद मुनि का श्रीनारायण ऋषि के आश्रम जाना
जनलोक में एक बार सम्पन्न यज्ञ के समय परीक्षित का यह प्रश्न उठाया गया था
श्री सनन्दन द्वारा बताया जाना कि किस तरह
ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के समय साक्षात् वेदों ने भगवान् को जगाया
श्रुतियों द्वारा स्तुति, ''हे अजेय! जय हो, जय हो''
''वेद अपने सारे विचार, शब्द तथा कार्य आपको ही समर्पित करते हैं''
''विद्वान लोग आपके कथामृत में गहरे गोते लगाते हैं''
''अभक्तों का साँस लेना धौंकनी जैसा''
''विद्वान मुनियों द्वारा आपके चरणकमलों की पूजा
जिन्हें समस्त यज्ञ समर्पित किए जाते हैं''
''आपके लीलामृत सागर में डूबकर भाग्यवान भौतिक कष्ट से पार होते हैं''
''भक्ति में लगे शरीर का अपने आत्मा, मित्र तथा प्रिय की तरह आचरण करना''
''पदार्थ से आत्मा की उत्पत्ति का विचार अज्ञान का परिणाम''
''यह जगत अपने स्रष्टा भगवान् से अभिन्न, जो इसी में प्रविष्ट हो गए''

''आपके भक्त साक्षात् काल के सिर पर पाँव रखते हैं''
''आपकी माया की कार्यशैली को जानने वाला विवेकी व्यक्ति
आपकी असली सेवा करता है''
''अपने शरणागत के समक्ष आप परमात्मा रूप में प्रकट होते हैं''
''यह ब्रह्माण्ड आपके भीतर दृष्टिगोचर प्रतीत होता है''
''इन्द्रियतृप्ति के लिए योगाभ्यास करने वाले कष्ट उठाते हैं''
''हम श्रुतियाँ आपको अपने अन्तिम निर्णय के रूप में प्रकट करके ही धन्य होती हैं''
वेदों की स्तुतियों की समाप्ति पर विचार करके
नारद मुनि का भगवान् कृष्ण को नमस्कार करना
निडर होने के लिए भगवान् हरि का स्मरण
अध्याय अट्ठासी
वृकासुर से शिवजी की रक्षा
अध्याय का सारांश
तपस्वी शिव के पूजकों को ऐश्वर्य तथा ऐश्वर्यवान्
विष्णु के पूजकों को निर्धनता क्यों ?
शुकदेव गोस्वामी द्वारा राजा परीक्षित से विरोधाभास का बताया जाना
भगवान् कहते हैं, ''यदि मैं किसी पर विशेष कृपा करता हूँ
तो धीरे धीरे मैं उसकी सम्पत्ति हर लेता हूँ''
''ऐसा दीन तथा विक्षिप्त आत्मा मेरे भक्तों को
मित्र बनाता है, जिससे मेरी दया जागती है''
शीघ्र वर के लिए वृक द्वारा शिव की पूजा
वृक द्वारा आत्महत्या का प्रयास, किन्तु शिवजी द्वारा उसकी रक्षा
शिव का वृक को वरदान कि यह जिसका भी
अपने हाथ से स्पर्श करेगा, वह मर जायेगा
वृक द्वारा शिव का सारे ब्रह्माण्ड में पीछा किया जाना
ब्रह्मचारी वेश बनाकर वैकुण्ठ में विष्णु द्वारा वृक का ठगा जाना
विष्णु द्वारा शिव का उपहास तथा वृक को
अपने वरदान की अपने ऊपर परीक्षा करने की सलाह
वृक का अपने सिर पर हाथ रखना और
वज्रपात की भाँति उसका खण्ड खण्ड होना
श्रोताओं को आशीर्वाद
अध्याय नवासी
कृष्ण तथा अर्जुन द्वारा ब्राह्मण पुत्रों का वापस लाया जाना
अध्याय का सारांश
भृगुमुनि को यह निश्चित करने का काम सौंपा गया
कि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव में सबसे बड़े कौन ?

भृगु द्वारा अपमानित करने पर ब्रह्मा अपना क्रोध प्रकट नहीं होने देते
भृगु द्वारा अपने भाई शिव का अपमान तथा उन्हें क्रुद्ध करना
भृगु द्वारा विष्णु के वक्षस्थल पर पादप्रहार किये जाने पर भी उनके द्वारा सत्कार किया जाना
मुनियों द्वारा भृगु के कथन को सुनकर विष्णु की श्रेष्ठता के लिए अनुभूति
श्रोताओं के लिए आशीर्वाद
द्वारका में ब्राह्मण पत्नी के नवजात शिशु की तत्क्षण मृत्यु
ब्राह्मण द्वारा राजा उग्रसेन की निन्दा
अर्जुन द्वारा ब्राह्मण पुत्रों की रक्षा का वचन
अर्जुन द्वारा ब्राह्मण के घर के चारों ओर बाणों का पिंजरा बनाया जाना
दसवें पुत्र के विलुप्त होने पर ब्राह्मण द्वारा अर्जुन का उपहास
अर्जुन द्वारा खोये पुत्र की सर्वत्र खोज
कृष्ण द्वारा अर्जुन को रथ पर बिठाकर पश्चिम दिशा में रवाना
अँधेरे में सुदर्शन चक्र द्वारा प्रकाश उत्पन्न किया जाना
अर्जुन का ब्रह्मज्योति देखना
एक भव्य महल में महाविष्णु का अनन्तशेष पर शयन
महा विष्णु का कथन ''मैं आप दोनों का
दर्शन करना चाह रहा था, इसलिए ब्राह्मण के पुत्र को यहाँ लाया''
ब्राह्मण के पुत्रों समेत कृष्ण तथा अर्जुन का द्वारका लौटना
राजा युधिष्ठिर तथा अन्य पवित्र राजाओं द्वारा
धर्मपालन के लिए भगवान् द्वारा आश्वासन
अध्याय नब्बे
भगवान् कृष्ण की महिमाओं का सारांश
अध्याय का सारांश
अपनी रानियों के साथ कृष्ण द्वारा जलक्रीड़ा
भगवान् तथा उनकी रानियों का एक दूसरे पर हर्षपूर्वक जल छिड़कना
रानियों का भावमय समाधि में प्रवेश
रानियाँ प्रार्थना करती हैं, ''हे कुररी पक्षी,
क्या कृष्ण की चितवनों से तुम्हारा हृदय बिंधा हुआ है ?''
''हे चन्द्रमा, तुम्हें घोर यक्ष्मा रोग लग गया प्रतीत होता है''
''हे पर्वत, क्या तुम भी हमारी ही तरह
भगवान् कृष्ण के चरणों को अपने वक्षस्थल पर रखना चाहते हो ?''
''हे हंस, हमें कृष्ण का कोई समाचार सुनाओ''
कृष्ण की रानियों का सौभाग्य अर्वणनीय
कृष्ण के पुत्रों में से अठारह पुत्र विख्यात महारथ थे
यदुओं के गदायुद्ध से बचने वालों में कृष्ण के प्रपौत्र वज्र भी एक
राजा उग्रसेन के असंख्य सेवक

लक्ष्मीजी एकमात्र कृष्ण की हैं
भगवान् कृष्ण की जय हो
श्रोताओं को आशीर्वाद
परिशिष्ट
लेखक परिचय